सद्गुरु कबीर साहब का ग्रन्थ

बीजक

(बीजकार्थ-प्रबोधिनी टीका सहित)

सत्य नाम

टीकाकार

पं० श्री हजूर प्रकाशमणिनाम साहेब

❋ सत्यनाम् ❋

कबीर साहब का बीजक ग्रन्थ

पू. पा. १००८ पं. श्री हजूर प्रकाशमणिनाम साहब

की

'बीजकार्थ-प्रबोधिनी' टीका सहित।

सद्विचार सर्वस्व यह, बीजक उत्तम ज्ञान।
जल्दी ले हिय में धरा, पावो मुक्ति महान॥

सम्पादक :
पं० श्री हजूर उदितनाम साहेब
गुरु श्री प्रकाशमणिनाम साहेब
आचार्य कबीरपंथ

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

(१) बाबू बैजनाथ प्रसाद बुकसेलर
राजादरवाजा, वाराणसी—२२१००१

(२) कबीरबाग लहरतारा
आलू मिल के सामने, लहरतारा, वाराणसी।
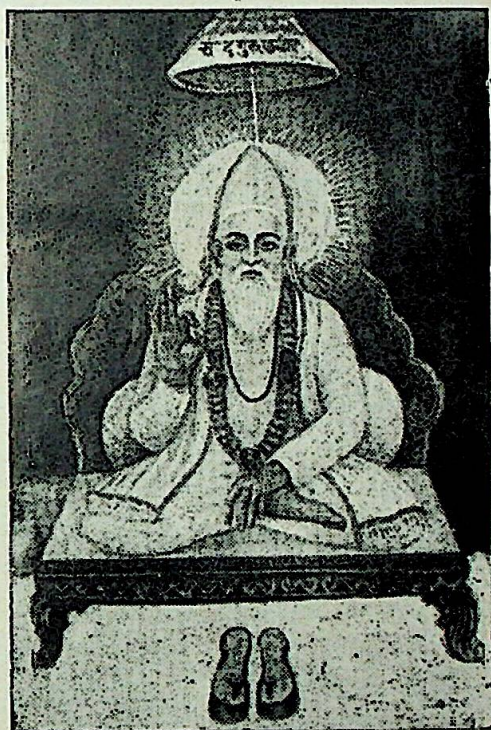
* सत्यनाम *

सद्गुरु कबीर साहेब

॥ सत्यनाम् ॥

प्रकरण-सूची

१ प्रकाशक का वक्तव्य ४
२ तृतीय आवृत्ति के तीन शब्द ५–६
३ सम्मतिसार ७–८
४ प्रथमावृत्ति की भूमिका ९–३२
५ विषयानुक्रमणिका ३३-३९
६ बीजक पाठ-फल ३९
७ सद्गुरु का संक्षिप्त जीवन चरित्र ४०
८ रमैनी १
९ शब्द १२३
१० ज्ञान-चौंतीसा २९१
११ विप्रमतीसी ३११
१२ कहरा ३१७
१३ बसंत ३३९
१४ चाचर ३६१
१५ वेली ३६९
१६ बिरहुली ३७५
१७ हिंडोला ३७९
१८ साखी ३८७

———

॥ सत्यनाम ॥

प्रकाशक का वक्तव्य

बन्दीछोड़ सद्गुरु कबीर साहेब की असीम अनुकम्पा से बहुत अर्से से आप सब जिस 'सटीक बीजक' ग्रन्थ की प्रतीक्षा कर रहे थे, वह आज आप सबों के उदार हाथों में पहुँचाकर हम उऋण और सुखी हुये हैं।

इसकी विशद व्याख्या 'बीजकार्थ-प्रबोधिनी' हमारे पंथ के आचार्य शिरोमणि श्रीमान् १००८ वं. प्र. पं० श्री हजूर प्रकाशमणिनाम साहेब ने सरल हिन्दी भाषा में तैयार की है। इस सत्यज्ञान महोदधि के अन्तस्थल में अमृत स्वरूपी ज्ञान की लहरें आ रही हैं। इन लहरों की किरणों से सिंचित शान्ति स्वरूप अपनी आत्मा अपने स्वरूप की प्राप्ति में अग्रसर होगी और सारे विश्व के जन समुदाय की भेदवादी बुद्धि को एक सूत्र में लायेगी। अतः ऐसे अलौकिक ग्रंथ की प्रभा जन समुदाय को तृप्त करेगी।

सद्गुरु कबीर साहब का कृपा अभिलाषी—
पं. श्री हजूर उदितनाम साहेब, वाराणसी

श्री १०८ पं० श्री हजूर उदितनाम साहेब
कबीर धर्मस्थान- खरसिया (म० प्र०)

॥ चतुर्थ आवृत्ति के चार शब्द ॥

आध्यात्मिक चेतना की चिन्तनधारा का केन्द्र बिन्दु "बीकक" एक महान् ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की अन्तरात्मा को समझने के लिये विभिन्न विद्वानों ने अपनी सूझ बूझ के अनुसार टीकाएं लिखी हैं।

इसी प्रयत्न में बीजक के गूढातिगूढार्थ प्रकाशनार्थं "पं. श्री हुजूरप्रकाशमणिनाम साहेब आचार्य कबीर पन्थ खरसिया ने "बीजकार्थं प्रबोधिनी टीका" द्वारा रहस्यपूर्ण बीजकार्थ को जिज्ञासु जनों के सामने प्रकाशित किया है।

भारतीय दर्शन तथा अन्य दर्शन परम्परा के आधार पर विद्वानों ने अपनी अपनी विचार धारा के अनुसार विभिन्न मतमतान्तरों का उल्लेख किया है। इन मतों की अधिकता के कारण आत्मजिज्ञासु विवेकी जन किसी निश्चित मत पर नहीं टिक पाते कि हमारे आत्म-बोध का सही मार्ग क्या है ? जिसके आधार पर हम आत्मकल्याण का अलभ्य लाभ ग्रहण कर सकें।

भ्रान्ति की प्रवलता के कारण तत्वान्वेषी मननशील मानव-मन अपनी मनन क्षमता को खो बैठता है। इसी भ्रान्ति के उन्मूलन के लिए सद्‌गुरु कबीर साहेब ने बीजक निर्माण किया किन्तु इसकी अर्थदुरूहता के कारण सदगुरु की अन्तरात्मा के रहस्यपूर्ण भावों को समझने मे महती कठिनता का सामना करना पड़ता था अब उक्त टीका के प्रस्तुत होने से जन-साधारण के साथ ही साथ तर्कशील बुद्धिजीवी मेघावी विद्वन्मण्डल को भी अर्थ समझने में काफी सरलता प्राप्त हो गई है। एवं मतमतान्तरों की मान्यताओं के सम्बन्ध में भरपूर जानकारी प्राप्त हो सकी है।

अन्ध परम्पराओं से चिपका हुआ मानव अपनी विवेक शक्ति को खो चुका है। विवेकशक्ति के अभाव में मनुष्य सही दिशा पाने से वंचित रह जाता है। बीजक के प्रत्येक प्रकरण को समझने पर हम अपनी भूल को दूर करने में सक्षम हो जाते हैं। बिना मतमतान्तरों की वास्तविकता समझे यथार्थ आत्मबोध सम्भव नहीं है।

भूल अज्ञानमूलक है। अज्ञाननिवृत्ति पूर्वक स्वात्मबोध, स्वस्वरूप स्थिति में सहायक है। चैतन्यात्मा का ज्ञान यथार्थज्ञान के बिना उत्पन्न नहीं होता है, अतः यथार्थात्मबोध के लिए आत्म विचार करना परमावश्यक है। यथा—"विचारेण विनासम्यग्, ज्ञानं नोत्पद्यते क्वचित्। तस्माद्विचारः कर्तव्यो, ज्ञान सिद्धयर्थमात्मनः।" मैं कौन हूँ ? जगत् क्या है ? इत्यादि विचार परम्परा ही आत्मानात्म विचार का स्वरूप है। इसी विचार का नाम

परीक्षा है। परीक्षण से वस्तुस्थिति का पूर्ण रूप से परिज्ञान हो जाता है। बन्धन-मोक्ष, पुनर्जन्म, कर्मफलभोग एवं भोक्ता का सही दिशा में निर्णय हो जाता है।

सद्गुरु कबीर साहेब देश, काल परिस्थिति और अवस्था के सबसे बड़े परीक्षक थे। सत्यान्वेषी होने के कारण मतमतान्तरीय गतिविधि की परीक्षा में पूर्ण सफल रहे हैं। बीजक के द्वारा यह ज्ञान हो जाता है कि आपकी आलोचनात्मक दृष्टि कितनी पैनी थी। समीक्षा के क्षेत्र में आप कितने आगे थे। मानवमात्र के प्रति आपके विशाल हृदय में कितना बड़ा सम्मान था। भेदभाव के लिये मन में कुछ भी स्थान नहीं था। जहाँ दुर्गुण दुराचारों के प्रति घृणा थी वहीं पर सद्गुण सदाचारों के प्रति अटूट स्नेह था। आडम्बर पूर्ण परम्पराओं को आपने गहराई से परखा है और उनका युक्तियुक्त परिहार करते हुये अपनी प्रखर प्रतिभा के बल पर कल्याणार्थी मुमुक्षुजनों को नयी दिशा प्रदान की है।

आपका लक्ष्य था कि मानवमात्रको आत्मज्ञान का शुभ सन्देश मिले इस दिशा में हिन्दू तथा मुसलमान कोई भी वंचित न रह जायें अतः समय और पात्र की दृष्टि से सरस और विरस दोनों प्रकार की शब्दावली से आपने काम लिया। जैसे कि—

दादा भाई बाप के लेखे, चरनन होई हौं बन्दा।
अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनंदा॥ १॥
किते मनाऊँ पाऊँ परि, किते मनाऊँ रोय।
हिन्दू पूजे देवता, तुरुक न काहू होय॥ २॥

सद्गुरु कबीर साहेब की योग साधना अन्य योगियों से सर्वथा भिन्न है। आपकी साधना का लक्ष्य स्वस्वरूप स्थिति की प्राप्ति है। आचार विचार और इन्द्रिय संयम के द्वारा मनोवृत्ति को विषय विकारों से शून्य करके स्वस्वरूपस्थ होना ही योग साधना है। मन की चंचलता का एकमात्र कारण विषयासक्ति ही है। विषयासक्ति रूप मल को वैराग्य से, अनेक जड़ संस्कारों की चंचलतारूप विक्षेप को उपासना से तथा स्वस्वरूप के अज्ञान रूप आवरण को सत्संग से निवृत्त किया जा सकता है। इसी योगसाधना द्वारा जीवन्मुक्ति का अलभ्य लाभ ग्रहण करते हुए विदेह मुक्तिरूप महामोक्ष फल प्राप्त करना ही साधक का परमोद्देश्य है।

ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु रोककर ज्योतिर्ब्रह्म का दर्शन करना योग साधना का फल नहीं है। यह तो केवल प्राणवायु का चमत्कार मात्र है। स्वस्वरूप दर्शन नहीं है। आत्मतत्व दर्शनका विषय नहीं है। वह स्वानुभूतिरूप है। दर्शन-मायिक पदार्थों का विषय होता है। अतः सद्गुरु कबीर साहेब की योग साधना का विषय साक्षी चेतन जीवात्मा है।

समस्त विषयों का उहापोह तात्त्विक आलोचनात्मक विवेचन, विद्वच्चक्र चूड़ामणि मेधावी, महामनस्वी पू० पा० टीकाकार श्री आचार्य साहेब ने स्वयं अपनी भूमिका में गम्भीरतापूर्वक विचार करके प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत कर दिया है। जैसेकि—अज्ञान दुःख का मूल है,

आत्मविचार का स्वरूप, परिचय, लक्ष्य, निर्मूलशंका, सिद्धान्त, माया की रचना, बन्धन और उसकी निवृत्ति, साम्प्रदायिक नाम, अपरोक्ष प्रधान उपदेश, निरूपाधिक तत्व, विचार की प्रधानता, सद्गुरु का आश्रय ग्रहण, आत्म साक्षात्कार के प्रकारभेद, षड्लिङ्ग विचार, अन्तिम लक्ष्य एक है, बिना परिचय उपासना अपूर्ण है। ज्ञान-साधक विचारोत्पत्ति के साधन १ अहिंसा, २ सत्संगति, ३ निष्काम कर्म, ४ नामोपासना, ५ जातिवाद और छूआछूत, बीजक के सांकेतिक शब्द, कबीर साहेब और उनके ग्रन्थ, बीजक और उसकी भाषा आक्षेप परिहार, कबीर साहेब की शिक्षा से लाभ इत्यादि।

हम जिज्ञासु पाठकगण अपने उदार कर कमलों में बीजक टीका को ग्रहण करते हुए इस ग्रन्थ रूप महासागर में विद्यमान रत्नों का मूल्यांकन करें। वैसे तो इन रत्नों की कीमत विवेकी जौहरी ही कर सकते हैं फिर भी आत्म कल्याण की परम पवित्र भावनाओं के द्वारा लोकोपकारमयी सन्त सम्राट सद्गुरु कबीर साहेब की वाणी का सर्वतोमुखी सम्मान है ही। साहित्य महासागर के अमूल्य महारत्नों का सदुपयोग प्रत्येक विवेकीजन अपने जीवन में किये बिना रह नहीं पाता। जनसाधारण से लेकर संस्कृत, हिन्दी अंग्रेजी उर्दू, फारसी, एवं विभिन्न भाषाभाषी उच्चकोटि के मूर्धन्य विद्वानों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सही सदुपयोग करके यह सिद्ध कर दिया है कि—सही मायने में वर्तमान भारत की एवं समस्त विश्व की सामाजिक राजनीतिक, चारित्रिक, आर्थिक आध्यात्मिक एवं मानवीय चिन्तनधारा की उलझनों का सही समाधान सन्त सम्राट सद्गुरु कबीर साहेब की वाणियों द्वारा ही मिल सकता है। केवल दैनिक व्यावहारिक जीवन में उतारने की जरूरत है। इसी आचार विचार और ज्ञान की पवित्रता से हम महान् बन सकते हैं। समझदारी ही सत्यता का सोपान है। सत्याचरण ही शान्ति का केन्द्र है। मानवता ही मोक्ष का मन्दिर है। बीजक ज्ञान ही उन्नतिशील मानव जीवन की जननी है।

बीजक की चतुर्थावृत्ति का प्रकाशनकार्य "सद्गुरुकबीरस्मारक" के विशाल निर्माण कार्य में संलग्न श्री १०८ पं. श्री हजूर उदितनाम साहेब आचार्य कबीर पंथ कबीर बाग लहरतारा वाराणसी, खरसिया की अनुमति से हुआ है।

आर्थिक सहयोग राजगीर "सद्गुरु कबीरज्ञानाश्रम" के सत्यलोक वासी महन्त श्री सुक्खूदासजी साहेब के सुयोग्य शिष्य वर्तमान महन्त श्री उत्तमदासजी साहेब तथा आपके श्रद्धालु भक्त हंसजन सर्व श्री—गणेशदासजी, मथुरालालजी, मोहनलालजी वजीरगंज गया। हरिदासजी तुंगी-नवादा। मलूकदास जी सिंगढ़िया गया। चन्दमणिदासजी, खिजरसराय, गया। दामोदरदासजी गया। सर्वश्री—बसन्तलालजी, मुनीश्वरलालजी, तुलसीलालजी, बरसौना-गया। सोनूलालजी मंझवे नवादा। श्रीमती सुरेन्द्रकी माताजी, गया। श्री बालगोविन्द प्रसाद-सिरसिया बीघा-नालन्दा आदि का सहयोग रहा है।

इसी प्रकार आर्थिक सहायता की पूर्ति धर्माधिकारी श्री मनोहरदासजी शास्त्री साहेब श्री कबीर बाग लहरतारा वाराणसी, खरसिया की ओर से एवं भक्त श्री टिक्कन लालजी

साहेब तथा उक्त भक्त की धर्मपत्नी भक्तिमती हंस स्वरूपा बातावाई सिवनी, उदारात्मा श्री सुन्दरलालजी भइयालालजी, भाव भक्ति परायण श्रीमती ताराबाई कटंगी की ओर से हुई है।

प्रूफ संशोधन कार्य के लिये सर्वप्रथम कबीर कीर्ति मंदिर से सम्पादित शान्तिसंदेश पत्रिका के सम्पादक सन्त श्री श्यामदासजी शास्त्री साहेब वाराणसी से सहयोग रहा है किन्तु वे कार्यभार की अधिकता के कारण विशेष समय न दे सके। अतः प्रूफ संशोधन कार्य में विशेष सक्षम परमोत्साही लगनशील सन्त श्री जगदीश दासजी शास्त्री साहेब साहित्याचार्य एल. एल. बी के हाथों में सौंपा गया और आपने पूर्ण मनोयोग के साथ अपना बहुमूल्य समय सद्गुरु की साहित्य सेवा में सहर्ष प्रदान करते हुए कार्यक्षमता का विनम्र परिचय दिया। इस कार्य में जिन महापुरुषों का जो भी शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक सहयोग रहा है वे महापुरुष भी धन्यवाद के पात्र हैं। उनकी उदार सद्भावनायें सदा अपेक्षित हैं।

अन्त में हम बाबू बैजनाथ प्रसाद बुक्सेलर फर्म के व्यवस्थापक के आभारी हैं जिन्होंने प्रकाशन कार्य में पूर्ण मनोयोग से कार्य किया जिससे यह ग्रन्थ आपके कर कमलों में सुशोभित हो रहा है।

विनीत :—

धर्माधिकारी मनोहर दास शास्त्री
कबीर बाग लहरतारा वाराणसी
माघ शुक्ल पक्ष वसन्त पञ्चमी सम्वत् २०३९
ता। १९।१।८३।

❀ सत्यनाम ❀

धर्माधिकारी श्री १०८ श्री मनोहरदास शास्त्री साहेब
कबीर धर्मस्थान खरसिया । कबीरबाग, लहरतारा, वाराणसी

॥ सत्यनाम ॥

तृतीय आवृत्ति के तीन शब्द ।

(१) यस्यानन्दतरङ्गसीकरसमास्वादेन देवाः समे ।
आनन्दाब्धिविगाहनं विदधते लोकाश्च मोदान्विताः ॥
सत्येशः स हि सद्गुरुर्विजयते कारुण्यलीलाधरो ।
हंसानां निजलोकदः सुखकरो बोधेन्दुरत्नाकरः ॥ १ ॥

अर्थ—जिस सद्गुरु के परमानन्द-महोदधि की तरंग के एक अमृतकण के स्वाद से ही देवता और मुनिजन तथा प्राणीमात्र आनन्द के समुद्र में हिलोरें मारने लगते हैं। तथा सारा ही संसार आनन्द में मग्न हो जाता है। दया से लीला को धारण करनेवाले, विवेकी जनों को निज लोक के देनेवाले, परमानन्द के करनेवाले और आत्मज्ञानरूपी चन्द्रमा को उत्पन्न करनेवाले रत्नाकर के समान, ऐसे सत्येश्वर सद्गुरु निश्चय से विजय को प्राप्त होते हैं ॥१॥

सद्गुरु की असीम दया से इस अनुपम बीजक ग्रन्थ की तृतीय आवृत्ति का यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ है।

"सानुकूल सद्गुरु जब जब होते, सभी विघ्न हट जाते हैं।
सभी असम्भव सम्भव होते, सहज कार्य बन जाते हैं॥
रत्नाकर की एक लहर से, होता है दारिद्रय विदुर।
अन्धकार रहने कब पाता, जब उगता है प्राची सूर"॥

पहिली और दूसरी आवृत्ति के अनन्तर प्रेमी पाठकों की प्रेरणा से यह प्रबल इच्छा हुई कि, इस ग्रन्थ की पूरी टीका बनाई जाय और कठिन शब्दों का कोष भी इसमें लगा दिया जाय एवं प्राचीन से प्राचीन हस्तलिखित मूल प्रतियों के आधार से इसके मूल का संशोधन करने की तथा आदरणीय पाठान्तर के वर्गीकरण की भी पूरी इच्छा हुई थी। सद्गुरु की अपार दया से ये सब मनोरथ पूर्ण हुए। इनके अतिरिक्त इस टीका को और भी कई विशेषताओं से समलंकृत कर देने का विचार था; परन्तु लम्बे समय से स्वास्थ्य के साथ न देने से वे सब मनोरथ "उत्थायोत्थाय लीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः' इस सूक्ति के अनुसार मन के मन में ही रह गये। अस्तु ':गई सो गई अब राख रही को" इस कथन के अनुसार जो कुछ मुझ से सद्गुरु की टूटी-फूटी सेवा बन पड़ी है वह आप सबों के सामने है। "नहि खलु सर्वः सर्वं विजानाति" इस वृद्धोक्ति के अनुसार बहुत सी त्रुटियाँ इसमें रह गई होंगी, उनको विज्ञ पाठक अपने उदार हृदय से क्षमा करें। इस टीका को सर्वाङ्गसुन्दर बनाने के लिए अवशता के कारण मैं तो अभी अतृप्त हृदय ही हूँ। मुझे सद्गुरु का पूरा भरोसा है कि,

"सद्गुरु दीन दयाल दया उर हेरहीं।
कोटि करम कटि जाय पलक चित फेरहीं"॥

(२) प्राचीन हिन्दी साहित्य के ज्ञाताओं को यह तो ज्ञात ही है कि, प्राचीन हिन्दी की लिपि में 'ज्ञ' की जगह 'ग्य', 'जगत' की जगह 'जगत्र,' 'भिक्षा' की जगह 'भिच्छा,' 'हृदया' की जगह 'हिरदया,' 'शब्द' की जगह 'सबद,' और 'कृत्रिम' की जगह 'क्रितिम' इत्यादि लिखा करते थे। इस प्रकार का उनका लिखना सुख-सुखोच्चारणार्थ हुआ करता था। और यही उनकी प्राचीन लिपि-

पद्धति थी। इस बीजक ग्रन्थ के मूल पाठ में उस प्राचीन लिपि को सुरक्षित रक्खा गया है, जिससे प्राचीन लिपि के अभिज्ञान में इसका मूल पाठ सहायक बन सके और इसके मूल पाठ के पाठान्तरों का भी वर्गीकरण करके क, ख, ग, घ आदिक में विभक्त कर दिया है। और प्राचीन से प्राचीन प्रतियों के मूल पाठ को मुख्य स्थान देकर नवीन पाठों को पाद-टिप्पणी में नीचे रख दिया गया है। इसके मूल पाठ को कई प्राचीनतर प्रतियों से मिला करके शुद्ध किया गया है, जिनमें से 'क' और 'ख' से संकेतित प्रतियाँ तो बहुत ही प्राचीन हैं। उनके अन्त के पत्रों के नहीं रहने से उनका लिपिकाल भी अज्ञात ही है। काशी-कबीर चौरा के पुस्तकालय में सुरक्षित प्राचीन से प्राचीन मूल बीजक ग्रन्थों से मैंने इसका संशोधन प्रथमावृत्ति में किया था। इसके पश्चात् तृतीय संस्करण की तैयारी के प्रसंग से और भी कई प्राचीन प्रतियों से इसके मूल पाठ का संशोधन किया है। उनमें कई प्रतियाँ तो कबीर धर्मस्थान, खरसिया के 'कबीर धर्म पुस्तकालय' की हैं। और कई पुस्तकें हमारे प्रेमी श्री उदयशंकरजी शास्त्री, नागरी प्रचारणी सभा काशीवाले की हैं। उनमें से कुछ प्रतियों का परिचय इस प्रकार है :—

'ख,' प्रति खण्डित पृष्ठ संख्या २७० लिपिकाल १८ वीं शती

'छ,' प्रति पूर्ण की अन्तिम पुष्पिका यह है :

'इति श्री बीजक संपूर्ण शुभमस्तु समापत। बीजक लीषा उदैपुर सहर पते दानापुर का पठनार्थे मेहेरबानदासजी। संवत् १९१० मीती सावन शुदि छठमी रोज बुधवार मोकाम बीदुपुर।

'ज,' प्रति पूर्ण: इति श्री बीजक संपूर्णः प्रति सेवकदासजी, वसहा, लिपि-काल १९ वीं शती।

'झ,' प्रति, पूर्ण, संबत १९१८ साल महीना भादौ सुदी तारीख ३० मोकाम मोदफुरपुर जीला, देश तिरहुत परगना जरूहा। मौजे मायल मठ हर गोविंद गोसाई के। लिषा दरपत द्वरिका भक्त का। बीजक सपूरन मोल। पूरनमासी को पहर दिन चढ़े।

'ट,' प्रति पूर्ण, पुष्पिका में लिपिकाल नहीं दिया है। ग्रन्थ की लिपि कैथी मिश्रित है। इसका लिपिकाल भी (संभवतः) १९ वीं शती हो सकता है।

विस्तार के भय से इस विषय में अधिक नहीं लिखा जाता हैं; क्योंकि इस बीजक की पहिली आवृत्ति की विस्तृत भूमिका में कई विषयों पर मैं विशेष रूप से लिख चुका हूँ।

कृतज्ञता—प्रकाश

इस तृतीय आवृत्ति के मूल पाठ के संशोधन कार्य में प्रिय स्वामी महन्त श्रीयुगलदासजी ने तथा प्राचीन प्रतियों को देकर प्रिय पं० उदयशंकरजी शास्त्री ने तथा पूज्यवर काशी कबीर चौरा के आचार्य साहब ने तथा अन्य महोदयों ने जो महान उपकार किया है, उनका मैं सदैव कृतज्ञ रहूँगा।

आप सबों का कल्याणाभिलाषी :—

खरसिया, दि. १५-२-५५ पं. श्रीप्रकाशमणिनाम साहब.

* सत्यनाम *

श्री १०८ पू० च० पं० श्री हजूर प्रकाशमणिनाम साहेब

कबीर धर्मस्थान, खरसिया (म० प्र०)

सम्मति–सार

तत्र तावत्, निखिलतंत्रापरतंत्रपदवाक्य-प्रमाणपारावारीण-विद्वच्चक्रचूडामणि श्रीयुत पं० काशीनाथशास्त्रिमहोदयानाम्।

श्रीः।

अथ विदितमिदमस्तु प्रस्तुतम्। यो निखिलमहीमण्डले प्रथते यदीययशोराशिरायमस्त्या भक्तमालादिना वर्ण्यते, यदीयानि च कतिपयानि पद्यानि नानकीयग्रन्थादौ (ग्रन्थ साहब) सादरं धृतानि सोऽयं महात्मा कबीरो ज्ञानिभक्तः। किंवदन्त्या तदीयबीजकीयतत्तद्वचनपर्यालोचनया च परमधार्मिको गम्यते। ननु कानिचित्तदीयानि वचनानि तीर्थादीनि निन्दन्तीति कथमिदंगमाविति चेन्न, अतत्त्वदर्शाशेषाम्, नहि तानि तानि निन्दन्ति किं तर्हि श्रद्धापुरस्सरमीश्वरार्पणावसानमिह जन्मनि जन्मान्तरे वा यथाशक्ति विधिवदनुष्ठितैस्तीर्थवाससत्यभाषणगंगास्नानादिभिस्साधारणैरसाधारणैश्चान्यैस्स्वैः स्वैर्धर्म्मैर्नितान्तक्षपितान्तःकरणकल्मषान् विवेकादिसाधनसम्पन्नानात्मचिन्तनादौ प्राधान्येन प्रवर्तयन्ति, अन्यथा कथं काशीविरहाहितवेदनावेदकं तदीयवचनमन्यानि च तज्जातीयानि तानि संगच्छेरन्। एवमेवातिसदयहृदयतया वैधीमपि हिंसामसहिष्णवस्वैधीन्तां प्रतिषिषित्सतस्तस्यापाततो ब्राह्मणनिन्दापरतया लक्ष्यमाणमपि वचनमतत्परमेवेति सुवेदमेवाशेषवाक्यविदाम्। इत्थं चाधुनिकाः केचन कावीरा वेदादिशास्त्रं हरिहरहिरण्यगर्भादिदैवतमवतारांश्च दूषयन्तो न केवलं तान्येव दूषयन्त्येऽपि तु दुस्तरभवमहोदधौ निमग्नानां तमुत्तितीर्षतां श्रुतिश्रवणादावनधिकारिणामुद्दिधारयिषया प्रवृत्तं महानौकास्थानीयं बीजकनामानं निबन्धं तन्निर्मातारं करुणावरुणालयं महात्मानं कबीरं च दूषयन्तो नैजमात्मानमप्यधः पातयन्तीति हा कष्टं करुणाभाजनभूतास्ते शोच्या एव न दूष्या इति दिग्दर्शनामात्रं बहुमन्यमानोऽतिगूढार्थबीजकमुमुक्षुभिर्मिताक्षरैर्विवृण्वतीमिमां साधुविचारदासविनिर्मितां, प्रबोधिनीं पश्यन् हृष्यंश्च बलियामण्डलान्तर्गतचच्छातग्रामाभिजनः काशीवासी पं० काशीनाथशर्म्मोपरमतीति शम्।

'सुप्रभात' सम्पादक श्रीयुत गिरीशशर्मशुक्लन्यायाचार्याणाम्।

श्रीमन्तो महाभागाः।

जानन्त्येव खलु तत्र भवन्तो भारतीयमहात्मनां श्रीमतां कबीरमहोदयानामध्यात्मोपदेशपरं हिन्दी-ग्रन्थं बीजकाभिधम्। ग्रन्थोऽयं हिन्दीसाहित्यग्रन्थेषु पुरातनः प्रधानश्च। स्वतन्त्रेच्छेन महात्मना ग्रन्थोऽयं हिन्द्या गिरा यद्यपि निबद्धस्तथापि विषयकाठिन्याद् भाषाकाठिन्याच्च निरूपणप्रकारस्य रूपकाद्यलङ्कारपूर्णत्वाच्च अत्यन्तं दुर्बोध एव साधारणमतीनां विशेषतो हिन्दीभाषानभिज्ञानाम्। यद्यपि चास्य हिन्दीग्रन्थरत्नस्य प्राचीनान्यपि सन्ति व्याख्यानानीति श्रूयते, तथापि सर्वोपयोगि नासीत् किमपि व्याख्यानं मुद्रितम्। सेयं त्रुटिः काशीस्थेन श्रीमता विचारदासमहाशयेन दूरीकृतेति विलोक्य नितरां प्रसीदति हृदयम्। अस्यां टीकायां ग्रन्थकर्त्तुस्तात्पर्य्यम् तत्तत्प्राच्यभाषाशब्दानां विवरणं च सम्यङ् निरूपितम्। 'बीजकग्रन्थे' अद्वैतात्मतत्वस्य, नामोपासनस्य, विज्ञान-वैराग्ययोः अहिंसायाः ईश्वरभक्तेः, पाखण्ड परित्यागस्य, बाह्यचिन्हानामकिञ्चित्करत्वस्य च बाहुल्येन प्रतिपादनं दृश्यते। अध्यात्मनिरूपणप्रकारश्चास्य ग्रन्थस्य स्वतन्त्र एव। येन यथा श्रुतार्थः कश्चिदन्य एवापाततो भासते तात्पर्य्यार्थश्चापर एव भवति। यत्र विशेषतः काठिन्यमस्यावलोक्यते तत्र टीकेयं तात्पर्य्यार्थं स्फुटं प्रकाशते। अनया टीकया केचन विषयाः यथा सविस्तरं निरूपितास्तथा न सर्वत्र विवृता इति विवरणविस्तरमपेक्षत एवायं ग्रन्थः। टीकेयं संस्कृतपण्डितेन रचिता, तत्र तत्र संस्कृतग्रन्थानां

प्रमाणोल्लेखालंकृता च, अतः संस्कृतपण्डितानामपि मनोरञ्जनं यथावत् सम्पादयति। अतः संस्कृतज्ञा अप्येतत्साहाय्येन श्रीमत्कबीरविचारं विदाङ्कुर्वन्तु।

गिरीश शुक्लः।

३०|११|२५]

श्रीयुत् पं० विन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिणाम्

'बीजक' नामकं पुस्तकमिदं महात्मना कबीरमहोदयेन प्रणीतम्। तच्च विर्पाश्चद्वरेण श्रीमता विचारदासशास्त्रिणा विरचितया 'विरल—टीकया टिप्पण्या' च समलंकृतं कृत्वा श्रीनगेश्वरबख्शसिंहेन प्रकाशितम्। मुद्रणं संशोधनं चातीव समीचीनम्। पुस्तकमिदं भक्तपाठकेभ्यो मूल्यमन्तरेणैव प्रदीयते। महात्मनः कवीरस्य कविताः काठिन्ये लोकविश्रुताः। परन्तु श्रीमता शास्त्रिवर्य्येण तदीयकविताः समाश्रित्य भाष्यरूपा तादृशी टीका टिप्पणि च विहिता यया सर्वसाधारणाः अपि दुर्बोधाः-क्लिष्टाश्च कवीरकविताः सुखेनावगन्तुं शक्नुयुः। टीकायां मध्ये मध्ये श्रुतीनां स्मृतीनां ग्रन्थान्तराणां च वाक्यानि समुद्धृतानि यैष्टीकाकृतः पांडित्येन साकं ग्रन्थस्य गुरुत्वमुपादेयत्वं च स्फुटं प्रतीयते। किम्बहुना, पुस्तकमेतत् सर्वांगशोभनं सहृदयैर्द्रष्टव्यञ्चेति।

श्री विन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिणः सूर्योदयसम्पादकस्य।

काशी के सुप्रसिद्ध दार्शनिकविद्वान् श्रीयुत् बाबू भगवानदासजी, एम. ए. महोदय।

श्रीमहन्त रामविलासदासजो, कबीर चौरा, बनारस।

आपने बड़ा अनुग्रह किया जो सटीक बीजक की एक प्रति भेजी। मैं उसके लिए आपको अनेक धन्यवाद देता हूँ। श्रीविचारदासजी ने टीका अत्युत्तम बनाई है। वैसी ही विद्वत्ता और पाण्डित्य वैसे ही सरलता गूढ से गूढ़ पदों को स्पष्ट कर दिया है। और समानार्थक प्राचीन संस्कृत वाक्यों और आर्ष श्लोकों के उद्धरण से बडी ही आनन्द और रस की सामग्री एकत्र कर दी है। कबीर के पदों के पुनः प्रचार की बड़ी आवश्यकता है। जब वर्णसंबंधी दंभ और दुराग्रह फिर बहुत बढ़ गया है। और इसी के कारण से हिन्दू धर्म और समाज का ह्रास हो रहा है। इनके पुनः प्रचार से आत्मतत्व का ज्ञान और आत्मधर्म का प्रचार सर्व साधारण में होकर धार्मिक कलह कम होने की पूरी आशा हो सकती है। मैं पुनर्वार आपका और श्री विचारदासजी और श्री नगेश्वर बख्शसिहजी का बहुत-बहुत उपकार मानता हूँ और धन्यवाद करता हूँ।

शुभचिंतक—भगवानदास

"सरस्वती"

बीजक महात्मा कबीरदास का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। अब तक इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण निकल चुके हैं। इसके इस संस्करण में यह विशेषता है कि, इसके टीकाकार साधु विचारदास केवल विद्वान् हो नहीं हैं किन्तु कबीरपंथी साधु भी हैं। आपने इस ग्रन्थ के कठिन स्थलों का आशय स्पष्ट करने में खासा परिश्रम किया है। पन्थ की परम्परा के अनुसार उनके गूढ तत्वों को प्रकट किया है, साथ ही स्थल स्थल पर उपनिषदादि शास्त्रों की बहुसंख्यक उक्तियां उद्धृत कर भाव—सादृश्य दिखला कर उन उन स्थलों को आर्य-शास्त्रों से प्रमाणित किया है। आपकी टीका से बीजक का आशय समझने में सर्व साधारण को बड़ी सुविधा हो गई है।

जनवरी सन् १९२८।

सूचना—ये सम्मतियाँ पहली आवृत्ति के प्रकाशन पर प्राप्त हुई थीं। बीजक ज्ञान की महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला गया है—प्रकाशक।

॥ सत्यनाम ।

प्रथमावृत्ति की

भूमिका

*अत्र स्थाणु--सुपत्तने हि पुरतः क्षोणी--तले संस्थितो।
लोकातीत-महोदयो गुणनिधिः +शास्ति स्वशिष्यान् पुरा॥
आर्यानार्य्यमिदामपास्य जनितो ह्येकात्मतत्वं परम्।
नानाऽऽडम्बरवारणैकमिहिरः श्रीमकत्बीरो गुरुः॥

अर्थ—इस शिवजी की काशीपुरी में सामने के भूमिभाग में विराजमान होकर सर्वोत्कर्ष महान उदयवाले, सद्गुणों के समुद्र, और नाना प्रकार के आडम्बररूपी अन्धकार को दूर करने में सूर्य-स्वरूप, श्रीमान् सद्गुरु कबीर साहब, जन्मगत आर्य और अनार्य के भेद को दूर करके सर्वोत्कृष्ट एकात्म-तत्त्व का अपने शिष्यों के लिये पहले निश्चय से उपदेश करते थे।.

अज्ञान दुःख का मूल है।

इस संसार में केवल मनुष्य ही नहीं, किन्तु पशु, पक्षी और कीट पतङ्ग आदिक जितने प्राणी हैं, वे सब दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करते रहते हैं। उदाहरणार्थं मनुष्य को ही लीजिये, क्या लौकिक और क्या पारलौकिक, जितने कार्य मनुष्य करता है, सब सुख ही के लिये करता है। कठिन से कठिन कार्यों में जो प्रवृत्ति होती है वह भी सुख ही के लिये। इस प्रकार सुख के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर भी सच्चा सुख नहीं मिलता। जो कुछ मिलता हैं वह दुःखमिश्रित सुखाभास ही है। इसका एकमात्र कारण अज्ञान है। अज्ञान ही की निवृत्ति के लिये हमारे प्रातःस्मरणीय ऋषि और महर्षियों ने वैदिक ज्ञानरूपी ज्योति को संसार में फैलाया। तथा नाना पुराण और स्मृतियों के द्वारा वैदिक अर्थ का उपबृंहण [वृद्धि] किया। अनन्तर नाना दर्शनों का निर्माण अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिये ही किया गया।

नाना आचार्यों ने अबोध-निवृत्ति के लिये ही नाना मत-मतान्तरों का प्रचार करके परस्पर विलक्षण अनन्तानन्त साधनों के अनुष्ठान का उपदेश दिया। संक्षेपतः आस्तिक और नास्तिक, वाममार्ग और दक्षिण-मार्ग, नाना जप और कठिनातिकठिन तप आदिक अज्ञान ही की निवृत्ति के लिये विनिर्मित हुये। सबके सब मत अज्ञान-

* सूचना :—यह श्लोक काशी कबीर चौरा स्थान में सद्गुरु कबीर साहेब की चरण पादुका के सामने बैठ कर लिखा गया है।

+ "पुरि लुङ् चास्मे" इति सूत्रेण भूतार्थे लट्।

निवृत्ति के द्वारा परम सुख [मुक्ति] प्राप्त करा देने का पूर्ण विश्वास दिलाते हैं। एकीक्त्या [संक्षेपतः] सारे संसार के मत-मतान्तर पर-पक्षखण्डनपूर्वक स्वपक्ष का स्थापन करते हुये अहमहमिकया [परस्पर-प्रतियोगिता से] मुक्ति दिलाने के लिये एक दूसरे के आगे बढ़ रहे हैं। ऐसी स्थिति में विचारशील पुरुष का यह परम कर्त्तव्य है कि, वह प्रवृत्ति से पूर्व इस बात को जानने का पूर्ण प्रयत्न करे कि, कौन मत और पथ तथा कौन साधन परम पद की प्राप्ति में उपयुक्त है। क्योंकि "सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदाम्पदम्। वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः" ॥ भारवि के इस कथनानुसार अन्ध श्रद्धावाले अविवेकी अभीष्ट से वञ्चित रहकर भारी संकट में पड़ जाते हैं।

जिस प्रकार रोग और उसका कारण तथा रोग-निवृत्ति और उसका उपाय; इन चारों बातों को अच्छी तरह जाने बिना रोग की निवृत्ति पूरी तरह नहीं हो सकती हैं। इसी प्रकार दुःख और उसका कारण तथा उसकी निवृत्ति और उसका उपाय, इन चारों को यथावत् जाने बिना मनुष्य अपार संसार-सागर से कदापि पार नहीं हो सकता है। यही एक भारी त्रुटि है, जिसके कारण मुक्ति के लिये किये हुये अनेक कठिनातिकठिन साधन भी वारि-मथन के समान निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि "विचारेण विना सम्यग्ज्ञानं नोत्पद्यते क्वचित्। तस्माद्विचारः कर्त्तव्यो ज्ञानसिद्धचर्थमात्मनः" ॥ अर्थात् चैतन्य आत्मा का ज्ञान यथार्थ विचार के बिना नहीं उत्पन्न होता है। इस कारण ज्ञान की प्राप्ति के लिये आत्म-विचार करना आवश्यक है।

आत्म-विचार का स्वरूप।

उक्त विचार का स्वरूप यह है कि, "कोऽहं कथमिदं जातं को वै कर्तास्य विद्यते। उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः" ॥ अर्थात् मैं कौन हूँ, यह जगत कैसे हुआ, इसका कर्ता कौन है और विश्व का उपादान कारण कौन है ? वह विचार इस प्रकार है। इस प्रकार के विचार का नाम परीक्षा है, जिसका महर्षि चरक ने यह निर्वचन किया है कि, "एषा परीक्षा नास्त्यन्या यथा सर्वं परीक्ष्यते। परीक्ष्यं सदसच्चैव तया चास्ति पुनर्भवः" ॥ (जिससे सब परखे जाते हैं यही परीक्षा है, कोई अन्य वस्तु नहीं है। और परीक्षा करने के योग्य आत्मा और अनात्मा दो ही वस्तु हैं, और परीक्षा ही के द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि होती है)। भाव यह है कि, "न परीक्षा परीक्ष्यं न कर्ता करणं न च"। अर्थात नास्तिकों के मत में परीक्षा के योग्य पदार्थ, कर्ता और करण नहीं माने जाते हैं)। इससे यह वार्ता निर्विवाद है कि, जिनके मत में परीक्षा (पारख) नहीं है, वे नास्तिक हैं। क्योंकि पुनर्जन्म की सिद्धि परीक्षा ही पर निर्भर है। विपरीत इससे जिनके मत में परीक्षा है वे आस्तिक हैं। इस बात को मनु भगवान ने भी स्पष्ट ही कह दिया है कि, "योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विज। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः" ॥ अर्थात् जो केवल शुष्क तर्क के आश्रय से श्रुति और स्मृतियों का तिरस्कार करता है उस निन्दक द्विज को साधु जन सभ्य समाज से अलग कर दें; क्योंकि वेद की निन्दा करनेवाला अर्थात् वैदिक सिद्धान्त को न माननेवाला नास्तिक है। वस्तुतः परीक्षा ही के द्वारा धर्म सत्य पद से विभूषित होता है। मनु भगवान ने तो यहाँ तक कह दिया है कि, "आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" ॥ इस प्रसंग में कविवर कालिदासजी का यह वचन अनु-

पम है कि—"तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सद-सद्व्यक्तिहेतवः। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा" ॥

सद्धर्म की इस परीक्षक-कोटि में हमारे स्वनाम-धन्य करुणा-वरुणालय सन्त महात्माओं की गणना है। जिनकी महान आत्मा और उदार हृदय हों वे ही महात्मा हैं। "अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्" ॥ यह हमारा आत्मीय है, और यह दूसरा है; यह समझना संकुचित हृदय के मनुष्यों का काम है। उदार हृदयवाले वे हैं जो कि सारी पृथ्वी को अपना कुटुम्ब समझते हैं। "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्ग न च वयः"। गुणियों की पूजा उनके गुणों ही के कारण हुआ करती है, वेष और अवस्था के कारण नहीं। समय समय पर निःस्वार्थ भाव से किये हुए महात्माओं के अनन्तानन्त उपकारों से संसार कदापि उऋण नहीं हो सकता! निर्बलों के ऊपर किये हुए प्रवल शक्तिशाली के अत्याचारों को निर्मूल करने के लिए अदम्य उत्साह से निरन्तर भगीरथ प्रयत्न करते रहना, महात्माओं का ही काम है। महात्माओं ने केवल अपनी आत्मिक शक्ति के बल से बड़े बड़े दुर्दान्त अत्याचारियों के छक्के छुड़ा दिये थे। ईश्वरीय ज्ञान-गंगा, जो कि हमारे पूर्वज महर्षियों के घोरातिघोर तपोऽनुष्ठान से सर्व-साधारण के कल्याणार्थ अवतीर्ण हुई है, उसकी अविच्छिन्न धारा को रोक कर सर्व-साधारण को उसके उपयोग से वञ्चित करनेवाले संकुचित हृदय के मनुष्यों के विरुद्ध आवाज उठाना, यह महात्माओं का ही काम है। लोक-कल्याण के लिये सदैव विष पीने के लिये उद्यत रहना और नाना यातना (कसनी) तथा शूली पर चढ़ाये जाने पर भी परमार्थ-पथ से विचलित न होना, महात्माओं ही का काम है। संसार में ऐसी कोन शक्ति है जो कि महात्माओं को अपने लक्ष्य से हटा सके। ऐसे ही महात्माओं की गणना में प्रातःस्मरणीय परम-पूज्य सद्गुरु कबीर साहब का नाम है, जिनके वचनामृत से ज्ञान-सागर यह "बीजक ग्रन्थ" भरा हुआ है, जिसके पान करने का यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ है।

कबीर साहब के अगाध ज्ञान-रत्नाकर का परिमित शब्दों में वर्णन करने के लिए मेरे जैसे साधारण बुद्धिवाले का धृष्टतापूर्वक उद्यत हो जाना ठीक वैसा ही है, जैसा कि कविकुल-चूड़ामणि कालिदासजी ने अपने विषय में कहा है कि, "मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः" ॥ अर्थात् स्वल्प बुद्धि होते हुए भी महाकवि-सुलभ यश को चाहनेवाला मैं (कालिदास) ठीक उसी प्रकार हँसा जाऊँगा जिस तरह लम्बे आदमियों से तोड़े जानेवाले फल को तोड़ने के लिये हाथ उठानेवाला बावना आदमी हँसा जाता है। मैं अपनी बुद्धि-दारिद्रयादि को जानता हुआ भी इस सूक्ति के अवलम्बन से इस कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ। "विरोधिवचसो मूकान् वागिशानपि कुर्वते। जडानप्यनुलोमार्थान् प्रवाचः कृतिनां गिरः" ॥ अर्थात् महापुरुषों की वाणी का यह महिमा है कि, उससे प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार कथन करनेवाला जड़ मति भी अपने वक्तव्य में सफलता प्राप्त कर लेता है। और उनके वचनों से विरुद्ध सिद्धान्त के प्रतिपादन करनेवाले वृहस्पति को भी अन्ततः मौन ही होना पड़ता है।

परिचय।

कबीर साहब का परिचय कराना मानों सूर्य के सामने दीपक दिखाना है। आप दीनबन्धु और पतितपावन थे। परिणाम-हितकारी तथा आपाततः विरस भासनेवाले

आपके वचन आडम्बर-प्रिय तथा मिथ्या अहंकारियों के अहंकाररूपी ज्वर को दूर भगाने के लिये शतशः अनुभूत कडवे काढ़े के समान हैं। जीर्ण-शीर्ण अनादि (आर्य सनातन) सत्य धर्मरूपी मंदिर के जीर्णोद्धार में ही आपने अपना सारा जीवन-समय समर्पित किया था। दलित जातियों के साथ सहानुभूति रखने के लिये जो कि त्रैवर्णिकों (द्विजातियों) की समुन्नति में परम सहायक हैं-आप उच्च जातिवालों को बराबर सचेत करते रहे। अत्याचारियों के अत्याचार का घोर विरोध करने के कारण दुरात्माओं के द्वारा दी हुई कठिनाति-कठिन यातनाओं को आप अखिन्न-चित्त से बरावर सहते रहे। दया की तो मानों आप मूर्ति ही थे। इसी कारण धर्म की आड़ लेकर हिंसा करनेवाले धर्मध्वजी हिन्दू और मुसलमानों को आप समुचित कड़े शब्दों से फटकारा करते थे। जैसेकि-"माटी के करि देवी देवा, काटि काटि जिव देइया (जी, ॥ जो तोहरा है सांचा देवा, खेत चरत क्यों न लेइया (जी)" ॥ और, "हिन्दू की दया मेहर तुरकन की! दोनों घट से त्यागी। ये हलाल वै झटके मारै, आगि दुनों घर लागी" ॥ "ऐ रे मूरख! नादाना! तैंने हरदम र महि ना जाना। बरवस आनि के गाय पछारिन, गला काटि जिव आप लिया। जीते से मुरदा करि डारा, तिसको कहत हलाल हुआ" ॥ तथा, "धरम कथे जहां जीव बधे तहां, अकरम करे मोरे भाई। जो तुहरा को ब्राह्मन कहिये, तो काको कहिये कसाई" ॥ इत्यादि

लक्ष्य।

"केवल ज्ञान कबीर का बिरले जन जाना"। इसके अनुसार कबीर साहब ने अन्तिम लक्ष्य कैवल्य पद (आत्यन्तिक मुक्ति) प्राप्त कराने के उद्देश्य से उत्तम अधिकारियों को सम्बोधित करके बहुधा आत्मदृष्टि से तत्त्वोपदेश दिया है। और उस पद की प्राप्ति में प्रतिबन्धकीभूत नाना प्रपञ्च और पाखण्डों का व्यक्त रूप से (खुले शब्दों में) खंडन करते हुए हिन्दू और मुसलमानों के परम्परा मुक्ति के साधक तीर्थ और व्रत, रोजा और नमाज, वेद और कितेब के सदुपयोग के लिये बार बार उपदेश दिया है। कबीर साहब की दृष्टि से वह धर्म धर्म नहीं है. जो चेतनात्मा के प्रतिकूल है। आत्मयाजिता और आत्म-तुष्टि ही इनके मत से सच्ची भक्ति और उपासना है। उनका यह वचन है कि, "जीव दया अरु आतम पूजा। इन्ह सम देव अवर नहीं दूजा"। समय और पात्र की दृष्टि से नरम और गरम सभी प्रकार के शब्दों से उक्त तत्व के अनुसरण के लिये आपने बराबर शिक्षा दी है। जैसे कि, "दादा भाई बापके लेखे, चरनन होईहौं बंदा। अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनंदा" ॥ "किते मनाऊं पांव परि, किते मनाऊं रोय। हिन्दू पूजे देवता, तुरक ना काहू होय" ॥ इत्यादि

निर्मूल शङ्का।

ऐसी स्थिति होते हुए भी कबीर साहब के विषय में यह शङ्का करना किसी प्रकार समीचीन नहीं है कि-उनने किसी मतविशेष की स्थापना के लिये वैदिक सिद्धान्त और उसके प्रवर्तक एवं पालक ऋषि और महर्षि तथा अवतारादिकों के विषय में निष्कारण आक्रमण किया है। यद्यपि कबीर साहब ने मुक्ति का साक्षात् साधन निर्विशेष आत्मतत्वज्ञान को ही माना है जैसा कि, उनका वचन है-"अमर लोक फल लावै चाव। कहहिं कबीर बूझै सो पाव" ॥ तथापि परम्परा मुक्ति के साधक सात्विक पूजा तथा अन्तरोपासना, योग, जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत, दानादिकों की व्यर्थता

उन्होंने कहीं पर नहीं लिखी है। किन्तु धर्म-ध्वजी पाखंडियों के द्वारा की हुई इन्हीं की दुरुपयोगिता का ही खंडन किया गया है जैसे कि उनके वचन हैं कि, "राम क्रिस्न की छोडिन्हि आसा, पढ़ि गुनि भये कीतम के दासा" ।। (बी. विप्रमतीसी) अवतारोपासना के विषय में आपके ये विचार हैं कि "दसरथसुत तिहुं लोक हि जाना । रामनाम का मरम है आना ।। जिहि जिव जानि परा जस लेखा । रजु का कहै उरग सम पेखा ।। जदपी फल उत्तिम गुन जाना । हरि छोड़ि मन मुकुती उनमाना ।। हरि अधार जस मीनहिं नीरा । अवर जतन किछु कहंहि कबीरा" ।। (बी. शब्द १०९) तथा, "सन्तों ! आवै जाय सो माया । है प्रति-पाल काल नहिं वाके,ना कहुं गया न आया । दस अवतार ईशरी माया, करता करि जिन, पूजा । कहंहि कबीर सुनहु हो सन्तो ! उपजै खपै सो दूजा ।। (बी. शब्द ८) । तथा, "झूठे जनि पतियाउ हो, सुनु संत सुजाना। तेरे घट ही में ठग पूर है मति खोहु अपाना ।। झूंठे का मंडान है धरती असमाना । दसहुं दिसा वाकी फंद है, जिव घेरे आना । जोग,जाप,तप,संजमा,तीरथ व्रत दाना । नौधा वेद कितेब है झूठे का बाना ।। काहू के बचनहिं फुरे काहू करमाती । मान बड़ाई ले रहे हिन्दू तुरुक जाती ।। कहंहि कबीर कासों कहौं, सकलो जग अंधा सांचा सो भागा फिरै, झूठे का बंदा" । इत्यादि (बी. शब्द ११३) । तीर्थों के विषय में आपके ये विचार हैं कि, "तीरथ गये तीन जना, चित चंचल मन चोर । एकौ पाप न काटिया, लादिन मन दस और" ।। इसके आगे को यह साखी है, "तीरथ गये ते बहि मुये, जूड़े पानि नहाय । कहंहि कबीर सन्तों सुनों, राच्छस ह्वै पछिताय" । "तीरथ भई विष बेलरी, रही जुगन जुग छाय कबिरन* । मूल निकंदिया,कौन हलाहल खाय" । (बीजक साखी, २१४,२१५,२१६)

ईश्वर या खुदा को एकदेशी मानने वाले पापकर्म से उतना नहीं डर सकते, जितना कि उसको सर्व व्यापक समझनेवाले डर सकते हैं; इसी कारण से ईश्वर को सर्व व्यापक बताते हुए एकदेशी समझनेवालों के भ्रम को दूर करने के लिये यह कहा है कि, 'जो खुदाय महजीद वसतु है, और मुलुक केहि केरा । तीरथ मूरति राम निवासी, दुहु महं किनहुं न हेरा ।। पूरब दिसा हरी को बासा, पश्चिम अलह मुकामा दिल में खोजु दिल हि में खोजो, यहीं करीमा रामा" ।। अतः इस वचन पर यह आपत्ति लगाना कि,यह उपासना-स्थलों पर निष्कारण आक्रमण है; कहां तक संगत है ? यदि हिंसाकारी हिन्दू और मुसलमान अपने २ उपासना-गृहों की तरह निरपराध पशुओं के हृदय को भी राम और खुदा के सच्चे मन्दिर और मस्जिद समझते तो उनके गले पर तलवार और छूरी चलाने का दुःसाहस वे कभी नहीं करते । इसी अभिप्राय से सद्गुरु ने बार २ कहा है कि—

"ऐ रे मूरख नादाना ! तैंने हरदम रामहिं ना जाना" । तथा, "घट-घट है अविनासी, सुनहु तकी तुम सेख !+" ।

*सूचनाः-यहा पर 'कबिरन' शब्द इस (बीजक) ग्रन्थ के संकेत से अज्ञानियों का वाचक है, कबीरमतानुयायियों का नहीं; जैसा कि समालोचना-कर्ताओं ने समझ लिया है । यह आगे 'बीजक संकेत' प्रकरण में लिखा जायगा ।

+सूचनाः-विधर्मियों के लेखों के आधार से जिन शेखतकी और ऊंजी के पीर आदिकों को कबीर साहब के गुरु बताने का दुःसाहस कतिपय समालोचक कर रहे हैं, उनको सम्बोधन करके कबीर साहब ने उक्त वचन कहे हैं । इन वचनों से किसकी शिष्यता और किसकी गुरुता प्रकट होती है ? इसका विचार विज्ञ पाठक स्वयं कर लें ।

सिद्धान्त।

कबीर साहब ने निर्विशेष (निरुपाधिक) आत्मतत्व शुद्ध चेतन का तात्पर्यंतः इंगन (सूचन) किया है। क्योंकि 'चतुष्टयी शब्दनां प्रवृत्तिर्जातिर्द्रव्यं गुणः क्रियाश्चेति'। (महाभाष्य) अर्थात जाति, द्रव्य (रूढि), गुण और क्रियाः, इन चारो को आश्रयण करके शब्द किसी अर्थ को कहने में समर्थ होता है। इस नियम के अनुसार उक्त निर्विशेष तत्व में शब्द मुख्य वृत्ति से प्रवृत्त नहीं हो सकता है। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" । उस तत्व को कहने में असमर्थ वाणी मन सहित उपरत हो जाती है। "अवचनेनाह, मौनमेवोत्तरं ददौ" इत्यादिक वचन भी इसी रहस्य को लिए हुए हैं। यदि उस तत्व के विषय में कुछ भी न कहा जाय तो अज्ञानियों को बोध किस तरह हो सकता है ? अतः बोध की सिद्धि के लिये वेद ने उस तत्व का अभिधान अतद्व्यावृत्ति रूप से किया है। अर्थात् वह तत्व ऐसा (जैसा कि अज्ञानी लोग समझ रहे हैं वैसा) नहीं है। इस बात को पुष्पदन्ताचार्य ने भी कहा है कि, "अतद्व्यावृत्या यं चकितमभिधते श्रुतिरपि । स कस्य स्तोतव्यः कति-विध-गुणः कस्य विषयः । पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः" ॥ इस प्रसंग में कबीर साहब ने भी कहा है कि, "वेदौ नकल कहै जो जानै। जो समुझै सो भलो न मानै" ॥इत्यादि ।

निस्तत्व के परिचायक सद्गुरु के ये वचन हैं कि—

—शब्द—

पंडित ! मिथ्या करहु विचारा, न वहां सिस्टि न सिरजनहारा ।
थूल (अ) स्थूल पवन नहि पावक, रवि शशि धरनि न नीरा ॥
जोति सरूप काल नहिं उहवाँ, बचन न आहि सरीरा ।
करम धरम किछुवो नहिं उहवाँ, न वहँ मन्त्र न पूजा ॥
सजम सहित भाव नहिं उहवाँ, सो धौं एक कि दूजा ।
गोरख राम एकौ नहिं उहवाँ, ना वहँ वेद विचारा ॥
हरि हर ब्रह्मा नहि सिव सक्ती, ना वहँ तीरथ अचारा ।
माय बाप गुरु जाके नाहीं, सो धौं दूजा कि अकेला ॥
कहंहि कबीर जो अबकी बूझै, सोई गुरु हम चेला ।
(बी. श. ४३)

तथा—

पंडित ! देखहु ह्रिदय विचारी, को पुरुषा को नारी ?
सहज समाना घट घट बोलै, वाके चरित अनूपा ।
वाको नाम काह कहि लीजै !, (ना) वाके बरन न रूपा ॥
तैं मैं काह करसि नल बौरे !, का तेरा का मेरा ।
राम खोदाय सकति सिव एकै, कहु धौं काहि निहोरा ॥
वेद पुरान कोरान कितेबा, नाना भांति बखाना ।
हिन्दू तुरुक जइनि औ जोगी, येकल काहु न जाना ॥
छव दरसन महँ जो परवाना, तासु नाम मन माना ।
कहंहि कबीर हमहीं पैं बौरे, ई सभ खलक सयाना ॥
(बी. श.४८)

एक ही तत्व के अनेक नाम और गुणादिकों का वर्णन भिन्न भिन्न सम्प्रदाय के लोगों ने किया है। जैसा कि इस पद्य से बोधित होता है कि, "यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मे ति वेदान्तिनो। बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः॥ अर्हन्नित्यथ जैनशासनरत कर्मेति मीमांसकाः। सोऽयं वो विदधातु मोक्षपदवीं त्रैलोक्य-नाथो हरिः॥ परस्पर नामरूपादि में औपाधिक भेद तथा सरलता-कठिनता प्रयुक्त साधनों में भेद होने पर भी सब ही ज्ञानियों का लक्ष्य एक ही रहा करता है। जैसा कि, साहब ने कहा कि–"समझै की मति एक है, जिन समझा सब ठौर। कहंहि कबीर ये बीच के, बलकहि और की और"॥ "अनाथ सुज्ञानी कोटिको, निश्चय निज मति एक। एक अज्ञानी के हिये, बरतत मतो अनेक"॥ उसी 'तत्व' का श्रुतियों ने अन्त-र्यामी, अन्तर्ज्योति, आत्मज्योति, अक्षर, आत्मा आदिक नाना अभिधानों से वर्णन किया है। जैसा कि, "य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सो-ऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छान्दोग्य उप निष)। जो आत्मा पाप, मृत्यु, क्षुधा और पिपासा से रहित है, और सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, उसीको ढूंढ़ कर जानना चाहिये। "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरः यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृहदारण्यक अन्तर्यामि-ब्राह्मण)। सबों के अन्तर वर्तमान होते हुए भी जिसको प्राणी नहीं जानते हैं, और जिसके सब प्राणी शरीर हैं, क्योंकि वह (अन्तर्यामी) भीतर रहकर सबों को स्फूर्ति देता है; वही अविनासी आत्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है। "अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोता-ऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्यो-ऽतोऽस्ति विज्ञातैषत आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोन्यऽदार्तम्"। इस अन्तर्यामी को न कोई देख सकता है, न सुन सकता है, न मन और बुद्धि से जान सकता है, क्योंकि इसके अतिरिक्त देखनेवाला, सुननेवाला, जाननेवाला कोई नहीं है। इसलिये यही आत्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है। इससे भिन्न (ईश्वरादिक) मिथ्या हैं। "सहोवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमत-मोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्र-मनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन"। (बृहदारण्यकअक्षर ब्राह्मण)। याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि, हे गार्गी! तुम्हारा पूछा हुआ अक्षर अविनाशी आत्मा यही है, जिसका कि आगे वर्णन किया जायगा। वह स्थूलादि परिमाण, लोहितादि गुण, आकाशादि तत्व तथा चक्षु आदिक इन्द्रियों से भिन्न है। वह न अंदर है, न बाहर और न उसको कोई खाता हैं, न वह किसी को खाता है। अर्थात् भोग्य और भोक्ता दोनों से रहित है।

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः"। हे गार्गी! इसी अक्षर के अधीन निश्चित रूप से सूर्य और चन्द्रमा रहते हैं। "अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य! चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मै वास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विप-ल्येतीति"। (बृहदारण्यक-कूर्चब्राह्मण)। जनक महाराज पूछते हैं कि, हे याज्ञवल्क्यजी सूर्य और चन्द्रमा के अस्त होने पर, अग्नि के बूझ जाने पर और किसी मार्गदर्शक शब्द के न आने पर (घोरान्धकार में) यह मनुष्य किसके प्रकाश से व्यवहार करता है?। मुनि कहते हैं–ऐसी दशा में इसका प्रकाशकर्ता आत्मा ही है। (अपने) आत्मा

ही के प्रकाश से यह बैठता है, जाता है, सब कामों को करता है और लौट कर चला आता है। "कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः"। वह आत्मा पुरुष कौन है ? उत्तर- जो यह ज्ञानरूप से इन्द्रिय और प्राणों के समीप रहता हुआ हृदयस्थ बुद्धि में स्वयं प्रकाश रूप से वर्तमान है। इसी निरुपाधिक स्वयंज्योति का सद्गुरु ने भी सबसे प्रथम " अन्तर जोति शब्द एक नारी " इत्यादि रमैनी से बोधन कराया है।

यद्यपि आत्मा सर्वव्यापक है तथापि हृदय में उसकी उपलब्धि होने के कारण वह 'अन्तर्ज्योति' कहा गया है। यही आत्मा कार्यकारणसंघात का द्रष्टा (साक्षी) है, तथा अविनाशि होने के कारण सुषुप्ति का भी साक्षी है। "नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्"।

माया की रचना।

जिस प्रकार आत्मा अनादि है, उसी प्रकार माया भी अनादि हैं। दोनों ही अनादि होते हुए भी, चेतनात्मा अनादि अनन्त है,और माया अनादि सान्त है। "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे" इत्यादि बचनों से माया का अभिधान श्रुति ने किया है। कबीर साहब ने भी माया की अनादिता का वर्णन "तहिया गुपुत थूल नहि काया। ताके न सोग ताकि पै माया"॥ तथा,'नारि एक संसार हिं आई। माय न बाके बापहिं जाई॥ गोड न मुँह न प्रान अधारा, ता महँ भमरि रहा संसारा"॥ इत्यादि पदों से किया है। यही माया के चेतन की सत्ता से कार्यकारणरूप संघात की जननी होने के कारण "सत्वरजस्तमसांसाम्यावस्था प्रकृतिः" इसके अनुसार प्रकृति भी कही जाती है। और यही माया सत्वगुण की अप्रधानता से अविद्यारूप को धारण कर लेती है। जैसा कि, विद्यारण्य स्वामी का कथन है कि, " चिदानन्दमयब्रह्म-प्रतिबिम्बसमन्विता। तमोरजःसत्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा। सत्वशुद्धचविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते माया बिम्बं वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः"॥ एक ही तत्व माया रूप उपाधि के कारण ईश्वर और अविद्या उपाधि से जीव,कहा जाता है। चेतनता में दोनों की समानता होते हुए भी उपाधि की शुद्धता और अशुद्धता के कारण सर्वज्ञता और अल्पज्ञता आदिक गुणों कामहान् अन्तर हो गया है। इस प्रसङ्ग में सद्गुरु ने भी कहा है कि—

"नारी एक पुरुष दोय जाया, बूझहु पंडित ज्ञानी"। और अविद्या का वर्णन जुलाहिन के रूप से किया है। जैसे कि, "खुर खुर खुर खुर चाले नार। बैठि जुलाहिन पलथी मार"॥

इसी माया से रज, सत्व और तमोगुण की प्रधानता के कारण ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी की सृष्टि हुई है। उपाधि दृष्टि से भेद होते हुए भी वस्तुतः ये सब 'तत्व' से भिन्न नहीं हैं, जैसा कि, कैवल्य श्रुति का यह वचन है कि, "स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रश्चेति" सद्गुरु ने भी कहा है कि,"रज गुन ब्रह्मा तमगुन संकर सत्तगुना हरि सोई। कहंहि कबीर राम रमि रहिये हिंदू तुरुक न कोई॥" इसी प्रकार जीवों के भोगोंन्मुख कर्मो के अनुसार बार बार सृष्टि और प्रलय हुआ करता है। माया के अघटित-घटना-पटीयसीपने के कारण चिदाकाश में किसी प्रकार का शंका-पंक नहीं लग सकता है। बीजाङ्कुरन्याय से पूर्व २ कर्मो से उत्तर २ शरीरादिकों का निर्माण तथा नाना शरीरों से नाना जन्म-दायक कर्म-समूह होता ही रहता है। जिसके कारण सात्विक, राजस और तामस कर्मो के फलानुरूप देव, मानव और दनुजादि शरीरों को धारण करता हुआ यह जीवात्मा चौरासी लाख योनियों में भ्रमण किया करता है

बन्धन और उसकी निवृत्ति ।

इसके बन्धन का एकमात्र कारण अध्यास है, जिसको चिज्जड़ चेतन की ग्रन्थि भी कहते हैं। बात यह है कि, अज्ञान-वश जीवात्मा अपने (चेतन के) धर्म आनन्दादिकों को जड़ के [विषयों के] धर्म मान लेता है। अर्थात् यह सुख-भोग मुझको विषयों से मिला है, ऐसा जान लेता है। और जड़ के धर्म वर्ण, आश्रम, अवस्था, आधि, व्याधियों को अपने (चेतन के) धर्म मान लेता है। इसलिये परमानन्द-स्वरूप होते हुए भी अपार दुःख में डूबा रहता है। इसके दुःख का एक मात्र कारण अज्ञानजन्य भ्रम है। जैसा कि सद्गुरु ने कहा है कि—

अपन पौ आपुही बिसरो।
जैसे सुनहा काच-मंदिल में भरमतें भूंसि मरो ॥
जौं केहरि बपु निरखि कूप-जल, प्रतिमा देखि परो ॥
वैसेही गंज फटिक-सिला पर, दसनन्हि आनि अरो ॥
मरकट मूठि स्वाद नहिं बिहुरे, घर घर रटत फिरो ॥
कहंहि कबीर ललनी के सुगना, तोहि कौने पकरो ॥

जिस प्रकार प्रकाश के अतिरिक्त अन्धकार की निवृत्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती है। इसी प्रकार अपने शुद्धानन्द-स्वरूप के साक्षात् ज्ञान के बिना अन्यान्य उपायों से अज्ञान की भी निवृत्ति नहीं हो सकती है। जैसा कि श्रुति का वचन है कि, "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" [अपने शुद्ध स्वरूप को जानने से ही जीवात्मा मृत्यु रहित हो सकता है; क्योंकि मुक्ति का मार्ग दूसरा नहीं है]। इसी बात को सद्गुरु ने भी कहा है कि, "आपुआपु चेते नहीं (औ) कहौं तो रुसवा होय। कहंहि कबीर जो सपने जागे, अस्ति निरास्ति न होय" ॥ तथा, "सुख बिसराय मुकुति कहां पावै। परिहरि साँच झूंठ निज धावै" इत्यादि। अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति के लिये अपरोक्ष स्वरूप ज्ञान का होना आवश्यक है, तथा निरुपाधिक कैवल्य पद की प्राप्ति के लिये निरुपाधिक कैवल्य ज्ञान ही उपयोगी हो सकता है। सोपाधिक ज्ञान नहीं, सोपाधिक ज्ञान अयथार्थ है। शुद्ध चेतन निरुपाधिक है, अतः निरुपाधिक ज्ञान से ही उसका साक्षात्कार हो सकता है। जो वस्तु जैसी हो उसका ठीक वैसा ही ज्ञान होना यथार्थ कहलाता है। जैसा यह लक्षण है कि, "तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं यथार्थम्"। इससे जो विपरीत ज्ञान है वह अयथार्थ [मिथ्या] ज्ञान कहा जाता है। फलतः निरुपाधिक (केवल) ज्ञान से ही साक्षात् मुक्ति मिल सकती है, सोपाधिक (विशिष्ट) ज्ञान से नहीं। इस विषय में श्रुति-प्रमाण ऊपर दिया जा चुका है। इसी अभिप्राय से कबीर साहब ने तटस्थ ईश्वरवादी अर्थात् अपने स्वरूप से भिन्न लोकविशेषनिवासी ईश्वर को माननेवाले, परोक्ष-ज्ञानवादी, गुणोपाधि से भिन्न नाना देवों की उपासना करनेवाले तथा अनात्म-भौतिक ज्योति अनहद शब्दादिकों की उपासना से मुक्ति माननेवालों का खण्डन इस ग्रन्थ में कई स्थलों पर किया है। तत्वदृष्टि से कबीर साहब का यह कथन श्रुति से अनुमोदित है। अतः इस कथन को देवादिकों के प्रति निष्कारण आक्रमण ठहराना समालोचना-कर्ताओं की अज्ञानिता है। उदाहरणार्थ कुछ वचन यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—"नियरे न खोजै बतावै दूरि। चहुंदिसि बागुरि रहलि पूरि"।

साम्प्रदायिक नाम ।

इस प्रसंग में यह बात जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि, इस ग्रन्थ में कहे हुए राम, हरि,शार्ङ्गपाणि, यादवराय,गोपाल आदिक साम्प्रदायिक नाम तथा साहब राउर,खसम आदिक नाम उक्त प्रत्यक् शुद्ध चेतन को बोधन कराने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। लोकविशेष-निवासी तटस्थ ईश्वर और सादि [अवतार] राम के विषय में नहीं, क्योंकि अपने राम और गोपाल को उन्होंने साक्षात् सर्वत्र वर्तमान बताया है। यह वार्ता इन पद्यों से स्पष्ट है–"दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना" ॥ "गये राम और गये लछमना" ॥ "तिरविधि रहौं सभनि मां बरतौं नाम मोर रमुराई हो"। "बिनु गोपाल ठौर नहिं कतहूँ नरक जात धौं काहे।" "हृदया बसे तेहि राम न जाना"। इत्यादि।

अपरोक्षार्थ–प्रधान उपदेश ।

उक्त तत्व के बोध के लिये दिये हुए कबीर गुरु के उपदेश में इतर उपदेशों से यह विलक्षणता है कि,वह अपरोक्षार्थ-प्रधान है। जैसे, "सो तो कहिये ऐस अबूझ। खसम अछत ढिग नाहीं सूझ" ॥ "हृदया बसे तेहि राम न जाना"। "पूरब दिसा हंस गति होई। है समीप संधि बूझै कोई" ॥ "ऐरे मूरख नादाना तैंने हरदम रामहिं ना जाना" ॥ इत्यादि। इसी अस्वारस्य से "तत्वमसी इनके उपदेसा" इस स्थल पर बार-बार पराभिमत-सूचक 'इनके' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस रहस्य को न जाननेवाले, कबीर साहब के सिद्धान्त में सन्दिग्ध चित्तवाले कतिपय आग्रही पुरुष उक्त रमैनी के शब्दों को तोड़ मरोड़ कर स्वसम्प्रदाय-विरुद्ध स्वाभिप्रेत की सिद्धि के लिये निष्फल प्रयत्न करते हुए कालिदासजी को इस सूक्ति को चरितार्थ करते हैं! "के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः"। [व्यर्थ अकांड तांडव करनेवाले अवश्य ही परास्त होते हैं]।

निरुपाधिक तत्व ।

इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक सोपाधिक का खंडन और निरुपाधिक तत्व का मंडन साद्यन्त वर्तमान है। अतः तत्व की ओर दृष्टि न देकर केवल रामादिक नामों की समानता से कबीर साहब के विषय में यह स्थिर करना कि, "कहीं पर तो भक्ति के आवेश में आकर उन्होंने अवतारों का प्रतिपादन किया है। जैसे कि— "कहैं कबीर एक राम भजे बिनु बाँधे जमपुर जासी"। इत्यादि। और कहीं पर अवतारों का खंडन किया है। जैसे कि–'गये राम औ गये लछमना' तथा, 'जाहि राम को करता कहिये तिनहुँ को काल न राखा' इत्यादि। अतः वे असयतभाषी (कभी कुछ और कभी कुछ कहनेवाले) थे"। अपनी तुच्छ बुद्धि पर पश्चात्ताप न करके एक महाज्ञानी, महापुरुष और महात्मा के विषय में इस प्रकार विष उगलना समालोचकों की हृदय-हीनता और बुद्धि की दुर्बलता का परिचायक है। इस प्रसंग में विद्वज्जनवन्दिता सीता की यह उक्ति स्मरण हो आती है–'विपुलहृदयैकवेद्यै, खिद्यति शास्त्रे न मौर्ख्ये स्वे। प्रायः कंचुकिकारं निन्दति शुष्कस्तनी नारी'। [जिस प्रकार सूखे स्तनवाली स्त्री मूर्खतावश अपने स्तनों की दशा को न समझ कर चोली बनानेवाले बेचारे दरजी की बराबर निन्दा किया करती है]। इसी प्रकार शाखा-चक्रमण करने वाले मूर्ख लोग उदार हृदयवाले

महापण्डितों से जानने योग्य शास्त्रको न समझने के कारण उस पर नाना प्रकार के मिथ्या दोषारोपण किया करते हैं। परन्तु अपनी बुद्धि की तुच्छता का वे कभी विचार नहीं करते। कबीर साहब वैष्णव सम्प्रदाय के परमोद्धारक परमपूज्य श्रीयुत स्वामी रामानन्दजी महाराज से दीक्षित हुए थे। अतः वैष्णव सम्प्रदाय के नाम राम, गोपाल, हरि आदिकों का परम तत्व के स्मरण करने के लिए प्रयोग करना उनके लिए स्वाभाविक ही था। सभी महापुरुषों ने साम्प्रदायिक नामों से ही तत्वोपदेश तथा तत्व-स्मरण किया है। यथा, 'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी, यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः। अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते, स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः'' ॥ इत्यादि। अर्थात् यह महादेव तुम सबों को मुक्ति प्रदान करे, जो कि वेदान्त में एक पुरुष कहा जाता है। और जिसको प्राणायाम के द्वारा मुक्ति चाहनेवाले ढूंढ़ा करते हैं।

विचार की प्रधानता।

यहां तक यह सिद्ध हुआ कि, मुक्ति का साक्षात् साधन आत्मबोध (निज रूप का लखना) है 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' आत्म-साक्षात्कार के बिना मुक्ति नहीं हो सकती है। मुक्ति के साधन ज्ञान में सब ज्ञानी महात्माओं का एक मत होने पर भी ज्ञान के साधन आत्मविचार और उपासनादिकों में (सम्प्रदायभेद और प्रक्रियाभेद से) मतभेद है। जिनको अपने अधिकारानुरूप जिस साधन से आत्मबोध हुआ है, उन्होंने इतर-मत-निरासपूर्वक उसी मार्ग का प्रतिपादन किया है। यदि साधनों में श्रेष्ठत्वाश्रेष्ठत्व का विवेक किया जाय तो आत्मविचार (निज पारख) की सर्व-प्रधानता निर्विवाद सिद्ध है। विवेक वैराग्य, और शम, दमादि षट्सम्पत्ति वाले उत्तम अधिकारियों को केवल विचार (पारख) ही के द्वारा निजरूप का साक्षात् भान हो जाता है। जैसा कि श्रुति का वचन है, 'तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वंपाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वंपाप्मानं तपति विपापो विरज इत्यादि'। [जिससे कि, आत्मा असङ्ग निर्विकार है; अतः सद्गुरु के उपदेश से आत्मा की असङ्गता जान कर शान्ति (बाह्येन्द्रियों का निरोध), दान्ति (मन का निरोध), उपरति (सर्वैषणात्याग और निष्कामता) और तितिक्षा (शीतोष्णादि द्वन्द्वसहन) को धारण करता हुआ उत्तमाधिकारी कार्य-कारण-संघात में ही प्रत्यक्चेतन (शुद्ध निजरूप) को व्यापक रूप से देखता है। उक्त रूप से अपने रूप को जानने वाला सर्व पाप और शोक, मोहादि से रहित होकर जीते जी मुक्त हो जाता है।]

अविचार से प्राप्त हुए बन्धन की निवृत्ति का एकमात्र उपाय विचार (पारख) ही है। आत्म-विचार (पारख-पद) मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट 'साधन' है, अतः उसके अधिकारी भी शुद्ध हृदयवाले उत्तम पुरुष ही हो सकते हैं। और जो मध्यम पुरुष देहाध्यासादिक से दूषित हृदय होने के कारण आत्मविचार रूपी कसौटी (पारख-पद) पर नहीं टिक सकते हैं, उन्हीं के लिये वेदान्त शास्त्र में 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार प्रत्ययावृत्तिरूप निर्गुण ब्रह्म की उपासना का विधान है। जैसा कि, विद्यारण्य स्वामी ने 'ध्यानदीप' में कहा है—'अत्यन्त बुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात्। यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम्'' ॥ (अत्यन्त मन्द बुद्धिवाले दूषित हृदय होने के कारण आत्मविचार नहीं कर सकते हैं, अतः उनको उचित है कि, वे सदैव ब्रह्म की ''अहं

ब्रह्मास्मि २" इस प्रकार उपासना किया करें)। 'देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां न हठात्पुमान्। ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मन्दधीत्वतः" ॥। देहादि अध्यास के रहते हुए मन्दाधिकारी आत्मैकत्व ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है)।' "ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम्। महावाक्यैस्तथाप्येतद्दुर्बोधमविचारिणः" ॥ (यद्यपि शास्त्रों में ब्रह्मात्मा का महावाक्यों से अभिन्नत्वेन वर्णन किया गया है, तथापि बिना विचार के उसका साक्षात् बोध नहीं हो सकता है)। "उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम्। विचाराक्षममर्त्याश्चतच्छ्रुत्वोपासते गुरोः" ॥ [ब्रह्मोपासना का विधान वेदान्त के ग्रन्थों में किया गया है। अतः जो मन्दाधिकारी अपनी बुद्धि की मन्दता के कारण विचार (पारख) करने में असमर्थ हैं उनको, उचित है कि, वे ब्रह्मज्ञानी गुरु से ब्रह्मोपदेश सुन कर उसकी '-अहं ब्रह्मास्मि" "अहं ब्रह्मास्मि" इस प्रकार प्रत्ययावृत्तिरूप उपासना किया करें]। 'अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितः। विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति सन्ततम्" ॥ (आत्मगीता में यह वार्ता बार-बार स्पष्ट रीति से कही गयी है कि, जो आत्मविचार (निजरूप की पारख) करने में असमर्थ हैं वे निर्गुण ब्रह्मोपासना करें)। इस विषय को आगे स्पष्ट किया जायगा।

सद्गुरु का आश्रय--ग्रहण।

उक्त आत्म-विचार सद्गुरुके उपदेश के बिना नहीं हो सकता है, अतः उत्तमाधिकारी को उचित है कि, वह आत्मनिष्ठ तत्ववेत्ता [परम पारखी] सद्गु - की शरण में विधिपूर्वक उपस्थित होकर आत्मोपदेश से आत्म-लाभ प्राप्त करे। जैसा कि श्रुति और स्मृतियों के वचन हैं, "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" ॥ तथा, "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः" ॥ कबीर साहब ने भी कहा हैं कि, "सन्तो भक्ति सतोगुरु आनी। नारी एक पुरुष दोइ जाया बूझहु पंडित ज्ञानी" ॥ उत्तम साधन होने के कारण उत्तम अधिकारियों को 'बूझहु पंडित! करहु विचारा'। "बुझ बुझ पंडित पद निरबान"। "सन्त महन्तो! सुमिरहु सोई"। इस प्रकार सम्बोधन करके कबीर साहब ने आत्म-विचार (पारख) का ही सर्वत्र उपदेश दिया है। तथा, "करु विचार विकार परिहरु तरन तारन सोय। कहँहिं कबीर भगवंत भजु नल दुतिया अक्षर न कोय' ॥

आत्म--साक्षात्कार के प्रकार--भेद।

यहाँ पर इस रहस्य का उद्घाटन कर देना अत्यन्त आवश्यक है। सन्तमत के प्रवर्तक सद्गुरु कबीर साहब का उक्त आत्म-विचार में वेदान्त के प्रक्रिया ग्रन्थों से सम्वाद होते हुए भी जिस अंश में मतभेद है वह दिखाया जाता है। पूर्वोक्त रीति से सत्वशुद्धिवाले उत्तम अधिकारियों को विचार द्वारा और देहाद्यासक्तिवाले मन्दाधिकारियों को ब्रह्मोपासना द्वारा आत्म-साक्षात् करने का विधान किया गया है। इस विषय में सद्गुरु के ये विचार हैं कि, जो मन्दाधिकारी सत्वशुद्धिके अभाव से आत्म-विचार नहीं कर सकता है वह निर्गुण ब्रह्मोपासना भी नहीं कर सकेगा, क्योंकि महा वाक्य-जन्य परोक्ष ज्ञान से होनेवाली ब्रह्मोपासना मन की कल्पना है। इस कारण उससे हृदय के विकार अहंकारादिक की निवृत्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत महा अहंकार

की उत्पत्ति होती है; जो कि वासनावाले मन्दाधिकारियों को हानि पहुंचा सकती है। वह है अपने आपको ब्रह्म मानना। यथा, "यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते। तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत्" ॥ [मन्दाधिकारी को उचित है कि, वह तब तक 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार ब्रह्मोपासना करे, जब तक अपने हृदय में ब्रह्मत्वाभिमान (मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार) न हो जाय। इस प्रकार प्रतिदिन वैसे ही करता हुआ मरणपर्यन्त ब्रह्मत्वाभिमान को हृदय में धारण किये रहें]। यहाँ पर यह विचारणीय है कि, जो हृदय वासना-पंकिल है, उसमें ब्रह्मदेव की प्रतिष्ठा किस प्रकार हो सकती है, अतः विकारों को दूर करने के लिए भी विषयानित्यता और परिणाम-विरसता आदिक विचार ही उपयुक्त हैं। "कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे स्थितः"। (उस वृक्ष में हरे हरे पत्ते किस प्रकार निकल सकते हैं, जिसके खोखले में अग्नि जलती हो)। इस वचन के अनुसार कामनादिक विकारवाले पुरुष पूर्वोक्त विचार के बिना ब्रह्मोपासना से आत्मसाक्षात् नहीं कर सकते, अतः विचार-निवृत्ति के लिये विचार करने की अनुमति सद्गुरु ने इस प्रकार दी है–'करु विकार जिहि सब दुख जाई। परिहरि झूठा केर सगाई" ॥ "भव अति गरुआ दुख करि भारि। करु जिय जतन जो देखु विचारी" ॥ तथा, "खरा खोट जिन्ह नहि परखाया। चहत लाभ तिन्ह मूल गमाया"। इत्यादि।

वस्तुतः यमनियमादि अनुष्ठानपूर्वक किये जानेवाले संसारानित्यादि विचार से सत्वशुद्धि हो जाने पर ब्रह्मोपासना की आवश्यकता ही नहीं रहती। जो विचार करने में असमर्थ हैं उनको विचार शक्ति प्राप्त करने के साधनों का अनुष्ठान करना चाहिये। फलतः ब्रह्मोपासना उक्ताधिकारियों के लिए उपयुक्त नहीं। इसी अभिप्राय से कबीर साहब ने यह कहा है कि, 'मैं तोहि जाना तै मोहि जाना मैं तोहि मांहि समाना। उतपति परलय एकहु न होते तब कहु कवन ब्रह्म को ध्याना"। "जोगिया ने एक ठाठ रचो है राम रहा भरपूरी। औषध मूल किछु नहिं वाके, राम सजीवन मूरी" ॥ तथा, "बुझ लीजे ब्रह्मज्ञानी। घूर घूर बरषा बरषावो परिया बूंद न पानी। चिउंटी के पग हस्ती बांधो छेरी बीगर खाया" ॥ इत्यादि। भाव यह है कि, काल्पनिक ब्रह्मत्वाभिमान से क्षणिक शान्ति प्राप्त होने पर भी नाना कामनाओं की विद्यमानता से तथा ब्रह्मत्वाहंकार का स्वयं अभिमान रूप होने के कारण मन्दाधिकारियों को ब्रह्मोपासना से परम शान्ति नहीं मिल सकती है। इस बात को व्यंग्य रूप से कबीर साहब ने इस साखी में कहा है, "यह मन तो सीतल भया जब उपजा ब्रह्मज्ञान। जेहि बसंदर जग जरै, सो पुनि उदक समान" ॥ इसका अर्थ बीजक ग्रन्थ के टीकाकार काशी कबीरचौरा के महात्मा रामरहस्य साहब ने इस प्रकार किया है–"मूढ सबै ज्ञानी भये, आपै ब्रह्म कहाय।" तथा, "ब्रह्म होय सीतल भये, सीतल तृप्ती रूप। अनल समानी ताहि जल परे भरम तम कूप" ॥ (पंचग्रन्थी, टकसार)। दूसरा विषम्वाद यह है कि, तत्वबोध के लिए दिया हुआ कबीर साहब का उपदेश प्रत्यक्षार्थ-प्रधान है। 'तत्वमस्यादि' के समान [प्रत्यभिज्ञावत्] परोक्षापरोक्षार्थोभय प्रधान नहीं है। इसी अस्वारस्य से "तत्वमसी इनके उपदेसा" इस रमैनी में पराभिमत सूचक 'इनके' पद का प्रयोग किया गया है।

आत्म-विचार और ब्रह्मोपासना में यह भी एक अन्तर है कि, विचार वस्तु के अनुरूप होता है; अतः वह कर्त्ता के अधीन नहीं। और ब्रह्मोपासना कर्त्ता के अधीन होती है, तथा ध्यान की निवृत्ति से विलीन हो जाती है। यह वार्ता वेदान्त के ग्रन्थों

में स्पष्ट है। इसी अभिप्राय से सद्गुरु ने विचार की श्रेष्ठता बताते हुए कहा है कि, 'ताजी तुरकी कबहुं न साधेउ, चढेउ काठ का घोरा हो'। उक्त आत्म-विचार में अतीत विषय-चिन्तन, वर्तमान विषयासक्ति तथा भावी स्वर्गादिकों की इच्छा, ये तीन प्रतिबन्धक होते हैं। इन्हीं की निवृत्ति प्रयत्नपूर्वक करना अत्यन्त आवश्यक है।

षड्लिङ्ग--विचार।

कबीर साहेब के निर्दिष्ट तात्पर्य के निर्णय के लिए उपक्रमादिक षड्लिगों का विचार भी आवश्यक है। जिस प्रकार आलंकारिक आदिकों ने शब्दार्थ-सन्देह स्थल में "संयोगोविप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः। सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्ति स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष-स्मृतिहेतवः" ॥ (वाक्यपदीये भर्तृहरिः)। उक्त प्रकार से अर्थनिर्णायकतया संयोगा-दिकों को माना है। इसी प्रकार वेदान्तादि स्थलों में तात्पर्य निर्णय के लिये षड्लिग माने गये हैं। यथा, "उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये" ॥ प्रकरण प्रतिपादित अर्थ का ग्रन्थ के आदि और अन्त में वर्णन करना 'उपक्रमोपसंहार की एकता' रूप लिंग है। जैसे कि, बीजक के आदि में जिस निर्विशेष सर्वादि रूप आत्मतत्व का 'अन्तरजोति' और 'रामरूप' से वर्णन किया है, उसीका ग्रन्थ की समाप्ति में "जासों नाता आदिका बीसर गया सो ठौर" तथा, "साखी आंखी ज्ञान की, समुझु देखु मन मांहि। बिनु साखी संसार का, झगरा छूटत नाहि"। साक्षी [अन्तर्यामी] रूप से वर्णन किया है। और प्रतिपादित अर्थ का पुनः पुनः कथन 'अभ्यास' कहलाता है। यथा, "रहहु सँभारे राम विचारे, कहता हौं जो पुकारे हो"। राम बिना नल होइ हो कैसा, बाट मांझ गोबरौरा जैसा" ॥ "आदि को ऊदेस जाने तासु वेष बाना"। तथा प्रतिपाद्य वस्तु की प्रमाणान्तर-अविषयता 'अपूर्वता' कहलाती है। यथा, "रूप निरूप जाय नहिं बोली। हलुका गरुआ जाय न तोली" ॥ तथा प्रतिपाद्य वस्तु के ज्ञान से परम पुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि को 'फल' कहते हैं। यथा "बहुत दुःख है दुःख की खानी। तब बचि हो जब रामहिं जानी ॥ रामहिं जानि जुगति सो करई। जुगतिहि ते फंदा नहिं परई" ॥ तथा, प्रतिपाद्य वस्तु की प्रशसा को 'अर्थवाद' कहते हैं। यथा, "रामनाम का सेवहु बीरा, दूर नाहिं दूरि आसा हो। आन देव का सेवहु बौरे, ई सभ झूठी आसा हो"। तथा, नाना दृष्टान्ता-दिकों से प्रतिपाद्य की सिद्धि को 'उपपत्ति' कहते हैं। यथा, "इच्छा के भवसागरे बोहित राम अधार। कहहिं कबीर हरि सरण गहु, गोबछ-खुर-विस्तार" ॥ इत्यादि

अन्तिम लक्ष्य एक है।

उक्त षड्विध लिंगों के पर्यालोचन से कबीर साहब का तात्पर्य विचार द्वारा शुद्धात्मबोध कराने में ही है। मंदाधिकारियों के लिए प्रतिपादित ब्रह्मोपासना में नहीं। इसी ब्रह्मोपासना के निरास में सबके सब सन्त मतानुयायी तथा सम्प्रदायी एक मत हैं। इसका एकमात्र कारण उस ब्रह्मोपासना के द्वारा अशुद्ध हृदयवालों को-जो कि ब्रह्मोपासना के अधिकारी बताये गये हैं—पहुंचनेवाली हानि की सम्भावना ही है। जैसा कि, बहुधा देखने में आता है। सद्गुरु के इस उच्च सिद्धान्त को नहीं जाननेवाले कतिपय संशयात्माओं ने "ई निश्चै इन्ह के बड भारी। वाहिक वरनन करु अधिकारी" ॥ "कहां लौं कहौं जुगन की बाता, भूले ब्रह्म न चीन्हें बाटा" ॥

इत्यादि अनेक स्थलों में परस्पर विरुद्ध असंगत और मूलकार के आशय के विरुद्ध तथा पुनरुक्ति आदिक अनेक दोषों से दूषित रेखाङ्कित पाठभेदों की तरह अपने से कल्पित नाना पाठान्तर बना कर स्वाभीष्ट की सिद्धि के लिए सम्प्रदायोच्छेद करने का महा भयंकर और निष्फल प्रयत्न किया है। स्थानाभाव से इस समय विस्तृत विवेचना नहीं की जाती है।

सबही कबीरपंथी ग्रन्थ तथा भजनों में कुछ कुछ प्रक्रियाभेद होते हुए भी मंदाधिकारियों से अनुष्ठित उक्त ब्रह्मोपासना के निरास में उन सबों की एक वाक्यता है। ब्रह्मोपासना में होनेवाले अहंकार का उल्लेख "यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते। यावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत्" ॥ इत्यादि पद्यों से पहले कर चुका हूँ। इसी बात को महात्मा श्री रामरहस्य साहब ने स्वविनिर्मित पञ्चग्रन्थी में कहा है, "जमा एक-पद बहु भया, कारण हंता पाय ॥ हन्ता वासी जीयरा, सोई ब्रह्म कहाय" ॥ उक्त महात्मा ने शुद्ध चेतन (निजपद) का स्मरण 'राम भूमिका, आतमराम, रमैया, रमिता' आदिक शब्दों से किया है और विचार (पारख) द्वारा उत्पन्न होनेवाले अपरोक्ष ज्ञान से उसके साक्षात्कार होने का सर्वत्र वर्णन किया है, जो कि सद्गुरु के वचनों के सर्वथा अनुकूल है। कतिपय टीकाकार अविद्योपाधिक जीवरूप को ही परमार्थ और स्थिर पद (जमा) बताते हैं। उनका यह सिद्धान्त "साखी सब्दी गावत भूले, आतम खबरि न जाना"। इत्यादिक सद्गुरु के वचनों के अनुरूप नहीं है। क्योंकि, जो कर्म-परतन्त्र संसरणशील सोपाधिक चेतन है, उसीकी 'जीव' संज्ञा है। 'कर्महि के बस जीव कहतु है, कर्महि को जिव दीन्हा" (बीजक)। "जीवो वै प्राणधारणात्" जो प्राणों को (सूक्ष्म शरीर को) धरकर संसार में भ्रमण करता रहे, उसीको 'जीव' कहते हैं। ऐसी दशा में वह जमा पद [स्थिरपद, या निजपद।] कैसे कहा जा सकता है ?। मुक्त होने पर तो प्राणोपाधि की निवृत्ति से उसकी जीव संज्ञा ही नहीं रहती, अतएव सद्गुरु ने "ठाढे देखैं हंस कबीर" इत्यादि स्थलों में मुक्तात्माओं को लक्ष करके 'हंस कबीर' पद का प्रयोग किया है। जीव का तो यह लक्षण है कि, "जीव होय सो जुग जुग जीवै उतपति परलय माहीं। देह धरै भुगतै चौरासी, निरभय कबहूँ नाहीं" ॥ श्रीयुत गोस्वामीजी ने भी कहा है कि, 'परबस जीव स्ववस भगवन्ता'। जीवात्मा की दुःखदशा का वर्णन सद्गुरु ने रमैनियों में विस्तारपूर्वक किया है। यथा, "जियरा आपन दुखहिं संभारू। जे दुख व्यापि रहल संसारू ॥ उपजि विनसि फिर जोइनि आवै। सुख को लेस न सपनेहु पावै" ॥ इत्यादि

बिना परिचय उपासना अपूर्ण है।

यहाँ तक यह कहा गया कि, विचार द्वारा निरुपाधिक (शुद्ध) स्वरूप के साक्षात्कार से ही कैवल्य पद (मुक्ति) प्राप्त हो सकता है। सोपाधिक (साकेतादि लोकविशेष निवासी) ईश्वरादि के ज्ञान से नहीं। इसी अभिप्राय से कबीर साहब ने अपने स्वरूप से भिन्न लोकविशेषनिवासी परोक्ष तटस्थ ईश्वरादिकों का खंडन किया है। यथा,–'चात्रिक कहाँ पुकारो दूरी। सो जल सकल रहा भरपूरी'॥ और 'कहहु हो अंमर! कासो लागा ? चेतनहारे चेत सुभागा' ॥ तथा, 'नियरे न खोजें बतावै दूरि, चहुँ दिसि वागुरि रहलि पूरि" ॥ इसी प्रकार राम के परिचय बिना केवल रामनाम की उपासना करनेवाले अन्ध श्रद्धालु उपासकों को लक्ष्य करके इस पद्य में उनकी उपासना की अपूर्णता बतायी गयी है 'हरि मोरा पिउ मैं राम की बहुरिया।

राम वडो मैं तनकि लहुरिया" ।। अन्त में कहा है—'कहहि कबीर सूत भल काता, चरखा न होय मुकुति को दाता' । बीजेश्वरवादियों का यह मत है कि, बीज वृक्ष-न्याय से यह संसार ईश्वर का परिणाम है ! उसका खंडन कबीर साहब ने इस प्रकार किया है—"जो पै बीज रूप भगवान तो पंडित का पूछहु आन" । माया और गुणत्रयरूप उपाधि के आश्रयण से नाना अवतार और नाना देवताओं का आविर्भाव हुआ करता है । यह वार्ता "प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया" इत्यादि वचनों से प्रति-पादित होने के कारण सर्व-सम्मत है । और सोपाधिक उपासना से निरुपाधिक (प्रत्यक्चेतन) की प्राप्ति नहीं हो सकती (यह पहले कहा जा चुका है) । इसी आशय से कबीर साहब ने अवतारोपासना, तटस्थेश्वरोपासना तथा नाना देवोपासना में अपना अस्वारस्य प्रकट किया है । यथा, "सन्तो ! आवे जाय सो माया । है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुँ गया न आया" । अन्त में कहा है कि, "दस अवतार ईसरी माया करता करि जनि पूजा । कहँहि कबीर सुनहु हो सन्तो ! उपजै खपै सो दूजा" ।। तथा, "रजगुन ब्रह्मा तमगुन संकर सत्त गुना हरि सोई । कहँहि कबीर राम रमि रहिये हिन्दू तुरुक न कोई' ।।

त्रिदेवोपासना ।

गुणत्रय-प्रधान तीनों देवता सर्जन, पालन और संहार रूप कार्य को करनेवाले अधिकारी पुरुष हैं । और अधिकारी पुरुषों के लिए यह नियम है कि, अधिकारं समा-प्यैते प्रविशन्ति परं पदम्" । अधिकारी पुरुष अपने अधिकार की समाप्ति के अन-न्तर मुक्तिपद को प्राप्त करते हैं, क्योंकि सत्व, रज और तम, ये तीनों गुण बन्धन-कारक हैं । यह वार्ता गीता के १४ वें अध्याय में 'तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकम-नामयम्' इत्यादि श्लोकों से स्पष्ट है । दूसरी रमैनी की टीका में भी इस विषय में प्रकाश डाला गया है । फलतः त्रिदेवोपासना में कबीर साहब के अस्वारस्य का यही बीज है । 'रजगुन ब्रह्मा तमगुन संकर सत्तगुना हरि सोई । कहँहि कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरक न कोई" ।। इत्यादि अवतारोपासना को कबीर साहब ने सर्वथा निष्फल नहीं बताया है, किन्तु मायिकता के कारण उससे वे मुक्ति होना नहीं मानते हैं । यह वार्ता "जदपी फल उत्तिम गुन जाना । हरि छोड़ मन मुकुती उनमाना" इत्यादि वचनों से व्यक्त है ।

ज्ञान-साधक-विचारोत्पत्ति के साधन

१ अहिंसा ।

अन्तःकरण में मल, विक्षेप और आवरण, ये तीन दोष रहा करते हैं । कर्मानुष्ठान से मल दोष की निवृत्ति होती है । वह कर्म विहित और प्रतिषिद्ध रूप से दो प्रकार का है । जिन कर्मों के करने का विधान वेदादि सत्शास्त्रों ने तथा महात्माओं ने किया है, वे विहित कर्म कहलाते हैं । जैसे, "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" तथा, गुरुपूजादिक । और जिन कर्मों के करने का निषेध किया है, वे निषिद्ध कर्म कहलाते हैं । जैसे हिंसा और असत्य भाषणादिक । "मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि" (किसी प्राणी को न मारो) । "अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" (किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फल अवश्य भोगने पड़ते हैं) । "जिव जनि मारहु बापुरा, सबके एके प्रान । तिरथ गये नहिं बाँचि हो, कोटि हिरा दे दान" ।। इत्यादि श्रुति, स्मृति और महात्माओं के

वचनों से सर्वत्र [यागादिकों में] हिंसा सर्वथा निषिद्ध है। यद्यपि "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादि विशेष विधि से' मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इस सामान्य शास्त्र का बोध होना "सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्" इत्यादि न्यायानुमोदित है। तथापि, "सति विरोधे बलीयसा हि दुर्बलं बाध्यते" इस नियम से उक्त सामान्य विधि हिंसामात्र में अनर्थहेतुता की सिद्धि करती है, किन्तु क्रतूपकारत्व का प्रतिषेध नहीं करती। इसी प्रकार "अग्नीषोमीयं" यह विशेष विधि भी यागीय पशुहिंसा में क्रत्वर्थता का बोधन कराती है, परन्तु हिंसा में अनर्थहेतुता का प्रतिषेध नहीं करती, अतः हिंसामात्र में अनर्थहेतुता सिद्ध होने से 'यज्ञे वधोऽवधः' तथा, "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इत्यादि वचन अर्थवादमात्र हैं। अतएव "दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिः क्षयातिशययुक्तः" इत्यादि सांख्यकारिकाकार कृष्णयज्वा तथा, "स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः" इत्यादि पञ्चशिखाचार्य और "मृष्यन्ते हि पुण्यसम्भारोपनीतस्वर्गसुधामहाह्रदावगाहिनः कुशलाः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकाम्" इत्यादि वाचस्पतिमिश्र के वचन सङ्गत हैं। वस्तुतः विधिबोधित आलम्भन पद की आकार-विघटन में लक्षणा है। जैसा कि शास्त्रदीपिका में मीमांसादर्शन के द्वितीयसूत्रस्थ अर्थपद के व्याख्यानावसार में सुदर्शनाचार्यजी ने लिखा है कि-"उक्तं च भाष्यकारेण-कोऽनर्थः ? यः प्रत्यवायाय श्येनो वज्र इषुरित्येवमादिः, तत्रानर्थं धर्मं उक्तो माभूदिति अर्थग्रहणम्, कथं पुनरसावनर्थः ? हिंसा हि सा, हिंसा च प्रतिषिद्धा इति। श्रूयते च 'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति। ननु ज्योतिष्टोमादिष्वपि हिंसायाः सत्वादनर्थत्वं स्यात्तेषामिति चेन्न, 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत्' इत्यादि वाक्यानां पिष्टपशुविषयत्वात्। ननु पिष्टपशोरालम्भनं न सम्भवति जडत्वादिति चेत्। चेतनस्यात्मनोऽपि न सम्भवति तस्य नित्यत्वात्। शरीरस्य च तत्रापि जडत्वात्। ननु प्राणवियोजनं ह्यालम्भनशब्दवाच्या हिंसा सा च जीवत्पशुवत् पिष्टपशोर्न सम्भवतीति चेत्, आलम्भनादिशब्दानामाकारविघटने लक्षणां वक्ष्यामः किं बहुना साक्षाद्धन्तेरप्याकार-विघटनेष्वपकारेषु च प्रयोगो भवति यथा हतो मया घटो हतो मया देवदत्त इति तत्र घटस्याकार-विघटनं कृतं देवदत्तस्य चापकारमात्रं कृतं न तु प्राणवियोजनम्, एवमत्राप्याकारविघटने लक्षणा। आकार-विघटनं च पिष्टकृतपशोरपि सम्भवत्येव लक्षणाश्रयणमेव दोष इति चेन्न। मा हिंस्यादिति श्रुतिविरोधसम्पादनापेक्षया वरं लक्षणाश्रयणम्। को हि विद्वान् वाक्यस्य गतौ सत्यामनर्थस्वरूपां हिंसामाचरेदिति परमवैष्णवसिद्धान्तः"। इत्यादि

विधि के स्वरूप-पर्यालोचन से भी पशु-हिंसा वेद-बोधित सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि, 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इस कथन के अनुसार अप्राप्त-वस्तु को बोधन करानेवाली विधि कहलाती है। यथा, 'स्वर्गकामो यजेत्'। यहां पर स्वर्ग प्रमाणान्तर से अप्राप्त है। इस प्रकार हिंसा अप्राप्त नहीं है, वरन् रागतः प्राप्त है। अतः यह विधि नहीं है, किन्तु परिसंख्या है। अर्थात् स्वभाव-प्राप्त हिंसा का 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' के समान वेद ने संकोच किया है। फलतः वैदिक वाक्यों का तात्पर्य हिंसादि की निवृत्ति में ही है, प्रवृत्ति में नहीं। उक्त वैदिक रहस्य को नहीं जाननेवाले रसनालोलुप पुरुषापसदों ने अपने अनुकूल नाना स्मृतिवचनों का निर्माण करके संसार को उत्पथगामी बना दिया है। ऐसे ही वेदव्याख्याता और स्मृतिकार ब्राह्मणों को लक्ष्य करके कबीर साहब ने ये वचन कहे हैं—

'नष्ट गये करता नहिं चीन्हा, नष्ट गये अवरहिं मन दीन्हा ॥
नष्ट गये जिन वेद बखाना, वेद पढे पै भेद न जाना ॥"

वेद कि पुत्री है स्मृति भाई, सो जेवरि कर लेतहिं आई ॥
आपुहि वरि आपन गर बन्दा, झूठा मोह काल को फंदा ॥
वन्धा बंधवत छोरि न जाई, विषय रूप भूली दुनियाई ॥"
अन्ध सो दरपन बेद पुराना, दरबी कहा महारस जाना ॥
जस खर चन्दन लादै भारा, परिमल वास न जानु गँवारा ॥
"रामहुँ केर मरम नहिं जाना, ले मति ठानिन बेद पुराना ॥
बेदहुँ केर कहल नहिं करई, जरतई रहै सुस्त नहिं परई ॥

विध्यादिक के ये लक्षण हैं–'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः, पाक्षिकेऽसति । तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ, परिसंख्येति गीयते" ।। इसी प्रकार देवबलि निमित्त से पशुहिंसा करके स्वोदरपूर्ति करनेवाले ब्राह्मणों के निन्दित आचरणों का खण्डन इस प्रकार किया है–"सुम्रिति सुहाय सभै कोई जाने, हृदया तत्व न बूझै । निरजिव आगे सर-जिव थापे, लोचन किछुवो न सूझै ।। माटी के करि देवी देवा, काटि काटि जिव देइया जी । जो तुहरा है साँचा देवा, खेत चरत क्यों न लेइया जी" ।। "सन्तो ! पांडे निपुन कसाई । बकरा मारि भैंसा पर धावैं, दिलमहँ दरद न आई" । "माँस मछ-रिया तैं पै खइये, जौ खेतन में बोइया जी । कहँहिं कबीर जिह्वा के कारन यहि विधि प्रानी नरक परे" । इत्यादि । जीवहिंसा की तरह द्यूत कर्म और असत्य भाषणादिक भी प्रतिषिद्ध कर्म हैं । उक्त सब ही कर्म कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार के हैं । विहित कर्मों के सेवन और निषिद्ध कर्मों के परित्याग से चित्तशुद्धि द्वारा आत्मविचार का उदय होता है ।

२ सत्संगति

चित्तशुद्धि के साधनों में मुख्य साधन सत्संगति है, क्योंकि बिना सत्संग के सार-असार का ज्ञान 'विवेक) नहीं हो सकता है । जैसा कि गोस्वामीजी ने कहा है, "बिनु सतसङ्ग विवेक न होई । रामकृपा बिनु सुलभ न सोई' ।। इसी बात को भग-वान श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में अक्रूरजी के प्रति वर्णन किया है–"न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः । ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः" ।। जलमय-तीर्थ और मृत्तिकापाषाणरूप देवता निश्चय से कालान्तर में पवित्र करते हैं; किन्तु सन्तजन तो दर्शनमात्र से ही पवित्र कर देते हैं । "साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।। मदन्यन्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि" ।। सन्त मेरे हृदय रूप हैं, और मैं सन्तों का हृदय हूँ । क्योंकि मेरे अतिरिक्त वे दूसरे को नहीं जानते हैं और मैं भी उनके सिवा दूसरों को (आत्मीय) नहीं जानता हूँ । यही उपदेश करुणासिन्धु सद्गुरु कबीर साहब ने निज-शिष्य धर्मदासजी साहब को दिया है–"धर्मदास ! साधू मम नामा । साधुन मांहिं करौं बिसरामा । अन्ते खोजो पैहो नाहीं । जब पैहो तब सन्तन मांहीं" ।। सर्वपापहारी सन्तजन वस्तुतः जंगम (चलते फिरते) तीर्थ हैं । जैसा कि गोस्वामीजी ने कहा है कि, "मुद मंगलमय संत-समाजू । जो जग जंगम तीरथ राजू । सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा । सेवत सादर समन कलेसा । अकथ अलौकिक तीरथ राऊ । देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ" ।। इत्यादि । उक्त प्रकार से सत्संगति के द्वारा विवेक प्राप्त करके चित्तशुद्धि के परमोपयोगी मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा रूप वृत्तियों की भावना करे । "मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्" । (योगदर्शन, समाधिपाद ३३ सूत्र) अर्थात् सुखियों में, दुःखियों में, धर्मात्माओं में, और पापियों में क्रमशः

सौहार्दभाव, दयाभाव, हर्षभाव और तटस्थभाव की स्थापना से यथाक्रम ईर्षा, अपकार बुद्धि, असूया और क्रोध की निवृत्ति हो जाने से मानस-महोदधि प्रशान्त और निर्मल हो जाता है।

३ निष्काम कर्म

इसी प्रकार निष्काम-कर्मानुष्ठान से भी चित्त की शुद्धि होती है; क्योंकि कामनापूर्वक किये हुए योग-दानादिक सबही कर्म वन्धनकारक हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से त्रिगुणात्मक कर्मों के विधायक वैदिक कर्मकाण्ड की भगवान ने गीता में इस प्रकार समालोचना की है—"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवन्दन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुनः। निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्" ॥ (हे अर्जुन! सकाम यागादि द्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्ग को ही परम पुरुषार्थ माननेवाले अज्ञानी लोग लोकवञ्चना के लिए जन्मान्तर-दायक नाना प्रकार की रोचक वाणियां कहा करते हैं, क्योंकि वेद स्वयं त्रिगुणात्मक विषयसुख के प्रकाश करनेवाले हैं। इसलिए हे अर्जुन! तू निर्द्वन्द्व, निश्चल, सावधान और निष्काम होकर सर्व बन्धनों से मुक्त हो जा!)। श्रुति ने भी कहा है कि, "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनंदंति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापयन्ति" ॥ (मुण्डकोपनिषद्)। स्वर्ग की इच्छा से किया हुआ वह यागादि कर्म, जिसमें कि सोलह ऋत्विक, यजमान और उसकी स्त्री, ये अठारह रहते हैं, जन्ममरण का देनेवाला है, क्योंकि यज्ञ जर्जर और तुच्छ नौका (डोंगी) के समान हैं। इसलिए इनका अवलम्बन करनेवाले संसार-सागर में डूब जाते है। इसी रहस्य को लेकर कबीर साहब ने केवल कर्मवादी ब्राह्मणों के प्रति कहा है—"पढ़ि गुनि भये कीतम के दासा"। "करम पढ़ैं करमहि को धावैं। जे पूछै तेहि करम दिढावैं॥ निहकरमी की निंदा कीजै। करम करै ताही चित्तदीजै" इत्यादि

४ नामोपासना

निष्काम कर्म की तरह उपासना भी विक्षेप (चंचलता) को दूर करती हुई चित्त को निर्मल बना देती है। सब उपासनाओं में मुख्य चेतनात्मरूप सद्‌गुरु की उपासना है, क्योंकि, यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" ॥ [जिसकी गुरु में परमात्मा के समान भक्ति है, उसके हृदय में श्रुति-प्रतिपादित आत्मतत्व प्रकाशित होता है।] "जो तोहि सतगुरु सत्त लखाव। ताते न छूटे चरन भाव॥ अमर लोक फल लावै चाव। कहँहि कबीर बूझै सो पाव" गुरूपासना के समान नामोपासना भी अभ्युदय और निःश्रेयस को देनेवाली है। अनेक नामों में से "सत्यनाम" आत्मा (शुद्ध चेतन) का निज नाम है। क्योंकि, यह आत्मा सत्य है, और सत्य का वाचक नाम 'सत्य' ही हो सकता है। "न ह्यस्मादन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति" "तस्य नाम सत्यमिति", "तानिह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति, तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति" (छान्दोग्योपनिषद्)। कबीर साहब ने भी "सत्य सत्य कहै सुमृति वेद" इत्यादि वचनों से "सत्यनाम" की महिमा का बहुत वर्णन किया है। और इसी विशाल झंडे के नीचे समस्त सन्त-मतानुयायी उदासी, सिक्ख, सत्यनामी, दरियापंथी, कबीरपंथी आदि वर्तमान हैं। या यों कहना और भी समुचित होगा कि, इसी सूत्रात्मा सत्यनाम से समस्त सन्त-मतानुयायी परस्पर सम्मिलित हैं, क्योंकि सभी सत्यनाम के उपासक

हैं। खेद है कि, इस रहस्य को नहीं जाननेवाले हमारे कतिपय भोलेभाले कबीरपंथी भाई सर्वोत्कृष्ट 'सत्यनाम' नाम से विमुख होते चले जा रहे हैं।

अंतःकरण के उक्त तीनों दोषों में से आवरण (अज्ञान) दोष की निवृत्ति स्वरूप-ज्ञान से होती है। (यह पहले कहा जा चुका है)। इसी प्रकार सहज योग और भक्ति-योग [ईश्वरप्रणिधान] का भी सत्व-शुद्धि में उपयोग होता है। कबीरसाहब ने केवल हठयोग का खंडन किया है। जो कि कामनामूलक होने के कारण अनर्थकारक है। "कच्चे सिद्धन माया पियारी"। "जोगिया के नगर बसो मति कोय। जो रे बसे सो जोगिया होय"॥ पूर्वोक्त प्रकार से तीर्थ, जप, तप आदिकों की आड़ में होनेवाले पाखंडों का ही कबीर साहब ने लोकोपकार के लिए खंडन किया है। मुसलमानों के आसमानी खुदा और नाना अत्याचारों का भी बड़े जोरशोर से खंडन किया है। "कहँ तब आदम कहँ तब हव्वा। कहँ तब पीर पैगम्बर हूवा॥ जिन्हि दुनियां में रची मसीद। झूठा रोजा झूठी ईद। कहुधौं भिस्त कहां ते आई। किसके कहे तुम छुरी चलाई"॥ इत्यादि

५ जातिवाद और छुआछूत।

जातिवाद में कबीर साहब के ये विचार हैं–प्राक्तन शुभाशुभ कर्मों के अनुरोध से जीवात्मा उत्तमाधम शरीरों को धारण करता है। और वर्तमान जीवन में भी उन्नति और अवनति निजकृत कर्मों पर ही निर्भर है। एवं "जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च पराशरः शुक्याः शुकः कणादाख्यस्तथोलूक्याः सुतोऽभवत्"॥ [भविष्य-पुराण]। (मल्लाह की लड़की से व्यासजी, श्वपाक की लड़की से पराशरजी, शुकी से शुकदेवजी, और उलूकी से कणादजी हुए। अर्थात् अधम कुलों में उत्पन्न होने पर भी दिव्य गुणों के कारण ये सब ब्राह्मण कहलाये)। इत्यादि इतिहास, पुराणादि के पर्यालोचन से गुणकर्म ही ब्राह्मण्यादि के सम्पादक प्रतीत होते हैं, केवल जन्म नहीं, अतएव "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" इत्यादि वचन भी संगत होते हैं। क्योंकि, "आकृतिग्रहणा जातिः" जो आकृति (आकार) के देखते ही जान ली जाय वही जाति है। वार्तिककार के बताये हुए इस जाति के लक्षण के अनुसार मनुष्य जाति ही सच्ची जाति है। इसी अभिप्राय से कबीरसाहब ने मनुष्य जाति की प्रधानता, और इतर (कल्पित) जातियों की गौणता मानी है। "जो तू करता बरन विचारा। जन्मत तीन दंड अनुसारा॥ जनमत सूद्र मुये पुनि सूद्रा। कृीतम जनेउ घालि जग दुन्द्रा"॥ इत्यादि। छूवाछूत के विषय में सद्गुरु के ये विचार है कि–जन्म से कोई मनुष्य अछूत नहीं। हाँ, मलीनता के कारण वह दूर रखा जा सकता है॥ इसके अतिरिक्त अन्तःशौच रहित मिथ्या आचार महा अनर्थ का करनेवाला है। "छूतहि जेवन छूतहि अचवन छूतहि जगत उपाया। कहँहि कबीर ते छूत विवर्जित जाके संग न माया"॥ इत्यादि

बीजक के सांकेतिक शब्द

राम शब्द जहां तहां सोपाधिक (अवतार राम) का और बहुधा निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप (चैतन्य) का बोधक है। इसी प्रकार हरि, जादवराय, गोविन्द, गोपाल आदिक हैं। मन के बोधक मच्छ, मांछ, मीत, जुलाहा, साउज, सियार, रोझ, हस्ती, मतंग; निरंजन आदिक हैं। और पुत्र, पारथ, जुलाहा, दुलहा, सिंह, मूस, भँवरा, योगी आदिक शब्द जीवात्मा को सूचित करते हैं। और माया के बोधक शब्द–माता,

नारी, छेरी, गैया, बिलैया आदिक हैं। और सायर, बन, सीकस आदिक शब्द संसार के बोधक हैं। तथा यौवन, दिवस और दिन आदिक शब्द नर-तन के बोधक हैं। सखी, सहेलरी, आदिक सांकेतिक शब्द इन्द्रियों के बोधक हैं। स्थानाभाव से सब संकेतों का उल्लेख नहीं किया जाता है। इस ग्रन्थ में १-"हंस कबीर" २-"कहहिं कबीर" ३-"कहैं कबीर" ४-"कबीर" ५-"दास कबीर" ६-"कबीरा" और ७-"कबिरन" इन शब्दों का भी विशेष अर्थ में संकेत है; जो कि गुरु-परंपरा से ज्ञात होता है। बीजक के अर्थ का यथार्थ ज्ञान इन्हीं संकेतों पर निर्भर है। पहला संकेत मुक्तात्मा सूचक है। दूसरा स्वोक्ति [गुरु-वचन] का। तीसरा और चोथा अन्योक्ति का (औरों के वचनों का अनुवाद)। पांचवां लोकविशेष निवासी ईश्वर के उपासकों का। और छठा, सातवां कर्मी, अज्ञानी तथा वंचक गुरुओं का बोधक है। खेद है कि, इन संकेतों को न जानने के कारण कबीर गुरु की तथा उनके ग्रन्थों की समालोचना करनेवालों ने "अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे" के अनुसार पग-पग पर धोखा खाया है। कोई "कबिरन" का अर्थ 'कबीरपन्थी' बतलाते हैं, और कोई 'जुलहा दास कबीर' का अर्थ जुलहा कबीर लगाते हैं। इसी प्रकार 'कबीरा' आदि शब्दों का भी मनमाना अर्थ किया हैं। ठीक ही है, मर्मज्ञ (भेदी) के बताये बिना वस्तु नहीं मिल सकती है। 'वस्तु कहीं ढूंढे कहीं, केहि विधि आवै हाथ। कहहिं कबीर तब पाइये, भेदी लीजै साथ।'

कबीर साहब और उनके ग्रन्थ

कबीर साहब ने स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है, जैसा कि उनका वचन है-मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहीं हाथ। चारौं जुग को महातम, (कबिर) मुखहि जनाई बात' ॥ सद्‌गुरु की शिक्षा मौखिक हुआ करती थी, जो कि शिष्यों के द्वारा ग्रन्थ रूप में परिणत की गयी है, यह वार्ता सर्वसम्मत है। इस विषय को सूचना रूप से मैंने टीका में लिखा है। सद्‌गुरु के वचनों के सग्रह रूप 'अखरावती' आदिक कई ग्रन्थ हैं। यह वार्ता कबीरपन्थी इतिहास के ज्ञाताओं को विदित ही है। जो लोग यह कहते है कि, कबीर साहब के बचन केवल इतने ही हैं जो कि इस [बीजक] ग्रन्थ में वर्तमान हैं, वे लोग 'छ लाख छानवे सहस रमैनी एक जीव पर होय' तथा पंचग्रन्थी में सत्य शब्द टकसार नाम से दिये हुए 'सन्तो ठहरिके करहु बिचार" इत्यादि वचनों के रहस्य से अपरिचित हैं।

बीजक और उसकी भाषा

इस ग्रन्थ का नाम 'बीजक' है। गुप्त धन को बतानेवाले सांकेतिक लेख को 'बीजक' कहते हैं। जैसे कि कहीं-कहीं धन के सूचक शिलालेख पाये जाते हैं। प्रकृत में आत्मधन अत्यन्त गुप्त है। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वेताश्वतरोपनिषद्) एक चैतन्य आत्मा सपूर्ण प्राणियों में छिपा हुआ है। 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।' वह धन अत्यन्त प्राचीन और सबोंके हृदय-निकेतन में वर्तमान है। तथा उसकी प्राप्ति से बढ़कर दूसरा लाभ नहीं है। उस गुप्त धन को बतानेवाला यह बीजक ग्रन्थ है। इसलिये इसको 'बीजक' कहते हैं। कबीर साहब ने स्वयं कहा है-'बीजक बतावै बित्त को, जो बित गुप्ता होय। सब्द बतावै जीव को, बूझै विरला कोय' ॥

इस ग्रन्थ को कबीर साहब ने पूर्वी भाषा में कहा है। जैसा कि उनका वचन है-'बोली हमारी पूर्व की, हमें लखे नहिं कोय। हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का

होय ।' इसके अनुसार इस ग्रन्थ में संयुक्तप्रान्तीय अवधी भाषा का-बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर आदि जिलों की भाषा का अधिक समावेश है । इसकी भाषा ठेठ प्राचीन पूर्वी है, जिसको सर्वसाधारण हिन्दी जाननेवाले भी नहीं समझ सकते हैं । 'यह तो गति है अटपटी, चटपट लखै न कोय । जो मन की खटपट मिटै, चटपट दरसन होय' ।। प्रथमतः गम्भीरार्थ की प्रतिपादक होने से कबीर गुरु की वाणी अत्यन्त गूढ हैं, तिस पर प्राचीन पूर्वी भाषा ने उसको इस समय और भी क्लिष्ट और जटिल बना दिया है । प्राचीन समय में यह सर्वसाधारण की भाषा थी और इस समय भी इसके बहुत से शब्द उक्त प्रान्तों में ज्यों के त्यों प्रचलित हैं । जैसे जहँडे, घूर, पवांरिन, नाधे, असगर, बिरधा, भिस्त, एकसर आदिक । अपने भावों को सर्वसाधारण तक पहुँचाने का एक मात्र उपाय साधारण बोलचाल की (ठेठ) भाषा का प्रयोग ही है । इसी अभिप्राय से अध्यात्मज्ञान के शिक्षक प्रायः सभी महात्माओं ने अत्यन्त सरल (वर्तमान) भाषा में अपने विचार प्रकट किये हैं । और कभी साहित्य के नियम और बन्धनों में नहीं पड़े हैं, अतः कवि और काव्य की दृष्टि से महात्मा और उनकी वाणियों को जो (समालोचक) देखते हैं, तथा उसी दृष्टि से कवि-श्रेणी में उनको हीन अथवा उत्तम स्थान देते हैं, वे भूल करते हैं, क्योंकि आत्म-भाव-दृष्टिवाले महात्माओं को काव्यशब्दार्थ रूप शरीरदृष्टि नहीं रहती है । 'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्' (साहित्यदर्पण) । यही कवि और महात्माओं में विशेषता है । उनकी रचनाओं में जो कुछ अलंकार आदिक आ जाते हैं (जैसे कि इसमें कहीं कहीं पर हैं) वे स्वाभाविक हैं, उनके लिये उहापोह या आवापोद्वाप उनको नहीं करना पड़ता है । बीजक पहले कैथी लिपि (अक्षरों) में लिखा गया था । उक्त लिपि के नियमों का दिग्दर्शन मैंने 'ज्ञान-चौंतीसा' की टिप्पणी में कराया है । उसी नियम के अनुसार इसकी मातृका (वर्णमाला) है । गोस्वामी तुलसीदासजी की असली रामायण इन्हीं अक्षरों में लिखी हुई बतलाई जाती है । काशी 'नागरी प्रचारिणी सभा' से उसका प्रकाशन हो चुका है । भाषा की रूढि के अनुसार 'श, य, ण, क्ष'' आदिक के स्थान में क्रमशः स, ज, न, छ, आदि लिखे जाते थे । रामायण आदिक सारे प्राचीन ग्रन्थों में इस नियम का बराबर पालन हुआ है । संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् महात्मा निश्चलदासजी ने भी अपने 'विचार-सागर' आदिक ग्रन्थों में इस नियम का अक्षरशः पालन किया है । और सर्वसाधारण के परिज्ञानार्थ लिख भी दिया है कि, यह भाषा की सम्प्रदाय है ।

दोहा–"लघु गुरु गुरु लघु होत है, वृत्ति हेत उच्चार ।
रु ह्वै अरु की ठौर में अबकी ठौर बकार ।।
संयोगी क्ष कपर खन, नहि टवर्ग णकार ।
भाषा मेंऋलृहु नहीं, अरु तालव्य शकार ।

अर्थ–इतने अक्षर भाषा में नहीं । कोई लिखे तो कवि अशुद्ध कहैं, 'क्ष' के स्थान में छ । 'ख' के स्थान में 'ष' । णकार के स्थान में नकार 'ऋलृ' के स्थान में 'रिलि' है । शकार के स्थान में सकार भाषा में लिखने योग्य हैं । [विचारसागर षष्ठ तरंग, संस्करण शाले अहमद । पीताम्बरी टीका सहित]

बीजक की सब लिखित पुस्तकें इसी नियम के अनुसार हैं । बीजक की वर्णमाला लिपि आदि के विषय में होनेवाली संशय की निवृत्ति तो इसमें दिये हुए 'ज्ञान-चौंतीसा' के विवेकपूर्वक परिज्ञान से ही हो जाती है । उसमें 'य' के स्थान में 'ज' का प्रयोग किया है । 'जाजा जगत रहा भरपूरी, जगतहु ते है जाना दूरी' और 'श'

की जगह 'स' का प्रयोग इस प्रकार है। 'सासा सर नहिं देखै कोई। सर सीतलता एकै होई" ॥ इत्यादि*। इन सब बातोंको जानते हुए भी बीजक के शोधनकर्ता संस्कृत प्रेमियों ने इस ग्रन्थ को अपने पांडित्य प्रकट करने की ध्वजा बनाकर अत्यन्त सरल विरध, विरछ, छेव, अछत, मच्छ, लछ, जोजन, जोति या जोत, भिस्त आदिकों के स्थान में क्रमशः वृद्ध, वृक्ष, क्षेव, अक्षत, मत्स्य, लक्ष, योजन, ज्योति, बिहिस्त आदिक संस्कृतादिक शब्द लिखकर और प्राचीन शैलीको मिटाकर लोकोपकार के लिए बहती हुई दयालु महात्मा की वचनामृत गंगाके पान से सर्व साधारण को वञ्चित कर दिया है। आज तक मुद्रित हुए सभी बीजकों की यही दशा है। दिनों दिन इसको संस्कृत-मय बनाने का और मनमाने पाठ बना लेने का प्रबल प्रयत्न किया जा रहा है। एक असाधारण महात्मा की अनुपम वाणी को इस प्रकार अङ्ग-भंग करके विकृत बना देना विवेकियों को शोभा नहीं देता है।

आक्षेप—परिहार।

कबीर साहब के पूर्व निर्दिष्ट सिद्धान्त और उच्चादर्श से अनभिज्ञ समालोचकों ने उन पर और उनकी वाणी पर नाना प्रकार के दोषारोपण किये हैं। स्थानाभाव से उन सबों की विवेचना यहाँ पर नहीं की जाती हैं। एक महाशय लिखते हैं—"मेरा विचार यह है कि, उनका यह संस्कार मुसलमान धर्ममूलक है। वैदिक काल से उपनिषद् और दार्शनिक काल पर्यन्त आर्यधर्म में भी कहीं अवतारवाद और मूर्तिपूजा का पता नहीं चलता। पौराणिक काल में ही इन दोनों बातों की नींव पड़ी है; अतएव यदि ऊँचे उठा जाय तो कहा जा सकता है कि, कबीर साहब ने प्राचीन आर्यधर्म का अवलम्बन करके ही अवतारवाद और मूर्तिपूजा का विरोध किया है। किन्तु यह काम स्वामी दयानन्द सरस्वती का था। कबीर साहब का नहीं। अपठित होने के कारण उनको वेद और उपनिषद् की शिक्षाओं का ज्ञान न था, इसलिये इतनी दूर पहुंचना उनका काम न था" इत्यादि। इन पंक्तियों के लेखक महात्माओं के द्वेषी और दार्शनिक ज्ञान से नितान्त ही शून्य मालूम पड़ते हैं; अन्यथा कबीर साहब के 'प्रातिभ ज्ञान' में उनको संशय न होता। यह तो सर्वसम्मत ही है कि, कबीर साहब एक सिद्ध महात्मा थे। वह सिद्धि भी उनको जन्म ही से प्राप्त थी। "जन्मौषधिमंत्र-तपःसमाधिजाः सिद्धयः।" योगदर्शन कैवल्य पाद १ सूत्र) जन्म से, औषधिसे, मंत्र से तप से और समाधि से सिद्धि प्राप्त होती है। सत्वगुण की उद्रिक्त दशा में योगियों को "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" इसके अनुसार ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त होती है। जिस बुद्धि-दर्पण में केवल सत्य ही का प्रस्फुरण हो, उस प्रज्ञा को "ऋतंम्भरा" कहते हैं। कबीर साहब की प्रज्ञा ऋतंभरा थी, उसीके बल से उन्होंने सत्य सिद्धान्त को प्रकट किया है। प्रातिभ ज्ञान वेदों का स्वयंजनक है; अतः प्रातिभ ज्ञानवाले महात्माओं को वेदों के पढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती है—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति"। चारों वेद महान आतमा की श्वासा रूप हैं। "ब्रह्म रूप अहि ब्रह्मवित्, ताकी वाणी वेद, भाषा अथवा संस्कृत, करत भेद भ्रम छेद ॥" इसके अतिरिक्त महाशयजी के उक्त आक्षेप का समाधान तो स्थानान्तर में दिये हुए उन्हीं के इन वचनों से हो जाता है। खेद है कि, द्वेषवश अपने ही असंयत और परस्पर व्याहत वचनों को वे न समझ सके। "जब वे किसी अवसर पर मुसलमान धर्म पर

सूचना-यहां परसंस्कृत प्रेमियों ने 'थाया जगत रहा भरपूरी'। तथा 'शाशा सर नहिं देखे कोई' इस प्रकार बलपूर्वक महात्मा की वाणी को तोड़ मरोड़ दिया है। स्थानाभाव से स्थलान्तर नहीं दिखाये जाते हैं।

आक्रमण करते हैं तो उन्हीं ऊपरी बातों को कहते हैं, जिनको एक साधारण हिन्दू भी जानता है, किन्तु हिन्दू-विवेचन के समय उनके मुख से वे बातें निकलती हैं जिन्हें शास्त्रज्ञ विद्वानों के अतिरिक्त दूसरा नहीं जानता है !" यदि श्रीमान् वेस्कट साहब के परम भक्त उक्त महाशयजी हिन्दुओं के जन्मान्तरवाद को मानते होते तो भी कबीर गुरु के जन्मान्तर अर्जित ज्ञान में उनको विप्रतिपत्ति नहीं होती; क्योंकि नूरअली जोलाहे के औरस पुत्र न होने से उनके हृदय में मुसलमानी संस्कार कैसे आ सकते थे ? । इसी प्रकार महाशयजी ने एक आदर्श महात्मा की अमृतमय वाणी पर निष्कारण विष उगल कर साधारण जनता को सत्य ज्ञानामृत के पान से वंचित करने का महाभयंकर प्रयत्न किया है । ऐसे ही मनुष्य महात्माओं के कल्याणकारक मार्ग से संसार को विचलित कर देते हैं, इसी कारण इसकी हीनातिहीन दशा होती चली जाती है । कोई कोई महाशय एक प्रक्षिप्त साखी के प्रमाण से कबीर साहब का विवाह होना सिद्ध करते है, जो कि उनके सर्व वचन और ग्रन्थों से विरुद्ध है ।

कबीर साहब की शिक्षा से लाभ

कबीर साहब ने परस्पर विरोधी नाना धर्म और मजहबों से फैली हुई अशान्ति को दूर करने के लिये सर्वधर्मानुमोदित "सनातन आर्य मानव-धर्म" (आत्म-धर्म, राष्ट्रीय-धर्म) का सारे संसार को उपदेश देकर अनेकता में एकता स्थापन करने का अविश्रान्त प्रयत्न किया है । "शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः" । "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" । तथा 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' इत्यादि आत्म-धर्म का आदर्श कबीर गुरु के इन पद्यों में पूर्णतया वर्तमान है । इन पद्यों के पर्यालोचन से तो स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि, राष्ट्रधर्म के सर्वप्रथम प्रचारक कबीरगुरु ही थे। कितनी सरल भाषा में कल्याणकारी सर्वोच्च सिद्धान्त रख दिया है।

"भाई रे ! दुई जगदीस कहाँ ते आया, कहु कवने भरमाया ।
अल्लह राम करीमा केसो, हरि हजरत नाम धराया ।।
गहना एक कनक ते गहना, इनि महँ भाव न दूजा ।
कहन सुनन की दुइ करि थापिनि, एक निमाज एक पूजा ।।
वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये ।
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जमीं पर रहिये ।।
वेद किताब पढ़ैं वै कुतबा, वं मौलाना वै पांडे ।
बेगरि बेगरि नाम धराये, एक मटिया के भांडे ।।
कहँहि कबीर वे दूनों भूले, रामहिं किनहुँ न पाया ।
वै खस्सी वै गाय कटावैं, बादहि जनम गँवाया ।।
तथा "लख चौरासी नाना बासन सो सब सरि भौ मांटी ।
एकै पाट सकल बैठाये छूत ले धौं काकी ।।" इत्यादि

"धर्म्मो यो बाधते धर्मं न स धर्मः कुधर्म तत् । धर्माविरोधी यो धर्मः स धर्मः सत्य-विक्रमः" ।। जो धर्म दूसरे धर्म का का बाधक है वह धर्म नहीं कुधर्म है । और जो धर्म दूसरे धर्म का अविरोधी है वह पराक्रमशील सत्य धर्म है । इस कथन के अनुसार कबीर साहब का बताया हुआ उदार धर्म "सत्य धर्म" है । और सत्य ही के आश्रयण से "सत्यमेव विजयते नानृतम्" के अनुसार परम शान्ति और परम सुख (सच्चा स्वराज्य) मिलता है, अतः जब तक संसार इस निष्कण्टक सत्य-पथ का अनुसरण नहीं करेगा तब तक एकता और शान्ति के लिए किये हुए प्रयत्न कदापि सफल न होंगे ।

सत्यनाम ।

विषयानुक्रमणिका ।

१ रमैनी प्रकरण

विषय	पृष्ठ संख्या	रमैनी
आदि–उत्पत्ति	१ से २४	१, २
सूक्ष्म सृष्टिपूर्वक स्थूल सृष्टि का विस्तार	२४	३
नाना वाणी और कर्मों का जाल	२५	४
द्वन्द्व फन्द	२७	५
आत्मा की असंगता का वर्णन	२६	६
पूर्व वृत्तान्त	३०	७
वेदान्त–विचार	३१	८
माया से विशेष बन्धन और उनसे छूटने का उपाय	३२	९
सामान्य बन्धन और उनसे छूटने का उपाय	३४	१०
चेतावनी	३६	११
भ्रमजाल कथन	३७	१२, १३
अभिमान और अनेकता	४०	१४
अज्ञान–अन्धकार और कर्मों का भार	४१	१५
अविद्या–रात्रि	४२	१६
गुरु–उपदेश	४४	१७
कठिन-मार्ग	४५	१८, १९
नाम–उपासकों का कथन	४७	२०
चेतावनी	४८	२१
कर्म–बन्धन	४९	२२
उपदेश	५०	२३
संसारी गुरुवों की कहानी	५१	२४
शब्द–जाल	५२	२५
रचना–रहस्य	५३	२६
अधिकार–विभाग	५५	२७
जीव, ईश्वर और मन का ताना-बाना	५६	२८
मन की दशा	५७	२९
जैन आदि मत-समीक्षा	५८	३०
शास्त्र-व्यवसायी पंडितों की दशा	६०	३१
ज्ञान की आवश्यकता	६०	३२
स्मृति-विचार	६१	३३
प्रश्न	६२	३४

विषय	पृष्ठ संख्या	रमैनी
मिथ्याचार	६३	३५
बाणी की अविषयता	६४	३६
बादी मत-समीक्षा	६५	३७
भ्रम-बन्धन	६७	३८
यवनमत और कर्म-बन्धन	६८	३९
आदि-कथा	६९	४०
अज्ञान-अन्धकार	७०	४१
आदि-रहस्य	७०	४२
स्वेच्छचारिता	७१	४३
उद्बोधन-चेतावनी	७२	४४
संसार की अनित्यता और अज्ञानता	७३	४५
शरीरों की क्षणभंगुरता	७४	४६
माया की प्रबलता और संसार की अनित्यता	७५	४७
यवन-मत विचार, उपदेश और प्रचार	७६	४८
मुसलमानों से प्रश्न	७८	४९
मोह-महिमा	७९	५०
अकथ कथा और ज्ञानियों के लक्षण	८०	५१, ५२
मन की प्रबलता	८२	५३
शरीरों की अनित्यता और काल की प्रबलता	८२	५४
संसार की अनित्यता	८४	५५
बंचक गुरुओं की वञ्चकता	८५	५६
स्वर्ग लोक का विचार	८५	५७
सद्गुरु-उपदेश	८६	५८
हठयोगियों की दशा	८७	५९
ममतापन का मिथ्याभिमान	८८	६०
धर्मकथा के व्यवसायिकों की दशा	८९	६१
एक जातिवाद तथा मनुष्यजाति निरूपण	९०	६२
वर्णविचार	९२	६३
आत्म-रति और अनात्म-संसर्ग	९३	६४
उपदेश	९५	६५
सच्चे औरझूठे गुरुओंकी पहचान तथा शिष्यऔर कुशिष्यके लक्षण	९७	६६
आत्मरत और अनात्मरतों के लक्षण तथा आत्मसंदेश	९८	६७
प्रपंचपरायणता तथा आत्म (स्वरूप)-विस्मृति का फल	९९	६८
शैवादि वेषधारियों की दशा	१०१	६९
उपदेश-विचार, वचन-विचार	१०२	७०
शैव हठयोगियोंकी तथा वाचक ब्रह्मज्ञानियों की दशा	१०३	७१

विषय	पृष्ठ संख्या	रमैनी
माया की प्रवलता	१०५	७२
आत्मविमुखवृत्ति	१०६	७३
रचना रहस्य और आचार-विचार	१०७	७४
अवतारवाद	१११	७५
माया-फांस और उसका विनाश	११२	७६
काल पुरुष और जीव का स्वरूप	११३	७७
नरतन के साझी और ग्राहक	११४	७८
माया और वाणी की दशा	११५	७९
विवेक की आवश्यकता	११६	८०
शील सुधार और माया की प्रवलता	११६	८१
संसारवृक्ष की विलक्षणता	११७	८२
क्षत्रिय कर्तव्य विचार	११९	८३
उद्‌बोधन–चेतावनी	१२१	८४

२ शब्द प्रकरण

विषय	पृष्ठ संख्या	शब्द
सद्‌गुरु–भक्ति	१२३	१
सदैव जागृत रहने का बोध	१२५	२
घर का झगड़ा	१३०	३
यह भ्रमभूत सकल जग खाया'	१३१	४
माया की प्रवलता का वर्णन	१३३	५
माया का लीला-विहार	१३४	६
चेतन की सत्ता, व्यापकता और प्रकाशता का वर्णन	१३५	७
मायिक अवतारों का वर्णन	१३७	८
जीवों की मूढता	१३८	९
हिन्दू और मुसलमानों के मतों की आलोचना	१४०	१०
पुरोहितों की समालोचना	१४१	११
प्रेम–प्रपा और आत्मतुष्टि	१४२	१२
माया की प्रवलता और उससे छूटने का उपाय	१४४	१३
अध्यास फाँस	१४५	१४
माया की रचना	१४६	१५
'अनहद कहत कहत जग बिनसे'	१४८	१६
हिंसारत और प्रतिग्रह-परायण ब्राह्मणों की दशा	१५०	१७
अवतार–मीमांसा	१५१	१८
रामजपन-विधि	१५२	१९
रामरस का पान	१५४	२०
भ्रम और आडम्बर	१५५	२१

विषय	पृष्ठ संख्या	शब्द
सत्य पद प्रदर्शन	१५७	२२
कुदरत की विचित्र लीला	१५८	२३
पुरुषोत्तम की बलिहारी	१५९	२४
'योगी माते योग ध्यान'	१६१	२५
भक्ति-विचार	१६३	२६
विश्वात्मदर्शन, ज्ञानलक्षणा भक्ति	१६४	२७
वाणी रूप अद्भुत गैया	१६६	२८
ब्रह्म-ज्योति आदिक अनात्मोपासकों को उपदेश	१६९	२९
राम और रहीम की एकता	१७०	३०
प्रपंची गुरुवों की संगति का फल	१७१	३१
शिक्षा और उद्बोधन	१७४	३२
शरीर-वियोग (अन्तिम दृश्य)	१७४	३३
निज भक्तों के लक्षण तथा हंसस्थिति	१७५	३४
नामोपासकों की धारणा	१७६	३५
मोह-जाल	१७७	३६
प्राण-वियोग	१७७	३७
गुरु-पद	१७८	३८
आत्म-विमुखता	१७९	३९
अन्ध-विश्वास	१८१	४०
छुवाछूत-विचार	१८२	४१
ज्ञानियों की स्थिति	१८३	४२
स्वरूप-स्थिति एवं तत्व-विचार	१८४	४३
अनोखी नारी	१८५	४४
मृत्यु विचार	१८७	४५
मनुष्यों की भारी अज्ञानता	१८८	४६
बल-विचार	१८९	४७
स्वरूप-विचार	१९१	४८
आत्मा की ज्ञानरूपता का वर्णन	१९२	४९
विश्व-वृक्ष	१९४	५०
मन की लीला	१९६	५१
अनधिकार-चर्चा	१९८	५२
संसार-तरु	२०१	५३
'कोइ काहू का हटा न माना, झूठा खसम कबीर न जाना'	२०३	५४
'अन्धा कहे अंधा पतियाय, जस बिसवा का लगन धराय'	२०७	५५
सुरति (वृत्ति) के निरोध की आवश्यकता	२१०	५६
बंध्य ज्ञानी (वाचक ज्ञानी) और हठयोगियों की दशा	२११	५७

विषय	पृष्ठ संख्या	शब्द
कामना–अग्नि का विचार	२१४	५८
माया–विचार	२१५	५९
अहिंसा–विचार	२१६	६०
अन्त दशा विचार	२१७	६१
सहज भावना विचार	२१८	६२
कल्पना विचार	२१९	६३
नाम सुमिरण का उपदेश	२२१	६४
हठयोगियों की गति	२२३	६५
अमृत वल्ली	२२४	६६
बीजेश्वरवादियों के मत की आलोचना	२२६	६७
मन की कल्पना	२२७	६८
शब्द और शब्दी का विचार	२३०	६९
मांस भक्षण विचार	२३१	७०
चेतन की व्यापकता का विचार	२३२	७१
शरीर की असारता और विनाशिता का वर्णन	३३४	७२
भारी भ्रम	२३५	७३
जीवात्मा के स्वरूप का परिचय	२३६	७४
एक जाति (मनुष्य जाति) वाद	२३८	७५
निज भ्रम विचार	२३९	७६
स्वावलम्बन-विचार	२४०	७७
ज्ञानोदय दशा का वर्णन	२४१	७८
शून्यवाद निरास तथा आत्मोन्मुखता	२४१	७९
जीवित मुक्ति विचार	२४२	८०
सुगम भक्ति (रामोपासना) का विचार	२४३	८१
'योगी माते योग ध्यान'	२४४	८२
हिंसा और अभक्ष्य भक्षण विचार	२४८	८३
धर्म का पाखंड	२४९	८४
धन और धाम की ममता का विचार	२५१	८५
वासना विचार और स्वरूप–स्थिति	२५३	८६
मनरूपी शिकारी और हठयोगियों का वर्णन	२५६	८७
मन–माया रूप मृग–मांस के लोलुपों का वर्णन	२५८	८८
चेतावनी	२५८	८९
स्मरणीय वस्तु 'तत्त्व'	२५९	९०
दुःखमय जगत्	२३१	९१
मनोविज्ञान	२६१	९२
संसार–व्यवहार	२६३	९३

विषय	पृष्ठ संख्या	शब्द
ब्रह्मज्योति के उपासकों से प्रश्न	२६४	९४
ये कलियुगी बड़े परिपंची, डारि ठगौरी सब जग मारा'	२६५	९५
काल की प्रबलता का विचार	२६६	९६
राम और रहीम की एकता तथा पाखंड विचार	२६८	९७
नामचर्चा और आदिकथा	२७०	९८
अन्तिम अवस्था का विचार	२७१	९९
'राम न रमसि कवन दंड लागा, मरि जैबे का करब अभागा'	२७२	१००
सहज योग–विहंगम मार्ग	२७४	१०१
प्रेमोपालम्भ और दयापूर्वक उपदेश	२७७	१०२
सम्वाद	२७८	१०३
सम्वाद और उपदेश	२८०	१०४
भ्रमभूत विचार	२८०	१०५
अनात्मोपासकों का अन्तिम पश्चात्ताप	२८१	१०६
कर्म और कामनाओं का विचार	२८२	१०७
काशी–काया वियोग (उपासकों की अन्तिमावस्था)	२८४	१०८
अवतारोपासना का विचार	२८५	१०९
प्रारब्ध–फल विचार	२८६	११०
जीव पर मन की सेना का आक्रमण	२८८	१११
आत्मदर्शन तथा आत्म–परिचय	२९०	११२
मन का साम्राज्य	२९२	११३
तत्त्वोपदेश	२९४	११४
स्वरूप–विस्मृति का वर्णन	२९५	११५
३ ज्ञान चौंतीसा प्रकरण		
हठयोग–समीक्षा	२९७–३१०	१–३४
४ विप्रमतीसी प्रकरण		
विप्रकर्म–मीमांसा	३११	१
५ कहरा प्रकरण		
सहजावस्था का वर्णन	३१९	१
विषयासक्ति से आत्मप्रीति का अभाव	३२३	२
आत्म–पूजा	३२५	३
रामनाम के व्यवसायी	३२६	४
संसार की असारता का विचार	३२८	५
आत्म-परिचय की आवश्यकता का उल्लेख	३२९	६
'जैसा काछ काछे, वैसा नाच नाचे'	३३०	७
संसार की असारता और विनाशिता	३३१	८

विषय	पृष्ठ संख्या	शब्द
शरीर की हीनता और अनित्यता	३३२	९
राम राजा का आत्म-परिचय और राम-कहानी	३३४	१०
ननद और भावज का प्रपंच (झगड़ा) का गाली शब्द	३३६	११
माया का आखेट-खेल	३३७	१२
६ बसंत प्रकरण		
नित्य और अनित्य बसंत	३४०	१
७ बसंत का वर्णन		
मायिक बसन्त का वर्णन	३४२	२
कर्मी और उपासकों की सम्मिलित प्रार्थना	३४३	३
झीनी माया	३४५	४
माया की प्रबलता का विचार	३४७	५
अविद्या के दास	३४९	६
माया नारी का गृह–कलह	३५१	७
माया की कठ-पुतली का खेल	३५२	८
माया का विद्युद्विलास–"अनित्यता"	३५३	९
अहंकार की प्रबलता का विचार	३५४	१०
काशी–सेवन विधि	३५७	११
प्रबोधन	३५९	१२
८ चाचर प्रकरण		
माया का फगुवा–खेल	३६२	१
धोखे की टट्टी	३६७	२
९ बेली प्रकरण		
हंसोद्बोधन–चेतावनी	३७१	१
जीवोद्बोधन–चेतावनी	३७४	२
१० बिरहुली प्रकरण		
तत्त्वोपदेश–गारुड मंत्र	३७६	१
११ हिंडोला प्रकरण		
भ्रम का झूला	३८०	१
लोक-लोकान्तरों का झूला, मन-मोहन झूले की रसीली पेंगें	३८४	२
प्रातिस्विक झुलों का वर्णन	३८६	३
साखी प्रकरण	३८७ से	१ से ३५३

बीजकसार सिद्धान्त, बीजकमाहात्म्य तथा पाठफल ।

बीजक कहिये साखि धन, धन का कहै संदेस ।
आतम धन जेहि ठौर है, बचन कबिर उपदेस ॥ १ ॥
देखे बीजक हाथ ले, पावे धन तेहि सोध ।
याते बीजक नाम भौ, माया मन का बोध ॥ २ ॥

आस्ति आतमाराम है, माया मन कृत नास्ति ।
याकी पारख लखे जथा, बीजक गुरुमुख आस्ति ॥ ३ ॥
पढ़ै गुने अति प्रीति जुत, ठहरि के करै बिचार ।
थिरता बुधि पावै सही, बचन कबिर निरधार ॥ ४ ॥
सारसब्द टकसार है, बीजक याको नाम ।
गुरु कि दया से परख भौ, बचन कबीर तमाम ॥ ५ ॥
पारख बिनु परचै नहीं, बिनु सतसंग न जान ।
दुबिधा तजि निरभै रहै, सोई संत सुजान ॥ ६ ॥
नीर छीर निरनय करे, हंस लच्छ सहिदान ।
दयारूप थिर पद रहे, सो पारख पहिचान ॥ ७ ॥
देहमान अभिमान के, निरहंकारी होय ।
बरन करम कूल जाति ते, हंस निनारा होय ॥ ८ ॥
जग बिलास है देहको, सारो करो बिचार ।
सेवा साधन मन करम (ते), दया भक्ति उरधार ॥ ६ ॥

श्रीसद्गुरुस्तुस्तिः संक्षिप्तजीवनचरितञ्च ।

आदौ फुल्लकुशेशयप्रविलसत्कासारमध्येऽभव-
त्काश्यां शैशवरूपिणोऽवतरणं श्रीमत्कबीरस्य वै ।
लीलामानुषविग्रहस्य नयनं नीरूनिमाभ्यां कृतम्,
रामानन्दमनस्विनः पुनरभूच्छिष्यत्वमस्य प्रभोः ॥१॥

पश्चाद्वादिकदम्बकुञ्जर हरेराश्चर्यमय्योऽभव-
ल्लीलाः शक्तिविकाशनञ्च पुरतो माहम्मदक्षोणिपः ।
पश्चाज्जीवनमद्भुतं कृतमभूत्कम्मालिकम्मालयोः,
पश्चाद्देवलकस्य रक्षणमहो दूरात्कृतं वह्नितः ॥२॥

पारावारविघट्टनं मुररिपोश्चात्रासंस्थापनम्,
गोरक्षस्य ततः स्वयोगकलया दर्पोपसम्मर्दनम् ॥
संसाराम्बुधिसेतुरूपमचलं संस्थाप्य धर्मं निज-
मन्तर्धानमजन्मनो मगहरे जातश्चरित्रं गुरोः ॥३॥

॥ सत्यनाम ॥

अथ कबीर-साहब का बीजक ग्रन्थ

रमैनी ।

(१) रमैनी ।

अंतर जोति सबद एक नारी । हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी ॥१

शब्दों का अर्थ—हरि=विष्णु । ताके=उस नारी के । त्रिपुरारी=महादेवजी ।

मूल का अर्थ—सर्वप्रथम एक अन्तर ज्योति शब्द से बोधित होनेवाला अर्थात् भीतर प्रकाश रूप से वर्तमान अन्तरात्मा और एक नारी (माया) थी । अनन्तर उस माया रूप नारी के विष्णु, ब्रह्मा और महादेवजी; ये तीन पुत्र हुए ।

टीकाकार का मङ्गलाचरण ।

संसारदावानलदह्यमानान्, विलोक्य जीवान् करुणार्णवो द्राक् ।
वचोऽमृतं यो विमलं ववर्ष, तं वारिवाहं कमपि प्रणौमि ॥१॥

---

* सत्यनाम की व्याख्या—"सत्यन्त्वेव विजिज्ञासितव्यम्" निश्चय से सत्य ही जानने के योग्य है । "एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" यह सब कुछ जिसका स्वरूप है, वह सत्य है, वही आत्मा है; और हे श्वेतकेतु ! वह तूं है । "न ह्यस्मादन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति" सत्य का सत्य के अतिरिक्त कोई दूसरा नाम नहीं है । "तस्य नाम सत्यमिति" (छान्दोग्योपनिषद्) पूर्वोक्त आत्मतत्त्व का नाम, वाचक शब्द 'सत्य' है; अतः वह आत्मतत्त्व 'सत्यं नाम यस्य तत्सत्यनाम" अर्थात् 'सत्य' यह है नाम, वाचक शब्द जिसका, ऐसा है; क्यों कि "सत्यस्य सत्यमिति" सत्य को स्मरण करने के लिए या कहने के लिए यदि किसी नाम [वाचक शब्द] का प्रयोग करना चाहें तो सत्य ही नाम का प्रयोग कर सकते हैं; क्यों कि सत्य का 'सत्य' ही नाम है ।

फलितार्थ—"सत्यनाम" यह उक्त विधया परम उपदेश है, और सद्गुरु उपदेशक हैं । अतः वैद्य की तरह उपदेशक को याद करते रहने की अपेक्षा औषध-स्मृति की तरह उसके उपदेश का स्मरण रखना और उपयोग करना अधिक फलदायक है । हां, कृतघ्नता की निवृत्ति के लिए सद्गुरु का स्मरण करना भी अत्यन्त आवश्यक है; परन्तु तत्त्वोपदेश को भूलकर नहीं ।

करुणा के समुद्र जिन कबीर साहब ने संसार में त्रिताप रूप दावाग्नि से जलते हुए जीवों को देखकर अपने वचन रूपी निर्मल अमृत की जल्दी से वर्षा की है, ऐसे विलक्षण मेघ स्वरूप सद्गुरु को मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

यद्गवीभानुभाभिन्नाः, प्रयान्ति तमसश्छटाः ।
अमन्दानन्दसन्दोहमीडे तं सद्गुरुं परम् ॥२॥

जिन के वाणी रूप सूर्य के प्रकाश से छिन्न-भिन्न होकर अज्ञान रूप अंधकार का समूह नष्ट हो जाता है। पूर्णानन्द की राशि ऐसे परम सद्गुरु की मैं स्तुति करता हूँ ॥२॥

क्वायं दुस्तरपाथोधिः क्वाहं भीरुरसाधनः
जगन्नाथपदध्यानं तरो भवतु मेऽधुना ॥३॥

बीजक ग्रन्थ की टीका रूप यह दुस्तर समुद्र कहाँ, और डरनेवाला तथा साधन-सामग्री से रहित मैं कहाँ ? ऐसी स्थिति में जगन्नाथ साहब के चरणों का ध्यान ही अब मेरे लिए नौका बन जाये ॥३॥

—टीका—

ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण से शिष्टाचार का परिपालन तथा आस्तिकता का द्योतन होता है। इस बात की शिक्षा देते हुए कबीर साहब ने भी 'अंतर जोति' पद से प्रत्यक्चेतन (अन्तरात्म रूप परमात्मा) का स्मरण करके सृष्टि-कथन रूप वस्तु-निर्देशात्मक मङ्गल का अनुष्ठान किया है। इस ग्रन्थ में पहली, दूसरी और तीसरी रमैनी में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। सृष्टि-वर्णन का तात्पर्य आत्म-कैवल्य प्रतिपादन में है, और यही 'आत्मकैवल्य' इस ग्रन्थ का विषय है। 'केवल ज्ञान कबीर का बिरले जन जाना।' और सर्वानर्थ-निवृत्ति तथा परमानन्द (परम शान्ति) की प्राप्ति रूप परम प्रयोजन है। एवं उसका साक्षात्साधन आत्म-कैवल्य-ज्ञान है। और विवेक (पारख), वैराग्यादि साधन-सम्पत्तिवाले इसके अधिकारी हैं। और निरूप्य-निरूपक भाव तथा बोध्य-बोधक भाव रूप सम्बन्ध हैं।

सूचना—यह बीजक का संक्षिप्त अनुबन्ध—चतुष्टय है। ग्रन्थविस्तार—भय से इन सबों की लक्षणादि द्वारा विस्तृत विवेचना नहीं की गयी है। इसी प्रकार आगे भी अन्यान्य पदार्थों के निरूपणादिक में उक्त भय से संक्षिप्तता का ही अनुशरण किया गया है।

यद्यपि मुक्ति का साक्षात्साधन आत्म–कैवल्य ज्ञान (आत्माऽसंगता ज्ञान) ही है। सृष्टि (रचना) ज्ञान नहीं। इस कारण प्रथमतः लोकादि–रचना का वर्णन आपाततः असंगत सा मालूम पड़ता है, तथापि सूक्ष्म विचार करने से यह असंगति–ज्ञान दूर हो जाता है; क्योंकि निजपद के साक्षात्–वेत्ता महात्माओं का यह मत है कि "अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते। शिष्याणां सुखबोधाय तत्त्वज्ञैर्विहितः क्रमः" ।। अर्थात् अध्यारोप (प्रपञ्चारोप) तथा अपवाद (प्रपञ्च का बाध) द्वारा ही प्रपञ्चाभाव का बोध कराया जा सकता है। अतः सर्वप्रथम किया हुआ जगदुत्पत्ति का वर्णन भी 'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः।' (अर्थात् प्रकृत [इष्ट] की सिद्धि के लिए की हुई चिन्ता को उपोद्घात कहते हैं)। इस लक्षण से लक्षित उपोद्घात रूप संगति से संगत (समीचीन) ही है! यहाँ पर आत्म–कैवल्य ज्ञान कराना अभिमत है, और यह सृष्टि का वर्णन उसका साधन है। इसलिए उपोद्घात का स्वरूप बन जाता है। इस ग्रन्थ में 'अंतर जोति' इत्यादिक सृष्टिप्रतिपादक पद्यों में अध्यारोप का तथा "बिनसै नाग गरुड़ गलि जाई।" इत्यादिक पद्यों से अपवाद का विधान बाहुल्येन किया गया है।

उपक्रम।

कबीर साहब के मत में भी आत्मा, (चेतन पुरुष) और अनात्मा (जड़, प्रकृत, माया) ये दो पदार्थ अनादि माने गये हैं। उनमें से चेतन आत्मा तो अनादि अनन्त और प्रकाश रूप है। जैसा कि श्रुति का वचन है कि, "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।" अर्थात् चैतन्य में सूर्य, चन्द्र, तारे और बिजली भी प्रकाश नहीं कर सकती तब अग्नि की तो कथा ही क्या है! प्रकाशमान उस चैतन्य के पीछे सर्व प्रकाशित होते हैं। उसीके प्रकाश से यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित होता है।

और प्रकृति माया अनादि सान्त और अप्रकाश रूप है। जैसा कि यह श्रुति का वचन है कि, "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे" इत्यादि (ऋग्वेद मं १०) अर्थात् सृष्टि के पहले अन्धकार से घिरा हुआ अन्धकार था। इसी बात को मनु भगवान् ने भी कहा है कि, "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥" (अ० १ श्लो० ५)। इस प्रकार चेतन और अचेतन के विवेक करने का फल स्मृति ने वर्णन किया है कि, "य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह। सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते" ॥ (गीता)। अर्थात् जो इस प्रकार से गुणों के सहित प्रकृति और पुरुष को जानता है, वह सब प्रकार से रहता हुआ भी फिर उत्पन्न नहीं होता है। अर्थात् मुक्त हो जाता है। यहाँ पर यह भी जान लेना आवश्यक है कि, जीव और ईश्वर में वास्तविक भेद नहीं है; क्योंकि एक ही चेतन उपाधि-भेद से जीव और ईश्वर रूप होकर भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। वास्तव में एक ही पदार्थ है।

इस बात को श्रुतियों ने स्पष्ट कर दिया है। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" ॥ तथा "आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्। तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलधारास्विवांशुमान्" ॥ तथा "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" ॥ "एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः। क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" ॥ "क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम" ॥ (भगवद्गीता अ० १३। १, २)

और जो चेतन आत्मा में द्वैत की सिद्धि के लिए प्रमाण रूप से "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" ॥ "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" ॥ इत्यादिक भेद–प्रतिपादक वचन उपस्थित किये जाते हैं वे वस्तुतः भेद के साधक नहीं हैं। यह वार्ता इसी स्मृति के कूटस्थ पद के व्याख्यान से स्पष्ट हो जाती है। जैसा कि, भगवान् शङ्कराचार्य ने गीताभाष्य में वर्णन किया है। "कौ तौ पुरुषावित्याह स्वयमेव भगवान् 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' समस्तविकारजातमित्यर्थः। कूटस्थः कूटो राशी राशिरिव स्थितः अथवा कूटो माया वञ्चना जिह्मं कुटिलं वेति पर्यायाः। अनेकमायादिप्रकारेण स्थितः कूटस्थः संसारबीजानन्त्यान्न क्षरतीत्यक्षर उच्यते। आभ्यां क्षराक्षराभ्यां विलक्षणः क्षराक्षरोपाधिद्वयदोषेणास्पृष्टो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः। उत्तम उत्कृष्टतमः पुरुषस्त्वन्योऽत्यन्तविलक्षण आभ्याम्। परमात्मेति परमश्चासावात्मा च देहाद्यविद्याकृतात्मभ्योऽन्नमयादिभ्यः परश्च आत्मा च सर्वभूतानां प्रत्यक्-

चेतन इत्यतः परमात्मेत्युदाहृत उक्तो वेदान्तेषु स एव विशिष्यते" इत्यादि ।

इसी प्रकार "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" ॥ [मुण्डक और श्वेताश्वतर उपनिषद्] । इत्यादि स्थलों में भी यही रहस्य समझना चाहिये । इससे यह सिद्ध हुआ कि, जीवात्मा से परमात्मा वस्तुतः भिन्न नहीं है । अतः चेतन और माया दो ही पदार्थ अनादि हैं ।

माया के विषय में यह भी जान लेना चाहिये कि, उसकी सत्ता चेतन से पृथक् नहीं है; क्योंकि वह स्व-(चेतन)-आश्रिता है । अतः देवदत्ताश्रित देवदत्त की शक्ति की तरह माया आत्मा में भेद की साधक नहीं है । इससे सिद्ध हुआ कि, आत्मा केवल तथा निर्लेप है । अतएव आत्म-कैवल्य ज्ञान से ही मुक्ति होती है । विपरीत इसके जो आत्मा में वस्तुतः भेद-बुद्धि करते हैं वे अज्ञानता के कारण जन्म-मरण रूप क्लेश को प्राप्त होते हैं । यह वार्ता भेदनिषेधक श्रुतिसमुदाय से स्पष्ट है ।

"यदा ह्येवैष एतस्मिन्न दृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भविता यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" ॥ इसी प्रकार भेद–बुद्धि–पूर्वक तटस्थेश्वरोपासकों की निन्दा भी श्रुति ने की है । यथा–"अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः" इत्यादि ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि, जगदुत्पत्ति के पूर्व एक आत्मा ही था । जैसा कि श्रुति का वचन है कि, "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत् ।" इसके पश्चात् शुद्ध सत्त्वप्रधान माया में चेतन के प्रतिबिम्ब से उक्त चेतन को ईशरूपतापत्ति हुई । और वह ईश्वर माया की सत्त्व-शुद्धिता के कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा न्यायकारी और दयालु हुआ । अनन्तर चेतनाश्रित माया के गुणों में क्षोभ उत्पन्न होने से हिरण्यगर्भ=समष्टि–सूक्ष्म शरीराभिमानी मन (निरञ्जन) की उत्पत्ति हुई । जैसा कि वर्णन किया है कि, "गुणक्षोभे जायमाने महान् प्रादुर्बभूव ह । मनो महांश्च विज्ञेय एकं तद्वृत्तिभेदतः" ॥ अनन्तर माया में प्रतिबिम्बित चेतन रूप ईश्वर ने इच्छा की कि, 'मैं बहुत रूप से प्रकट होऊँ' । जैसा कि श्रुति-वचन है कि, "स ऐक्षत लोका-

न्नुसृजा इति" ।तथा "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च" । महदादि की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि, "गुणक्षोभे जायमाने महान् प्रादुर्बभूव ह । मनो महाँश्च विज्ञेय एकं तत् वृत्तिभेदतः" । इस प्रकार ईश्वरेच्छा से होनेवाली रचना में प्रथम त्रिगुण-प्रधान ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी की उत्पत्ति हुई ।

वस्तुतः मायोपाधिक ईश्वर ही गुणत्रय की उपाधि से त्रिदेव रूप होकर सर्जन, पालन और संहार रूप कार्यों को किया करता है । जैसा कि कैवल श्रुति है कि, "स ब्रह्मा, स विष्णुः, स रुद्रः" । तथा "एकैव मूर्तिर्विभिदे त्रिधाऽसौ" इत्यादिक वचन हैं । इस प्रकार सूक्ष्म भूत—क्रम से त्रिदेव—सृष्टि के अनन्तर स्थूल भूतसृष्टि-पूर्वक भौतिक सृष्टि हुई । जैसा कि वर्णन किया है कि, "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथ्वी, पृथिव्या औषधयः, औषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।"

विशेष व्याख्या—प्रपंचोत्पत्ति के पूर्व भी अंतरजोति—प्रत्यक्चेतन अन्तरात्मा विद्यमान था । चेतन आत्मा निरपेक्ष प्रकाशशील होने के कारण अन्तर्ज्योतिः, परम ज्योतिः, और स्वयं ज्योतिः आदिक अन्वर्थ नामों से ज्ञात होता है । जैसा कि श्रुति और स्मृतियों ने वर्णन किया है कि, "परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् । यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते, तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः" । इसी बात को गीता—स्मृतिने भी कहा कि, "ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते" । श्रीमद् भागवत के एकादश-स्कन्ध में भी यही वार्ता कही गयी है कि, "एष स्वयं ज्योतिरजोऽप्रमेयो महानुभूतिः सकलानुभूतिः । एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे येनेषिता वागसवश्चरन्ति" ॥ यद्यपि ज्योति शब्द से जहाँ तहाँ मन आदिकों का भी अभिधान किया गया है (इस विषय को आगे स्पष्ट किया जायगा) । तथापि वे स्वयं ज्योति अर्थात् निरपेक्ष प्रकाश वाले नहीं हैं किन्तु प्रकाशकों के भी प्रकाशक आत्मा से प्रकाशित होकर प्रदीप की तरह दूसरों को प्रकाशित करते रहते हैं । यह वार्ता "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" । इत्यादि उपनिषद्-वचनों से स्पष्ट है ।

इस प्रसंग में यह रहस्य प्रकट कर देना भी आवश्यक है कि, अनात्मोपासक लोग भ्रम से उक्त ज्योतिः—स्वरूप मन (पारिभाषिक निरंजन) आदिकों की आत्मभाव से उपासना करते हैं। इसी अध्यास के कारण वे आत्म-साक्षात्कार से वंचित होकर संसृति-चक्र में पड़े हुए सदैव घूमा करते हैं; क्योंकि मन साक्षात् यमराज है। इसी अभिप्राय से परतो ज्योतिः स्वरूप मन की उपासना का निषेध "ज्योति सरूपी हाकिमा जिन अमल पसारा हो। करम की वंसी लायके पकरयो जग सारा हो॥ अमल मिटावौं तासुका पठवौं भव पारा हो। कहँहि कबीर निरभय करौं परखो टकसारा हो"॥ (टकसार = स्वरूप, सत्य पद, चेतन)। इत्यादिक वचनों से किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि, पूर्वोक्त केवल शुद्ध चेतन पुरुष (आत्मा) ही सत्यपुरुष है। और मन आदिक बन्धन—कारक असत्य पुरुष हैं। इस प्रकार विवेक (पारख) द्वारा सत्यपुरुष के स्वरूप को समझ कर उसके साक्षात्कार के लिये निरन्तर और आदर पूर्वक उपासना (आत्म—चिन्तन) करनी चाहिये।

अब प्रकृत बात पर आता हूँ। वही स्वयं ज्योति शुद्ध—चेतन शुद्ध सत्व-प्रधान माया रूप उपाधि से ईशरूपता को प्राप्त होकर पुनः गुणत्रयोपाधि से ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम से प्रसिद्ध होता है अनन्तर वही ईश्वर स्व-निर्मित नाना शरीरों में प्रवेश करता हुआ प्राणों के धारण करने के कारण 'जीव' शब्द से व्यपदिष्ट होता है। अतः जीव और ईश में औपाधिक भेद के अतिरिक्त वस्तुतः भेद नहीं है; बल्कि यों कहना चाहिये कि, ईश्वर ही जीव रूप से स्थित होकर सम्पूर्ण व्यवहारों को सिद्ध करता है। जैसा कि श्रुतियों में वर्णित है, "अनेन जीवेनात्मनानु प्रविष्य नामरूपे व्याकरवाणि" तथा "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः"। अर्थात् जो यह विज्ञान रूप है और प्राणों के मध्य हृदय के बीच में प्रकाशमान है वही परमात्मा है। तथा "स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्र इति"। यह 'अन्तर जोति' पद का अर्थ हुआ।

अब नारी पद का अर्थ किया जाता है। यद्यपि अन्तर जोति पद की व्याख्या के अनन्तर शब्दों के क्रम से क्रम—प्राप्त शब्द पद की व्याख्या करनी चाहिये, तथापि "अग्निहोत्रं जुहोति, यवागुं पचति"। इस स्थल में कहे हुए "शब्दक्रमादर्थक्रमो बलीयान्" अर्थात् शब्दों

के क्रम से अर्थों का क्रम बलवान् होता है। इस मैमांसिक अर्थ—क्रम न्याय के अनुसार यहां पर अर्थ-क्रम के अनुरोध से प्रथमतः नारी पद का अर्थ बताना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि शब्द नियमतः संयोगज, विभागज और शब्दज हुआ करते हैं। इस कारण "दो बिनु होय न काजि का काजा। दो बिनु होय न अधर अवाजा ॥" इस लौकिक आभाणक के अनुसार केवल असंहत चेतन से ॐकार रूप शब्द की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती; क्योंकि शब्दोत्पत्ति का यह क्रम है कि, "आकाशवायुप्रभवः शरीरात्समुच्चरन् वक्त्र-मुपैति नादः स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः"। अर्थात् जब बोलने की इच्छा होती है तब प्रयत्न-विशेष से प्रेरित हुआ नाभिस्थ वायु आकाश से संयुक्त होकर नाद रूप को धारण करता है। अन-न्तर ऊपर की ओर जाता हुआ कण्ठादि स्थानों में विभक्त होकर ककारादि वर्णभाव को जो प्राप्त होता है वह शब्द कहाता है।

"नयति संसृतिमिति नारी" अर्थात् जो ज्ञानियों को संसार में भ्रमण करावे वह नारी है। इस निरुक्ति से नारी पद से यहाँ माया विवक्षित है। और सदैव चेतन पुरुष के आश्रित रहने के कारण भी माया नारीवत् नारी है। "न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" (मनु)। यहाँ पर पूर्वकथित इस वार्ता का स्मरण रखना आवश्यक है कि, "चेतन" और "माया" दोनों अनादि हैं। माया की अनादिता का वर्णन चौहत्तरवीं रमैनी में इस प्रकार किया गया है कि, "तहिया गुपुत थूल नहि काया, ताके न सोग ताकि पै माया" इत्यादि। अनन्तर माया—प्रतिबिम्बित चेतन की ईश्वरापत्ति के कारण शब्द-ब्रह्म का प्रादुर्भाव हुआ। इसके पश्चात् ब्रह्मा ने इसी शब्द की सहकारिता से "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" ऋग्वेद के इस कथन के अनुसार भूर्भुवादि निखिल लोकों की रचना की। "स भूरिति उक्त्वा भुवमसृजत्" तथा "वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे"। यह शब्द-ब्रह्म संज्ञा ॐकार की भी है। यह वार्ता "आकासवायुप्रभवः" इसके अवशिष्टांश "स वै शब्दो ब्रह्मोच्यते ओमित्येतत्" अर्थात् वह शब्द—ब्रह्म निश्चय से 'ॐ' ऐसा कहा जाता है।

और यहाँ सृष्टि—प्रकरण में शब्द पद से ॐकार संज्ञक शब्द—ब्रह्म ही

प्रकृतोपयोगी होने से विवक्षित है। ॐकार संज्ञक एक महा-अंड से विश्वोत्पत्ति का वर्णन कबीर साहब ने भी आगे इसी ग्रन्थ में किया है कि, "एक अंड ॐकार ते सब जग भया पसार"। इस रमैनी के प्रथम चरण में "एक" शब्द दिया गया है, जिसका मध्यमणि न्याय से शब्द और नारी दोनों के साथ अन्वय है। पूर्वोक्त शब्द-ब्रह्म "लोकानुसृजा" तथा "बहुस्यां प्रजायेय" इस प्रकार की इच्छा से प्रेरित हुए महाभूत के निःश्वास से प्रादुर्भूत होता है।

अब त्रिदेव-सृष्टि का वर्णन किया जाता है। पूर्वोक्त मायोपाधिक ईश्वर ही सत्त्व, रज, और तम गुण रूप उपाधि से हरि, ब्रह्मा और त्रिपुरारि नाम से कहा जाता है। "स ब्रह्मा, स विष्णुः, स रुद्रश्च।" ॥१॥

ते तिरिये भग लिंग अनंता। तेउ न जाने आदि औ अंता ॥२॥

शब्दों का अर्थ–ते तिरिये = उन तीनों से। अनंता = अनेक। तेऊ = उन सबों ने।

मूल का अर्थ–पश्चात् उन तीनों देवताओं से भग और लिंग से बोधित होनेवाले अनन्तस्त्री और पुरुष उत्पन्न हुए; परन्तु उन सबों ने अपनी आदि (उत्पति) को और अन्त को नहीं जाना।

उन तीनों देवताओं ने अनन्त ऐश्वर्य और उनके आकृतियों (चिन्हों) को धारण किया। उनसे अनेक नारी और नर उत्पन्न हुए। ऐश्वर्यादिक भग शब्द से बोधित होते हैं। जैसे कि, "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानविज्ञानयोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना" पूर्व वर्णित गुणोपाधिक तीनों देवताओं ने अपनी उत्पत्ति और प्रलय को नहीं जाना; क्योंकि कार्य अपने कारण को पूर्णतः नहीं जान सकता है ॥२॥

वाषरि एक विधाते कीन्हा। चौदह ठहर पाट सो लीन्हा ॥३॥

शब्दों का अर्थ–वाषरि = घर, मकान। बाषरी सं० स्त्री० [हिं० बखार, घर, मकान [स्त्री अल्प बखरि] मकान। गृह गाँव। ठहर = ठौर, जगह। उदाहरण–जानत हौ गोरस की लेवी वाही बाखरी माँझ। सूर०। आध्या०–बैखरी वाणी।

अनन्तर रजः–प्रधान होने के कारण क्रियाशील ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड

रूप एक बाखरी, विशाल-गृह का निर्माण किया, तथा प्रतिपादकतया यागादि धर्मों का आश्रयभूत वेद-त्रयी रूप एक पवित्र सर्वश्रेष्ठ और सुन्दर भवन का निर्माण भी किया। इस प्रकार खानि = स्थान, और वाणी की उत्पति हुई। अनन्तर वह खानि और वाणी रूप बाखरी (भवन) चौदह ठौर से पाटी गयी। भाव यह है कि, चौदह भुवन और चतुर्दश विद्याओं का विस्तार हुआ। चतुर्दश विद्यायें ये हैं—

"पुराण—न्याय—मीमांसा—धर्मशास्त्राङ्ग मिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश" ॥३॥

हरि हर ब्रह्मा महँतो नाऊँ। तिन्हि पुनि तीनि बसावल गाऊँ ॥४

महंतो नाऊँ = महत्व के नाम। पुनि = फिर। बसावल = बसाया। गाऊँ = गाँव।

भाव यह है कि, हरि, हर ब्रह्मा; ये तीनों नाम अधिकारत्रयप्रयुक्त होने के कारण "हरति असुरानिति हरिः" तथा "हरति प्रलयेन विश्वमिति हरः" एवं "बृहत्वात् ब्रह्मा"। इस प्रकार तीनों देवताओं के महत्व के सूचक हैं। अनन्तर तीनों देवताओं ने प्रातिस्विक रूपेण अलग अलग तीनों लोकों की रचना की ॥४॥

तिन्ह पुनि रचल षंड ब्रहमंडा। छव दरसन छानवे पाषंडा ॥५

रचल = रचा।

अनन्तर व्यष्टि रूप से खण्ड-ब्रह्माण्डों की रचना की गयी और तदन्तर्गत जङ्गम और स्थावर सृष्टि हुई। सृष्टि के अनन्तर मनुष्य नाना प्रकार के कर्मों में लग गये। इसके पश्चात् जब स्वार्थी नास्तिकों ने देहातमवादादिक नाना प्रकार के पाखण्ड फैला दिये तब हमारे प्रातःस्मरणीय परम दयालु महर्षियों ने छ आस्तिक दर्शनों का निर्माण किया। षड् दर्शन ये हैं—"साङ्ख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उतर मीमांसा, न्याय और वैशेषिक। षड् दर्शन वेषधारी और उनके छानवे पाखण्ड ये हैं—

जोगी, जङ्गम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश।
छठे कहिये ब्राह्मणा, छ घर छ उपदेश ॥

दस संन्यासी बारह जोगी, चौदह शेष बखान।
बौद्ध अठारह जङ्गम अठारह चौबिस सेवड़ा जान ॥
(बीजक श्री विश्वनाथसिंहजी) ॥५॥

पेटे काहु ना बेद पढ़ाया। सुनति कराय तुरुक नहिं आया॥६॥

पेटे = पेट में। सुनति = सुन्नत या मुसलमानी। तुरुक = मुसलमान।

माता के पेट में किसी ने वेद नहीं पढ़ाया। और मुसलमान भी सुन्नत कराये हुए नहीं पैदा हुए।

भाव यह है कि, इस प्रकार अनेक पाखण्ड-खंडन दर्शनारम्भ के अनन्तर भी जन्म-जातिवाद और कर्मजातिवाद रूप जन्मना, कर्मणा का बड़ा भारी बखेड़ा लगा ही रह गया, जिसके कारण अहंकारमूलक मिथ्या कलह में पड़कर अविवेको लोग आत्म-तत्त्व से विमुख हो गये। और अपनी-अपनी कल्पित अनन्त जातियों, उपजातियों और धर्मों को मिथ्या श्रेष्ठता में पड़कर सब जातियों और धर्मों के सच्चे जन्मदाता श्रीनरनारायण देव के तथा मानव धर्म के भी घातक हो गये। इस प्रकार अज्ञान-प्रभञ्जन-विवर्धित-विद्वेषाग्नि से सारे संसार को जलते हुए देखकर उसको प्रशान्त करने की शुभेच्छा से परम कारुणिक श्री सद्गुरु कबीर साहब ने तत्त्वोपदेशामृत की वर्षा का आरम्भ इस प्रकार किया कि—"पेटे काहु ना बेद पढ़ाया, सुनति कराय तुरुक नहिं आया"। अर्थात् इतर जातियों का निर्माण मनुष्यों ने कर्मानुसार किया है। अतः ईश्वरीय जाति एक है और वह मनुष्य जाति है।

ब्राह्मणों का यह स्वाभिमान कहां तक सम्मान्य है कि, 'हम सब "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इस श्रुति के अनुसार ईश्वर के मुख से प्रकट हुए हैं। और ईश्वरीय वेदों को पढ़ा है; इसलिये स्वभावतः उच्च वर्ण होने के कारण ब्राह्मणेतरों से श्रेष्ठ हैं।'

इसी प्रकार क्षत्रियादिक द्विजाति वर्ण भी अपने आपको जन्मना उच्च और हरि के चरणों से उत्पन्न हुए भाइयों को जन्मना नीच मानते हैं। यही दशा मुसलमानों की भी है। वे भी कहते हैं कि, 'हम मुसलमानों (ईमानदारों) को खुदा ने पैदा किया है। इस वजह से हम लोग गैर मुस्लिम काफिरों से

हर तरह पाक कौम हैं।' हे भाइयों! हिन्दू और मुसलमानो! आप लोग अपनी-अपनी जाति की बड़ाई में पड़ कर इस बात को भूल गये हैं कि, हम सबों को एक ही ईश्वर, मालिक ने पैदा किया है। इस कारण हम सबों के शरीर समान ही हैं, न कोई सोने का है न कोई मिट्टी का। और हमारे आराम के लिए बिछाये हुए एक ही बिछौने (पृथ्वी) पर ईश्वर ने हम सबों को बैठाया है। और एक ही पिता से उत्पन्न होने के कारण हम सबों का वस्तुतः एक ही खून है। अतः हम लोग एक ही लोक [घर] के रहनेवाले सबके सब औरस भाई हैं।' सुनिये—

"जो तुम करते बरन बिचारा, जनमत तीन डंड अनुसारा ॥
जनमत सूद्र मुये पुनि सूद्रा। क्रितिम जनेउ घालि जग दुंद्रा।
जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि (के)जाये। अवर राह ते काहे न आये ॥
जो तुम तुरुक तुरुकनी जाये। पेटे हिं काहे न सुनति कराये ॥
कारी पियरी दूहहु गाई। ताकर दूध देहु बिलगाई ॥
छाँड़ु कपट नर अधिक सयानी। कहँहिं कबीर भजु सारंगपानी ॥"

और यह भी सुनिये—

"भाई रे दुइ जगदीश कहाँ ते आया। कहु कौने बौराया ॥
अल्लह राम करीमा केसव, हरि हजरत नाम धराया ॥
गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा ॥
कहन सुनन को दुइ कर थापे, एक नमाज एक पूजा ॥
वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये ॥
को हिन्दू को तुरुक कहावे, एक जमीं पर रहिये ॥
बेद कितेब पढ़ैं वे कुतुबा, वे मौलाना वे पाँडे ॥
बेगर बेगर नांव धराये, एक मटिया के भाँडे ॥
कहंहिं कबीर वे दोनों भूले, रामहि किनहुं न पाया ॥
वै खस्सी वै गाय कटावैं, बादहिं जन्म गमाया ॥"

जरा सोचिये तो सही कि—

"माटी के घट साज बनाया, नादे बिन्द समाना ॥
घट बिनसे का नाम धरहुगे, अहमक खोज भुलाना ॥

एकै तुचा, हाड मलमूत्रा, एक रूधिर एक गूदा ॥
एक बून्द से सिष्टि रची है, को ब्राह्मन को सूद्रा ॥
रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर, सत्तगुना हरि सोई ॥
कहँहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई" ॥६॥

नारी मो चित गरभ-प्रसूती । स्वांग धरे बहुतै करतूती ॥७॥

नारी मो = नारी में । प्रसूती = उत्पन्न हुए । करतूती = कर्म ।

नारी में चित्त के रखने से गर्भ में अपनी उत्पत्ति होती है । और फिर जन्म लेकर अपने कर्मों के अनुसार प्राणी नाना प्रकार के रूपों को धरते हैं ।

भाव यह है कि—यहां पर नारी शब्द से स्त्री और माया (प्रकृति), कनक और कामिनी दोनों विवक्षित हैं । उनमें से माया की प्रतीति के लिए किया हुआ नारी शब्द का प्रयोग भाक्त (लाक्षणिक) है; क्यों कि माया [प्रकृति] नारीवत् नारी है । जैसा कि प्रकृति का लक्षण है कि—

"अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया ।
त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते ॥
व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तस्याश्च पुरुषस्य च ।
स ह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः ॥

कनक और कामिनी में लिप्त रहनेवाले मनुष्य सदैव अनेक दुष्कर्म किया करते हैं । इस कारण कर्म—फलों को भोगने के लिये अनेक प्रकार के शरीर रूप स्वांगों को यम की आज्ञा से पहन-पहन कर विशाल संसार-अजिर में चिरकाल तक उनको नाचना पड़ता है । कभी बैठने नहीं पाते ॥७॥

तहिया हम तुम एकै लोहू । एकै प्रान बियापै मोहू ॥८॥

तहिया = उस समय । मोहू = मुझ में ।

हे भाइयो ! हिन्दू और मुसलमानो ! सृष्टि के पूर्व हम सब पितामह ब्रह्मा (आदम) के एक ही खून और एक ही प्राणवाले थे । जैसा कि मनु भगवान का उपदेश है कि,

"द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥"

अर्थात् एक ही ईश्वररूप ब्रह्मा ने अपने शरीर से सबों को पैदा किया है। आश्चर्य और खेद है कि, इस बात को जानते और मानते हुए भी अपने को ऊँच और दूसरों को निष्कारण नीच ठहराते हुए विद्वेषाग्नि से जल रहे हैं ॥८॥

एकै जनी जना संसारा। कवन ज्ञान ते भयउ निनारा ॥९॥

जनी = स्त्री (माया)। निनारा = अलग-अलग।

एक ही माया रूप स्त्री ने सारे संसार को उत्पन्न किया है, तो भला किस समझ से आप लोग अलग-अलग हो गये हैं ?

भाव यह है कि—एक ही माया ने सारे संसार को पैदा किया है, तो भला बतलाइये कि, आप लोग किस समझ से अपने को स्वभावतः ऊँच और दूसरों को जन्म ही से नीच ठहरा कर उनके साथ कुछ भी सहानुभूति नहीं रखते हैं ? यह काम ईश्वर के पुत्रों को शोभा नहीं देता है ॥९॥

भौ बालक भग-द्वारे आया। भग भोगी के पुरुष कहाया ॥१०॥

भौ = हुआ।

स्त्री की योनि से बाहर आने पर बच्चा बालक कहलाता है। और स्त्री-योनि का भोक्ता होकर वह पुरुष कहलाता है।

भाव यह है कि—इस प्रकार मिथ्या अहंकार के कारण निज रूप को भूल कर अबोध बालक के समान जो अज्ञानी हो गया वह निश्चय जन्म रूप संसार के द्वार पर भोग—भिक्षा माँगने के लिये चला आया। यहाँ पर भग शब्द उत्पति का बोधक है।

"उत्पत्तिश्च विनाशश्च भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्याश्च स वाच्यो भगवानिति ॥"

और षडैश्वर्य को भोगने वाले इन्द्रादिक अधिकारी पुरुष कहलाये। इन सबों में से अविगति = निश्चल जैसा का तैसा आत्मतत्त्व, ईश्वर की गति (रहस्य) को किसी ने नहीं जाना ॥१०॥

अविगति की गति काहु न जानी।
एक जीभ कित कहौं बखानी ॥ ११ ॥
जो मुख होय जीभ दस लाखा। तो कोइ आय महंतो भाखा ॥१२॥

अविगति = जिसकी गति न हो [सत्य पुरुष साहब]। कित = कैसे।

अब मैं अनन्त महिमा वाले निजरूप आत्मा का वर्णन एक जीभ से कहाँ तक करूँ ? यदि किसी के मुख में दस लाख जीभ हों तो वह आकर उस अविगत पुरुष की महिमा का वर्णन करे !

भाव यह है कि–मिथ्या अहंकारी संसारी लोग न्यायकारी होने के कारण कर्म—फलों को भुगाने वाले ईश्वर से भी नहीं डरते हैं। मानो उन्होंने ईश्वर को भगाकर सारे संसार पर अपना अधिकार जमा लिया है। 'यदि किसी के मुख में दस लाख जीभ हों तो वह ईश्वर का वर्णन करे !"। यहाँ पर संभावना अलंकार कैसा फबता है, जिसका यह लक्षण है कि—

"संभावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये।
यदि शेषो भवेद्वक्ता कथिताः स्युर्गुणास्तव॥"
"जौ यौं हो तौ यौं कहें सम्भावना विचार।
वक्ता हो तो सेस जौ तौ लहतौ गुन पार (भाषाभूषण) ॥११, १२॥

साखी—कहँहिं कबीर पुकारिके, ईले ऊ बेवहार।
एक राम नाम जाने बिना, बूड़ि मुवा संसार ॥१३॥

ईले–सृष्टि के पहले के।

कबीर साहब पुकार पुकार कर मिथ्याभिमानियों को कह रहे हैं कि, वे मनमाने आडम्बर बीच में स्वार्थियों ने खड़े किये हैं। न आदि ही में थे और न अन्त ही में रहेंगे।

भाव यह है कि—इसी प्रकार तुम्हारा दौरदौरा और स्वाश्रितों पर अत्याचार सदैव न चल सकेगा; क्योंकि यह संसार सदैव करवटें बदला करता है। इस कारण अपने को ऊपर मानने वाले नीचे पड़े हुए ऊपर होते रहते हैं। इसने बड़े २ चक्रवर्ती अभिमानियों को धूल में मिला दिया है ईश्वर

के अतिरिक्त कोई स्थिर होकर रहने वाला नहीं है। "सर्वे भावा विपरिणामिन ऋते चितिशक्तेः, (सांख्यदर्शन)"। राम, रमैया "रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामः" अर्थात् सर्वोके हृदय-मन्दिर में निवास करने वाला चेतन देव आत्मा, राम शब्द से बोधित होने वाला, राम है नाम जिसका अर्थात् पूर्वोक्त अनादि रमैया राम सर्वभूतनिवासी को साक्षात् रूप से (हाजिर नाजिर) जाने बिना अज्ञानी लोग इसी प्रकार लड़ते झगड़ते हुए ज्ञान रूपी नौका के उलट जाने से संसार-सागर में डूब जाते हैं। यहाँ पर संसार पद से "मञ्चाः क्रोशन्ति" की तरह लक्षणा से संसारी लोगों का बोध होता है।

इस रमैनी के उपक्रम में चेतन-आत्मा का निरूपण और मध्य में मायिक सृष्टि का वर्णन और उपसंहार में प्रपञ्चोपसंहार—कथन—पूर्वक एकात्मतत्त्व (रमैया राम) की ही अवस्थिति का प्रदर्शन कराया गया है।

इससे यह बात स्पष्ट ही मालूम होती है कि, यह संसार न पहले था और न अन्त में ही रहेगा। केवल बीच में झूल रहा है। इसका यह बीच बीच में रहना भी सत्यरूप से नहीं है। यह वार्ता "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा" (अर्थात् जो आदि और अन्त में नहीं है, वह वर्तमान में भी नहीं है) इस गौडपादीय-कारिकांश का यह भाव है कि, संसार की मध्य में (अर्थात् वर्तमान में) प्रतीति भी मिथ्या है। अतः एक आत्मा ही सत्य है और उसी के साक्षात्कार से मुक्ति-पद प्राप्त होता है। उक्त आत्मा के साक्षात्कार का अधिकारी वही हो सकता है, जिसका हृदय विकारों से रहित हो। इस प्रकार अध्यारोप और अपवाद के द्वारा इस रमैनी में निष्प्रपञ्च का निरूपण किया गया है, जिससे कि आत्म-कैवल्य के द्वारा अमर-पद को प्राप्त करें।

इस रमैनी के प्रथम-चरण के अर्थ में यह भी एक प्रकार हो सकता है कि, सृष्टि के आदि में एक अन्तर (अन्तरात्मा प्रत्यक्चेतन) और एक नारी (माया) थी। "एषोऽन्तः पुरुषः"। अनन्तर मायोपाधिक सबल (सोपाधिक) चेतन ईश्वर से ज्योतिः शब्द से बोधित होनेवाला अर्थात् समष्टि-सूक्ष्म शरीराभिमानी जिसका नाम उपनिषदों में मन भी है, वह उत्पन्न हुआ। मन भी ज्योतिः स्वरूप है, परन्तु परतो ज्योतिः है। स्वयंज्योतिः स्वप्रकाश-चेतन नहीं है। मन की ज्योतिः—स्वरूपता का वर्णन यजुर्वेद में अ. ३४ मं. ११३ में किया गया है।

यथा "यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु " ॥ १ ॥ ज्योतिषां ज्योतिः–विषयप्रकाशक इन्द्रियों का प्रेरक। तथा " यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु। यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु " ॥ ३ ॥

कबीरपन्थी ग्रन्थों की प्रक्रिया का अर्थ—अन्तर ब्रह्माण्ड में वर्तमान एक ज्योति स्वरूप निरंजन जो कि ॐ कार शब्द से कहा जाता है। और एक नारी आद्या, अष्टांगी, माया ये दोनों थे। इनसे हरि, ब्रह्मा और त्रिपुरारी; ये तीनों पुत्र हुए।

विशेष वक्तव्य—इसी मन की आत्म–बुद्धि से उपासना करनेवालों का संसार–सागर में डूब जाने का वर्णन इस ग्रन्थ में कई जगह विद्यमान है। इस प्रसंग में कुछ पारिभाषिक अर्थ–रहस्य को स्पष्ट कर देना आवश्यक है जिससे कि " शब्दमात्रान्न भेतव्यम् " यह सूक्ति अन्वर्थ हो जाय।

पदार्थ–प्रतिपादक सब ही ग्रन्थों में प्रायः कुछ शब्द पारिभाषिक होते हैं, जिनका कि प्रयोग ग्रन्थकार विशेष अर्थ में करते हैं। जैसे व्याकरण ने (घिः संज्ञा)। घि शब्द नदी शब्द और वृद्धि शब्दादिक हैं। उक्त शब्द लौकिक अर्थ के बोधक नहीं हैं; किन्तु पारिभाषिक " इ " और " उ " आदि के ही बोधक हैं। यह वार्ता विना ननु और नच के सर्वसम्मत है। इसी प्रकार इस ग्रंथ में भी निरञ्जन शब्द का ग्रन्थ की परिभाषा से तथा निरुक्ति–बल से भी मनोऽभिमानी देवता, जिसको मन भी कहते हैं, अर्थ है; क्योंकि समष्टि सूक्ष्म शरीर में मन ही की प्रधानता है। निरञ्जन शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है, "अञ्जु व्यक्तिम्रक्षण-कान्तिगतिषु " एतदर्थक अञ्जु धातु से बाहुलकात् भाव में ल्युट् प्रत्यय करने से अञ्जन, व्यञ्जन और व्यञ्जनादिक शब्दों की सिद्धि होती है, जिनका अर्थ "व्यक्त होना" होता है। फिर निर् के साथ "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः" इस वार्तिक से समास होता है। उक्त शब्द का विग्रह यह है " निर्गतो व्यञ्जनात् व्यक्तेः= व्यक्ताया इति निरञ्जनः" अर्थात् जो व्यक्तता, प्रकटता से रहित हो (गुप्त हो), अव्यक्त हो उसको निरञ्जन कहते हैं। उक्त अञ्जु धातु के व्यक्तिरूप अर्थ को लेने से निरञ्जन शब्द का यह अर्थ होता है।

इसी प्रकार व्यक्ति और म्रक्षण अर्थ को लेने से "अञ्जना" माया रूप अर्थ की प्रतीति होती है। जैसा कि ९वीं रमैनी में प्रयोग है कि "जम बांधै अँजनी के पूता" इसी प्रकार कान्ति और गति अर्थ को लेकर "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि स्थलों में निरञ्जन शब्द के दूसरे दूसरे अर्थ हो जाते हैं। यह शब्द–शास्त्र की कामधेनुता है। "इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः। प्रक्रियां तस्य कृत्स्नस्य क्षमो वक्तुं नरः कथम्॥"

मन ज्योति–स्वरूप है, यह वार्ता पहले हो चुकी है, और मन सबों को भटकानेवाला तथा यमरूप होकर अनेक कष्ट देनेवाला है। यहभी सर्वसम्मत है।

भावार्थ—मिथ्या–प्रपञ्च रूप मरु–प्रदेश की ओर बहते हुए प्रेम–प्रवाह को मोड़ कर अखण्डानन्द–परिपूर्ण विश्वास–सागर की ओर ले जाना चाहिए। इति ॥ १ ॥

(२) रमैनी।

जीव रूप एक अंतर बासा। अंतर जोति कीन्ह परगासा ॥१॥

मूल का अर्थ—पहली रमैनी में बताया हुआ एक अन्तर्ज्योति पुरुष है। उसने प्राणियों के हृदय में जीव रूप से निवास किया। और हृदय में ही ज्योति की (चेतना का) प्रकाश किया।

उपक्रम

पूर्व रमैनी में समष्टि और व्यष्टि भाव से भूत और भौतिक सृष्टि का वर्णन किया गया है, और इस रमैनी में केवल व्यष्टि रूप से जीव–रूपतापत्ति तथा माया के त्रिगुणात्मक फांस में जीवात्माओं के फँस जाने का वर्णन किया गया है। अतः ईश–रूपतापत्ति–पूर्वक जीवरूपतापत्ति का बोध करानेवाली इन दोनों रमैनियों का पौर्वापर्य भी सुसङ्गत होता है। पूर्व रमैनी में यह वर्णन हो चुका है कि, शुद्ध–सत्त्व–प्रधान माया में प्रतिबिम्बित होने से चेतन को ईश–रूपता की प्राप्ति होती है। जैसा कि विद्यारण्य स्वामीजी ने पञ्चदशी में वर्णन किया है—

"सत्त्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
माया बिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः॥"

अब पूर्वोक्त चेतन की जीवरूपतापत्ति का वर्णन किया जाता है। इस रमैनी में अलङ्कार रूप से माया की त्रिगुणात्मक फांसी का वर्णन किया गया है। अतः इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये शब्दार्थ करने के पूर्व कुछ कहना आवश्यक है। उक्त प्रकार से ईश्वर ने भूत–सृष्टि–पूर्वक भौतिक शरीरों का निर्माण करके व्यवहार–सिद्धि के लिये नाम और रूपों की व्याख्या करने के हेतु जीव रूप से उनमें प्रवेश किया। जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णन किया है—"असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्सत्सुकृतमुच्यते इति" तथा "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत। अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"॥ शरीरों में प्रवेश करके प्राणों को धारण करने ही के कारण आत्मा की 'जीव' ऐसी संज्ञा हुई। "जीवत्वं प्राणधारणात्" तथा "जीवो भूत्वा जीवमाविशत्" इत्यादि। अनन्तर अनेक कार्यों को करने के लिये जीव के हृदय में (स्फुरण) इच्छा का संचार हुआ। उक्त इच्छा विकृति रूप होती हुई भी कार्य और कारण की अभिन्नता से प्रकृति के तुल्य त्रिगुणात्मिका तथा त्रिगुणात्मक प्रपञ्च को स्वयं उत्पन्न करनेवाली हुई। अनन्तर सूक्ष्मेच्छा से राजस, सात्विक और तामस रूपवाले अभिव्यक्त विचारों का प्रादुर्भाव हुआ। ये विचार मन और प्रकृति के सम्बन्ध से हुए हैं। अतः त्रिगुणात्मक होने के कारण शब्दान्तरित रज, सत्व और तमोगुण रूप ही हैं, और इनका भी सम्भव प्रकृति ही से हुआ है। जैसा कि गीता का वचन है,—"सत्वंरजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः"। इन तीनों गुणों के स्वरूप का वर्णन सांख्यकारिका में इस तरह किया है—"सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः। गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः"॥ तथा इन गुणों के कार्यों का वर्णन गीता में इस प्रकार है—

"सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥"

इन्हीं तीनों गुणों से तीनों लोकों की तथा त्रिगुणात्मक समस्त प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। और इसी त्रिगुणात्मक फांसी को हाथ में लेकर माया सबको बांधती है। जैसा कि गीता के १४ वें अध्याय में वर्णन किया है—

"सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ! ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ॥ "

इन तीनों गुणों के हिंडोले में बैठे हुए प्राकृत जन कभी स्वर्ग, कभी मर्त्य और कभी नीचे के लोकों में घूमा करते हैं। अनन्तर आत्मानात्मा का विवेक (पारख) हो जाने से गुणातीत होकर आत्मकैवल्य को प्राप्त हो जाते हैं। इस बात को भगवान् ने स्वयं वर्णन किया है—

" नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ "

प्रकृति के किये हुए नाना प्रकार के कर्मों को अहंबुद्धि से अपना किया हुआ मानना ही वन्धन का कारण है। और इसी गुणाभिमान रूप फांसी से माया अविवेकियों को बांधा करती है। " माया महा ठगनी हम जानी। त्रिगुन फांस लिये कर डोले, बोलै मधुरी बानी।" अन्त में कहा है कि, 'कहँहिं कबीर सुनो भाई साधो, ये सब अकथ कहानी ॥"

इससे यह सिद्ध हुआ कि, तीनों गुण बन्धनकारक हैं। अतः मुमुक्षु को उचित है कि, इनसे वचकर निस्त्रैगुण्य होने का प्रयत्न करे। इस ग्रन्थ में यह वार्ता आलंकारिक रूप से अनेक जगह पर कही गयी हैं। जैसे कि " रजोगुन ब्रह्मा, तमोगुन शंकर, सत्तगुना हरि होई। कहैं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई " ॥ इसी प्रकार " ब्रह्मा पूछै जननि से, कर जोरि सीस नँवाय "। इत्यादिक ब्रह्मा का माया से अपने पिता के विषय में प्रश्न करना और उत्तर

पाकर ध्यान–द्वारा उसका साक्षात्कार करना, इत्यादि वर्णन भी रूपकातिशयोक्ति–घटित है। और इसी तरह उक्त गुणप्रधान नाना देवताओं की उपासना का निषेध करना भी इसी रहस्य से पूर्ण है; क्योंकि बंधनकारक गुणत्रय ही है। लोकविशेष निवासी और चतुर्मुखादि विग्रहधारी देवता आकर अविवेकियों को नहीं बांधते। अतः गुणत्रयाभिमान की निवृत्ति और आत्म–विवेक की प्राप्ति के द्वारा जिज्ञासु अनायास ही मुक्ति को प्राप्त कर लें, यही महात्माओं का सदभिप्राय है। खेद है कि, इस अभिप्राय को न जानने के कारण स्वयं त्रिगुण फांस में पड़े हुए भी देवापवाद करते हुए लोकापवाद के महापात्र बन जाते हैं।

विशेष व्याख्या—उक्त मायोपाधिक ईश्वर ने ही शरीरादिकों का निर्माण करके उन में जीव रूप से प्रवेश किया, तथा हृदयरूपी गुहा में ज्योति (चेतनता) का प्रकाश किया। "ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञान-गम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥" (गीता अ० १३, १७)। "तं दुर्दर्शं गूढ-मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्"। तथा "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्"। इसी बात को स्मृति ने भी कहा है कि—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" ॥१॥

इच्छा रूप नारि औतरी। तासु नाम गायत्री धरी ॥२॥

औतरी = उत्पन्न हुई।

पहली रमैनी में बताई हुई माया रूप नारी का जीवों की इच्छा के रूप से अवतार हुआ। अर्थात् वह जीवों की इच्छा बनी। और उस इच्छा का गायत्री नाम रखा गया।

भाव यह है कि—अनन्तर नाना कार्यों को करने के लिये उक्त जीवात्मा के हृदय में प्रथम माया रूप सूक्ष्म इच्छा की उत्पत्ति हुई। विकृति रूपा यह सूक्ष्मेच्छा भी कार्य–कारण की अभिन्नता से त्रिगुणात्मिका तथा सात्त्विक, राजस और तामसरूप मन आदिक व्यक्त भावों की जननी हुई। त्रिगुणात्मक भाव भी उक्त न्याय से त्रिगुण रूप ही हुए। उक्त कार्योत्पादिका इच्छा का नाम गायत्री रखा गया; क्योंकि उक्तेच्छा गुणत्रय रूप से त्रिपदा है। अर्थात् त्रिगुण रूप से स्थित है। और गायत्री भी त्रिपदा है। इस त्रिपदत्व साम्य से तथा कार्य–साध-

कत्व रूप साम्य से गौणीवृत्त्या उक्तेच्छा का गायत्री नाम रखा गया। गायत्री की सप्त व्याहृतियों से सप्त भुवनों के निर्माण का वर्णन वेद में सविस्तार क्रिया गया है। उक्तेच्छा गायत्रीवत् गायत्री है, मुख्य गायत्री मंत्र नहीं। अतः यहां पर अनुचित आक्षेपों को अवसर नहीं है। "गायत्री वा इदँ सर्वंभूतं यदिदं किञ्च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदँ सर्वभूतं गायत्री च त्रायते च" ॥ छन्दोग्योपनिषद् ॥ २ ॥

तेहि नारी के पुत्र तीनि भयऊ। ब्रह्मा विस्नु महेसुर नाँऊ ॥३॥

भयऊ = उत्पन्न हुए।

उस गायत्री रूप नारी के तीन पुत्र हुए। जिनके कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ये नाम हुए।

भावार्थ—अनन्तर उस प्रकृति–प्रतिनिधिभूत त्रिगुणात्मिका इच्छा रूप नारी से राजस, सात्विक और तामस रूप भी त्रय रूपी तीन पुत्रों की उत्पत्ति हुई। अनन्तर त्रिराशीभूत वे भाव क्रमशः तत्तद्गुणों की प्रधानता के कारण "सिंहो माणवकः" की तरह गौण्या ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर नाम से बोधित हुए। उक्त तीनों गुणों में से केवल रजोगुण में ही क्रिया है; अवशिष्ट दो में नहीं। यह वार्ता "चलञ्च रजः" इस कारिकांश से स्पष्ट है।

तथा त्रिगुणात्मक भाव शब्दान्तरित गुणत्रय ही है। अतएव सुख दुःख और मोह स्वभाव वाले बन सकते हैं। यह वार्ता पूर्व स्पष्ट कर दी गयी है ॥३॥

तब ब्रह्मा पूछल महतारी। के तोर पुरुष केकरि तुम नारी ॥४॥

केकरि = किसकी।

तब ब्रह्माजी ने अपनी माता से पूछा कि, 'तुम्हारा पति कौन है; और तुम किसकी स्त्री हो?'

स्पष्टार्थ—अब रूपकातिशयोक्ति से तथा समासोक्ति से अविवेकियों का माया के फन्द में पड़ना बताया जाता है। "रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णाऽऽसङ्गसमुद्भवम्"। इस पूर्वोक्त कथन के अनुसार रजोगुण की अनुरागात्मक एवं स्वभावतः अज्ञानी, तथापि क्रियाशील होने के कारण राजस–मनोभावापन्न

ब्रह्मा ने माया से पूछा—' आपका पति (अर्थात् मेरा पिता) कौन है ? ' भाव यह है कि, जीवों के मन में ईश्वर की जिज्ञासा हुई ॥४॥

हम तुम तुम हम अवर न कोई ।
तोहई पुरुष हमहिं तोरि जोई ॥५॥

जोई = स्त्री ।

माता ने उत्तर दिया कि, 'तुम और हम दोनों ही हैं । तुम्हीं हमारे पुरुष हो और हमहीं तुम्हारी स्त्री हैं । '

भाव यह है कि—इसके अनन्तर माया मन को अपने प्रेम—फांस में फँसाने की इच्छा करती हुई तथा ईश्वर—प्राप्ति से जीवों को वञ्चित करती हुई, मन से बोली कि, " तुम जिस प्रकार हमारे प्रणयी हो, इसी प्रकार हम भी तुम्हारी प्रणयिनी हैं । अतः अपने इस अन्योन्य प्रेम के सम्बन्ध का आश्रय तृतीय व्यक्ति नहीं है, और तुम्हारा और हमारा एक ही हृदय है, केवल नाम मात्र दो हैं ।" इस विषय पर महात्माओं ने भी विशेष प्रकाश डाला है । जैसा कि इस साखी में कहा गया है कि—

" मन माया तो एक है, माया मन हि मिलाय ।
तीन लोक संसय पड़ा, काहि कहौं समुझाय ॥ " ॥५॥

साखी—बाप पूत की एकै नारी, एकै माय बियाय ।
ऐसा पूत सपूत न देखा, जो बापहि चीन्है धाय ॥६॥

बियाय = उत्पन्न करे ।

आश्चर्य है कि, ईश्वर रूप पिता और जीव रूप पुत्र की माया रूप एक ही स्त्री है । और वे दोनों माया रूप एक ही माता से उत्पन्न भी हुए हैं; परन्तु जीवों में ऐसा सुपुत्र नहीं देखा गया है जो ईश्वर रूप पिता को दौड़कर पहचान ले ।

सूचना—यह बात पहले कही जा चूकी है कि, जीव और ईश्वर की विभेदिका माया रूपी उपाधि है । अतः जीवापत्ति और ईशतापत्ति के औपाधिक होने पर भी जीव और ईश्वर का माया से सदैव सम्बन्ध रहता है; क्यों कि

माया स्वाश्रया और स्वविषया मानी गयी है। उपर्युक्त अंश में जीव और ईश की समता होते हुए भी जीव ईश्वर का पुत्र है, और ईश्वर उसका बीजप्रद पिता है। जैसा कि वर्णन किया है, "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"। तथा "सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।" अतएव "ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्। तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः"॥ (मनु)। इस प्रकार महा ठगनी माया के प्रतारक वचनों से सन्मार्ग से गिरे हुए अज्ञानी जीव रूप पुत्रों में ऐसा कोई सुपुत्र देखने में नहीं आया कि, जो कल्मषहारी और सर्वात्म-विहारी मुक्ति-दाता त्राता पिता के चरण-कमलों में भ्रमर बनकर अमृत रस का पान करता हुआ स्वयं अमृत हो जाय।

"जैसे मन माया रमै, ऐसे राम रमाय।
तारामंडल भेदि के, पुनि अमरापुर जाय"। (साखी संग्रह)

भावार्थ—बन्धनकारक नाना सकाम कर्मों के कर्ता अज्ञानियों को माया बांध लेती है। अतः चित्त-शुद्धि के लिये निष्काम कर्मों को करना चाहिये ॥६॥ इति ॥२॥

(३) रमैनी।

प्रथम अरंभ कवन कै भाऊ। दोसर प्रगट कीन्ह सो ठाऊ।
प्रगटे ब्रह्मा विस्नु सिव सक्ती। प्रथमे भक्ति कीन्ह जीऊ उक्ती।१।

ठाऊ=था। उक्ती=कल्पना।

[सूक्ष्म-सृष्टि-पूर्वक स्थूल-सृष्टि का विस्तार]

सूचना—इसमें दो प्रश्न हैं और दो ये उत्तर हैं। सबसे पहले किसका आरम्भ हुआ? और सबसे पहले कौन था? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर क्रमशः ये हैं:—प्रगटे ब्रह्मा इत्यादि। और 'दोसर प्रगट कीन्ह' इत्यादि।

टीका—सबसे पहले किसका आरम्भ हुआ? जिसने इस द्वैत प्रपंच को प्रगट किया? वही सबों से पहिले वर्तमान था। ब्रह्मा, विष्णु, शिव और शक्ति प्रगट हुई। प्रथमारंभ में जीव ने अपनी कल्पना से लोकविशेष निवासी ईश्वर की भक्ति की ॥१॥

प्रगटे पौन पानि औ छाया। बहु विस्तार कै प्रगटी माया।
प्रगटे अंड पिंड बरमंडा। प्रिथिमी प्रगट कीन्ह नौ खण्डा॥२॥

छाया = अग्नि।

टीका—पवन, पानी और अग्नि प्रगट हुई। इस प्रकार बहुत विस्तार करनेवाली माया प्रगट हुई। ब्रह्माण्ड प्रगट हुआ और उसमें अंड, खंड और शरीर प्रगट हुए। और पृथ्वी ने प्रगट होकर नौ खंडों को प्रगट किया॥२॥

प्रगटे सिध साधक सन्यासी। ई सभ लागि रहे अविनासी।
प्रगटे सुर नर मुनि सभ झारी। [1]ताहि खोजि परे सभ हारी॥३॥

झारी = सबके सब।

टीका—सिद्ध, साधक और सन्यासी प्रगट हुए। ये सब लोक-विशेष निवासी अविनाशी के भजन में लग गये। सुर, नर और मुनि सबके सब प्रगट हुए, और उस लोकविशेष निवासी ईश्वर की खोज में पड़कर सबके सब थक गये॥ ३॥

साखी—जीउ सीउ सभ प्रगटे, वैं ठाकुर सभ दास।
कबीर अवर जाने नहीं, एक [2]रामनाम की आस॥४॥

टीका—जीवकोटि के और ईश्वरकोटि के विष्णु आदिक देवता प्रगट हुए। अनन्तर ईश्वरकोटिवाले स्वामी बने और जीवकोटिवाले सब दास बने। कबीर साहब कहते हैं कि, मैं तो हृदयनिवासी अन्तरात्मा के सिवाय दूसरे को नहीं जानता हूं। मुझे तो केवल उसी की आशा है॥ ४॥

(४) रमैनी।

प्रथम चरन गुरु कीन्ह बिचारा। करता गावै सिरजनिहारा।
करम कै कै जग बौराया। [3]सगति भगति लै बांधिनि माया॥१॥

प्रथम चरन = सृष्टि के आदि में। बौराया = पागल होना।

१—पाठान्तर—ग, घ, तिहि के षोज। २—पाठान्तर—च, छ, राम राम।
३—पाठा० ज, झ, सक्ति, भक्ति कै।

[नाना वाणी और कर्मों का जाल]

टीका—सृष्टि के प्रथम आरम्भ में ब्रह्माजी ने विचार किया कि, इस संसार का सिरजनहार कर्ता कौन है ? जैसा कि श्रुति ने कहा है, "कउ देवो युनक्ति" (तलवकारोपनिषद्) । "अक्षर घट में ऊपजे, व्याकुल संसय सूल । किन अंडा निरमाइया, कहां अंड का मूल" ।। (आदि मंगल) । पश्चात् उसका गुण गाने लगे । अनन्तर उसकी प्राप्ति के लिये यज्ञ आदिक नाना सकाम कर्मों का विधान किया गया; जिन्हों के करने से फलेच्छा के कारण जगत के लोग दीवाने बन गये । इस प्रकार माया ने शाक्तों को शक्ति की भक्ति में बांध दिया ।। १ ।।

अदबुद रूप जात कै बानी । उपजी प्रीति रमैनी ठानी ।
गुनि अन्हि गुनी अरथ नहिं आया ।
बहुतेक जने चीन्हि नहिं पाया ।।२।।

अदबुद रूप जात कै = नाना प्रकार के ।

टीका—नाना प्रकार की रोचक वाणिया बनाई गयीं, जिन्हों के सुनने से जीवों के हृदय में प्रीति हुई और उन्हों के द्वारा वे स्तुति-प्रार्थना करने लगे । वह ईश्वर सगुण है या निर्गुण, यह बात किसी की समझ में नहीं आई । और बहुत से लोग तो उसको पहिचान भी नहीं पाये ।। २ ।।

जो चीन्हे ताको निरमल अंगा । अन चीन्हे नल भये पतंगा ।।३।।

नल = मनुष्य ।

टीका—जो उसको अच्छी तरह पहिचानते हैं उनका हृदय निर्मल हो जाता है । और अज्ञानी मनुष्य कामना की अग्नि के पतंगे बन जाते हैं ।। ३ ।।

साखी—चीन्हि चीन्हि का गावहु बौरे, बानी परी न चीन्ह ।
आदि अंत उतपति प्रलै, आपूही कहि दीन्ह ।।४।।

टीका—कबीर साहब कहते हैं, हे भोले लोगों ! तुम इस वाणी की पहिचान करो । विना पहिचाने क्या गाते हो; क्योंकि रोचक वाणी को तुम

पहिचान नहीं पाये। इस वाणी ने तो "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते"। [छान्दोग्योपनिषद्]। क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति"। इस प्रकार कर्मजन्य स्वर्गादि लोकों की आदि, अंत और विनाशिता का वर्णन स्वयं कर दिया है। आश्चर्य है कि, तो भी रोचक वाणियों का रोचकता-रहस्य समझ में नहीं आता है।

भावार्थ—रोचक और भयानक वाणी के त्याग एवं यथार्थ वाणी के ग्रहण से कर्म बन्धनकारक नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

(५) रमैनी।

कहाँलों कहौं जुग्न्हि की बाता। भूले ब्रह्मा न चीन्हे बाटा।
हरि हर ब्रह्मा के मन भाई। बिबि अच्छर ले जुगुति बनाई ॥१॥

कहाँलों = कहांतक। बाटा = रास्ता, मार्ग। बिबि अच्छर = दो दो अक्षर।

[द्वन्द्व फन्द]

टीका – अनेक युगों की बात को मैं कहां तक कहूं। स्वयं ब्रह्माजी भूल गये और उनने मुक्ति के मार्ग को नहीं पहिचाना। विष्णु, महादेव और ब्रह्माजी के मन को यह बात अच्छी लगी कि, उनने अनाहत शब्दोपासना तथा ज्योति-दर्शन अर्थात् अनहद और ज्योतिरूप दो अक्षरों की युक्ति जीवों के कल्याण के लिये बनाई ॥ १ ॥

बिबि अच्छर का कीन्ह बँधाना। अनहद सब्द जोति परवाना।
अच्छर पढि गुनि राह चलाई। सनक सनंदन के मन भाई ॥२॥

टीका – इस प्रकार दो अक्षरों की उपासनारूप परिपाटी चलाई और अनहद शब्द [विराट शब्द] और ब्रह्म ज्योति (ब्रह्माण्ड में प्राणों के निरोध से होनेवाला ज्योतिः-प्रकाश) को प्रमाणिक माना। ऊपर कहे हुये अनहद और ज्योतिरूप अक्षरों को पढ़ा और गुना तथा उसी रास्ते को चलाया। और यही बात सनक और सनन्दन को भी अच्छी लगी ॥ २ ॥

बेद कितेब कीन्ह बिसतारा। फैल गैल मन अगम अपारा।

चहुँयुग भगतन बांधल बाटी। समुझि न परी मोटरी फाटी ॥३॥

किताब = कुरान आदिक।

टीका—वेद और कुरान के द्वारा कर्मकाण्ड का विस्तार किया गया, जिससे कि अज्ञानी लोगों का मन फैल कर अगम और अपार हो गया। चारों युगों के भक्तों ने भक्ति के मार्ग का प्रचार किया; परन्तु फटी हुई मायारूपी गठरी को वे न जान सके, द्वैत भावना के बिना भक्ति नहीं बन सकती है ॥ ३ ॥

भैं भैं प्रीथमी दहुं दिसि धावैं। अस्थिर होय न औषध पावे।
होय भिस्त जो चित न डोलावे। खसमहिं छांडि दोजक के धावे॥

भै भै = घूम घूम कर।

टीका—अज्ञानी लोग घूम घूम कर पृथ्वी की दशों दिशाओं में मुक्ति के लिये दौड़ते हैं, उनका चित्त स्थिर नहीं होता है। इसलिए उनको रामरूपी सजीवन औषधी और मुक्ति नहीं मिलती है। यदि चित्त को न चलाया जाय तो मुक्ति अवश्य हो जाय। अज्ञानी लोग तो सच्चे स्वामी को छोड़कर नर्क में चले जाते हैं ॥ ४ ॥

पूरब दीस हंस गति होई। है समीप संधि बूझै कोई।
भगताभगतिन्हि कीन्ह सिंगारा। बूड़ि गयल सभ मांझहि धारा॥

हंस = जीवात्मा। संधि = मर्म, रहस्य। मांझहि = बीच धार।

टीका—हंस = जीवात्मा यदि शरीर की पूरब दिशा = हृदय कमल में विहार करने लगे अर्थात् अन्तर में रमण करने लगे तो गति (मुक्ति) हो जाय। "दिल महँ खोजु दिलहि महँ खोजो, यहीं करीमा रामा"। वह दिशा और ईश्वर समीप समीप ही है; परन्तु इस मर्म (रहस्य) को विरले ही लोग समझते हैं। भक्तों ने भक्ति का श्रृङ्गार किया; परन्तु सब के सब मायारूपी नदी की मंझधार में डूब गये ॥ ५ ॥

साखी—बिनु गुरु ग्याने दुंद भई, खसम कही मिलि बात।
[1]जुग जुग सोई कहवैया, काहु न मानी बात ॥६॥

---

[1] पा०—ज, झ, जुग सो कहवैया।

दुंद = जन्म मरणादिक ।

टीका—यह सब जन्म–मरणादिक द्वन्द्व गुरु के ज्ञान के नहीं मिलने से हुआ है; क्यों कि सबों ने मिलकर झूठे स्वामी के मिलने की बात कही है। सद्-गुरु तो सच्चे स्वामी के मिलने की बात अनेक युगों से कहते ही चले आये हैं; परन्तु उनकी बात किसी ने नहीं माना।

भावार्थ—विना स्वरूप–परिचय के मुक्ति नहीं मिल सकती है ॥ ६ ॥

(६) रमैनी ।

बरनहु कवन रूप औ रेखा । दोसर कवन आहि जो देखा ।
वो ओंकार आदि नहि बेदा । ताकर कहहु कवन कुल भेदा ।१।

आहि = था ।

[आत्मा की असंगता का वर्णन]

टीका—उस सच्चे स्वामी साहब के रूप और आकार का मैं क्या वर्णन करूँ ? सृष्टि के पूर्व आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कौन था जिसने कि उसे देखा है ? उस समय तो वेदों का आदि मूल ॐकार भी नहीं था। उसके कुल का क्या भेद कहा जाय ? ॥ १ ॥

नहि तारागन नहि रवि चंदा । नहि किछु होत पिता के बिंदा ।
नहि जल नहि थल नहि थिर पौना ।
को धरे नाम हुकुम को बरना ।।२।।

बिंदा = वीर्य ।

टीका—उस समय तारागण, सूर्य और चन्द्रमा भी नहीं थां और पिता का वीर्य भी नहीं था। उस समय जल और पृथ्वी नहीं थी और रचना करने-वाला स्थिर पवन भी नहीं था। ऐसी दशा में उसका नाम कौन रखे और उसके हुकुम को कौन बतलावे ? ॥ २ ॥

नहि किछु होत दिवस निजु राती ।
ताकर कहहु कवन कुल जाती ।।

टीका—उस समय दिन और रात नहीं थी; तो भला उसका कुल और जाति क्या कहा जाय ? ॥ ३ ॥

साखी–सुन्न सहज मन सुमिरते, प्रगट भई एक जोति।
ताहि-पुरुष की मैं बलिहारी, निरालंभ जो होत ॥४॥

टीका—ज्योतिः-पुरुष के उपासक कहते हैं कि, शून्य में मन और प्राणों के निरोध से होनेवाली ज्योतिः "परम तत्व" है। वस्तुतः यह प्रकाश भौतिक है; अतः "भुतवे के पुजले भुतवै होई" तथा "भूतानि यान्ति भूतेज्याः" के अनुसार उक्त ज्योति के उपासक अनात्म-सेवी ही हैं। इसके अतिरिक्त जो निरालम्ब स्वतः प्रकाशक पुरुष है, उसकी मैं बलिहारी लेता हूँ।

भावार्थ—असंग-ज्ञान से माया के संग का परित्याग होता है ॥ ४ ॥

(७) रमैनी।

तहिया होते पौन नहि पानी। तहिया सिष्टि कवने उतपानी।
तहिया होते कली नहि फूला। तहिया होते गरभ नहि मूला।१।

तहिया = सृष्टि के पहले। उतपानी = उत्पन्न की। मूला = कारण, (वीर्य)।

टीका—[पूर्व-वृत्तान्त]—सृष्टि के पहिले पवन और पानी नहीं था। उस समय सृष्टि को किसने उत्पन्न की ? उस समय कली और फूल नहीं था, और गर्भ तथा उसका मूल कारण वीर्य भी नहीं था ॥ १ ॥

तहिया होते विद्या नहि बेदा। तहिया होते सब्द नहि स्वादा।
तहिया होते पिंड नहि बासू। नहि धर धरनि न गगन अकासू।२।

पिंड = शरीर। बासू = बसना, रहना। धर = पाताल। धरनि = पृथ्वी।

टीका—उस समय न विद्यायें थीं, न वेद थे, न शब्द था और न किसी प्रकार का स्वाद (इन्द्रीभोग) था। उस समय न शरीर था और न उसमें निवास था। और पाताल, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश ये भी नहीं थे ॥ २ ॥

तहिया होते गुरु नहि चेला। गम्म अगम्म न पंथ दुहेला ॥३॥

दुहेला = दुर्लभ, कठिन।

टीका—उस समय न गुरु था, न चेला था, न सगुण था, न निर्गुण था और न कठिन मार्ग था ॥ ३ ॥

साखी—अविगति की गति का कहौं, जाके गांव न ठांव ।
गुन बिहूना पेखना, का कहि लीजै नांव ॥ ४ ॥

बिहूना = रहित । पेखना = देखना, (परिचय) ।

टीका—उस निराले अविगत पुरुष का मैं क्या परिचय दूं कि, जिसके गाँव, स्थान और लोक आदिक नहीं हैं । तीनों गुणों से रहित होना ही उसका साक्षात्कार करना है । भला, क्या कहकर उसका नाम लिया जावे ? ॥ ४ ॥

(८) रमैनी

तत्तुमसि इन्हके उपदेसा । ई उपनिषद् कहहि संदेसा ।
ई निस्चै इन्हके बड़ भारी । वाहिक बरन करैं अधिकारी ॥ १ ॥

तत्तुमसि = वह तूँ है ।

टीका—[वेदान्त विचार]—'वह ईश्वर तू है,' इस प्रकार अद्वैतवादियों का उपदेश है । इसी संदेश को उपनिषद् कह रही है । अद्वैतवादियों का यही बड़ा भारी निश्चय है । और अधिकारी जिज्ञासुओं को वे उसीका वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

परम तत्तु का निज परवाना । सनकादिक नारद सुक जाना[१] ।
जागबलिक औ जनक समादा । दातात्रेय उहै रस स्वादा ।२।

निज = स्वतः प्रमाण है । सुक = शुकदेव । समादा = सम्वाद ।

टीका—परम तत्त्व को वह स्वतः प्रमाण मानते हैं । और सनकादिक, नारद तथा शुकदेवजी ने इसीको माना है । याज्ञवल्क्य और जनकजी का यही संवाद हुआ है और दत्तात्रेयजी ने उसीके रस का स्वाद चखा है ॥ २ ॥

उहै राम बसिष्ठ मिलि गाई । उहै क्रिस्न ऊधो समुझाई ।
उहै बात जे जनक दिढ़ाई । देह धरे वीदेह कहाई ॥ ३ ॥

---

१ पा०-ट ठ, माना ।

टीका—वशिष्ठ और रामचन्द्रजी ने मिलकर उसीका गान किया है। और कृष्णजी ने उद्धव को वही बात समुझाई है। और उसी बात को जनकजी ने अपने हृदय में दृढ करके धरा है; जिससे कि वे देह के रहते हुए भी विदेह कहलाये ॥ ३ ॥

साखी—कुल अभिमाना[1] खोय के, जीयत मुवा ना होय।
देखत जो ना देखिया, अदिष्ट कहावे सोय ॥४॥

टीका—कुल और जाति के अहंकार को छोड़कर जीवन-मुक्त नहीं हुआ जाता है। देखे जाने पर भी जो देखने में नहीं आता है, उसीका नाम अदृष्ट है। ऐसा आत्मा है। भाव यह है कि, शरीर के अध्यास छूटने पर ही जीवन-मुक्ति और आत्म-दर्शन हो सकता है ॥ ४ ॥

(६) रमैनी।

बांधे अष्ट कष्ट नौ सूता। जम बांधे अंजनी के पूता।
जम के बाहन बांधिनी जनी। बांधे सिष्ट कहांले गनी ॥१॥

अंजनी = माया।

[माया से विशेष बन्धन और उनसे छूटने का उपाय]

टीका—आठ कष्ट और नौ सूत जीवात्माओं को बांधते हैं। पांच क्लेश और तीन गुण; ये आठ कष्ट हैं।

सूचना--अविद्या, अस्मिता, अभिनिवेश, राग और द्वेष, ये पांच क्लेश हैं। और पंच विषय और चार अन्तःकरण; ये नौ सूत हैं। माया के पुत्र जीवों को यमराज बांधता है। और यमराज के वाहनरूप अज्ञानी लोगों को माया अपरा विद्या और अविद्यारूप से बांधती है। कहांतक गिना जाय ? सारी सृष्टि बंधी हुई है ॥ १ ॥

बांधे देव तैतीसो कोरी। संवरत लोह बंद गौ तोरी।
राजा संवरे तुरिया चढी। पंथी संवरें नाम ले बढी ॥२॥

---

१ पा०--द, ए, मरजादा।

संवरत = स्मरण, आत्मचिन्तन से। उदा०--संवरौ आदि एक करतारू ।जा०।

टीका--तैतीस कोटि देवता बँधे हुए हैं; परन्तु आत्मचिन्तन रूप स्मरण से लोहे की बेड़ी के समान माया के दृढ़ बन्धन टूट जाते हैं। राजा लोग घोड़े पर चढ़कर स्मरण करते हैं। दूसरे पक्ष में ज्ञानी राजा तुरीयावस्था में पहुंचकर स्मरण करते हैं। ये ज्ञानी भक्त हैं। और रास्ता चलनेवाले नाम स्मरण करते हुए आगे को बढ़ते जाते हैं। दूसरे पक्ष में जिज्ञासु जन नाम स्मरण करते हुए आगे की भूमिकाओं पर बढ़ते हैं। ये जिज्ञासु भक्त हैं ॥ २ ॥

अरथ बिहूना संवरै नारी। परजा संवरै पुहुमी झारी ॥३॥

टीका--धन को चाहनेवाले जो स्मरण करते हैं, उनकी भक्ति स्त्रियों की तरह स्वार्थवाली है। ये अर्थार्थी भक्त हैं। और दुःख की मारी तो सारी ही पृथ्वी की प्रजा स्मरण करती है। ये सब आर्त अर्थात् दुखिया भक्त हैं ॥ ३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता में चार प्रकार के भक्त कहे गये हैं। जैसा कि

"चतुर्विधा भजन्ते मां, जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ ॥" गी. अ. ७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यवान् जन मुझको भजते हैं। आर्त = पीड़ित, जिज्ञासु = आत्मज्ञान की इच्छावाला, अर्थार्थी = धन चाहनेवाला और ज्ञानी।

जो फल की इच्छा से स्मरण करते हैं वे अपने इष्ट फल को तो प्राप्त करते हैं; किन्तु फल की इच्छा उनको बंधन में डाल देती है।

**साखी–बंदि मनावै ते फल पावै, बंदि दिया सा देय।
कहंहि कबीर ते ऊबरे, निसु वासर नामहि लेय ॥४॥**

टीका–जिस फल की इच्छा ने सभी को बन्धन में डाला है वह उनको भी बंधन देती है। कबीर साहब कहते हैं कि, वे ही जन चौरासी से बचते हैं जो निष्काम भाव से रातदिन नाम हो के स्मरण में लगे रहते हैं ॥४॥

साखी–सहकामी सुमिरण करै, पावै उत्तम धाम।
निहकामी सुमिरण करै, पावै अविचल राम।

भावार्थ–कामना और अहंकार ही बन्धनकारक हैं।

(१०) रमैनी ।

राही लै पिपराही बही । करगी[१] आवत काहु न कही ॥
आई करगी भौ अजगूता । जनम जनम जम पहिरे बूता ।१।
बूता पहिरि जमु करै समाना । तीनि लोक में करैं पयाना ॥
बांधे ब्रह्मा विस्नू महेसू । सुर नर मुनि औ बांधे गनेसू ॥२॥
बंधै पौन पावक थल नीरू । चांद सुरज बांधे दोउ बीरू ॥
सांच मंत्र सभ बंधिन्हि झारी । अम्रित बस्तु न जानै नारी। ३
साखी—अम्रित बस्तु जानै नहीं, मगन भये सभ लोय ।
कहंहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरन न होय ॥४॥

शब्दार्थ--राही = रास्ता चलने वाले, उपासना करने वाले । पिपराही = पीपल के पत्ते की तरह चंचल चित्तवाले, गुरु और मन, माया, कामना । करगी = बन्धन, पाश । भौ = हुआ । अजगूता = अचरज । उदा०--'ता पर एक सुनोरी अजगुत लिखि लिखि जोग पढ़ावै ।' सूर० । नीरू = जल । लोय = सं० पु० [सं० लोक] लोग । उदा०—'सो विभावना और ऊ कहत सयाने लोय ।' (भूषण)

(सामान्य बन्धन और उनसे छूटने का उपाय)

टीका—कर्म तथा उपासना के मार्ग पर चलनेवाले जिज्ञासु जनों को पीपल के पत्ते की तरह चंचल चित्तवाले वंचक गुरु लेकर बह गये । किन्तु यम की यातना पाश में आ रही है, इस बात को किसी ने नहीं कहा । जब यम की यातना समीप में आई तो जीव को बड़ा अचरज हुआ । फिर क्या था ? जन्म-जन्मान्तर तक इसको यम-यातना का शरीर धरना पड़ा ॥१॥ शरीर धारण करके यह जीव दुःखदायी यमराज के समान हो गया । और जन्म-मरण के चक्र में पड़ कर इसने तीनों लोकों में गमन किया । ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों बांधे गये । सुर, नर, मुनि और गणेशजी भी बांधे गये ॥२॥ पवन, अग्नि, पृथ्वी और

१ पा०—ड. करंगी ।

पानी भी बांधा गया। और चांद तथा सूर्य दोनों वीर बांधे गये। मंत्रों को सत्य समझ कर उन्हीं के जाप में सब वन्ध गये। स्त्री की तरह परतन्त्र अज्ञानी निज स्वरूप को नहीं जानते हैं ॥ ३ ॥ सब अज्ञानी लोग निज स्वरूप के आनन्द को नहीं जानते हैं। इसलिये अपनी-अपनी कामना की धुन में सब मस्त हो रहे हैं। कबीर साहब कहते हैं कि, जो कामना रहित हैं वे जन्म-मरण रूप बन्धन में नहीं आते हैं ॥ ४ ॥

(११) रमैनी।

आंधरि-गुष्टि सिष्टि भौ बौरी। तीनि लोक महं लागि ठगौरी ॥
ब्रह्मा ठगो नाग कहं जाई। देवता सहित ठगो त्रिपुरारी ॥ १ ॥
राज-ठगौरी विस्नुहि परी। चौदह भुवन केर चौधरी ॥

आदि अंत जाकि जलकन[1] जानी।
ताकर डर तुम काहेक मानी ॥ २ ॥

वे उतंग तुम जाति पतंगा। जमघर कियउ जीवको संगा ॥
नीम कीट जस नीम पियारा। विष को अमृत कहत गंवारा। ३।
विष के संग कौन गुन होई। किंचित लाभ मूल गौ षोई ॥
विष अमृत गौ एकै सानी। जिन्ह जाना तिन्ह विष कै मानी। ४।
काह भये नल सूध बेसुद्धा। बिनु परिचय जग बूड़न बूझा ॥
मति के हीन कवन गुन कहई। लालच लागे आसा रहई ॥ ५ ॥

साखी—मूवा है मरि जाहुगे, मुये की बाजी ढोल।
सपन-सनेही जग भया, सहिदानी रहि गौ बोल ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—आंधरि-गुष्टि = अन्धों की सी बातचीत, अनिश्चित वार्ता। ठगौरी = ठगाई। राज ठगौरी = त्रिलोकी राज्य रूप। चौधरी = मुखिया। उतंग = ऊंची (अग्नि ज्वाला)। मुये = मरने।

---

१ पा०-ट, जनक न जानी। ठ, काहु न जानी। (जनक = ब्रह्माजी)

(चेतावनी)

टीका—ईश्वर के विषय में तथा मुक्ति के विषय में अन्धों की सी अनिश्चित बात से दुनियां दीवानी हो गयी है। और तीनों लोकों में ठगाई लग गयी है। ब्रह्माजी ठगे गये और शेषनाग भी ठगे गये और देवताओं के सहित महादेवजी भी ठगे गये। त्रिलोकी के राज्य रूप ठगाई विष्णु पर भी पड़ी और वे चौदह भुवनों के मुखिया बनाये गये। जिस मन की उत्पत्ति और विनाश जलकण के समान है, उसका डर तुमने क्यों मान रखा है ?॥२॥ वह मन अग्नि की ऊँची ज्वाला है और तुम उसमें पतंगे की जाति बने हो। सचमुच तुमने अपने जीवात्मा का यम के घर में सम्बन्ध कर दिया। जिस प्रकार नीम के कीड़े को नीम ही प्यारा लगता है, उसी प्रकार अज्ञानी लोग विषय रूपी विष को अमृत कहते हैं॥३॥ विष के सेवन से मनुष्य को क्या लाभ हो सकता है ? विषय-सेवन के थोड़े लाभ से वह अपने मूल ज्ञान को खो देता है। विष और अमृत एक ही में सना हुआ है। जिसने इस बात को जान लिया है उसने अमृत को भी विष ही करके माना है॥४॥ जो बुद्धि से हीन है उसको नरतन पाने से क्या लाभ है ? बिना स्वरूप-परिचय के जगत के अज्ञानी लोग संसार-सागर में डूब गये। जो बुद्धि का हीन है, उसके किस गुण की प्रशंसा की जाय ? क्योंकि वह तो झूठी आशा और लालच में लगा रहता है॥५॥ हे मनुष्य ! तू पहिले भी मर चुका है, और आगे भी मरेगा। और वर्तमान में भी मरने का ढोल बज रहा है। अर्थात् मृत्यु की सूचना मिल रही है; तिस पर भी सारी दुनियां सपने की प्रेमी बनी हुई है, अर्थात् मिथ्या वस्तु से प्रेम रखती है। देखो, सब कुछ चला जाता है; केवल वाणी रूप स्मारक रह जाता है। भजन—'सब चलि जै हैं ऊधो बातें रह जै हैं'॥ ६॥

भावार्थ—भोगों की वासना बन्धन-कारक है।

(१२) रमैनी।

माटि के कोट पषान के ताला। सोई बन सोई रषवारा।
सो बन देषत जीव डेराना। ब्राह्मन वैस्नव एकै[१] जाना॥१॥

पा०—च, छ, एकहि। ज, झ, एक कै।

ज्यों रे किसान किसानी करई । उपजै खेत बीज नाह परई ॥
छांड़ि देहु नल झेलिक झेला । बूडे दोउ गुरु औ चेला ॥२॥
तीसर बूड़े पारथ भाई । जिन्ह बन डाहो दवा[1] लगाई ॥
भूँकि भूँकि कूकुर मर गयऊ । काज न एक सियार से भयऊ ॥
साखी—मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे के रहि जाय ।
अचरज एक देषहु हो संतों, हस्ती सिंघहि षाय ॥४॥

शब्दार्थ—पारथ पारधी (बहेलिया), झूठे नेता ।

(भ्रमजाल कथन)

टीका--मिट्टी के किले में पत्थर का ताला लगा हुआ है । अर्थात् शरीरस्थ मन में भ्रम दृढ़ हो गया है । वही भ्रम जंगल है । और वही भ्रम अपना रखवाला है । उस जंगल को देखकर जीवात्मा डरता है । विशेष क्या ! ब्राह्मण और वैष्णव दोनों की एक ही दशा है ॥१॥ जिस प्रकार किसान खेती करता है । वह खेत को तो खूब पकाता है; परन्तु बीजों को नहीं गिरने देता है । इस प्रकार ऐसे कर्मों को करना चाहिये कि, जिनसे ज्ञान का नाश न हो । हे मनुष्यो ! नाना प्रपञ्चों को छोड़ दो । इनमें पड़कर गुरु और चेला डूब गये हैं ॥२॥ (सूचना—पारथ, यह शब्द पारधी का रूपान्तर है । और जगह भी 'पारथ ओटा लेई' उलटा बान पारधी लागे' । यह पारधी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है) । भाव यह है कि, झूठे नेता संसार में अशान्ति फैला देते हैं । झूठी आवाज सुनकर कुत्ता भूंकते-भूंकते मर गया अर्थात् अज्ञानी वक्ता कहते-कहते समाप्त हो गये । और सियार से एक भी काम नहीं बना, अर्थात् कायर लोगों ने किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं की । सूचना--यहां पर "सिंहो माणवकः" की तरह पारथ, कुकुर और सियार में गौणी लक्षण जानना चाहिये ॥३॥ भला कहो तो सही, चूहा और बिल्ली दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं ? अर्थात् अज्ञानी जीवों को माया कैसे बचा सकती है ? हे सन्तो ! यह अचरज देखो कि, हाथी सिंह को खा रहा है । अर्थात् जीवात्मा को मन नष्ट कर रहा है ॥४॥

[1] पा०-ख, घ, दमा ।

भावार्थ—भ्रम--भूत से बचो। 'यह भ्रम--भूत सकल जग खाया, जिन-जिन पूजा तिन जँहडाया' (बीजक)।

(१३) रमैनी

नहि परतीति जो येहि संसारा। दरब के चोट कठिन कै मारा।
सो तो सेषहु जाई लुकाई। काहू के परतीति न आई ॥१॥
चले लोग सभ मूल गंवाई। जम की बाढ़ि काटि नहिं जाई।
आजु काज है काल्हि अकाजा। चले सुलादि डिगंतर राजा।२।
सहज विचारे मूल गंवाई। लाभ ते हानि होय रे भाई।
ओछी मति चन्द्रमा गौ अथई। त्रिकुटी संगम सामी बसई।३।
तबही विस्नु कहा समुझाई। मैथुन आठ तुम जीतहु जाई।
तब सनकादिक तत्तु विचारा। जैसे[1] रंक परा धन पाया ॥४॥
भौ मरजाद बहुत सुख लागा। येहि लेखे सभ संसै भागा॥
देषत उतपति लागु न बारा। एक मरै एक करै बिचारा ॥५॥
मुये गये की काहु न कहई। झूठी आस लागि जग रहई ॥६॥
साखी—जरत जरत ते बांचि हों, काहे न करहु गोहारि।
बिषि बिषै के षायहु; राति दिवस मिलि झारि।७॥

शब्दार्थ--लुकाई = छिप जाता है। बाढि = आक्रमण। आजु = आज, अथई = अस्त होना। गोहारि = पुकार, प्रार्थना।

टीका--संसारी लोगों को मेरी बात का विश्वास नहीं है; क्योंकि इनको धन की मार चोट बड़ी कड़ी लगी हुई है। और वह धन भी अन्त में छूट जाता है; परन्तु इसका विश्वास किसीको नहीं होता है ॥१॥ सब अज्ञानी लोग ज्ञान को खोकर चौरासी में चले गये; क्योंकि यम-यातना का प्रवाह किसी से हटाया

१ पा०—ज, रू, जौं धन पावहिं रंक अपारा।

नहीं जा सकता है। हे जीव ! आज तुम्हारा काम बनेगा और कल हानि हो जायगी। अर्थात् मनुष्य–शरीर में ज्ञान मिलेगा, अन्य शरीरों में नहीं। देखो, अनेक देशों के राजा अपने अपने कर्मों का बोझ लाद कर चलते बने ॥२॥ बेचारोंने मुफ्त में ज्ञान की पूंजी खोदी। हे भाई ! जो अधिक लाभ चाहता हैं उसे हानि हो जाती है। ओछी बुद्धि वाले का चन्द्रमा अस्त हो गया। भावयह है कि–बुद्धि का देवता चन्द्रमा है; अतः चित्त में शान्ति रहने से बुद्धि का विकास होता है। ज्योति-पुरुष के उपासकों का कहना है कि, त्रिकुटी के संगम में ज्योति पुरुष रूपी स्वामी बसता है ॥३॥ उसके दर्शन के लिए विष्णुजी ने सनकादिकों को समझा कर उपदेश दिया कि, 'यदि तुम दर्शन चाहते हो तो ब्रह्मचर्य का पालन करो और आठ प्रकार के मैथुनों को जीतो।' वे आठ प्रकार के मैथुन ये हैं–

दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्य्यं--मनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ॥"

अर्थात्–"सरवन सुमिरन कीरतन, चिंतन बात इकंत।
दृढ संकल्प प्रयत्न--तन, प्रापति अष्ट कहंत ॥"

इस बात को सुन कर सनकादिकों ने इसको तत्व विचारा और उनको ऐसा सुख हुआ कि, मानो दरिद्र को अपार धन मिल गया हो ! ॥४॥ संसार में उनकी मर्यादा (प्रतिष्ठा) बढ़ी और उनको बहुत सुख लगा। इस प्रकार उनके सब संशय भग गये। परन्तु देखते ही देखते ज्योति पुरुष के उपासकों को संसार में उत्पन्न होने में देरी नहीं लगी। देखो, एक आदमी मरता है और दूसरा उसका विचार करता है ॥५॥ मरनेवाला मरकर कहां गया ! इस बात को किसी ने नहीं कहा। संसारी लोग झूठी आशाओं में लगे रहते हैं ॥६॥ माता की गर्भाग्नि से जलते जलते तुम जरूर बच जाओगे। तुम सच्चे साहब से पुकार (प्रार्थना) क्यों नहीं करते हो ? तुम सब ने मिलकर रातदिन पूरी तरह विषयों के जहर को खाया है। इसलिये उसकी अग्नि से क्यों नहीं जलोगे ! ॥७॥

(१४) रमैनी ।

बड़ सो पापी आहि गुमानी। पाषंड-रूप छलो नल जानी ॥
बावन रूप छलो बलि राजा। ब्राह्मन कीन्ह कौन को काजा ।१।
ब्राह्मन ही सभ कीन्हो चोरी। ब्राह्मन ही को लागल षारी ॥
ब्राह्मन कीन्हो ग्रन्थ[1] पुराना। कैसहु के मोहि मानुष जाना ।२।
एक से ब्रह्मे पंथ चलाया। एक से हंस गोपालहिं गाया ॥
एक से सिंभू पंथ चलाया। एक से भूतप्रेत मन लाया ॥३॥
एक से पूजा जैनि बिचारा। एक से निहुरि निमाज गुजारा ॥
कोइ काहू का कहा[2] न माना। झूठा षसम कबीरन्हि[3] जाना ॥४॥
तन मन भजि रहु मोरे भक्ता। सत्त-कबीर सत्त है वक्ता ॥
आपुहि देवा आपुहि पाती। आपुहि कुल आपु है जाती ॥५॥
सर्व-भूत संसार नेवासी। आपुहि षसम आपु सुषवासी ॥
कहइत मोहि भैल जुग चारी। काके आगे कहौं पुकारी ॥६॥
साखी-सांचहि कोई न माने, झूठहि के संग जाय ॥
झूठहि झूठा मिलि रहा, अहमक षेहा षाय ॥७॥

शब्दार्थ—निहुरि = झुक कर। कबीरन्हि = अज्ञानियों ने। अहमक = मूर्ख। षेहा = धूलि, राख।

(अभिमान और अनेकता)

टीका—वह बड़ा पापी और अभिमानी है। पाखण्ड रूप धर कर और जान बूझ कर उसने लोगों को ठगा है। वामन रूप धर कर बलि राजा को छला है। ब्राह्मणों ने किसका काम बनाया है ! ॥१॥ ब्राह्मणों ने ही सब चोरी की। इसलिये ब्राह्मणों को ही लोगों ने सब दोष लगाये। ब्राह्मणों ने पुराण

[1] पा०—क, ख, वेद पुराना। [2] पा०—त, थ, छठा। [3] पा० द, ध, कबीरनहि।

ग्रन्थ बनाये कि, किसी प्रकार मनुष्य हमको समझे ॥२॥ ब्रह्माजी ने कर्मकाण्ड का मार्ग चलाया। और विष्णुजी ने उपासना काण्ड ठहराया शिवजी ने योग का मार्ग निकाला। किसी एक ने भूत और प्रेतों की पूजा में मन लगाया ॥३॥ जैनियों ने मूर्ति--पूजा का विचार किया और मुसलमानों ने झुक कर नमाज पढ़ना शुरू किया। इनमें से किसी के मना करने पर भी किसी ने नहीं माना और अज्ञानियों ने झूठे स्वामी को सच्चा स्वामी जान लिया ॥ ४ ॥ हे मेरे भक्तों! तुम तो तन और मन से सच्चे स्वामी को भजो। सत्य कबीर सच कहने वाला है। वह स्वामी स्वयं देवता है, और स्वयं पत्र है, और स्वयं जाति है। अर्थात् वही अपना कुल है। और वही अपनी जाति है ॥५॥ उसका सब प्राणियों में और सारे संसार में निवास है। वही सब का स्वामी है। और वही सब में सुख से बसता है। इसी बात को कहते हुए मुझे चार युग बीत गये। अब किसके आगे पुकार कर कहूं ॥ ६ ॥ कोई लोग सच्ची बात को नहीं मानते हैं। सब झूठ के साथ जा रहे हैं। झूठे झूठे ही से मेल रखते हैं। सच है, मूर्ख लोग धूर फाँकते हैं ॥ ७ ॥

(१५) रमैनी।

वोनई बदरिया परिगौ संझा। अगुआ भूले बन-षंड मांझा।
पिया अंते धनि अंते रहई। चौपरि कामरि माथे गहई ॥१॥
साखी–फुलवा भार न ले सकै, कहै सषिन्ह सों रोय।
ज्यों ज्यों[1] भींजै कामरी, त्यों त्यों भारी होय ॥२॥

वोनई = झुकि आई। परि गौ = हो गई। अगुआ = आगे चलने वाला। पिया = प्रिय, पति। धनि = प्रिया, यह शब्द संस्कृत धन्या का रूपान्तर है, (जीवात्मा)। चौपरि = चार तह की हुई। कामरि = कम्बल।

(अज्ञान--अन्धकार और कर्मों का भार)

टीका--अज्ञान की घटा झुक आई। भजन--"जामें चंदा दरसे नाहिं, माया रंग बादली।" इससे संध्या हो गयी। अर्थात् अन्धेरा हो गया। आगे चलने

१ पा०--च, छ जौं जौं।

वाले ब्रह्मादिक भ्रमरूपी बनखंड के बीच में भूल गये। स्वामी (पति) और जगह रहता है और उसकी स्त्री और जगह रहती है। अर्थात् स्वामी स्वरूपानन्द में रहता है। और जीवात्मा अविद्याओं में पड़ा हुआ है। और वह स्त्री चार तह की हुई कमली को अपने शिर पर धरे हुए है अर्थात् जीव अविद्या को उठाये हुए है ॥१॥ वह स्त्री ऐसी सुकुमार है कि, फूलों के बोझ को भी नहीं उठा सकती है। इसलिए अपने दुःख को रो-रो कर सखियों से कह रही है। सच है, ज्यों-ज्यों कमली भींजती है त्यों-त्यों भारी होती है। भाव यह है कि, कोई भी जीव जरा भी दुःख उठाना नहीं चाहता है। दुःख पड़ने पर उसके दुःख को उसकी मन आदिक इन्द्रियां जानती हैं और जैसे-जैसे अज्ञान बढ़ता है वैसे-वैसे दुःख भी बढ़ता है ॥ २ ॥

भावार्थ—बिना ज्ञान के सुख नहीं मिल सकता है।

(१६) रमैनी।

चलत चलत अति चरन पिराना। हारि परैतहां अति[1]रिसियाना
गन गंध्रव मुनि अंत न पाया। हरि अलोप जग धंधे लाया।१।
गहनी बंधन बान न सूझा। थाकि परै तब किछुवो न बूझा।
भूलि परे जिउ अधिक डेराई। रजनी अंध कूप होय आई।२।
माया मोह उहां भरि पूरि। दादुल दामिनी पौन अपूरी।
बरसै तपै अषंडित धारा। रैनि भयावनि किछु न अहारा[2]।३।
साखी–सभै लोग जहंड़ाइया, अंधा सभै भुलान।
कहा कोइ नहि मानै, सभ एकै मांहि समान ॥४॥

पिराना = क्रि० सं० (संस्कृ० पीडन) पीड़ित होना। उ० 'चलत चलत मग पांय पिराने'। सूर०। अलोप = गुप्त होकर। बान = स्वभाव। तपै = संतप्त होना। उदा० 'तपई अवां इव उर अधिकाई'। तु०। जहंड़ाइया = ठगा गये।

[अविद्या-रात्रि]

टीका—झूठे स्वामी की खोज में चलते-चलते पैर बहुत दुःख गये। और

१ पा०–ज, क, अतिरे सयाना। न, द, अतिरे सुजाना। २ पा०--त, अघारा।

हार के गिर गये तब बहुत क्रोधित हुए। सुर, गण, गन्धर्व और मुनि-जनों ने उसका अन्त नहीं पाया। हरि ने स्वयं गुप्त होकर संसार को झमेले में डाल दिया ॥ १ ॥ अपना दुष्ट स्वभाव ही माया-रचित कड़ा बंधन है। अज्ञानियों को ऐसा नहीं सूझा और वे जब थक कर गिर गये तब उनकी समझ में कुछ भी नहीं आया। सकाम कर्मों में क्रिया-वैगुण्य हो जाने से अर्थात् किसी प्रकार की भूल हो जाने से जीवात्मा को बहुत डर हो जाता है। अविद्या की रात तो मानों अंधा कुआँ ही होकर आ गई है। २ उस रात में माया और मोह का भरपूर अंधेरा है। मेंढक बोलते हैं, विजली चमकती है और हवा भी जोरो से चलती है। अर्थात् आशा, तृष्णा और कामना बढ़ी हुई है। अज्ञान का पानी निरन्तर धारा से बरस रहा है। और तृष्णा की विजली कड़क रही है। इस प्रकार अविद्या की रात भयंकर हो रही है, जिसमें कुछ भी अहार=आधार, सहारा नहीं है।

सूचना—हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों में "अहारा" ऐसा ही पाठ है। यह प्राकृत के अनुसार है। प्राकृत भाषा में ध के स्थान में "ह" हो जाता है। जैसे—विषधर का विषहर ॥ उदा०:—विषहर मंत्र न मानै। गारुड़ काह कराय ॥ बीजक (ग्रन्थ) ॥३॥ सभी अज्ञानी लोग ठगा गये, क्योंकि वंचक गुरुओं ने सब को भूला दिया। मेरा कहना कोई नहीं मानते हैं, क्योंकि सबके सब माया में फंस गये हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—ज्ञान-भानु के विना अज्ञान-अन्धकार नहीं हटता है।

(१७) रमैनी।

जस जिउ आपु मिलै अस कोई। बहुत धर्म सुष हृदया होई।
जासों बात राम की कही। प्रीति न काहू सों निरबही ॥१॥
एकै भाव सकल जग देषी। बाहर परै सो होय बिवेकी।
बिषै मोह के फंद छोड़ाई। तहां जाय जहां काट[1] कसाई। २॥
आहि कसाई छूरी हाथा। कैसहु आवै काटै माथा।

---

१ पा०—घ, भ, काल।

मानुष बड़े बड़ा होय आया । एकै पंडित सभै पढ़ाया ॥३॥
पढ़ना पढ़हु धरहु जनि गोई । नहिं तो निश्चय जाहु बिगोई ॥

साखी—सुमिरन करहू राम कै, छाड़हु दुखकै आस ।
तर ऊपर धरि चांपिहैं, जस कोल्हू कोटि पचास ॥५॥

शब्दार्थ—जस = जैसे । अस = ऐसा । निरबही = निबाही गयी । आहि = है । जनि = मत । गोई = छिपा कर ।

[गुरु-उपदेश]

टीका—कबीर साहब धर्मदासजी से कहते हैं कि, जैसे निर्मल हृदय के अधिकारी तुम हो, ऐसा ही यदि कोई मिलै तो मेरे हृदय को बहुत ही आनन्द हो । जिनसे मैंने हृदयनिवासी राम की बात कही है उनमें से किसी से भी उसकी प्रीति नहीं निबाही गई ॥१॥ सारे संसार में एक सी ही दशा देखी गई है, अतः जो संसार से मन को हटाता है वही विवेकी है । ऐसा करने से वे अपने मन को विषय और मोह के फंदे से छुड़ाता है । देखो, अज्ञानी लोग जहां जाते हैं वहां ही उनको काल कसाई मिलता है ॥२॥ काल कसाई हाथ में छूरी लिये हुए है । वह चाहता है कि, अज्ञानी मनुष्य किसी प्रकार मेरे पास आवे तो मैं उसका शिर काट लूं । भाव यह है कि, भ्रम में डालनेवाले वंचक गुरु अज्ञानी लोगों को भटकाते रहते हैं । मनुष्य सब योनियों में बड़ा है और इस संसार में बड़ा होकर ही आया है, परन्तु कर्म-काण्ड के जाल में फंस गया है, क्योंकि एक ही ब्रह्मा ने सब को कर्म-काण्ड का पाठ पढ़ाया है ॥३॥ पढ़ने के योग्य आत्म-विद्या को पढ़ो और उसे छिपा कर मत रखो । अधिकारियों को प्रदान करो । नहिं तो निश्चय है कि, तुम नष्ट हो जावोगे ॥४॥ हे भाइयों ! तुम हृदय-निवासी राम का सुमिरण करो और भोगों की आशा को छोड़ो, नहीं तो माया के अनेक कोल्हुओं के पचासाओं के द्वारा पेरे जाओगे अर्थात् नाना योनियों में भटकते रहोगे । सूचना—तेलियों के यहाँ बदमाश बैल को अधिक भार लाद कर ठीक करने के लिये एक पत्थर होता है जिसे वे 'पचासा' कहते हैं ॥ ५ ॥

(१८) रमैनी

अदबुद पंथ बरनि नहि जाई । भूले राम भूले दुनियाई ।
जो चेतहु तो चेतहु रे भाई । नहि तो जीव जंमु ले जाई ।।१।।
सब्द न मानै कथै ग्याना । ताते जम दीयो है थाना ।
संसय सावज बसै[1] सरीरा । ते षायो अनवेधा[2] हारा ।।२।।
साखी–संसै सावज सरीर महं, संगै खेलै जुआरि ।
ऐसा घायल बापुरा, जीवहिं मारे झारि ।।३।।

शब्दार्थ—अदबुद् = अद्भुत् । राम = सादि राम (अवतारी राम) । सावज = जंगली पशु, शिकार । अनबेधा = बिना छेदा हुआ । ते = उसने । जुआरि = जुआ खेलनेवाला ।

(कठिन मार्ग)

टीका—इस निर्विशेषात्मक विचित्र मार्ग का वर्णन नहीं किया जा सकता है । इससे अवतारी राम भूल गये और दुनिया भी भूल गई । (सूचना–बीजक में दो प्रकार के रामों का वर्णन आता है । एक सादि राम (अवतारी राम) और एक अनादि राम अर्थात् घट घट निवासी रमैया राम । उनमें से रमैया राम का इसमें मंडन है और अवतारी राम का निषेध है । अतः विधिमुख स्थलों में 'राम' शब्द से रमैया राम शुद्ध चेतन ही बोधित होता है, अवतारी राम नहीं । यह वार्ता ''दसरथ सुत तिहुं लोक बखाना । रामनाम का मर्म है आना ''इस वचन से स्पष्ट है । हे भाइयों इस नरतन को पाकर यदि तुम्हे चेतना है तो चेतो, नहीं तो तुम्हारे जीवात्मा को यमराज चौरासी में ले जायगा ।।१।। संसारी लोग मेरे उपदेश को नहीं मानते हैं और अपने झूठे ज्ञान की बात को कहते हैं । इसलिये उनके हृदय में यमराज का दखल हो गया है । संशय रूपी शिकार सब के हृदय में निवास करता है । उसने बिना छेदे हुए हीरे को खा लिया । अर्थात् अखंड जीवात्मा को खंडित कर दिया है ।।२।। संशय रूपी शिकार अर्थात् जंगली पशु हृदय में रहता है और वह जीवात्मा-

१ पाठान्तर–भ, म, सकल सरीरा २ पाठा०–य, र, अनबेधल ।

के साथ रह कर जुवा खेलता है अर्थात् दावपेंच लगाता है । वह घायल ऐसा है कि विचारे सब अज्ञानियों को मारे डालता है ॥ ३ ॥

भावार्थ–संशयोंकी पूर्ण निवृत्ति के बिना आत्मसाक्षात्कार नहीं होने पाता है ।

(१६) रमैनी ।

अनहद अनुभौ की करि आसा । ई बिपरीत देषहु रे तमासा ।
इहै तमासा देष रे भाई । जहंवा सुन्य तहां चलि जाई ॥१॥
शुन्यहि बंछै सुन्यहि गयऊ । हाथा छोड़ि बे हाथा भयऊ ।
संसै सावज सकल संसारा । काल अहेरी सांझ सकारा ॥२॥

साखी–सुमिरन करहू रामकै, काल गहे हैं केस ।
ना जानहु कब मारि हैं, का घर का परदेस ॥३॥

शब्दार्थ—सुन्य = शून्य स्थान । अहेरी = पारधी, शिकारी । उदा०– 'चित्रकूट मनु अचल अहेरी' । तुलसी० ।

टीका–अनहद शब्द के उपासक अनहद शब्द के, साक्षात्कार की आशा कर रहे हैं; यह उलटा तमासा देखो। अर्थात् स्वयं चेतन अचेतन की आशा करता है । हे भाइयों ! यही तमासा देखो कि गगन मंडल में जहाँ शून्य स्थान है वहीं सब चले जा रहे हैं ॥१॥ शून्य की इच्छा करनेवाले शून्य में चले जाते हैं अर्थात् शून्य समाधि में लीन होकर विवश हो जाते हैं और इस प्रकार हाथ से निहाथ हो जाते हैं । अर्थात् स्वावलंबन छोड़ कर निरावलंब हो जाते हैं । संशय रूप शिकार सारे संसार को मार रहा है और काल रूपी पारधी सबेरे और शाम पीछे लगा हुआ है । सूचना–संशय ही काल है–"संसय काल सकल घट छाया । जिन जिन पूजा तिन जहंड़ाया ।" सावज उन जंगली पशुओं को कहते हैं जिनको शिकारी मार कर खाते हैं । हृदय–निवासी राम का सुमिरण करो क्योंकि काल ने तुम्हारे शिर के केश पकड़ रखे हैं । न जाने वह तुमको घर में या परदेश में कब मार डाले ? ॥ ३ ॥

भावार्थ–आत्माकार वृत्ति से परम पद की प्राप्ति होती है ।

(२१) रमैनी

अब कहु राम नाम अविनासी।
हरि छोड़ि जिअरा कतहुँ न जासी।
जहां जाहु तहां होहू पतंगा।
अब जनि जरहु समुझि बिष संगा ॥१॥
राम नाम लौ लायसु लीन्हा। भ्रिंगी कीट समुझि मन[१] दीन्हा।
भौ अस गुरुवा जे दुष कै भारी।
करु जिय जतन जे देषु विचारी ॥२॥
मन कै बात है लहरि बेकारा। ते नहिं सूझै वार न पारा ॥३॥
साखी–इच्छा के भवसागरै, जामहँ बोहित राम अधार।
कहैं कबीर हरि सरन, गोषुर बछ विस्तार ॥४॥

शब्दार्थ—जिअरा = हे जीव!। न जासी = मत जा। लौ लाय = प्रेम, लगन। करु जिय = जी में, हृदय में। लहरि—विषय–तरंग। बोहित = सं. पु. [सं. वोहित्थ] नाव, जहाज। उदा०—'वंदौं चारिउ वेद, भव वारिधि बोहित सरिस'। तु०

[नाम–उपासकों का कथन]

टीका–अब मनुष्य शरीर को पाकर अविनाशी राम के नाम को कहो। हे जीव! हरि को छोड़ कर कहीं मत जा। माया के फंद में तुम जहां जाओगे वहीं के पतंगे हो जाओगे। इसलिए विषय रूप विषयों के संग को समझ कर अब मत जलो ॥१॥ जिसने राम के नाम से प्रेम लगाया; उसने भृंगी–कीट न्याय को समझ कर उसमें मन दिया है। अर्थात् जिस प्रकार भृंगी कीड़े को अपने समान बना लेता है, इसी प्रकार राम को भजनेवाले राम–रूप को प्राप्त हो जाते हैं। संसार दुःख के कारण अत्यन्त ही भारी हो गया है। इसलिये हे जीव! तुम विचार कर देखो और उसकी निवृत्ति का प्रयत्न करो ॥२॥ मन

१—पाठान्तर–च, लौ लीन्हा।

की कल्पना विषयों की तरंग है, उसका ओर और छोर तुमको नहीं दिखता है ॥३॥ वासना से उत्पन्न हुए संसार-सागर में राम का आधार जहाज है। कबीर साहब कहते हैं कि, हरि की शरण पकड़ो, जिससे कि संसार का पसारा गाय के बछड़े के खुर के समान हो जायगा ॥ ४ ॥

(२१) रमैनी।

बहुत दुष है दुष के षानी। तब बचिहु जब रामहि जानी।
रामहि जानि जुक्ति जो चलई। जुक्तिहि ते फंदा नहि परई ॥१॥
जुक्तिहि जुक्ति चला संसारा। निस्चै कहा न मानु हमारा।
कनक कामिनी घोर पटोरा। संपति बहुत रहै दिन थोरा ॥२॥
थोरहि संपति गौ बौराई। धरमराय के षबरि न पाई।
देषि त्रास मुष गौ कुंभिलाई। अम्रित धोषै गौ विष षाई ॥३॥
साखी–मैं सिरजा मैं मारौं। मैं जारौं मैं षांव।
जल थल महिया रमि रहौं। मोर निरंजन नांव ॥४॥

शब्दार्थ—कनक = धन। कामिनी = स्त्री। घोर = घोड़ा। पटोरा = रेशमी कपड़े। त्रास = भय से। सिरजौं = पैदा करता हूँ।

(चेतावनी)

टीका—अपार दुःख की खानि रूप संसार में बहुत ही दुःख है। जब हृदय-निवासी राम को जानोगे तब इससे बचोगे। जो राम को जान कर गुरु-मति से चलता है वह उस युक्ति से माया के फंदे में नहीं पड़ता है ॥१॥ संसारी लोग मन-मति भाव से चलते हैं और मेरे कथन को निश्चय से नहीं मानते हैं। धन, स्त्री, घोड़ा और रेशमी कपड़े, इत्यादि बहुत सी सम्पत्ति है, परन्तु रहने के दिन थोड़े से ही हैं ॥२॥ अज्ञानी लोग थोड़ी सी सम्पत्ति से दीवाने बन जाते हैं। वे लोग धर्मराय की सुधि को भूल जाते हैं। पापी लोग का मुख यमराज को देखकर भय से कुम्हिला जाता है। सचमुच वह अमृत के धोखे में जहर खा गया अर्थात् विष रूप विषयों को अमृत समझ कर खा गया ॥३॥

यम कहता है कि, मैं निरंजन सब प्राणियों को पैदा करता हूं, मारता हूं, जलाता हूं और मैं ही खा जाता हूं। जल और स्थल में मैं ही रम रहा हूं और मेरा नाम निरंजन है ॥ ४ ॥

(२२) रमैनी ।

अलष निरंजन लषै न कोई। जेहि बंधे बंधा सभ लोई[1] ।
जेहि झूठे बंधा सो अयाना। झूठी बात सांच कै माना ॥१॥
धंधा बंधा किन्ह बेवहारा । करम विवरजित बसे निनारा ।
षट-आश्रम औ[2]दरसन कीन्हा। षट-रस बस्तु षोट सब चीन्हा[3]॥
चारि बिरिछ छव साष बषाने। विद्या अगनित गनै न जाने।
अवरो आगम करै बिचारा । ते नहि सूझै वार न पारा ॥३॥
जप तीरथ ब्रत कीजै[4] बहु पूजा। दान पुराय औ कीजै बहुता ॥
साखी—मंदिल तो है नेहका, मति कोई पैठे धाय ।
जो कोई पैठे धाय के, बिन सिर सेंती जाय ॥५॥

शब्दार्थ—बिनु सिर सेंती = बिना शिरके ।

(कर्मबन्धन)

टीका—अलख निरंजन को कोई नहीं लखता है, जिसके बनाये हुए कर्म–बन्धनो से सब लोग बंधे हुए हैं। जो उस झूठे से बंधा हुआ है वह अज्ञानी है। उसने झूठे बंधन को सच्चा करके मान रखा है ॥१॥ जिसने व्यवहार किया वह धंधे से बंध गया। और जो कर्मोंसे रहित है वह बन्धन से अलग रहता है। छः आश्रम और छः दर्शनों को बनाया। संसारी लोग षट् रस के स्वाद में बस गये और षट्-रस वस्तुओं को ही सब कुछ पहचान लिया। सूचना—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यस्त, हंस और परमहंस, ये छः आश्रम हैं और योगी, जंगम आदिक छः भेषधारी षट्–दर्शन कहलाते हैं ॥२॥ चार वेद रूप

---

१ पा०–ट, ठ, कोई। २ पा०—ड, ढ, षट-दरसन।
३ पा०-प, फ, षट रस बात षटे-वस्तु चीन्हा। ४ पा०—ब, कीन्ह।

चार वृक्ष और छः शास्त्र रूप छः शाखायें बताई जाती हैं। इनके अतिरिक्त और भी अगणित विद्यायें हैं जो कि गिनने में आ सकती हैं। और भी पुराणादिकों का विचार किया जाता है, परन्तु कर्म के बन्धन का ओर और छोर नहीं दीखता है ॥३॥ जप, तीर्थ, व्रत और पूजा की जाती है। और दूसरे प्रकार के बहुत से दान और पुण्य भी किये जाते हैं ॥४॥ यह प्रेम का मंदिर है। इसमें दौड़ कर कोई न घुसै। अर्थात् प्रेम के मन्दिर में बिना समझे मत घुसो, क्योंकि जो बिना समझे इसमें घुसता है वह मारा जाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—विवेक का धारण करना आवश्यक है।

(२३) रमैनी

अलप सुष दुष आदि औ अंता। मन भुलान मैगर मैमंता।
सुष बिसराय मुकुति कहं पावै। परिहरि सांच झूठ निज धावै॥
अनल जोति डाहै[1] एक संगा। नैन नेह जस जरै पतंगा।
करहु विचार जे सभ दुष जाई। परिहरि[2] झूठा केरि सगाई।२।
लालच लागे जनम सिराई। जुरा मरन नियरायल आई॥३॥
साखी—भ्रम कै बांधल ई जग, यहि विधि आवै जाय।
मानुष-जन्म पाये कै, नल काहे को जहंड़ाय ॥४॥

शब्दार्थ—मैगर = हाथी। मैमंता = महत, मतवाला। उदा० 'कुम्बल सत दोउ गज मैमंता'। जायसी। अनल जोति = अग्नि की ज्वाला। केरि = के। सिराई = बीत रहा है। जुरा = वृद्धावस्था। निअरायल = निकट। जहंड़ाय = ठगता है।

(उपदेश)

टीका—संसार में सुख तो थोड़ा है जन्म और मरण दोनों में दुःख है। फिर भी मस्त हाथी रूप यह मन भूला है। परमानन्द स्वरूप आत्मा को छोड़ कर मुक्ति कहाँ पावेगा। अज्ञानी लोग सच्ची मुक्ति को छोड़ कर झूठे प्रपंच में दौड़ते हैं ॥१॥ अग्नि की ज्वाला रूप त्रितापाग्नि जीव के साथ रह कर इसे

१ पा०—म, य, र, डहे। २ पा०—ल, व, ई परिहर।

जलाती है। जिस प्रकार देखने के प्रेम से—सौंदर्योपासना से पतंगे जल जाते हैं। तुम अपने स्वरूप का विचार करो, जिससे तुम्हारे सब दुःख दूर हो जायँ। और झूठे संसार से नाता तोड़ दो ॥३॥ देखो, लालच में लगे हुए तुम्हारा जन्म बीत रहा है। और बुढ़ापा (वृद्धावस्था) तथा मौत तुम्हारे निकट आ रही है ॥३॥ संसारी लोग भ्रम से बंधे हुए हैं। इस कारण इनका जन्म और मरण हो रहा है। हे नर! तुम को अब मनुष्य का जन्म मिला है, इसलिए तुम फिर भी क्यों ठगाते हो ? ॥ ४ ॥

(२४) रमैनी।

चंद चकोर की ऐसी बात जनाई। मानुष बुधि दीन्ह पलटाई॥
चारि अवस्था सपने कहई। झूठो फूरो जानत रहई ॥१॥
मिथ्या बात ना जानै कोई। यहि विधि सभ गयल बिगोई॥
आगे दै दै सभन्हि गमाया। मानुष बुधि की सपनेहुं पाया॥
चौंतिस अच्छर से निकलै जोई। पाप पुन्य जानेगा सोई ॥३॥
साखी—सोइ कहंते सोइ होऊगे, तैं निकरि न बाहर आव।
हौं हजूर ठाढ़ कहतु हौं, काहें धोखे जन्म गमाव ॥४॥

शब्दार्थ — पलटाई = पलट दी। सभ = सब के सब। गयल = गये। बिगोई = नष्ट हो गये। आगे = बढ़ा चढ़ा कर। हजूर = सम्मुख स्थित, नजर के सामने।

(संसारी गुरुवों की कहानी)

टीका—वंचक गुरुवों ने लोक-विशेष निवासी स्वामी की भक्ति करने के लिए ऐसा उपदेश दिया कि, जिस प्रकार चकोर चन्द्रमा से प्रेम करता है, वैसा ही प्रेम उससे करना चाहिए। ऐसी बात उनको बताई और इस प्रकार उपदेश देकर उनकी विवेकवाली मनुष्य-बुद्धि को पलट दिया। बाल, कुमार, युवा और वृद्ध; इन चार अवस्थाओं को स्वप्न के समान अनित्य कहते हैं और स्वयं असत्य संसार को सत्य समझते रहते हैं ॥१॥ उनकी इस मिथ्या बात को किसी ने नहीं जाना। इस कारण सबके सब नष्ट हो गये। इस प्रकार बढ़ा चढ़ा कर सबों को नष्ट कर दिया और उन लोगों ने स्वप्न

में भी मनुष्य-बुद्धि को नहीं पाया ॥२॥ जो वर्णमाला के चौंतीस अक्षरों से अलग हो जायगा । अर्थात् वाणी के जाल से निकल जायगा वही पाप और पुण्य को जान सकेगा ॥३॥ जैसा कहोगे और सोचोगे वैसे ही बन जाओगे । इस कारण इनके जाल से बाहर क्यों नहीं निकल जाते ? सद्गुरु कहते हैं, मेरे सामने चले आओ, मैं खड़ा हुआ तुम्हें पुकार रहा हूं । तुम धोखे में पड़कर मनुष्य जन्म को क्यों गुमा रहें हो ? ।

भावार्थ – "झूठे गुरु के पच्छ को, तजत न कीजे बार ।
द्वार न पावे शब्द का, भटके बारंबार" ॥ ४ ॥

(२५) रमैनी ।

चौंतिस अच्छर का इहै विसेषा । सहस्रों नाम यहि महं देखा ॥
भूलि भटकि नल फिरि घट आया ।
होता अजान[1] सो सभनि गमाया ॥१॥
खोजहिं ब्रह्मा विस्नु शिव शक्ति ।
अनंत लोक खोजहि बहु भक्ति ।
खोजहिं गनि गंध्रप मुनि देवा ।
अनंत लोक खोजहि बहु सेवा[2] ॥२॥
साखी–जति सती सभ खोजही, मनहि न मानै हारि ।
बड़ बड़ जीव न बांचि है, कहंहिं कबीर पुकारि ॥३॥

शब्दार्थ–विसेषा = बड़ाई । सहस्रों = हजारों । घट = अनेक योनियों में भ्रमण करके ।

(शब्द–जाल)

टीका–वर्णमाला के चौंतीस अक्षरों की यही विशेषता है कि, इन्हीं में हजारों नाम देखे जाते हैं । अनेक योनियों में भ्रमण करके जीवात्मा फिर नर-तन में आता है और यहां भी अज्ञानी बन कर यह सब कुछ खो देता है ॥१॥ उस परम तत्त्व को ब्रह्मा, विष्णु, शिव और शक्ति; ये सब खोज रहे हैं ।

१. पा०—ल. व. जान । २. पा०—स. ब. मेवा ।

इनके अतिरिक्त भी अनेक लोग बहुत भक्ति से खोज रहे हैं। गण, गंधर्व, मुनि और देवता भी खोज रहे हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक लोग बड़े प्रयत्न से खोज रहे हैं।।२।। उसकी खोज में यती और सती सब पड़े हुए हैं। कोई भी अपने मन में हार नहीं मानता है। परन्तु कबीर साहब पुकार कर यह कहते हैं कि, माया का ऐसा जाल है कि, इससे बड़े बड़े पुरुष भी नहीं बचने पाते हैं।। ३ ।।

भावार्थ—निज पद वाणी का विषय नहीं है।

(२६) रमैनी ।

आपुहि करता भया कुलाला । बहु विधि बासन गढ़ कुंभारा ।।
बिधने सभै कीन्ह एक ठाऊं । अनेक जतन के बने कनाऊं[1] ।।
जठर अगिन महं दीन्ह प्रजारी । ता महं आपु भये प्रतिपाली ।।
बहुत जतन कै बाहरि आया । तब सिव सकती नाम धराया[2] ।।
घर के सुत जो होय अयाना । ताके संग न जाहि सयाना ।।
सांची बात कहौ मैं अपनी । भया दिवाना अवर का पुनी[3] ।।३।।
गुपत प्रगट है एकै दूधा । काके कहिये ब्राह्मन सूद्रा ।।
झूठे गरब भूलो मति कोई । हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई ।।४।।
साखी–जिन्ह यह चित्र बनाइया, सांचा सो सुत्रधारि ।
कहंहिं कबीर तेई जन भले, जो चित्रवंतहि लेहिं बिचारि ।।

शब्दार्थ–बासन = वर्तन। विधने = ब्रह्मा ने। कनाऊं = वर्तन। प्रजारी = जलाये, पकाये। उदा० 'नगर फेरि पुनि पूंछ प्रजारी'। अयाना = अज्ञानी। पुनि = पुनः, फिर। दूधा = जात। सुत्रधारि = सूत पकड़ने वाला कारीगर। चित्रवंत = तसवीर बनानेवाला।

(रचना रहस्य)

टीका—जिस प्रकार कुम्हार अनेक प्रकार के वर्तन बनाता है। इसी

पा०-ग, घ, बानक बानू। २ पा०-ङ, च मनाया। ३ पा० सपनी।

प्रकार सृष्टि के आदि में स्वयं कर्ता पुरुष कुलाल बने। और ब्रह्मा बन कर सबों को एक जगह किया और बहुत प्रयत्न से नाना शरीर रूप बर्तन बनाये ॥१॥ और उन सबों को जठराग्नि में डाल कर पकाया, और वहाँ वे स्वयं रक्षक बने। इसके पश्चात् बहुत प्रयत्न से वे सब गर्भ से बाहर निकाले गये और उनका स्त्री और पुरुष नाम धराया गया ॥२॥ अपना पुत्र यदि अज्ञानी हो तो भी समझदार लोग उसके जैसे नहीं बन जाते हैं। मैंने अपनी सच्ची बात कह दी। फिर भी तुम औरों की बातें सुन कर दिवाने (पागल) बने हुए हो! ॥३॥ गुप्त और प्रगट सबों की जाति (मनुष्य जाति) एक ही है। इसलिए किसको ब्राह्मण और किसको शूद्र कहा जाय? । हे भाइयो! झूठे अहंकार में मत भूलो; क्योंकि हिन्दू और तुरुक दोनों जातियां मिथ्या हैं ॥४॥ जिसने इस संसार-रूपी चित्र को बनाया है, वही कारीगर सच्चा है। कबीर साहब कहते हैं कि, वे ही भक्तजन अच्छे हैं कि जो उस चित्रकार को देखते हैं ॥५॥

भावार्थ—एक कर्ता पिता से सब की रचना हुई है; अतः कुलाभिमान छोड़ कर परस्पर भ्रातृ-भाव रखना चाहिये।

(२७) रमैनी।

ब्रह्मा के दीन्हो ब्रहमंडा। सात दीप पहुमी नौ खंडा।
सत्त सत्त कै बिस्नु दिढाई। तीनि लोक महं राषिनि जाई ॥१॥
लिंग रूप तब संकर कीन्हा। धरती षीलि रसातल दीन्हा॥
तब अष्टंगी रची कुमारी। तीनि लोक मोहिनि सभ झारी ॥२॥
दुतीया नाम पारवती को भयऊ। तप[1] करते संकर कहं दियऊ॥
एकै पुरुष एक है नारी। ताते रचिन षानि भौ चारी ॥३॥
सरवन बरमन देव वो दासा। रज गुन तम गुन धरति अकासा॥
एक अंड वो अंकारते, सभ जग भया पसार।
कहहिं कबीर सभ नारी राम के, अविचल पुरुष भतार ॥५॥

१. पा०—च, छ, सो।

शब्दार्थ—पहुमी = पृथ्वी। दिठाई = विश्वास दिला दिया। अष्टंगी = सुन्दर आठ अंगवाली कन्या, आद्या, प्रकृति। एकै पुरुष = ब्रह्म और माया। चारी = चार खानियां। सरवन = ब्राह्मण। वरमन = वर्मा, क्षत्रिय। देव = वैश्य। दासा = शूद्र।

(अधिकार-विभाग)

टीका—ब्रह्माजी को ब्रह्मांड की रचना का भार दिया गया, जिससे उन्होंने सात द्वीप और नव खंड वाली पृथ्वी को बनाया। विष्णु ने अपनी माता आद्या को सत्य बात कह कर विश्वास दिला दिया; अतः तीनों लोकों की रक्षा का अधिकार मिला ॥१॥ शंकरजी ने लिंग रूप अपना शरीर बनाया और उससे धरती और रसातल को कील दिया। सुन्दर आठ अंगवाली कन्या आद्या (प्रकृति) रची गई। उसने तीन लोक के निवासी सब को मोहित कर लिया। सूचना :—प्रकृति के आठ अंग ये हैं—"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥" (गीता)। भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन और बुद्धि और अहंकार। यद्यपि प्रकृति अनादि है तथापि पृथ्वी आदिक अंगों की रचना से उसकी रचना कही गई है ॥२॥ पारवती नाम की दूसरी कन्या उत्पन्न हुई। और वह तप करते हुए शंकरजी को दी गई। एक ही निरंजन पुरुष और एक ही अष्टांगी नारी है। इन दोनों से चारों खानियों की रचना हुई है। सूचना:—चार खानियां ये हैं—अंडज, पिंडज, उष्मज और स्थावर ॥३॥ रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण से शर्मन, वर्मन, देव और दास अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय; वैश्य और शूद्र; इनकी उत्पत्ति हुई। और उक्त तीनों गुणों से धरती और आकाश भी उत्पन्न हुए ॥४॥ ओंकार रूप एक अंडे से सारे जगत की रचना हुई। कबीर साहब कहते हैं कि, सब ही उपासक राम की नारी और वह अविनाशी पुरुष उनका स्वामी है ॥५॥

(२८) रमैनी।

अस जोलहा काहु मरम ना जाना।
जिन्ह जग आनि पसारिन्हि ताना॥
धरती आकास दोउ गाड़ षनाया।

चांद सुरज दोउ नरी बनाया ॥१॥
सहस्त्र तार ले पूरनि पूरी । अजहूं बिनै कठिन है दूरी ॥
कहंहिं कबीर करम ते जोरी । सूत-कुसूत बिनै भल कोरी ।२।

शब्दार्थ—गाड = गढ्हा (करघा चलाने के लिये) । नरी = नरा । पूरी = ताना तनाया । भल = अच्छी तरह ।

(जीव, ईश्वर और मन का ताना-बाना)

टीका—ईश्वर, जीव और मन रूप; ऐसे जुलाहे का किसीने भेद नहीं जाना । जिसने जगत में आकर प्रपंच रूप ताने को फैलाया है, उसने धरती और आकाश रूप दो खड्ढ़े करघा चलाने के लिए बनाये । और चन्द्र और सूर्य अर्थात् इडा और पिंगला रूप दोनों नाडियों की नरा बनाया ॥१॥ और हजार कुंभकों की लम्बी पुरिया पूरी गई; परन्तु फिर भी उस प्रपंच के बिनने का काम कठिन है और दूर है । कबीर साहब कहते हैं कि, प्रपंच का ताना कर्मों के धागों से जोड़ा जाता है और जीव रूप या मन रूप जुलाहा अच्छे सूत और बुरे सूत को अच्छी तरह बिनता रहता है अर्थात् शुभ कर्म और अशुभ कर्मों को करता रहता है ॥२॥

(२९) रमैनी ।

बज्रहु ते त्रिन षिन में होई । त्रिन ते बज्र करै पुनि सोई ॥
निझरू नरू[1] जानि परिहरै । करमक बांधल लालच करै ॥१॥
करम धरम मति बुधि परिहरिया । झूठा नाम सांच लै धरिया ॥
रज गति त्रिविधि कीन्ह परगासा ।
करम धरम बुद्धि केर विनासा ॥२॥
रवि कै उदै तारा भौ छीना । चर बीरह दोनों में लीना ।
विष के खाये विष ना भाजै । गारूर सो जो मरत जियावै[2] ।३॥

---

१ पाठा०—ज, झ, नीरू ।   २ पाठा—छ, ज, मरत हि ज गे ।

साखी–अलष[1] जो लागो पलक मों। पलकहि में डसि जाय।
विषहर मंत्र न मानै। गारुड़ काह कराय ॥३॥

शब्दार्थ—छिन=थोड़ी देर में। निझर=झरने का पानी। परिहरै =अलग किया। मति=विवेक, बुद्धि। रज=रजोगुण। चर बीहर= चर, अचर। लोना=छिपा हुआ। गारुड़=सर्प के विष को दूर करनेवाला वैद्य, गारुड़ी। अलष=निरंजन। विषहर=सं० पु० [सं० विषधर, प्रा० विषहर], सर्प, साँप। उ० –'भंवर केस वह मालति रानी। विसहर लरहि लेइ अरधारी'। जा०।

(मन की दशा)

टीका–थोड़ी देर में मन तृण से वज्र और वज्र से तृण हो जाता है। अर्थात् कठिन से कोमल और कोमल से कठिन हो जाता है। मन के संकल्प विकल्प झरने की तरह सदैव चलते रहते हैं, ऐसा जानकर संतजनों ने इसका साथ छोड़ दिया है। किन्तु लालच से बंधा हुआ मनुष्य अनेक कर्मों को करता है ॥१॥ मन के चक्र में पड़े हुए लोगों से कर्म, धर्म, मति और बुद्धि दूर हो जाती है और वे झूठे नाम को सांच कर के मानते हैं। रजोगुण ने तीनों लोकों में उर्ध्वादि गति कराई। अर्थात् भ्रमण कराया जिससे कर्म, धर्म और विवेक बुद्धि का विनाश हुआ ॥२॥ जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से तारागण क्षीण कान्ति वाले हो जाते हैं। इसी प्रकार ज्ञान के उदय होने से कर्म क्षीण हो जाते हैं। जिससे ज्ञानी-जन चर और अचर में छिपे हुए व्यापक चेतन को देखते हैं। विषय–भोग रूप विष के खाने से वासना रूप विष नहीं जाता है। सर्पों के विष को झारनेवाला गारुड़ी वही है जो मरते से जिंदा कर दे। अर्थात् गुरु वही है जो काल के फंदे से बचा ले ॥३॥ अलख निरंजन मन रूपी सर्प पलकों में लगा हुआ है अर्थात् जाग्रत अवस्था में मन का नेत्र में निवास रहता है और वह पलभर में ही काट लेता है अर्थात् पल पल में उसका विष चढ़ता है। वासना रूप विष को धारण करनेवाला मन रूपी सर्प सद्गुरु के उपदेश रूप मंत्र को नहीं मानता है तो भला गुरु रूप गारुड़ी क्या करे ॥४॥

---

1 पाठा-–ट, ठा० अलक।

(३०) रमैनी ।

औ भूले षट दरसन भाई । पाषंड भेष रहा लपटाई ॥
जीव सीव के आहि नसौना । चारिउ वेद[1] चतुर गुन मौना ।१।
जैनि धरम कै मरम न जानै । पाती तोरि देव घर आनै ॥
दवना मरुवा चंपा कै फूला । मानहु जीव कोटि सम तूला ।।२।।
औ प्रिथिमी कै रोम उचारै । देषत जनम आपनो हारै ॥
मन्मथ-बिंदु करै असरारा । कलपै बिंद षसै नहि द्वारा ।।३।।
ताकर हाल होय अदबूदा । छव दरसन महं जैनि बिगूरचा ।४।
साखी—गियान अमर पद बाहरे । नियरे ते है दूरि ।
जो जानै ताके निकट है । नहि तो रहा सकल घट पूरि ।।५।।

शब्दार्थ—नसौना = नष्ट करने वाला । सम तूला = बराबर । उचारै = उखाड़ते हैं । मन्मथ-विंदु = वीर्य । कलपै = शक्ति । असरारा = दुष्टता । बिगुरचा = सं. स्त्री. [सं. विकुचन अथवा विवेचन] बिगुचना, असमंजस, अड़चन, दिक्कत । उदा० – 'सूरदास अब होत बिगूचना भजि लै सारंगपान' । सूर० । नियरे = नजदीक, समीप ।

(जैन आदि मत समीक्षा)

टीका—हे भाई ! षट् दर्शन वेषधारी भूले हुए हैं । वे भेष के पाखण्ड में लिपटे हुए हैं । इसीलिए वे जीव के कल्याण को नष्ट करनेवाले हैं । उनके विषय में चारों वेद चतुर्गुणी मौन हैं । अर्थात् इनके मत का अनुमोदन नहीं ।।१।। जैनी लोग धर्म के मर्म को नहीं जानते हैं, इसीलिए वे देवालय में वृक्ष के पत्तों को तोड़ कर चढ़ाने के लिए लाते हैं । दवना मरुवा और चम्पा के फूल; ये सब कोटि कोटि जीवों के बराबर हैं, ऐसा मानना चाहिये ।।२।। और वे लोग शरीर के रोमों का लुंचन करते हैं अर्थात् उखाड़ते हैं । इस प्रकार देखते देखते वे अपने जन्म को हार जाते हैं । वे लोग अपने वीर्य के साथ भी अन्याय करते हैं ।

1 पा०--ड, द, वद्ध, ग, त, बरन थ, द, बंध ।

अर्थात् जैनियों के यती लोग 'अमरौली' और 'वज्रौली' क्रिया के द्वारा विधि विशेष से वीर्य का आकर्षण किया करते हैं। इस कारण उसमें ऐसी शक्ति हो जाती है कि, थोड़ा भी वीर्य द्वार पर नहीं स्खलित होने पाता है। सूचना—"असरारा" यह शब्द दुष्ट के वाचक फारसी 'शरीर' शब्द के बहुवचन का रूपान्तर है ॥३। ऐसा कार्य करने से उन लोगों का हाल आश्चर्यकारक हो जाता है। छः भेषधारियों में जैनो लोग उलझन में पड़े हुए हैं ॥ ४ ॥ जो निज रूप अमर पद के ज्ञान से रहित हैं, आत्मा सदा निकट होते हुए भी, उनके लिए दूर ही है। और जो आत्मज्ञानी हैं उनके लिए सदैव निकट है, क्योंकि 'रहा सकल घट पूरि' सर्वत्र विद्यमान है। सूचना—निजात्मा का ही नाम अमर पद, अमर लोक और सत्यलोक है। श्रुति ने भी वर्णन किया है कि "तस्यायमात्माऽयं लोकः"। अर्थात् ज्ञान केलिए यही आत्मा लोक है। "एतमेव लोकमभीप्सन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति"। इसी आत्मलोक की प्राप्ति के लिए संन्यास धारण करते हैं। "अमर लोक फल लावे चाव, कहहिं कबीर बूझे सो पाव" (बीजक)। पंचग्रन्थीकार श्री.रामरहस्य साहब ने भी इस विषय में लिखा है कि—"सत्यलोक सुख साहब सोई" इत्यादि ॥५॥

(३१) रमैनी।

सुम्रिति आहि गुनन के चीन्हा। पाप पुन्य के मारग कीन्हा ॥
सुम्रित बेद पढ़ै असरारा। पाखंड रूप करै हंकारा ॥१॥
पढ़ै बेद और करे बड़ाई। संसै गांठि अजहुं नहि जाई ॥
पढ़ै सत से जीव वध करई। मूंडि काटि अगुमन कै धरई।।२॥
साखी—कहहिं कबीर ई पाषंड, बहुतेक जीव सताव।
अनुभौ भाव न दरसै, जियत न आपु लषाय[1] ॥३॥

शब्दार्थ—असरारा = क्रि. वि. [हिं. सरसर] निरंतर, लगातार, बराबर, अत्यन्त। उ०—'कहो नन्द कहां छोड़े कुमार करुणा करे, यशोदा माता नैनन नीर बहे असरारा'। सूर०। फा. हट, सं. पु. सवार। अजहुँ = अभी तक। - अगुमन = आगे। अनुभौ = आत्मभाव। जियत = जीते जी।

---

१ पा०—ट, ट, रषाव।

(शास्त्र–व्यवसायी पंडितों की दशा)

टीका–धर्मशास्त्र ने गुणों का निर्णय किया है और उसने पाप और पुण्य का भी मार्ग बनाया है। दुष्ट प्रकृति वाले दुराग्रही स्मृति और वेदों को पढ़ते हैं; परन्तु उलटे वे पाखंडी पाखंड रूपवाले बन कर अहंकार करते हैं ॥१॥ वे लोग वेदों को पढ़ते हैं और अपनी बड़ाई करते हैं। परन्तु अभी तक संशय की गांठ उनके हृदय से नहीं गई है। वे लोग मन्त्र पढ़ कर बलिदान करते हैं और बलि–पशु के शिर को काट कर मूर्ति के आगे रख देते हैं ॥२॥ कबीर साहब कहते हैं कि, बलिदान करानेवाले इस पाखंड से बहुत से जीवों को नष्ट करते रहते हैं। इन सबों के हृदय में आत्म-भाव नहीं देखा गया है; क्योंकि जीते जी इन्होंने आत्मपरिचय नहीं किया है ॥३॥

भावार्थ–जिन्होंने आत्म–परिचय नहीं किया है उनका वेदादिकों का पाठ व्यर्थ है।

(३२) रमैनी।

अंध सो दरपन बेद पुराना। दरबी कहा महारस जाना।
जस षर चंदन लादै भारा। परिमल बास न जानु गंवारा ॥१॥

कहंहिं कबीर षोजै असमाना।
सो ना मिला जो जाय अभिमाना ॥२॥

शब्दार्थ–दरबी = करछुल। महारस = बडा स्वाद। खर = गदहा। परिमल बास = चन्दन की सुगन्धि। असमाना = सातवां आसमान, गगन मंडल।

(ज्ञान की आवश्यकता)

टीका–अज्ञानियों के लिए वेद और पुराण अंधे के हाथ में दिये हुए दर्पण के समान हैं। अंधसा (धुंधला सा) दर्पण के समान वेद पुराण हैं। अर्थात् सच्चे गुरु बिना वेद पुराण पढ़ना व्यर्थ है। उ०–'वेद उदधि गुरु बिन पढ़ै लागै लौन समान'। (वि० सा०)। भला, चम्मच (करछुल) व्यंजन के बड़े स्वाद को क्या जान सकता है ? । देखो, गदहा चन्दन के बोझ को लादता

है; परन्तु वह गंवार चंदन की सुगन्धि को नहीं जानता ॥१॥ कबीर साहब कहते हैं कि, अज्ञानी लोग स्वर्गादि लोकों में अथवा सातवें आसमान में और गगन-मंडल में परमात्मा को खोजते हैं; परन्तु वह आत्मज्ञान इनको नहीं मिलता, जिससे इनका अहंकार दूर हो जाय ॥ २ ॥

(३३) रमैनी ।

बेद कै पुत्री सुम्रिति भाई । सो जेंवरी कर लेतहि आई ।
आपुहि बरि आपुन गर बंधा । झूठा मोह कालकै फंदा ॥१॥
बांधत बंधा छोरि ना जाई ! विषै सरूप भूली दुनिआई ।
हमरे देषत सकल-जग लूटा । दास कबीर राम कहि छूटा ।२।
साखी–रामहि राम पुकारते, जिभ्या परिगौ रोस ।
सूधा जल पीवै नहीं, खोदि पिअन की हौस । ३॥

शब्दार्थ—जेंवरी = रस्सी । रोस = घट्टा, ठेला ।

(स्मृति–विचार)

टीका–हे भाई ! धर्मशास्त्र रूप स्मृति वेदों की पुत्री है । वह सकाम कर्म रूपी रस्सी को अपने हाथ में लेते ही आई है । स्वार्थ–सिद्धि के लिये वंचकों ने अपने अनुकूल नूतन स्मृति–वचन रूप रस्सी को बटा है । और उसके फंदे को अपने ही गले में बांध लिया है उनका ये झूठा मोह काल का फंदा है ॥१॥ ये लोग सहज ही कर्मों के बंधन में पड़ गये परन्तु छूटना उनके लिए कठिन हो गया । विषय के रूप में दुनिया भूल गई । हमारे देखते हुए सारा जगत छूटा जा रहा है । बिना राम के जाने हुए केवल रामनाम को जपनेवाले दास कबीर = नामोपासक भक्तलोग क्या रामनाम के कहने से बंधनों से छूट जायेंगे ? ॥२॥ राम ही राम की रटन लगाते हुए उनकी जीभ पर घट्टा पड़ गया ! । वे लोग निकाले हुए पानी को नहीं पीते हैं; किन्तु कूंआ खोद कर उसमेंसे पानी पीने की इच्छा करते हैं; अर्थात् साक्षात् आत्मा का परिचय तो करते नहीं, बरन लोकान्तरों में जाकर उसको पाने की इच्छा रखते हैं ॥३॥

भावार्थ :—भजन—

सन्तों ! पानी में मीन पियासी। देखि देखि आवै हांसी ॥ हो संतो।
आतम ज्ञान विना नर भटके। क्या मथुरा क्या कासी ॥ हो संतो।
है नियरे तेहि दूर बतावे। दूर की आस निरासी ॥ हो संतो।
मिरगाके तन है कस्तूरी। सूंघत फिरै बन घासी ॥ हो संतो।
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो। घटहि मिले अविनासी ॥ हो संतो।

(३४) रमैनी।

पढ़ि पढ़ि पंडित करै चतुराई। निज मुकुति मोहि कहो समुझाई
कहं बसे पुरुष कवन सो गाऊं। पंडित मोहि सुनावहु नाऊं ।१।
चारि वेद ब्रह्मै निज ठाना। मुकुति के मरम उनहु नहिं जाना
दान पुन्य उन्ह बहुत बषाना। अपने मरन की षबरि नजाना ॥
एक नाम है अगम गंभीरा। तहंवा अस्थिल[1] दास कबीरा ॥३॥

साखी—चिउंटी जहां न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय।
अवागवन कै गम नहीं, तहां सकलो जग जाय ॥४॥

शब्दार्थ—पुरुष = चेतन पुरुष (ईश्वर)।

(प्रश्न)

टीका—हे पंडितो ! आप पढ़ पढ़ कर चतुराई करते हैं; परन्तु आप अपनी निज मुक्ति मुझे समझा कर कहिये। चेतन पुरुष का कहां निवास है और उसका कौन गांव है ? हे पंडितो ! उसका नाम मुझे सुनाइये ? ॥१॥ ब्रह्माजी ने चारों वेदों की स्वयं स्थापना की है; परन्तु मुक्ति के भेद को उन्होंने भी नहीं समझा है। उन्होंने बहुत प्रकार से दान और पुण्य का वर्णन किया है; परन्तु अपने मरने की खबर उन्होंने नहीं जानी ॥२॥ अगम और गंभीर एक नाम है। दास कबीर उसी में स्थिर है ॥३॥ जिस मन की कल्पना से सूक्ष्म बुद्धि रूप

[1] पाठा०--फ, ब, अस्थल।

चिऊंटी नहीं चढ सकती है और राई भी नहीं ठहर सकती है तथा आवागमन की गम नहीं, उसी कल्पना में सारा संसार जा रहा है ॥ ४ ॥

भावार्थ—'नियरे न खोजै बतावै दूरि। चहुंदिसि बागुरि रहलि पूरि' [बीजक]

(३५) रमैनी ।

पंडित भूलें पढ़ि गुनि बेदा । आपु अपनपौ जाने न भेदा ।
संझा तरपन औ षट करमा। ई बहु रूप करें अस धरमा ॥१॥
गाइत्री जुग चारि पढ़ाई । पूछहु जाय मुकुति किन पाई ।
अवर के छिये लेत हौ छीचा । तुमते कहहु कवन है नीचा ॥२॥
ई गुन गरब करौ अधिकाई । अधिकै गरब न होय भलाई ।
जासु नाम है गरब प्रहारी। सो कस गरबहि सकै सहारी ॥३॥
साखी—कुल मरजादा खोय के, खोजिनि पद निरबान ।
अंकुर बीज नसाय के, नल भये बिदेही थान ॥४॥

शब्दार्थ – अपन पौ=अपना निज रूप का । भेदा=परिचय । संझा =संध्यावंदन । सहारी=सह सकेगा ।

(मिथ्याचार)

टीका—पंडित लोग वेदों को पढ़ गुन कर भूल गये, क्योंकि निज रूप की पहिचान उनको नहीं हुई । वे लोग संध्यावंदन, पितृ-तर्पण और षट्कर्मों को करते हैं और इसी प्रकार के अनेक धार्मिक कार्य करते हैं । सूचना—ब्राह्मणों के षट् कर्म ये हैं—वेदों का पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और कराना तथा दान देना और लेना ॥१॥ चारों युगों से गायत्री--मन्त्र पढ़ा जा रहा है, परन्तु पूछो तो सही कि, उससे किसने मुक्ति पाई है ? भाव यह है कि, बिना सत्त्व-शुद्धि के केवल गायत्री-मंत्र के जाप से मुक्ति नहीं हो सकती है । पशुहिंसादिक क्रूर कर्म करानेवाले ब्राह्मणों से यह प्रश्न है कि, नीच जाति के छूने से जो शुद्ध होने के लिए आप लोग अपने शरीर पर जल के छींटे लगाते हो, परन्तु भला,

ऐसे कर्म करानेवाले तुमसे दूसरा कौन नीच है ? ॥२॥ इन हिंसादिक कर्मों को कराते हुए भी आप लोग जाति का अभिमान करते हैं। सुनिये ! अधिक अहंकार से किसी की भलाई नहीं होती है। जिस ईश्वर का गर्वप्रहारी नाम है वह गर्व को कैसे सह सकेगा ? ॥३॥ जिन्होंने मिथ्या अभिमान को छोड़ कर मुक्ति पद को प्राप्त किया है, वे वासनाओं से रहित होकर आत्मलीन हो गये हैं ॥४॥

भावार्थ—कर्मों से ही मनुष्य नीच और ऊँच होते हैं, जाति से नहीं।

३६ (रमैनी)

ग्यानी चतुर बिचच्छन लोई। एक सयान सयान न होई।
दोसर सयान के मरम न जाना उतपति परलै रैनि बिहाना॥
बानिज एक सभनि मिलि ठाना। नेम धरम संजम भगवाना।
हरि अस ठाकुर तेजि न जाई। बालनि भिस्त गावै दुलहाई॥

साखी–कहू ते नल कहां गये, जिन्ह दीन्हो गुरु घोंटि।
राम नाम निजु जानि के, छांड़ि देहु बस्तु खोटि॥३॥

शब्दार्थ—बिहाना = सं. पु. [प्रा. विहाण] सबेरा, प्रातःकाल। उ–'परमो मनहु सुरसरि सलिल रवि प्रतिबिंब विहान'। १ वि.। आ. जन्म। दुलहाई = विवाह के गीत।

[वाणी की अविषयता]

टीका—ज्ञानी, चतुर और सूक्ष्म बुद्धिवाले लोगों ! अद्वैतवादी सयाने नहीं होते हैं, क्योंकि अद्वैत ब्रह्म के विधान से प्रतियोगिविधया द्वैत का भी स्मरण होते रहता है। द्वैतवादियों ने सार तत्त्व को नहीं जाना। इस कारण वे रातदिन (सदैव) उत्पत्ति और प्रलय के चक्र में पड़े रहते हैं ॥१॥ भगवान के मिलने के लिए नियम धर्म और संयम आदिक साधनों को सब धर्म--व्यवसायियों ने मिलकर एक बनिज--व्यापार ठहरा लिया है। हे जीव ! तू हरि ऐसे प्रत्यक्ष आत्म--देव से अलग मत हो। स्वर्गादि लोको में ईश्वर का

१. पा०--ब, म, बालम।

निवास मानने वाले तटस्थ ईश्वरवादी बालबुद्धि वाले हैं। वे लोग सदैव स्वर्ग के गीत गाया करते हैं। इसी प्रकार मुसलमान सातवें आसमान पर रहनेवाले खुदा के गीत गाया करते हैं। और प्रत्यक्ष ईश्वर चेतन आत्मा को सताया करते हैं। ये लोग अपने स्वामी को बिहिस्त में बताते हैं और यहां उसके विवाह के गीत गाते हैं ॥२॥ जिनको वंचक गुरुवों ने मंत्र--दीक्षा रूप गुरु-घोंटी पिलाई थी वे लोग कहाँ चले गये ? अर्थात् संसार में वह गये। आप लोग रमैया राम को निज वस्तु जान कर कल्पित खोंटी वस्तु को छोड़ दो। सूचना बच्चों को दी जानेवाली बाल घूँटी को 'घोंटी' कहते हैं ॥३॥

[३७] रमैनी।

एक-सयान सयान न होई। दोसर-सयान न जानै कोई।
तिसर-सयान सयानहिं षाई। चौथे सयान तहां ले जाई ॥१॥
पंचयें-सयान न जानै कोई। छठयें मांह सभ गयल बिगोई।
सतयें सयान जो जानहु भाई। लोक वेदमें देहु दिषाई ॥२॥

बिजक बतावे बित्तकै, जो बित गुप्ता होय।
ऐसे शब्द बतावै जीव कै, बूझै बिरला कोय ॥३॥

शब्दार्थ—बीजक = गाड़े हुए धन का सांकेतिक लेख, बीजक ग्रन्थ।

(वादीमत—समीक्षा)

टीका—अद्वैतवादी सयाने नहीं हैं; क्योंकि सापेक्षतया अद्वैतसिद्धि से द्वैत की सिद्धि हो जाती है। और दूसरे सयाने को कोई नहीं जानता है। अर्थात् मायावादी अज्ञान के अंधेरे में पड़े रहते हैं। तीसरे सयाने सयाने ही को खा जाते हैं। अर्थात् जीववादियों को अविद्या खा जाती है। और चौथे सयाने जहां रहते हैं वहां उनको वे ले जाते हैं। अर्थात् भिन्न ईश्वर का लोकान्तरों में निवास माननेवाले मृत्यु के पश्चात् नाना लोकों में भ्रमण करते रहते हैं ॥१॥ पंचये सयान को क्या कोई जानते हैं। अर्थात् इन्द्रियपरायण स्वयं नष्ट हो जाते हैं। और छठये में पड़ कर तो सब ही नष्ट हो जाते हैं।

अर्थात् मन–आत्मवादी, मन को चेतन आत्मा समझने वाले मन की धारा में बह जाते हैं। हे भाई! जो सतयें सयान को जानता हो तो लोक और वेद में कहीं उन्हें दिखाओ! अर्थात् देहात्मवादी लोक और वेद उभय मार्ग से भ्रष्ट होते हैं ॥२॥ जो कहीं पर गुप्त रीति से गड़ा हुआ धन रहता है उस धन को बताने वाला सांकेतिक लेख रूप बीजक उसको बताता है। इसी प्रकार यह बीजक ग्रन्थात्मक सद्गुरु का उपदेश जीव के स्वरूप का परिचय कराता है। दूसरे पक्ष में शब्द–आवाज, वचन जीवात्मा का पता देता है; परन्तु इस बात को कोई विरले ही समझते हैं। भाव यह है कि बिना चेतन के वचन (शब्द) नहीं हो सकता है।

रेखता :– ' इस बोलते को खोज करो, जिसका इलाही नूर है।
जिन प्राण पिंड सँवारिया, सो तो हाल हजूर है ॥
गजबाजि द्वारे झूलते, सो तो राज जहूर है।
कहैं कब्बीर पुकारि के साहब घट घट पूर है ' ॥

शब्द—'मोको कहां ढूंढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में'। अन्त में कहा कि—कहे कबीर सुनो भाई साधो, हर स्वासों की स्वास में' ॥

भावार्थ—आसमान का आसरा छोड़ दे बालका, उलटि देख घट अपना जी। बिन देखे जो नाम जपत हैं, सो तो रैन का सपना जो' ॥ यहां पर शब्द पद श्लिष्ट है, इसलिए श्लेषपुष्ट दृष्टान्तालंकार है ॥ ३ ॥

(३८) रमैनी।

यह विधि कहौं कहा नहिं माना। मारग मांह पसारिनि ताना
राति दिवस मिलि जोरिन्हि तागा।
ओटत कातत भरम न भागा ॥१॥
भरमै सभ घट[1] रहल समाई। भरम छांड़ि कतहूँ नहि जाई।
परै न पूरि दिनहुँ दिन छीना। तहां जाय जहां अंग बिहूना॥
जो मत आदि अंत चलि आया।

१. पा :–म, म, जग।

सो मत सभ उन्ह प्रगट सुनाया ॥३॥
इहै संदेस फुरकै मानिन्हि, लीन्हो सीस चढ़ाय।
संतो संतोष सुष है, रहहु तो हृदिया जुड़ाय ॥४॥

शब्दार्थ—फुर = सत्य।

[भ्रम-बंधन]

टीका :—पूर्वोक्त प्रकार से मैं सब को कहता हूं, परन्तु अज्ञानी लोग मेरे कहने को नहीं मानते हैं। और वे लोग संसार के मार्ग में अनेक सकाम कर्म रूप सूत का ताना फैलाये रहते हैं। कर्म रूप सूत के तागे को वे रातदिन मिल कर जोड़ते रहते हैं और कपास को औटते हुए और सूत को कातते हुए अर्थात् अनेक विधि-विधान करते हुए उनका भ्रम दूर नहीं भागता है ॥१॥ भ्रम-बंधन में सब लोग पड़े हुए हैं। ये लोग भ्रम को छोड़ कर अलग कहीं नहीं जाते हैं। इनको स्वरूप—प्राप्ति रूप पूर्णता नहीं प्राप्त होती है; किन्तु दिन दिन इनका ज्ञान क्षीण होता जाता है। और ये जहां जाते हैं वहां अंगहीन हो जाते हैं। अर्थात् इनके स्वरूप की हानि हो जाती है ॥२॥ जो सार मत आदि से अन्त तक चला आया है, उसको उन सन्तों ने पूरी तरह प्रगट करके सुना दिया है ॥३॥ उस संदेश को समझ कर आप लोग शिर में चढ़ा लें। हे संतो ! संतोष में सुख है। यदि आप संतोष में रहेंगे, तो आपका हृदय शीतल हो जायगा ॥ ४ ॥

भावार्थ :—निजपद की प्राप्ति के बिना परमानन्द नहीं मिल सकता है।

(३९) रमैनी।

जिन्ह कलमा कलि मांह पढ़ाया।
कुदरति षोज तिनहुँ नहिपाया।
करमत करम करै करतूता। बेद कितेब भया सभ रीता ॥१॥
करमत सो जु गरभ अवतरिया।
करमत सो जो नाम[1] जाके धरिया।

[1]. पा०—त, र, ल, निमाज है।

करमत सुन्नति और जनेऊ। हिंदू तुरुक न जाने भेऊ ॥२॥
पानी पौन संजोय कै, रचिया ये उत्पात।
सुन्नहि सुरति समाय कै, कासों कहिये जाति ॥३॥

शब्दार्थ---पानी = वीर्य। संजोय कै = मिला करके।

(यवनमत और कर्म--बन्धन)

टीका--जिन्होंने कलियुग में कलमा पढ़ाया उन मुहम्मद साहब को भी माया का पता नहीं लगा। हिन्दू और मुसलमान अपने २ मत के अनुसार बलिदान आदिक कर्म करते हैं। इसी लिए वेद और क़ुरान उनके लिए सब निष्फल हो गये हैं ॥१॥ कर्मों ही के द्वारा जीवात्मा गर्भ में अवतार लेता है और कर्मों ही के द्वारा 'नामकरण' आदिक षोडश संस्कार कराये जाते हैं। सुन्नतिं और यज्ञोपवीत आदि संस्कार भी कर्म ही हैं। इस भेद को हिन्दू और तुरुक नहीं जानते हैं ॥२॥ वीर्य और प्राण के सम्बन्ध से से शरीरादिक रचे गये हैं; परन्तु अज्ञानियों ने असार कर्मजाल में अपना खयाल लगा रखा है। ऐसी दशा में किस किसको समझाया जाय ! ॥ ३ ॥

भावार्थ---कर्म अप्रधान अतएव परतन्त्र हुआ करते हैं, और कर्ता प्रधान एवं स्वतंत्र हुआ करता है; अतः कर्ता (चेतनात्मा) की महिमा को समझ कर बन्धनकारक कर्मों से दूर रहना चाहिये।

[४०] रमैनी।

आदमै आदि सुधी न हिपाई। मामा हवा कहां ते आई।
तब नहि होते तुरुक औ हिंदू। माय के रुधिर पिता के बिंदू॥
तब नहि होते गाये कसाई। तब बिसमिल्लह किन फरमाई।
तब नहि होते कुल औ जाती। दोजक भिस्त कवने उतपाती॥
मन-मसले की सुधी न जानै। मति भुलान दुइ दीन बषानै।
संजोगेका गुन रवै, बिजोगे का गुन जाय।
जिभ्या स्वारथ कारने, नल कीन्हेउ बहुत उपाय ॥४॥

शब्दार्थ – हवा = हव्वा, आदम की स्त्री। दोजक = नर्क। भिस्ति = स्वर्ग। उतपाती = उत्पन्न किये। रवै = क्रि. [सं.] प्रशंसा, कथन। उ० 'रवै दोस गुन निश्चय ताके'। च०।

(आदि–कथा)

टीका–मुसलमानों के आदम साहब ने भी सृष्टि के आदि की खबर नहीं पाई। उनको यह मालूम नहीं हुआ कि, मामा (पवित्र) हव्वा (आदम की स्त्री) कहां से आई? सृष्टि के आदि में न तुरुक थे न हिन्दू थे। न माता का रज था, न पिता का वीर्य था ॥१॥ उस समय न गाय थी, न कसाई थे। तब भला, "बिसमल्लाह अर्रहिमान अर्रहिम" यह कलमा किसने फरमाया? उस समय न कुल था, न जाति थी। ऐसी स्थिति में नर्क और स्वर्ग को किसने उत्पन्न किया? ॥२॥ मन की कल्पना की खबर इन्होंने नहीं जानी। इसी कारण भूल में पड़कर हिंदू–धर्म और मुसलिम–धर्म का वर्णन किया है ॥३॥ संयम से सद्गुणों की वृद्धि होती है और इन्द्रिय–परायणता से गुणों का ह्रास होता है। पशुओं के मांस के द्वारा जिभ्या के स्वाद लेने के लिए लोगों ने बलिदान और कुर्बानी के रूप में बहुत से उपाय बना लिये हैं ॥४॥

भावार्थ–धर्मध्वजी (स्वार्थी) लोग अपने अपने पाखंडों को निज धर्म बतला कर स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं।

(४१) रमैनी।

अंबु के रासि समुद्र की षाई। रवि ससि कोटि तैंतिसो भाई।
भौंर जाल में आसन मांड़ा। चाहत सुष दुष संग न छांड़ा।१॥
दुष के मरम काहु नहि पाया बहुत भांति कै जग बौराया।
आपुहि बाउर आपु सयाना। हृदया बसै तेहि राम न जाना॥
साखी–तेई हरि तेई ठाकुर, तेई हरि के दास।
ना जम भया न जामिनी, भामिनी चली निरास ॥३॥

शब्दार्थ – जामिनी = जमानत लेनेवाली। भामिनि = स्त्री।

(अज्ञान-अंधकार)

टीका-संसार रूपी सागर की खाई में शरीर रूपी पानी की राशि पड़ी हुई है। इतना ही नहीं, हे भाइयो ! सूर्य, चन्द्रमा और तैंतीस कोटि देवता भी उसमें पड़े हुए हैं। अज्ञानी लोगों ने संसार के भंवर-जाल में आसन लगा रखा है। वे चाहते तो सुख हैं; परन्तु दुःख उनका साथ नहीं छोड़ता है ॥१॥ दुःख की असलियत को किसी ने नहीं समझा है। इसी कारण संसारी लोग अनेक प्रकार से भ्रम में पड़ गये हैं। यह आत्मा स्वयं बेसमझ और स्वयं समझदार है। यह हृदय में निवास करनेवाले रमैया राम को नहीं जानता है ॥२॥ अज्ञानी लोग इस बात को नहीं जानते हैं कि, वस्तुतः यही आत्मा हरि है, यही ठाकुर है, और यही हरि का दास भी है। इस प्रकार ज्ञान के हो जाने से यमराज जीवात्मा की जमानत नहीं लेता है और माया भी निराश होकर चली जाती है॥ ३ ॥

भावार्थ-ज्ञान-प्राप्ति से अज्ञानादि की निवृत्ति और आत्म-लाभ होता है।

(४२) रमैनी।

जब हम रहलि रहल नहि कोइ। हमरे मांह रहल सभ कोई।
कहु हो राम कवन तोरि सेवा। सो समुझाय कहहु मोहि देवा।
फुर फुर कहौं मारु सभ कोई। झूंठ हि झूंठा संगति होई।
आंधर कहै सभै हम देषा। तहां दिठियार बैठि मुख पेषा॥२॥
यहि विधि कहौं मानु जो कोई। जस मुष तस जो हृदया होई।
कहंहिं कबीर हंस मुसकाई। हमरे कहले छुटिहहु भाई॥३॥

शब्दार्थ - दिठियार = देखने वाला।

(आदि रहस्य)

टीका-सृष्टि के पहले आत्मा अकेला था। उस समय यह कोई पसारा नहीं था। किंतु उसीके भीतर सब कुछ था। (सूचना-इस जगह हम शब्द आत्मा का बोधक है)। हे राम ! ऐसी स्थिति में तुम्हारी कौनसी सेवा-पूजा थी ?

सो हे देव ! वह मुझसे समुझा कर कहो ? ।।१।। यदि मैं सच सच कहता हूँ तो सब कोई मारते हैं । ठीक है, झूठे का झूठे ही साथ मेल होता है । अंधा कहता है कि, मैं सब कुछ देख रहा हूं; परन्तु वहां आंखोंवाला बैठा हुआ उसका मुंह देखता है कि, यह क्या कह रहा है ! ।।२।। यदि कोई मानै तो मैं इसी प्रकार सब को कहता हूं । मनुष्य को चाहिए कि, जैसी कहै वैसे ही करै । कबीर साहेब हंसों को अर्थात् जिज्ञासुओं को मुसकरा कर कहते हैं कि, हे भाइयो ! हमारे उपदेश से ही आप सब का छुटकारा होगा ।।३।।

भावार्थ—आत्म-कैवल्य ज्ञान से मुक्ति होती है ।

(४३) रमैनी ।

जिन्ह जिउ कीन्ह आपु बिसबासा ।
नरक गये तेहि नरकहिं बासा ।

आवत जात न लागै बारा । काल अहेरी सांझ सकारा ।।१।।
चौदह विद्या पढ़ि समुझावे । अपना मरन कै षवरि न पावै ।
जाने जिवको परा अंदेसा । झूठहि आये कै कहा संदेसा ।२।
संगति छांड़ि करै असरारा । उबहै मोट नरक कै भारा ।।३।।
साखी—गुरुद्रोही औ मनमुखी, नारी पुरुष विचार ।
ते नल चौरासी भरमि हैं, जो लगि चंद दिवाकार ।।४।।

शब्दार्थ—आपु = मन के अधीन हुए । जानै = चतुर । अंदेसा = शोक । उबहै = ढरकाता है । मोट = चमड़े की मोट ।

(स्वेच्छाचारिता)

टीका—जो लोग अपने जी में अपना विश्वास करके मन के अधीन हो जाते हैं वे नरक में चले जाते हैं और उनका नरक ही में निवास होता है । जीवात्मा का जन्म-मरण हुआ ही करता है; क्योंकि कालरूपी बधिक सबेरे और शाम सदैव इसके पीछे लगा रहता है ।।१।। पंडित लोग चौदहों विद्याओं को स्वयं पढ़ते हैं और औरों को समझाते हैं; परन्तु अपने मरने का पता उनको नहीं

लगता है। चतुर लोगों को भी संशय हो जाता है। इसी कारण वे झूठा संदेशा दूसरों को कहते हैं ॥२॥ जो सत्संगति को छोड़ कर दुष्टता करता है वह नरक से भरी हुई चमड़े की भारी मोट को ढरकाता है अर्थात् अपना अपशय फैलाता है ॥३॥ जो गुरुद्रोही हैं और मनमुखी हैं, वे स्त्री हों, चाहे पुरुष हों; चौरासी में तबतक भटकेंगे जबतक कि संसार में सूर्य और चन्द्रमा रहेंगे ॥ ४ ॥

भावार्थ—गुरु के बिना संशय नहीं मिटता है।

(४४) रमैनी।

कबहुं न भयउ संग औ साथा। ऐसो जनम गमायहु आछा।
बहुरि न पैहो ऐसो ठामा। साधु संगति तुम नहि पहिचाना ॥१॥
अब तोर होये नरक महं बासा। निशुदिन रहेउ लबार के साथा
साखी—जात सभनि कै देषिया, कहंहिं कबीर पुकार।
चेतवा होय तो चेतहू, नहि तो दिवस परतु है धार ॥३॥

शब्दार्थ—ठामा = जगह, स्थान। लबार = वि० [सं० लपन = बकना] झूठा, मिथ्यावादी, गप्पी, प्रपंची। उ०—'बालि कबहु न गाल अस मारा। मिलि तपसिन्ह तै भएसि लबारा'। तु०। धार = डाका, लूट।

(उद्बोधन—चेतावनी)

टीका—तुमने सन्त और सद्गुरु को संगी और साथी कभी नहीं बनाया। तुमने अपना अच्छा जन्म ऐसे ही खो दिया। ऐसा नरतन रूपी स्थान तुमको फिर जल्दी नहीं मिलेगा। तुमने साधु-सङ्ग की पहिचान नहीं की ॥१॥ अब तुम्हारा नरक में निवास होगा; क्योंकि तुमने रातदिन झूठे मन के पास निवास किया है ॥२॥ कबीर साहेब पुकार कर कहते हैं कि, हमने खाली हाथों सभी को जाते हुए देखा है। इसलिए चेतना हो तो चेत जाओ। देखो, दिन में ही डाका पड़ रहा है अर्थात् देखते २ संसार लूटा जा रहा है ॥४॥

भावार्थ—सत्सङ्ग से सन्मार्ग मिलता है।

(४५) रमैनी।

हिरनाकस रावन गौ कंसा। क्रिस्न गये सुर-नर मुनि बंसा।

ब्रह्मा गये मरम नहिं जाना । बड़ सभ गैल जे रहल सयाना ।१।
समुझि ना परल राम की कहानी ।
निरबक दूध की सरबक पानी ।
रहि गौ पंथ थकित भौ पवना ।
दसहुं दिसा उजारि भौ गवना ॥ २ ॥
मीन जाल भौ ई संसारा । लोहा कै नाव पषान कै भारा ।
षेवै सभै मरम हम जानी । तइयो कहै रहै उतरानी ॥३॥
साखी-मछरी मुष जस केंचुवा, मुसवन मुंह गिरदान ।
सरपन मांह गहेजुवा, ऐसे जात देषी सभनि की जान । ४॥

शब्दार्थ—हिरनाकस = हिरण्याक्ष । निरबक = केवल, खालिस । सरबक = सब । पवना = श्वास । मीन–जाल = मछलियों के फँसाने का जाल । केंचुवा = लंबे २ बरसाती कीड़े । गिरदान = गिरगट । गहेजुवा = छुछुन्दर । जान = जीव ।

[संसार की अनित्यता और अज्ञानता]

टीका—हिरण्याक्ष, रावण और कंस चल बसे । और कृष्णचन्द्र, सुर, नर और मुनि वंशवाले भी चले गये । ब्रह्माजी कहां चलेगये ! जिनका पता नहीं लगा । और जो चतुर सयाने थे वे भी सब बड़े २ चले गये ॥१॥ संसार की अनित्यता की रामकहानी किसीकी समझ में नहीं आई, कि यह संसार खाली दूध है कि सबका सब पानी ही है । रास्ता पड़ा रह गया और पवन थक गया । अर्थात् कर्तव्य कार्य ज्यों के त्यों रह गये और श्वासा बंद हो गयी । इस प्रकार दशों दिशाओं को शून्य करके जीव चला गया ॥२॥ यह संसार मछलियों के फँसाने का जाल बन गया । अर्थात् बन्धन–कारक हो गया । लोहा की नाव में पत्थरों का भारी बोझा लदा हुआ है । अर्थात् अविद्यावाले कर्मों के भार को उठाये रहते हैं । स्वार्थी लोग अज्ञानियों से कहते हैं कि, हम तुमको संसार-सागर से पार कर देंगे । क्योंकि नौका खेने की कला हम ही जानते हैं । वस्तुतः अविद्या रूप नौका यात्रियों को लिए हुए डूबी जा रही है, तिस पर भी उक्त खेवैया

कह रहे हैं कि, देखिये, यह नौका कैसी तैरती हुई चली जा रही है ! यह कैसा आश्चर्य है ? ॥३॥ उक्त गुरुओं की वाणी–जाल में फँस कर अज्ञानी लोग इस प्रकार मारे जाते हैं. जिस तरह बंशी (कांटे) में लगाये हुए केंचुवे को अर्थात् लम्बे लम्बे बरसाती कीड़े को खाने से मछली मारी जाती है, और रंगीले गिरगट को सुन्दर फल समझ कर पकड़ने वाला चूहा अंधा बन कर मर जाता है। तथा छुछुन्दर को पकड़ने वाला सर्प कोढ़ी बन कर प्राण दे देता है ॥४॥ भाव यह है कि, मुक्ति चाहनेवालों को सद्गुरु की शरण में जाना चाहिये।

(४६) रमैनी।

बिनसै नाग गरुड़ गलि जाई। बिनसै कपटी औ सत भाई।
बिनसै पाप पुन्य जिन्ह कीन्हा।
बिनसै गुन निरगुन जिन्ह चीन्हा ॥१॥
बिनसै अगिन पौन औ पानी। बिनसै सिष्टि कहां ले गनी।
बिस्नु-लोक बिनसै छनमांहि। हौं देषा[१] परलय की छांही ॥२॥
साखी–मच्छरूप माया भई, जौरहि षेलै अहेर।
हरि हर ब्रह्मा ना ऊबरे, सुर नर मुनि केहि केर ॥३॥

शब्दार्थ—नाग = शेष। जवरहिं = संग रह कर। केहि केर = किस गिनती में है।

(शरीरों की क्षणभंगुरता)

टीका—शेषनागजी नष्ट हो गये और गरुड भी गल गये। कपट रखनेवाले और सत्यभाव रखनेवालों के भी शरीर नहीं रहते हैं। और पाप करनेवाले भी चले जाते हैं। और पुण्य करनेवाले भी चले जाते हैं और सगुण और निर्गुण की पहचान करनेवाले भी नहीं रहने पाते हैं ॥१॥ अग्नि, पवन, और पानी भी नष्ट हो जाते हैं। कहाँ तक गिना जाय, सारी ही सृष्टि का नाश हो जाता है। सब से अधिक काल तक रहनेवाला विष्णुलोक भी क्षणमात्र

१. पाठा०—द, ठ, यह देषो।

में नष्ट हो जाता है। बस, साक्षीरूप से केवल चेतन ही अवशिष्ट रहता है। इसलिए वही प्रलय की छाया को देखता है ॥२॥ संसारसमुद्र में मायारूप भारी मच्छ पड़ा हुआ है। वह जीवात्मा के संग रह कर उसका शिकार खेलता है। उसके मारे विष्णु, महादेव और ब्रह्मा भी नहीं बचने पाते हैं, तो भला! सुर, नर और मुनिजन किस गिनती में हैं॥ ३ ॥

(४७) रमैनी

जरा-सिंधु सिसुपाल संघारा। सहसा अरजुन छल ते मारा।
बड़ छल रावन से हो गैल बीती। लंका रहल कंचन की भीती॥
जुरजोधन अभिमाने गयऊ। पंडो केर मरम नहि पयऊ।
माया के डिंभ गयल सभ राजा। उत्तिम मधिम बाजन बाजा।
छौ चकवै बीते धरनि समाना। एको जीव प्रतीति न आना।
कहां लौ कहौं अचेतहि गयऊ। चेत अचेत झगरा एक भयऊ॥

साखी—ई माया जग मोहनी, मोहिनि सभ जग झार।
हरिचंद सत के कारने, घर घर सोग बिकाय ॥४॥

शब्दार्थ—बड छल = बड़ा था। से हों = वह भी। माया के डिंभ = माया के पुत्र। चेत अचेत = ज्ञानी और अज्ञानी। छौ चकवै = छः चक्रवर्ती राजा।

(माया की प्रवलता और संसार की अनित्यता)

टीका—माया ने जरासंध और शिशुपाल का संहार करा डाला और सहस्त्रार्जुन भी छल से मारा गया। जो रावण बड़ा भारी था वह भी खतम हो गया, जिसकी लंका में सोने की दीवारे थीं ॥१॥ दुर्योधन अभिमान के कारण नष्ट हो गया और पांडवों का तो पता भी नहीं लगा। माया के पुत्र सब राजा चले गये, जो कि सुशासन और कुशासन के द्वारा सुयश और कुयश को फैलाने-वाले बाजा बजाते गये ॥ २ ॥ छः चक्रवर्ती राजाओं की विभूति धरातल में समा गई। परन्तु इस बात का विश्वास एक भी मनुष्य को नहीं आया! कहां तक कहा जाय, सबके सब अज्ञानदशा में चले गये। फिर भी ज्ञानी

और अज्ञानियों का वादविवाद होता ही रहता है। सूचना :—वेनु, बलि, कंस, दुर्योधन पृथु और त्रिविक्रम; ये छः चक्रवर्ती राजा हुए हैं॥ ३॥ यह माया जगत को मोहनेवाली है। इसलिए सारे संसार को इसने मोह लिया है। अर्थात् माया ने सब को संकट में डाल दिया है। देखो, राजा हरिश्चन्द्र भी सत्य की रक्षा के लिये सपरिवार अपने आपको बेचने के निमित्त शोक से व्याकुल होकर काशीपुरी की गली २ और घरों २ में भटके थे ॥४॥

(४८) रमैनी।

मानिक पुर कबीर बसेरी। मद्दूति सुनी सेषतकि केरी।
ऊजे सुनी जवनपुर थाना। झूंसी सुनी पीरन्ह के नामा॥१॥
एकइस पीर लिषे तेहि ठामा। षतमा पढ़ै पैगम्बर नामा।
सुनी बोल मोहि रहा न जाई। देषि मुकरबा रहा भुलाई॥२॥
हबी नबी नबी को कामा। जहां ले अमल सो सभै हमारा।३।
साखी—सेष अकरदी सेष सकरदी, मानौ बचन हमार।
आदि अंत औ जुग जुग, देखहु दिष्टि पसार॥४॥

शब्दार्थ—मद्दूति = प्रशंसा। सेषतकि = सुप्रसिद्ध फकीर। षतमा = प्रार्थनाविशेष। मुकरवा—कब्र, समाधि। अमल = साधन। अकरदी, सकरदी = इस नाम के दो मुसलमान नेता थे।

(यवनमत—विचार, उपदेश और प्रचार)

टीका—मानिकपुर में कबीर साहेब का निवास था। वहाँ पर उन्होंने सुप्रसिद्ध फकीर शेखतकी की प्रशंसा सुनी। (सूचना—जबलपुर लाईन में मानिकपुर नामक का कसवा है। कबीर साहेब ने कुछ दिनों तक वहां निवास किया था)। और जवनपुर थाने में पीरों के नाम सुने गये। क्योंकि जवनपुर और झूंसी में भी पीर लोग बहुत रहा करते थे॥१॥ उन दिनों मुकामों में एकईस पीरों के नाम लिखे हुए थे। इस कारण मुसलमान लोग वहाँ पर पैगम्बरों के नाम का खुतवा (प्रार्थना) पढ़ रहे थे। उन सब की इन वाणियों को सुन

कर मुझ से रहा नहीं गया। मैंने कह दिया कि, आप लोग कबरों को देख कर ही भूले हुए हैं ।।२।। सुनिये, नबियों (ईश्वर के दूतों अर्थात् मुसलमानों के अवतारों) और हबीबों अर्थात् खुदा के दोस्तों के जो कुर्बानी वगैरह काम हैं और जहां तक उनके अमल हैं अर्थात् खुदा के मिलने के साधन कुर्बानी वगैरह हैं; वे सब अपवित्र हैं ।।३।। हे अकर्दी और सकर्दी नाम के शेखजी ! तुम हमारे वचन को मानो और संसार के आदि और अंत को तथा अनेक युगों के व्यवहारों को दृष्टि खोल कर देखो ।।४।।

भावार्थ—सातवें आसमान पर रहनेवाले झूठे खुदा से मिलने के लिये हाजिर-नाजिर सच्चे खुदा जीवात्मा चेतनदेव को सताना दीन [धर्म] नहीं कहा जा सकता है। "जीतेजी मुरदा कर डाला, तासे कहत हलाल हुआ।" "ऐ रे मूरख नादाना। तैंने हरदम साहब ना जाना।" (बीजक)

(४६) रमैनी।

दरकी बात कहो दरबेसा। बादशाह[१] है कवने भेषा।
कहां कूंच कहां करै मुकामा। मैं तोहि पूछौं मूसलमाना।
लाल जरद की नाना बाना। कवन सुरति के करहु सलामा।
काजी काज करहु तुम कैसा। घर घर जवह करावहु बैसा[२] ।२।
बकरी मुरगी किन फरमाया। किसके कहे तुम छुरी चलाया।
दरद न जानहु पीर कहावहु।
वैता पढ़ि पढ़ि जग समुझावहु[३] ।।३।।
कहैं कबीर एक सयद कहावै। आपु सरीषे जग कबुलावै ।।४।।
साखी—दिन धरतु हो रोजा, राति कुहत हो गाय।
ई खून वोह बंदगी, क्यों कर षुसी षोदाय ।।५।।

शब्दार्थ—दर = पता। दरबेसा = फकीर। बादशाह = खुदा। कूंच = यात्रा। मुकामा = स्थान। जरद = पीला। नाना = विचित्र, बहुरूप।

---

१ पाठा त, थ, पातसाह ।। २ भैंसा, द बैठा द, घ।
३ न भरमावहु।

जब्ह = काटना, हलाल। बैता = उर्दू के शैर, शब्द। सयद = मुसलमान। बुहावे = वहाबी सम्प्रदाय–मुसलमानी। कुहत = छुरी से गोदना, मारना।

(मुसलमानों से प्रश्न)

टीका–हे फकीरजी ! खुदा के पते की बात कहिये कि, उस खुदा का कौन सा भेष है ? वह कहां यात्रा करता है और कहाँ पड़ाव डालता है ? हे मुसलमानों ! मैं तुमसे यह बात पूछता हूं ॥१॥ वह खुदा लाल रंग का है, पीले रंग का है या बहुत से रंगवाला है ? आप लोग किस सुरत, शकल को सलाम करते हैं ? हे काजियो ! तुम कैसा काम करते हो कि, घरोंघर तुम लोग बैठकर गाय वगैरह की कुर्बानी कराते हो ? ॥२॥ बकरियों और मुर्गियों की कुरबानी करने के लिए किसने आज्ञा दी है ? और किसके हुकुम से तुमने उनके गले पर छुरी चलाई है ? कहलाने को तो आप लोग पीर कहलाते हो; परन्तु पशुओं के दिलों के दर्द को नहीं जानते हैं। और व्यर्थ ही शैर पढ़कर दुनियां को समझाते हैं ॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि, एक सैयद जाति के वहाबी सम्प्रदाय के मुसलमान होते हैं वे अपनी मानन्दी के अनुसार बर्ताव करने के लिए दूसरों से भी कबूल कराते हैं। भाव यह है कि, सैयद जाति के मुसलमान विशेषतया औरों को बलात्कार से मुसलमान बना लेते हैं ॥४॥ आप लोग दिन भर रोजा रखते हैं और रात को गाय की कुर्बानी करते हैं। भला, गाय का भारी खून करना और वह रमजान की छोटी सी बंदगी इन सब बातों को देख कर खुदा आप लोगों पर कैसे खुश हो सकता है ? भाव यह है कि, सूर्योदय से सूर्यास्त तक भूखे रह जाना कोई भारी इबादत नहीं है। तिस पर भी निरपराध खुदा की दी हुई सब से बड़ी नियामत गाय को मटियामेट कर देना कितना बड़ा अपराध है ! भला, बतलाइए, खुदामियां खुश होवें तो कैसे होवें ? भजन–"अहरन की चोरी करे, सूई का दान रे।

ऊपर चढ कर मूरख देखे, कब आवे बीमान रे" ॥ ५ ॥

भावार्थ–सभीं पर रहम करने सेखुदा खुश रहता है।

(५०) रमैनी।

कहइत मोहि भयल जुग चारी। समुझत नाहि मोर सुत नारी।

बंसहि आगि लगि बंसहि जरिया ।
भ्रम भुलान नल धंधे परिया ॥१॥
हस्ती के फंदे हस्ती रहई । म्रिगाके फंदे मिरगा रहई ।
लोहै लोह जस काट सयाना । त्रियाके तत्तु त्रिया पै जाना ।२।
साखी–नारि रचंते पुरुषा, पुरुष रचंते नार ।
पुरुषहि पुरुषा जो रचै, ते बिरले संसार ॥३॥

शब्दार्थ—धंधे = कर्म—बंधन । रचै · प्रेम करना ।

(मोह–महिमा)

टीका—मुझे समुझाते हुए चार युग बीत गये; परन्तु सुत और नारी के मोह में पड़े हुए अज्ञानी लोग नहीं समझते हैं । "गर्भ एव वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च" । अर्थात् मैं मनु और सूर्य हुआ था, इत्यादिक वामदेव के कथन के अनुसार कबीर साहेब का भी यह कथन आत्मदृष्टि से है, देहदृष्टि से नहीं । सूत्रः—'आत्मदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (वेदान्तदर्शन) । देखो, बांसों में आग लगने से बांस जल जाते हैं और भ्रम में भूले हुए नर कर्मों के बन्धन में पड़ जाते हैं ॥१॥ हस्तिनी के फन्दे में हाथी फंस जाता है और मृगी के फंदे में मृग पड़ जाता है । सयाने लोग लोहे से लोहे को काटते हैं और स्त्रियों के स्वभाव को स्त्रियाँ ही जानती हैं ॥२॥ पुरुष स्त्रियों से प्रेम करते हैं और स्त्रियाँ पुरुषों से प्रेम करती हैं; परन्तु जो पुरुष पुरुषों से प्रेम करते हैं वे थोड़े हैं । अर्थात् आत्माराम (आत्मा से रमण करनेवाले) बिरले हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ– मोहांधकार में पड़े हुए लोग परमार्थ–पथ से विचिलित हो जाते हैं ।

(५१) रमैनी ।

जाकर नाम अकहुवा रे भाई । ताकर काह रमैनी गाई ।
कहेके तातपर्ज है ऐसा । जस पंथी बोहित चढ़ि बैसा ॥१॥

है किछु रहनि गहनि की बाता । बैठा रहै चला पुनि जाता ।
रहै बदन नहि स्वांग सुभाऊ। मन अस्थिर नहिं बोलै काऊ ॥२॥
साखी—तन रहित मन जात है, मन रहित तन जाय ।
तन मन एकै होय रहै, तब हंस कबीर कहाय ॥३॥

शब्दार्थ—अकहुवा = कहने में नहीं आनेवाला। रमैनी, कथा, वर्णन ।

(अकथकथा और ज्ञानियों के लक्षण)

टीका—हे भाई ! जिसका नाम कहने में नहीं आनेवाला है उसका वर्णन क्या किया जाय ? कहने का सारा सिद्धान्त अर्थात् तत्त्वपद पर आरूढ होना ऐसा है कि, जैसे कोई यात्री नाव पर चढ़ कर बैठ जाता है ॥१॥ यह दृढ़ धारणा की महिमा है कि, नौका पर बैठा हुआ मनुष्य लोगों की दृष्टि से बैठा हुआ है, परन्तु नहीं, वह बराबर चला जा रहा है । ज्ञानियों को देहाध्यास नहीं होता है, उनका मन स्थिर होता है; इसलिये वे किसी से अधिक नहीं बोलते हैं ॥२॥ अज्ञानियों का चित्त सदैव क्षिप्तादि भूमिकावाला रहता है । इस कारण उनका शरीर कहीं और मन कहीं रहता है । और कभी मन कहीं और शरीर कहीं रहता है; परन्तु ज्ञानियों की दशा ऐसी नहीं होती है । उनकी चित्त-वृत्ति तो आत्ममुख रहा करती है । ऐसी धारणावालों को ही हंस कबीर और ज्ञानी कहते हैं ॥३॥

भावार्थ – 'जस बाहर तस भीतर जाना । बाहर भीतर एक समाना ॥'

(५२) रमैनी ।

जेहि कारन सिव अजहुं वियोगी । अंग भभूति लाय भौ जोगी ।
सेस सहस्र मुष पार न पावै । सो अब षसम सही[1] समुझावै ।१।
ऐसी विधि जो मोकहं धावै । छठये[2] मांह सो दरसन पावै ।
कवनेहु भाव दिषाई देऊं । गुप्ते रहौं सुभाव सभ लेऊं ॥२॥
साखी—कहहिं कबीर पुकारि कै, सभ का इहै बिचार ।
कहा हमार मानै नहीं, तो कैसे छूटै भ्रम-जाल ॥३॥

१ पाठा०- फ० ब, सहित । २ पा०--छठवा माह सुदर्शन ।

शब्दार्थ—षसम = इष्ट आत्मदेव। ऐसी = पूर्वोक्त धारणा से। छठये = शुद्धान्तःकरण। कवनेहु = सहज भाव से।

टीका—जिस आत्म-साक्षात्कार के लिए शिवजी अभीतक वियोगी बने हुए हैं और शरीर में भस्म लगाकर योगी बने हुए हैं। सहस्र-मुख से गायन करने पर भी शेषजी जिसकी महिमा का पार नहीं पाते हैं। यह इष्ट आत्म-देव अब ठीक समझा रहा है ॥१॥ पूर्वोक्त धारणा से जो मेरा ध्यान करते हैं वे शुद्ध अन्तःकरण रूप मुकुर में चित्-प्रतिबिंब रूप दर्शन को पाते हैं। "दिल में खोज दिलहि में खोजो, यहीं करीमा रामा"। "हृदय बसे तेहि राम न जाना' (बीजक)। मैं सहज भाव से उसे दर्शन दे देता हूँ और गुप्त रूप से उसके सब संशय, कर्मादिक स्वभाव निवृत्त कर देता हूं। "भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे' ॥ इतिश्रुति ॥२॥ कबीर साहेब पुकार कर कहते हैं कि, मन की अधीनता रूप दशा सबों की वही है। हमारा उपदेश नहीं मानते हैं तो भला, भ्रम कैसे छूटे ? ॥३॥

भावार्थ—अन्तर्मुख वृत्ति आत्म-साक्षात्कार में उपयोगिनी होती है।

(५३) रमैनी।

महादेव-मुनि अंत न पाया। उमा सहित उन जनम गंवाया।
उनहू ते सिध-साधक कोई। मन निस्चल[1] कहु कैसे के होई॥
जौ लगि तन महं आहै सोई। तौ लगि चेति न देषै कोई।
तब चेति हौ जब तजि हौ प्राना।
भया अयान तब मन पछिताना ॥२॥
एतना सुनत निकट चलि आई। मन के विकार ना छूटे भाई॥
साखी-तीनि लोक मुआ कौवाइ के छूटि न काहु की आस।
एक अंधरे जग षाइया, सभ का भया निपात ॥४॥

शब्दार्थ—सोई = प्राण।

---

१ पाठा०—च थ, अस्थिर।

(मन की प्रबलता)

टीका—महादेव मुनि ने भी मन का अंत नहीं पाया और मन के वश करने के लिए पार्वती के सहित उन्होंने सारी आयु बिता दी। संसार में उनसे बढ़कर सिद्ध और साधक कोई नहीं है; तो भला कहो, दूसरों का मन कैसे निश्चल हो सकता है? ॥१॥ जब तक तन में प्राण रहते हैं तबतक कोई चेत कर नहीं देखता है। तब चेतोगे जब कि प्राणों के निकलने की तैयारी होगी। जब अंत काल आता है तब मनुष्य मन में पछताने लगता है ॥२॥ इतने वेद, शास्त्र और पुराण आदिक सुनते हुए मृत्यु निकट में चली आई है; परन्तु हे भाइयो! तुम्हारे मन के विकार नहीं छूटे हैं ॥ ३ ॥ तीनों लोकों में आनेवालों में से किसी की आशा नहीं छूटी है। एक अंधे मन ने संसार को खा डाला है। इस कारण सब का नाश हो गया है। "एकल निरंजन सकल सरीरा। तामें भ्रमि भ्रमि रहल कबीरा"। (बीजक)

भावार्थ—संक्षुब्ध मनो-महोदधि में चिचन्द्रांशु प्रतिफलित नहीं होते। "जब दरसन करना चाहिये, तब दरपन मांजत रहिये। दरपन में लागी काई, तब दरस कहां ते पाई" ॥

[५४] रमैनी।

मरि गये ब्रह्मा कासी के बासी। सीव सहीत मुये अबिनासी।
मथुरा के मरि गये क्रिस्न गुवारा। मरि मरि गये दसौ औतारा।
मरि मरिं गये भगति जिन्ह ठानी।
सरगुन महं जिन्ह निरगुन आनी ॥२॥
साखी-नाथ मछंदर छूटे[1] नहीं, गोरष दत्ता व्यास।
कहंहिं कबीर पुकार के, ई सभ परे काल के हाथ ॥३॥

शब्दार्थ—अविनासी = देवादिक। गुवारा = सं. पु. (सं. गो+पाल), अहीर। एक जातिविशेष जो गौपालन का कार्य करती है।

(शरीरों की अनित्यता और काल की प्रबलता)

टीका—ब्रह्माजी मर गये और काशी के निवासी शिवजी, अमर कहाने

---

१ पाठा०—ट, ठ, बाचे नहीं।

वाले देवादिकों के सहित मर गये। और मथुरा के कृष्ण गोपाल मर गये और दशों अवतार मर गये। विशेष २ गुणों के अभिमानी होने के कारण गुणों का स्वकारण में (साम्यावस्थापत्ति रूप) लय होना ही देवादिकों का मरण है। अमर संज्ञा तो चिरंजीवी होने से है ॥१॥ जिन्होंने भक्ति की स्थापना की वे भी मर गये और जिन्होंने सगुण भक्ति में निर्गुण भक्ति का अन्तर्भाव किया वे भी मर गये। मछन्दरनाथजी काल के हाथ से नहीं छूटे और गोरखनाथजी, दत्तात्रेय, व्यासजी भी नहीं छूटे। कबीर साहेब पुकार कर कहते हैं कि, ये सब काल के फंदे में पड़ गये ॥ ३ ॥

भावार्थ – झूठी अमरता को छोड़कर सच्ची अमरता (मुक्ति) पाने के लिए पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

(५५) रमैनी।

गये राम औ गये लछमना। संग न गै सीता अस धना[1]।
जात कौरवहि लागु न बारा। गये भोज जिन्ह साजल धारा॥
गये पंडौ कुंता ऐसी रानी।
गये सहदेव जिन्हि बुधि मति ठानी।
सरब सोने के लंक उठाई। चलत बार किछु संग न लाई॥२॥
जाकर कुरिया अंतरिछ ले छाई। सो हरिचंद देषल नहि जाई।
मुरषा-मनुषा बहुत संजोई। अपने मरे अवरि लागि रोई॥३॥
ई ना जाने अपनेहुं मरि जैबे। बिढ़ै टका[2] दस अवर ले पैबे॥४॥

साखी–अपनी अपनी करि गये, लागि ना काहु की साथ।
अपनी करि गै रावना, अपनी दसरथ नाथ॥५॥

शब्दार्थ–धना = पतिव्रता स्त्री। धारा = धारानगरी, भोज की राजधानी। उठाई = बनवाई। संजोई = संचय करता है। बिढ़ै = क्रि. सं. [हिन्दी, बढाना], कमाना, संचय करना, इकट्ठा करना।

१ पा०–ड, ढ, धन्या।° २ पाठा०–प, फ, टका दस बिरहे।

(संसार की अनित्यता)

टीका—रामचन्द्रजी चले गये और लक्ष्मण भी चले गये; परन्तु सीता ऐसी पतिव्रता स्त्री भी उनके साथ नहीं गई। (सूचना—"धन" और "धनिया" ये शब्द संस्कृत शब्द 'धन्या' के रूपान्तर हैं)। कौरवों को जाते हुए देरी नहीं लगी। और जिन्होंने धारानगरी को सजाया था वे भोजराजा भी चल बसे ॥१॥ पंडु राजा चले गये और कुन्ती जैसी रानी भी चली गई और जिसने बुद्धि और मति को लगाया था ऐसे सहदेव जी चले गये। (सूचना—'बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागाभिगोचरा। बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते'॥ अर्थात् वर्तमान उपाय को सुझानेवाली 'बुद्धि' कहलाती है और आगामी उपाय को सुझानेवाली 'मति' कहलाती है। और जिसमें नये २ भावों की स्फुरना हो उसे 'प्रतिभा' कहते हैं)। जिस रावण ने सारी लंका को सोने की बनवाई थी, उसने भी चलते समय अपने साथ कुछ नहीं लिया ॥२॥ जिसका महल आकाश तक पहुँचा हुआ था, वह हरिश्चन्द्र राजा देखने में नहीं आता है। मूर्ख मनुष्य बहुत संचय करता है। वह अंत के समय स्वयं तो मरने की तैयारी में रहता है; परन्तु दूसरों के लिए रोने लगता है ३॥ वह यह नहीं जानता है कि, मैं तो स्वयं ही मर जाऊँगा; परन्तु सोचता है कि, सूद से दश टके मिले,तो खूब काम चले। (सूचना—'बिढै' यह शब्द संस्कृत वृद्धि या वृद्धयैका रूपान्तर है) ॥४॥ सब अपनी-अपनी करनी कर के चले गये 'परन्तु माया किसी के साथ नहीं लगी। रावण अपनी करनी करके चला गया और दशरथजी या रामजी भी अपनी करनी करके चले गये ॥५॥

भावार्थ—संसार को असार समझ कर सार की खोज में लग जाना चाहिये।

(५६) रमैनी।

दिन दिन जरै जलनि के पांऊ। गाड़े जाय ना उमगै काऊ।
कंधन दै मसखरी करई। कहु धौं कौनि भांति निसतरई॥१॥
अकरम करै करम को धावै। पढ़ि गुनि वेद जगत्र समुझावै।
छूंछा परे अकारथ जाई। कहहिं कबीर चित चेतहु भाई॥२॥

शब्दार्थ—उमगै = क्रि. अ. [हि. उमग+ना], उमरना, निकलना। कंधन = सहारा। कहुधौं = कहो तो भला। छूंछा = खाली ही रह जाते हैं। वि. [सं. तुच्छ]। छूंछा = खाली, रिक्त, निष्फल। उ० – 'सो सब कीन विना तव पूछे। ताते परे मनोरथ छूंछे'। तु०।

(वञ्चक–गुरुओं की वञ्चकता)

टीका—त्रितापाग्नि से संतप्त अज्ञानी वञ्चक गुरुओं के वचनानल में पड़कर दिनोंदिन अधिकाधिक जलते रहते हैं। जिनको जिनको उनने अज्ञानता रूपी गढे में गाड़ा है, उनमें से कोई नहीं उभरा। वे अपने शिष्यों को सत्य—उपदेश रूपी सहारा नहीं देते हैं। उलटे उनकी प्रतारणारूपी ठठोली करते हैं। भला कहिये ऐसी स्थिति में उन शिष्यों का कैसे उद्धार हो सकता है? ॥१॥ वे वेदों को पढ़ सुनकर जगत को समुझाते हैं परन्तु दूसरों को धर्मका उपदेश देते हुए स्वयं पापों का आचरण करते रहते है। ऐसे गुरुओं के उपदेशों को मानने-वाले ज्ञान से खाली रह जाते है और उनका नरतन व्यर्थ चला जाता है। कबीर साहेब कहते है कि, हे भाइयो! तुम अपने चित्त में चेत करो॥ २॥

भावार्थ– 'कनफुक्के गुरु हद्द के, बेहद के गुरु और।
बेहद के गुरु जब मिलै, लगै ठिकाने ठौर'॥

(५७) रमैनी।

क्रितिया–सूत्र लोक एक अहई। लाष पचास के आयू कहही।
विद्या वेद पढ़ै पुनि सोई। बचन कहत परतच्छै होई ॥१॥
पहुंची बात विद्या के पेटा। बाहु के भरम भया सकेता[1] ॥२॥
षग षोजन कहं तुम परे, पीछे अगम अपार।
बिनु परिचै कैसे जानि हो, कबीर झूठा है हंकार[2] ॥३॥

शब्दार्थ – क्रितिया–सूत्र = कच्चे सूत के। सकेता = तंग।

(स्वर्गलोक का विचार)

टीका – स्वर्ग लोक कच्चे सूत के समान विनश्वर है और वह अपने ही

[1] पा०–ज, व, संकेता। [2] स, ष, संसार।

कर्मों से पैदा होता है। तिस पर भी उसकी महिमा कर्मवादियों ने बहुत कुछ गाई है। उनका कथन है कि, स्वर्गवासियों की आयु सहस्रों दिव्य वर्ष की होती है। कर्मकांडी सदैव कर्मोपयोगो तथा स्वर्गादि-प्रतिपादक-"स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि विधि-वाक्यों का ही परिशीलन करते रहते है। और स्वर्ग-सुख का वर्णन इस प्रकार करते है, मानो उन्होंने उसको प्रत्यक्ष ही कर लिया है ॥१॥ इस तरह बढ़ा चढ़ा कर कहने का परिणाम यह होता है कि, सुननेवाले के हृदय में वक्ता के वचन स्थिर हो जाते है। और श्रोता को कठिन भ्रम-जाल में डाल देते हैं ॥२॥ हे भाइयों ! आप लोग कल्पनारूप आकाश में उड़ते हुए मन रूपी पक्षी के पीछे व्यर्थ ही दौड़ रहे हैं, क्योंकि साधन और परिचय के विना उसका पकड़ना असम्भव है। इसलिये कबीर साहेब कहते हैं कि, तुम्हारा अहंकार झूठा है ॥ ३ ॥

(५८) रमैनी।

तै सुत ! मानु हमारी सेवा। तोहिके राज देउं हो देवा।
अगम दुगम गढ़ देउं छोड़ाई। अवरो बात सुनहु किछु आई ॥
उतपति परलै देउं दिषाई। करहु राज सुष विलसहु आई[1]।
एको बार ना होइ है वांको। बहुरि जन्म ना होइ है ताकों ॥२॥
जाय पाप सुष देवै[2] घना। निस्चय वचन कबीर के माना।३।

साधु-संत तेई जना, जिन्ह मानल बचन हमार।
आदि अंत उतपति प्रलै, देषहु दिष्टि पसार ॥४॥

शब्दार्थ—राज = आत्म-राज्य, स्वराज्य। अगम = अजेय। दुगम = दुर्गम। गम = किला। सुष = परमानन्द। बार = रोम।

(सद्गुरु-उपदेश)

टीका—सद् गुरु कहते है कि, हे पुत्र (हे शिष्य)! तू आज्ञा-पालन रूप मेरी सेवा को स्वीकार कर। (सूचना—यहां पर सुत शब्द से शिष्य सम्बो-

१ पाठा०—ग, व, जाई। २ छ, झ, देहौं। होई हैं।

धित किया गया है, क्योंकि "वंशो द्विधा विद्यया जन्मना च" (सिद्धान्त-कौमुदी) । वंश दो प्रकार के होते हैं, एक विद्या और दूसरा जन्मसे) । हे जिज्ञासु जीव ! ("जीवो नारायणो देवो देहो देवालयः स्मृतः") मैं तुम को आत्म-राज्य का प्रधान कर दूंगा । और तुम्हारे अगम और दुर्गम किले को छुड़ा दूंगा । अर्थात् तेरे असाध्य और दुःसाध्य कर्म रूप बंधनों को छुड़ा दूंगा । और भी उपदेश देता हूं, उसे तू सुन ॥ १ ॥ मैं तुम को उत्पत्ति-प्रलय दिखा दूंगा । अर्थात् उनका साक्षी बना दूंगा । तुम आत्मराज करो और उसके परमानन्द का उपभोग करो । तुम्हारा एक भी बाल बांका नहीं होगा अर्थात् आत्म-रति और आत्म-तृप्ति हो जाने से तुम्हारी किंचित् भी आत्महानि नहीं होगी । और फिर तुम्हारा जन्म नहीं होगा ॥२॥ तुम्हारे सब पाप निवृत्त हो जायेंगे और तुम को पूर्ण आनन्द होगा । कबीर के इन वचनों को निश्चय से मानो । इस आत्मोपदेश को मान कर आत्म-साक्षात्कार करने वाले महात्माओं का नाम ही साधु और संत है । "सन्तमेनं विदुर्बुधाः" (श्वेताश्वतरोपनिषद्) । कबीर साहेब कहते हैं कि, संसार के आदि, अंत, उत्पत्ति और प्रलय को दृष्टि पसार कर देखो ।

[५६] रमैनी ।

चढ़त चढ़ावत भंडेहरि फोरी । मन नहि जानै के करि चोरी
चोर एक मूसै संसारा । बिरला जन कोइ बूझनिहारा ॥१॥
सरग पताल भूमि लै बारी । एकै राम सकल रषवारी॥२॥
पाहन होय होय सभ गये, बिनु भितियन कै चित्र ।
जासों कियहु मिताइया, सो धन भया न हित्र[२] ॥३

शब्दार्थ—भंडेहरि = बासन । बारी = बगीचा । मिताइया = मित्रता ।

(हठयोगियों की दशा)

टीका—हठयोगी लोग अपने प्राणों को चढ़ाते चढ़ाते अंत समय उनके द्वारा अपने ब्रह्मांड को फोड़ देते हैं । किसका मन अपनी चोरी को नहीं

१ पा०-ट, ठ, चित । १ ड, ढ, भा अनहित ।

जानता है १। भाव यह है कि, हठयोगी काल को वञ्चित करने के लिए प्राणों को ब्रह्मांड में निरुद्ध करके समाधिस्थ होकर मृतवत् और जड़वत् हो जाते हैं। यह उनका अभिनिवेश–क्लेश (मृत्यु-भय) सदैव बना रहता है। इस कारण वे मुक्त नहीं हो सकते। वस्तुतः इन वंचनाओं को करनेवाला चोर मन ही है, परन्तु उस चोर की चोरी का रहस्य हठयोगी नहीं जान सकते हैं। संसार में विवेक, वैराग्य आदि को चुराने वाला एक चोर मन है, परंतु उसको समझने वाला कोई विरला है ॥१॥ तीनों लोक एक बगीचा है और एक ही राम सब की रक्षा करनेवाला है ॥२॥ इस प्रकार अनात्मोपासक सब ही हठयोगी शून्य में समाधि लगाने से स्वयं शून्य (पाहनवत्) हो होकर भवधार में डूब जाते हैं, क्योंकि उन्हीं के कार्य मनःकल्पित चित्रों की तरह प्रतिभासित होते हैं। इसके अतिरिक्त जिस ऐश्वर्य की वे इच्छा करते हैं वह स्वयं अहित कर है ॥३॥

[६०] रमैनी।

छाड़हु पति छाड़हु लबराई। मन अभिमान टूटी तब जाई।
जन जो चोरी[1] भिच्छा षाही। सो[2] बिरवा पलुहावन जाही॥
पुनि संपति औ पतिको धावै। सो बिरवा संसार लै आवै।२।
झूठ झूठा के डारहू, मिथ्या ई संसार।
ताहि कारन मैं कहत हौं, जाते होय उबार ॥३॥

शब्दार्थ—पति = पतित्व, मालिकपन। लबराई = झूठापन। पलुहावन = बढ़ाना। बिरवा = वृक्ष।

(ममतापन का मिथ्याभिमान)

टीका—मालिकपने का झूठा अहंकार और झूठेपन को छोड़ो। अर्थात् वर्ण और आश्रम आदिकों की मिथ्या बुद्धि को छोड़ो, क्योंकि आत्मा का कोई वर्ण और आश्रम नहीं है। ऐसा करने से तुम्हारे मन का अभिमान टूट

---

१ केरि। २ ण, त,—प्राचीन पाठ यही है। किसी पुस्तक में "जिनले" ऐसा भी है। उसका अर्थ भी 'सो' के अनुरोध से "जिसने" ऐसा ही होगा। यत्तदोर्नित्य-सम्बन्धः। "जो" और "सो" की जोड़ी कबहीं नहीं बिछुड़ती, क्योंकि दोनों सापेक्ष हैं।

जायगा, क्योंकि ये अहंकार की निवृत्ति के साधन हैं। जो लोग चोरी करके खाते हैं और जो अज्ञानी अकर्मण्य (निकम्मे) बनकर भिक्षा ही से जीवनयात्रा करते हैं, वे लोग सम्वर्धित निज दुर्गुण-वारिधारा से संसार-वृक्ष को बढ़ाते (पालते) जाते हैं ॥१॥ और जो धन तथा ऐश्वर्य का अहंकार रखते हैं, उनका वह अहंकार रूपी वृक्ष अपने कटु फलों (जन्म और मरण) को खिलाने के लिये अहंकारियों को संसार-अटवी में घसीट कर ले आता है ॥२॥ इस मिथ्या संसार को तुमने अपनी कामनाओं से सत्य बना रखा है। यदि मुक्त होना चाहते हो तो झूठे संसार को झूठा समझ कर छोड़ दो। 'मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज। क्षमार्जवदयाशीलं सत्यं पीयूषवद् भज'॥ (अष्टावक्रगीता)। हे शिष्य! तू यदि मुक्ति चाहता है तो विषयों को विष की तरह दूर ही से छोड़ दे। और क्षमा सरलता, दया, शील और सत्य, इन सद्गुणों का अमृत की तरह सेवन कर। यह मैं इसलिये कहता कि, जिससे तुम्हारा उद्धार हो ॥३॥

भावार्थ—मिथ्या अहंकाराग्नि की दिग्दिगन्त-व्यापिनी प्रचण्ड-ज्वालाओं से संसार शलभ—समूह जलता चला जा रहा है।

[६१] रमैनी

धरम कथा जो कहते रहई। लाबरि नित उठि प्रातै कहई।
लाबरि बिहनै लाबरि संझा। एक लाबरि बसे हिदया मंझा।१
रामहुं केर मरम नहि जाना। लै मति ठानिन्हि वेद-पुराना।
वेदहूँ केर कहल नहि करई। जरते रहै सुस्त नहि परई ॥२॥
गुना अतीत के गावते, आपुहि गये गँवाय।
माटी के तन माटी मिलिगो, पौनहि पौन समाय ॥३

शब्दार्थ—संझा = सं. स्त्री. (सं. सन्ध्या) सूर्यास्त का समय, शाम। उ०—'संग के सकल अंग अचल उछाह भंग ओज बिन सूझत सरोज बन संझा री'। देव। आ. अन्तिम समय। मंझा = बीच में। सुस्त = धीमी।

(धर्म—कथा के व्यवसायियों की दशा)

टीका—धर्म-कथा के व्यवसायी पंडित धर्मकथा को सुनाते रहते हैं।

और रोज सबेरे उठकर झूठ पाखंड का भी प्रचार करते रहते हैं। इसी प्रकार सबेरे और सांझ झूठ पाखंड में लगे रहते हैं। और उनके हृदय में मिथ्या अहंकार भरा रहता है ॥१॥ सर्वभूत-हृदय-निवासी राम का परिचय नहीं हुआ। यदि हुआ होता तो अनुचित घृणा और विषम दृष्टि न रहती। तथा वेद और पुराणों का भी मनमाना अर्थ कर डाला है। और वेदों के उपदेश को भी नहीं मानते हैं। उनके हृदय में द्वेषाग्नि जलती रहती है। वह कभी नहीं बुझती है ॥२॥ ईश्वर की निर्गुणता और निर्विकारता के मौखिक गीत गाते २ स्वयं संयम-हीन होने के कारण संसार-सागर में खो गये (डूब गये) शरीर की पञ्चत्व-प्राप्ति का वर्णन-मिट्टी का शरीर मिट्टी में मिल गया और पवन पवन में समा गया ॥३॥

भावार्थ—'जैसी कहै करै पुनि तैसी, राग द्वेष निरुवारै।
तामें घटै बढै रतियो नहिं, यहि विधि आपु संभारै' ॥ (बीजक)

(६२) रमैनी।

जो तुह करता बरन-बिचारा। जनमत तीनि-डांडि अनुसारा।
जनमत सूद्र मुये पुनि सूद्रा। क्रितिम-जनेउ घालि जगधंधा ॥
जो तुह ब्राह्मन बभनी के जाया। अवर राह दे काहे न आया।
जो तुह तुरक तुरुकनी क जाया।
पेटहि काहे न सुनति कराया ॥२॥
कारी पिअरी दूहहु गाई। ताकर दूध देहु विलगाई।
छांड कपट नल अधिक-सयानी। कहहि कबीर भजु सालंगपानी

शब्दार्थ—क्रितिम = बनावटी। सुनति = मुसलमानी। बिलगाई = अलग २ कर दीजिये।

(एक—जाति—वाद तथा मनुष्य—जाति—निरूपण)

टीका—हे ब्राह्मणों ! यदि तुम ब्राह्मण जाति का अहंकार करते हो तो तीन डंड लेकर जन्म लेते तो बहुत अच्छा होता। भाव यह है कि, त्रिदंडी सब से उत्तम होते हैं। असल में तो बात यह है कि, ब्राह्मण जनमते समय "जन्मना

जायते शूद्रः" इसके अनुसार शूद्र ही रूप से जन्म लेता है और मरने के बाद भी शूद्र ही बन जाता है। आप लोगों ने केवल बनावटी जनेऊ गले में डाल कर जगत में धर्म का व्यवसाय रूप (धंधा) ही खड़ा किया है ॥१॥ हे ब्राह्मणों ! तुम ब्राह्मणो से पैदा हुए हो और इस कारण अपने को उत्तम मानते हो तो अपनी माता के किसी उत्तम अंग, मस्तक वगैरह से तुमने जन्म क्यों नहीं लिया ? और हे मुसलमानों ! तुमने मुसलमानी से जन्म लिया है और इस कारण अपने को कुदरती मुसलमान मानते हो तो माता के पेट में ही सुन्नत करा कर तुम बाहर क्यों नहीं आये ? । भाव यह है कि यदि पेट में सुन्नत कराये हुए तुम पैदा होते तो तुम कुदरती मुसलमान कहला सकते थे ॥२॥ काले रंग की और पीले रंग की गायों को दूह कर उनके दूध को इकट्ठा मिला दो और फिर उन सब के दूध को अलग २ करके दिखला दो। भाव यह है कि, जिस प्रकार काली, पीली गायों के मिलाये हुए दूध को अलग २ कर देना असम्भव है, इसी प्रकार अपरिचित आदमी की जाति का जान लेना भी असम्भव है। हे मनुष्यों ! तुम सब अधिक चतुराई और कपट को छोड़ दो। कबीर साहेब कहते हैं कि, तुमसब सारंगपानी राम को भजो। भाव यह है कि, सारंग = धनुष हाथ में रखने-वाले 'राम' अहंकारियों के अहंकार को विदलन करनेवाले हैं। (सूचना—महा अहंकारियों को अजेय शारंगपाणि राम का स्मरण कराना कैसा साभिप्राय है। और इस विशेषण के साभिप्राय होने ही के कारण यहां पर 'परिकर' अलंकार कैसा चमक रहा है। "है परिकर आशय लिये जहां विशेषण होय" (भूषण)। 'चक्रपाणि हरि को निरखि असुर जात भजि दूर। रस बरसत घनस्याम तुम ताप हरति मुद पूरि" ॥ (अलंकार-मंजूषा)।

भावार्थ—ऊँच और नीच भाव का कारण धर्म और अधर्म का आचरण ही है, जन्म (जातिविशेष में जन्म लेना) नहीं।

(६३) रमैनी ।

नाना रूप वरन एक कीन्हा। चारि-बरन बोये काहु न चीन्हा
नष्ट गये करता नहि चीन्हा। नष्ट गये अवरहि मन दीन्हा ।१।

नष्ट गये जिन्ह बेद बषाना। बेद पढ़ै पै भेद न जाना।
बिनलष करै नैन नहिं सूझा। भया अयान तब किछुवो न बूझा
नाना नाच नचाय के नाचै नट के भेष।
घट घट हैं अविनासी, सुनहु तकी तुम सेष ॥३॥

शब्दार्थ—विनलष = विना देखे हुए।

(वर्ण–बिचार)

टीका—नाना रूप वाले और अनेक जातिवाले सभी मनुष्यों को एक ईश्वर ने बनाया है। भाव यह है कि, नाना रूप वाले और नाना वर्णों के अहंकार को रखनेवाले सभी मनुष्यों को एक ही ईश्वर ने बनाया है। अतः ईश्वर की बनाई हुई चीजों को तुच्छ समझकर उनसे घृणा करना ईश्वर का भारी तिरस्कार करना है। और जिस ईश्वर ने यह सब किया उसको चार वर्णों में से किसीने नहीं पहिचाना। भाव यह है कि, एक पिता से उत्पन्न हुए चार पुत्रों की एक ही जाति होना मानवधर्मानुसंगत है, मानव धर्म के अनुसार है। हां, अपने २ गुणों और कर्मों के अनुसार ऊँचे और नीचे आसनों पर बैठ सकते हैं। और जिन्होंने सबको एक ईश्वर की सन्तान समझ कर आपस में भ्रातृ-भाव को स्थापित नहीं किया वे पारस्परिक (परस्पर की) द्वेषाग्नि से नष्ट हो गये। और जिन्होंने एक राम सर्वसाक्षी "साहब" को छोड़ कर अनेक पाखंडों में मन को उलझाया वे भी बेमौत मारे गये ॥१॥ और जिन वाममार्गी आदिकों ने अयथार्थ रूप से वेदों का व्याख्यान किया, वे भी नरकगामी बनकर नष्ट हो गये। उसने वेदों को तो पढ़ा, पर उनके रहस्य को नहीं समझा। और हलालप्रिय मुल्ला लोग खुदा के नूर को गाय वगैरह में भी मानते हुए तथा [illegible] देखते हुए भी अनदेखी कर देते हैं। वस्तुतः जिह्वा के स्वाद से सब के सब अन्धे हो गये हैं। ठीक ही है, जब मनुष्य अज्ञानी हो जाता है तब कुछ नहीं समझता है ॥२॥ तकी नामवाले हे शेखजी! आप सुनिये, हर एक हृदय में अविनाशी चेतन पुरुष विद्यमान है। और वही शरीरों की उपाधि के कारण नट के समान अनेक भेष बना-

१ पाठा०—ज, म, बिमलष।

कर स्वयं नाचता हुआ सब को नचाता है। (सूचना—शेखतकी को कबीर साहेब समझाते हैं कि, हर दिल खुदा मिया के तख्त हैं, इसलिये उनको जबह करके खुदाई तख्त का तोड़ना सख्त गुनाह है। आपको तो हरदिल-अजीज (प्रिय) होना चाहिये) ॥३॥

(६४) रमैनी।

कायाकञ्चन जतन कराया। बहुत भांतिकैं मन पलटाया।
जो सौ-बार कहौं समुझाई। तैयो धरा छुवाव न जाई ॥१॥
जनके कहे जन रहि जाई। नवौ निधि सीधी तिन्ह पाई।
सदा धरम जाके हृदया बसई। राम कसौटी कसते रहई ॥२॥
जोरे कसाबै अनते जाई। सो बाउर अपने बौराई ॥३॥
ताते परी काल की फांसी, करहु आपनो सोच।
जहां संत तहां संत सिधावै, मिलि रहा धूतहि धूत।४।

शब्दार्थ—बाउर = पागल। सिधावै = जाते हैं। धूत = धूर्त।

(आत्म—रति और अनात्म—संसर्ग)

टीका—सद्गुरु कहते हैं कि, मैंने जिज्ञासुओं के हृदयस्थ निर्मल आत्म-रूप कञ्चन की रक्षा के लिये उनसे विवेक आदिक अनेक प्रयत्न करवाये। और अनेक उपदेशों के द्वारा उनके मन को संसार से हटाया। मैं सबको बार २ कहता हूँ; परन्तु अपने हृदय में धरी हुई असत्कामनाओं को वे नहीं छोड़ते हैं ॥१॥ योगी जन के बताये हुए योग-साधना के मार्ग में यदि कोई साधक जन ठहर जाय तो वह महापद्म आदिक नव निधियों को और अणिमा आदिक अष्ट सिद्धियों को पा सकता है। भाव यह है कि, योगियों के हृदय में सिद्धियों की तुच्छ वासना बनी हुई है। ये सिद्धियां तो अनात्म-योगियों के कथनानुसार सूर्य आदि मंडल में संयम करने से भी भुवन-विज्ञान रूप से प्राप्त हो जाती हैं। वस्तुतः सिद्धियां तो परमार्थ-पथ में खाइयां हैं। अतएव तत्त्वदर्शी इससे बचकर चलते हैं। रत्नों की खोज में निकले हुए सच्चे पारखी को क्या कौड़ियों का ढेर ललचा कर रोक सकता है? कदापि नहीं। सुनिये, "ऋद्धि और सिद्धि जाके हाथ जोरि

आगे खड़ी, सुन्दर कहत वाके सब ही गुलाम हैं"। (सुन्दर विलास) । जिसके हृदय में आत्म-धर्म का निवास है वह राम की कसौटी पर अपने आपको बराबर कसता रहता है। भाव यह है कि, जो आत्म-रति रखनेवाला मुमुक्षु है वह सच्चा स्वर्ण है; क्योंकि वह राम-कसौटी पर बराबर टिका रहता है; अतएव अपनी निर्मलता को सुरक्षित रखता है ॥२॥ और जो अनात्म-वस्तुओं में अपने आपको कसता है अर्थात् लगाता है वह पागल बनकर बहक जाता है। भाव यह है कि, जो मायोपासक इन्द्रिय-परायण है वह नकली सोने की तरह अविवेकियों में बड़ाई पा लेने से फूला रहता है। परन्तु तत्त्व पद रूप कसौटी पर कदापि नहीं टिक सकता है ॥३॥ स्वरूप-विस्मृति से तुम्हारे गले में काल की फांसी पड़ गई। इसलिए तुम अपना सोच करो, देखो, सन्तजन संतों की संगति में जाते हैं। और असंत लोग असन्तों से ही मिले जुले रहते हैं ॥४॥

"कबीर कसौटी राम की, खोटा टिकै न कोय।
राम-कसौटी सो टिकै, जो मरजीवा होय" ॥
भावार्थ—"बगा ढँढोरैं मांछली, हंसा मोती खाय"।

(६५) रमैनी।

अपना गुन कै औगुन कहहु। इह अभाग जो तुम न बिचारहु
तुम जियरे बहुतै दुख पावा। जल बिनु मीन कौन संचु पावा
चात्रिक जलहल आसै पासा। स्वांग धरै भव-सागर के आसा
चात्रिक जलहल भरे जु वासा। मेघ न बरिसे चलै उदासा।२।
राम नाम इहै निजु सारू। औरो झूठ सकल संसारू।
हरि उतंग तुम जाति पतंगा। जम घर कियहु जीवको संगा॥
किंचित है सपने निधि पाई। हिय न समाय कहा धरौं छिपाई

हिये न समाय छोरि नहि पारा।
झूठ लोभ औ किछु ना बिचारा ॥४॥
सुम्रित कीन्ह आपु नहि माना।

तरु-वर तर छर छागर होय जाना ।
जिव दुरमति डोलै संसारा। ते नहिं सूझै वार न पारा ॥५॥
अंधा भया सब डोलै, कोइ न करै विचार ।
कहा हमार मानै नहीं, तो कैसे छूटै भ्रमजाल ॥६॥

शब्दार्थ—संचु = सं. पु. [प्रा.] सुख, आनन्द। जलहल = जलाशय।

(उपदेश)

(सूचना—यह रमैनी लोक—विशेष निवासी विजातीय ईश्वर के उपासकों को लक्ष्य करके कही गयी है ।)

टीका—तटस्थ-ईश्वर के उपासक भाइयो ! आप लोग अपने निर्मल स्वरूप को भूल कर उसको दूषित ठहरा रहे हैं । विवेक-हीन होना ही आप सब की अभागता है। स्वरूपानन्द—सागर में विहरनेवाले हे जीव मत्स्य ! तू उससे बाहर निकल कर और अनेक देवोपासना—रूप सन्तप्त—सैकत भूमि में पड़कर "बहुतै दुष पावा" । बिना पानी के मछली ने कौन सा सुख उठाया ! ॥१॥ जिस प्रकार पपीहा गंगा आदिक जलाशयों के पास रहता हुआ भी उनके सुलभ और ध्रुव जल को छोड़कर स्वाति में बरसनेवाले अध्रुव जल की आशा रखता है, अतएव भारी संकट उठाता है। इसी प्रकार हृदय—निवासी (प्रत्यक् चेतन) को छोड़कर नाना कामनाओं से भूत, प्रेत, देवी और देवों की उपासना करनेवाले भी आशा—बंधन से बंधकर और अनेक योनियों के अनेक शरीर रूपी स्वांगों को पहन २ कर बन्दर की तरह सदैव नाचा करते हैं। और जिस तरह पपीहा के पास जलाशय भरा रहता है, परन्तु स्वाति के न बरसने से वह उदास होकर उड़ा करता है। इसी प्रकार अनात्मोपासक भी अत्यन्त निकटस्थ निजानन्दामृत—सागर की ओर पीठ देकर देवतादिकों से मिलनेवाले ओसकण रूप इच्छित फलों के न मिलने से अत्यन्त उदास होकर मारे २ फिरते हैं ।॥२॥ राम ही है नाम जिसका अर्थात् चेतन देव, क्योंकि वह सामान्यतः सर्वभूतसंचारी है और विशेषतः मानस—विहारी है। वही निजसार है और संसार का सारा प्रपंच मिथ्या है। अज्ञानता के कारण हरि तुमसे बहुत दूर है

और तुम कामना की अग्नि में पतंगे की जाति बन गये हो। अतएव तुमने यम के घर में अपनी जीविका का संबन्ध कर दिया है ॥३॥ संसार के ऐश्वर्य का अभिमान करना व्यर्थ है, क्योंकि वह स्वप्न की विभूति है, जो कि कल्पनातीत होने के कारण हृदय-मंदिर में भी नहीं अट सकती है। और बाहर तो कदापि सुरक्षित नहीं रह सकती है। यह एक बड़ी भारी उलझन है कि, यह स्वप्न की विभूति हृदय में नहीं समा सकती है और छोड़ी भी नहीं जा सकती है। तुमने कुछ विचार नहीं किया, और झूठे लोभ में पड़ गये ॥४॥ मन्वादि-स्मृतियों ने पूरी तरह धर्म और अधर्म को बतलाया है, परन्तु स्वार्थियों ने नहीं माना। इस कारण ऐसा धोखा खा गये। जैसा जंगली रास्ते से जाता हुआ कसाई कुछ दूर विशाल वृक्ष की छाया में लगे हुए पौधे को किसीका खोया हुआ बकरा समझकर उसको लेने के लिये लपकता हुआ धोखा खा जाता है। अज्ञानता के कारण जीव संसार में भटकता है और उसको संसार का छोर नहीं सूझता है ॥ ५ ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि, अज्ञान से अन्धे हुए सब जीव भटक रहे हैं। कोई भी विचार नहीं करते हैं। और हमारे उपदेशो को भी नहीं मानते हैं तो इनका भ्रमजाल कैसे छूटेगा ! ॥ ६ ॥

भावार्थ – 'नियरे न षोजे बतावे दूरि। चहुं दिसि बागुरि रहलि पूरि" ॥

(६६) रमैनी।

सोई हितु बंधु मोहि भावै। जात कुमारग मारग लावै।
सो सयान मारग रहि जाई। करै षोज कबहुं न भुलाई॥१॥
सो झूठा जो सुत के तजई। गुरु की दया राम के भजई।
किंचित है एक तेज भुलाना।
धन सुत देषि भया अभिमाना ॥२॥
दियना षताना किया पयाना, मंदिल भया उजार।
मरी गये ते मरि गये, बांचे बांचनि हार ॥३॥

१ पाठा०—च, छ, राम ते। २ ज, झ, रो भुलाना।

शब्दार्थ—किंचित = तुच्छ । दियना षताना = प्रदीप बुझ गया ।

(सच्चे और झूठे गुरुओं की पहिचान तथा शिष्य और कुशिष्यों के लक्षण)

टीका—वही हितकारी बन्धु मुझे प्रिय है जो कुमार्ग में जानेवाले को समझा बुझाकर सुमार्ग पर ले आता है। जो सत्य मार्ग पर आरूढ है वह सच्चा जिज्ञासु है; क्योंकि जो खोज करता है वह कभी नहीं भूलता है ॥१॥ वह गुरु झूठा है जो शिष्य को पथ–गामी नहीं बनाता है। यदि सद्गुरु की दया होगी तो वह शिष्य राम को भजेगा । यह संसार तुच्छ है, तिस पर भी तुम इसमें भूले हुए हो, और अपने धन और पुत्रों को देख कर तुमको अभिमान हो गया है ॥२॥ स्नेही जीवात्मा के निकलते ही प्राण–प्रदीप बुझ गया । अतएव काया–मंदिर शून्य होने से भयङ्कर होगया। अध्यास फांस में फंसे हुए अज्ञानी लोग मर गये। और निजपद पर आरुढ़ हुए ज्ञानी जन मुक्त होकर बच गये ।

भजन

"हम न मरैं मरि है संसारा। हमको मिला जियावनहारा ।
अब ना मरौं मोर मन माना। सोई मुवा जिन राम न जाना ।
सांकट मरै संत जन जीवैं। भरि भरि राम रसायन पीवैं ।
हरि मरि हैं तो हमहूं मरि हैं। हरि न मरै हम काहेको मरिहैं ।
कहंहिं कबीर मन मनहि मिलावा । अमर भये सुख-सागर पावा"।

सूचना—यह "हरिपद" छन्द है। इसके पहले और तीसरे चरणों में १६ और दूसरे तथा चौथे चरणों में ११ मात्राएं होती हैं। और अंत में गुरु लघु नियम से रहते हैं। लक्षण—"विषम हरीपद कीजिये सोरह सम शिव दै सानन्द"। (छन्द प्रभाकर) ॥ ३ ॥

भावार्थ—'सतगुरु ऐसा कीजिये, जौं दिवले की लोय ।
आय परोसिन ले चलों, दिवला (से) दिवला जोय ॥

(६७) रमैनी ।

**देह हिलाय भगति ना होई। स्वांग धरै नल बहु-बिधि जोइ ।
धींगा धींगा भलो न माना । जो काहु मोहि हृदय जाना ॥**

मुष किछु अवर हृदया किछु आना।
सपने हु काहु मोहि नहि जाना।
ते दुष पैहहीं ई संसारा। जो चेतहु तो होय उबारा ॥२॥
जो गुरु कै निंदा करइ। सूकर स्वान के जन्मो धरइ ॥३॥
लष चौरासी जिया जंतु महं, भटकि भटकि दुष पाव।
कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहि नीकै भाव ॥४॥

[आत्म-रत और अनात्म-रतों के लक्षण तथा आत्म-संदेश]

टीका—नाचने कूदने से भक्ति नहीं हो सकती है। चाहे मनुष्य कितने ही प्रकार के स्वांग क्यों न बना ले! भाव यह है कि, जो लोग अनेक प्रकार के भेष बनाकर केवल बहिर्मुख क्रियाओं में ही लगे रहते हैं और कभी अंतरंग वृत्ति को नहीं पा सकते हैं। जिसने मुझ राम को सब के हृदय-मन्दिरों में निवास करनेवाला जान लिया है, वह लड़भिड़कर किसी के दिल को तोड़ना या उखाड़ना अच्छा नहीं समझता है ॥१॥ जिसके मुख में कुछ और वात है और हृदय में कुछ और ही है। उसने सपने में भी मुझ राम को नहीं जाना है। ऐसे लोग संसार में दुःख पायेंगे। इसलिए हे भाइयो! तुम चेतोगे तो तुम्हारा उबार हो जायगा ॥२॥ जो गुरु की जरा भी निंदा करता है उसको सूवर और कुत्ते का जन्म मिलता है ॥३॥ इतना ही नहीं, वह जीव चौरासी लाख योनियों में बार-बार भ्रमण करके दुःख पाता है। कबीर साहेब कहते हैं कि, जो राम को जानता है वह मुझे बहुत प्रिय है ॥४॥ [सूचना—यह भी 'हरिपद' छन्द है]।

भावार्थ—'जस बाहर तस भीतर जाना। बाहर भीतर एक समाना'।

[६८] रमैनी।

तिहि वियोग ते भयेउ अनाथा। परै निकुंज-बन पावै न पंथा।
बेदौ नकल कहै जो जानै। ज़ो समुझै सो भलो न[१] मानै।१।

---

१ पाठा०—ज, झ, जीव मानै।

नटवट बंद[1] षेले जो जानै। तिहि गुन को ठाकुर भल[2] मानै।
उहै जु षेलै सभ घट मांहीं। दोसर का किछु लेषै नाहीं ॥२॥
भलो पोच जो अवसर आवै। कैसहु के जन पूरा पावै ॥३॥
जेकर सर तेहि लागे, सो जाने पीर।
लागै तो भागै नहीं, तौ सुष-सिंधु निहार कबीर ॥४॥

शब्दार्थ—नट-वट = सं. पु. (सं. नटवत्) नट की भाँति नाट्य या अभिनय करना, स्वांग भरना। नट की तरह। उ०—'एक ग्वालि नटवति बहु लीला एक कर्म गुण गावति'। सूर०। भलो = भला। पोच = वि. [फा.] तुच्छ, क्षुद्र, बुरा। उ०—'भलो पोच जग विधि उपजाये'। तु०।

(प्रपंच-परायण तथा आत्म (स्वरूप)—विस्मृति का फल)

टीका—उस राम के वियोग से तुम अनाथ हो गये और कर्मों की उलझन रूप कुँज और वन में पड़ गये। इस कारण रास्ता नहीं पा सके। भाव यह है कि, यह जीव आत्म-विमुखता के कारण अनाथ (दरिद्र) बनकर विषय-फलों को खाने के लिए भयंकर भवाटवी में घुस गया। अनन्तर वहां जाकर अनेक मायिक लता-भवनों में तथा रोचक वाणी रूप वृक्षों के झुंडों में ऐसा भटक गया कि, अपने घर का रास्ता ही नहीं पा सका। जिन महात्माओं ने आत्म-तत्व का साक्षात्कार कर लिया है उनका कथन है कि, वेद भी "उस तत्व" का गौण रूप से विधान करते हैं। भाव यह है कि, "अतद्व्यावृत्यायं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि"। इस कथन के अनुसार श्रुति भी डरती हुई "नेति नेति" रूप निषेध-मुख से उस तत्व को कह रही है। उस तत्व के विषय में स्थूल बुद्धिवालों की जैसी समझ है उस समझ की ज्ञानी लोग प्रशंसा नहीं करते हैं ॥१॥ जो नट की बरद कला की तरह अन्तर्वृत्ति-रूप कला का पूरा अभ्यासी है वह आत्म-योगी धन्य है। क्योंकि उक्त कला ठाकुर अर्थात् "साहब" को बड़ी मनोरञ्जक है। भाव यह है कि, अन्तर्मुख वृत्तिवालों पर साहब प्रसन्न होते हैं, प्रपंचियों पर नहीं। सबों के हृदय में वही राम विहार

१ पाठा०—ब, भ, बिधर। २ म, ठ, तेहिका गुन सो ठाकुर मानै।

कर रहा है। वहां दूसरे की सत्ता नहीं है ॥ २ ॥ भला बुरा कैसा भी समय क्यों न आवे; परन्तु मन का संयमी जन उसमें पूर्णता प्राप्त कर लेता है। भाव यह है कि, मन को वश में रखने वाला बड़े-बड़े संकटों से बाल-बाल बच जाता है ॥ ३ ॥ कबीर गुरु कहते हैं कि, जिस जिज्ञासु के हृदय में सतगुरु के उपदेश रूपी बाण पूरी तरह पैठ जाते हैं, वह फिर भाग कर प्रपञ्च में नहीं जा सकता है; क्योंकि उसको संसार सचमुच दुःखदायी मालूम होने लगता है। अतएव वह दुःख-संतप्त जन सुख-सागर में बुडकियां लगाने के लिए अधीर हो जाता है।

"सतगुरु मारा तानके, सब्द सुरंगी बान।
मेरा मारा फिर जिये, (तौ) हाथ न गहौं कमान" ॥ ४ ॥

भावार्थ—मृग-तृष्णा से प्यास नहीं जाती है।

(६६) रमैनी

ऐसा जोग न देषा भाई। भूला फिरै लिये गफिलाई।
महादेव को पंथ चलावै। ऐसो बड़ो महंत कहावै ॥१॥
हाट बजारे लावैं तारी। कंचा सीधा माया पियारी।
कब दत्ते मवासा तोरी। कब सुषदेव तोपची जोरी ॥२॥
नारद कब बंदूक चलाया। व्यास देव कब बंब बजाया।
करहिं लड़ाई मति के मंदा। ई अतीत[1] की तरकस बंदा ॥३॥
भये विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावै बाना।
घोरा घोरी कीन्ह बटोरा। गांव पाये जस चलै करोरा ॥४॥
सुन्दरी ना सोभै, सनकादिक के साथ।
कबहूं के दाग लगावै, कारी हांड़ी हाथ ॥५॥

शब्दार्थ—गफिलाई = असावधानी। महादेव = शैवमत। तारी = समाधि चढ़ाते हैं। दत्ते = दत्तात्रेयजी ने। मवासा = शत्रु। तोपची जोरी = तोप लगा दी।

---

१ पाठा०—अतिथ।

वंब = लड़ाई का नक्कारा, जुझाऊ ढोल। तरकस बंदा = तरकस बान्धनेवाले [फौजी–सिपाही], लड़ाकू। बाना = भेष और झण्डा। बटोरा = जुटाव, इकट्ठा।

[शैवादि वेषधारियों की दशा]

टीका—हे भाइयो! ऐसा योगमत हमने नहीं देखा। ये लोग तो असावधानी में पड़कर भूले हुए फिरते हैं। ये लोग शैवमत का प्रचार करते हैं और बड़े महन्त कहलाते हैं ॥१॥ लोगों को दिखाने के लिए ये सब हाट और बाजार में समाधि चढ़ाते हैं; क्योंकि कच्चे सिद्धों को माया ही प्रिय होती है। दत्तात्रेयजी ने शत्रुओं पर कब आक्रमण किया था और शुकदेव जी ने कब तोप लगाई थी? ॥२॥ नारदजी ने कब बन्दूक चलाई थी?। और व्यास-देवजी ने लड़ाई का ढोल कब बजाया था?। थोडी बुद्धिवाले लड़ाई करते हैं। ये गरीब साधु हैं कि लड़ाकू फौजी सिपाही हैं? [सूचना—मालूम होता है कि, पहिले कुम्भों के चढ़ाओं पर भेषधारियों के द्वारा भारी खूनखराबी हुआ करती थी] ॥३॥ विरक्त होकर इन सबों ने मन में लोभ लगा लिया। सोना पहिन कर विरक्तता के वेष को और झंडे को लजाते हैं। घोड़ा घोड़ी बटोरकर ये जमात चलाते हैं और गांव पा जाने पर तो करोड़पतियों की तरह बहुमूल्य सवारियों पर चढ़कर चला करते हैं ॥४॥ सनकादिकों के साथ स्त्री शोभा नहीं देती है। वह तो हाथ की काली हंडी है जो कि कभी न कभी दाग अवश्य लगा देती है ॥५॥

भावार्थ—सिंहों केरी षोलरी, मैंढा पैठा धाय।
बानी ते पहिचानिये, सब्दहिं देत लषाय ॥ (बीजक)

(७०) रमैनी।

बोलना कासौ बोलिये रे भाई। बोलत ही सभ तत्तु नसाई।
बोलत बोलत बाढ़ु बिकारा। सो बोलिये जो परै बिचारा ॥१॥
मिलहिं संत बचन दुइ कहिये। मिलहि असंत मौन होय रहिये ॥
पंडित सो बोलिये हितकारी। मूरुष से रहिये झषमारी।
कहहिं कबीर ई अधघट डोलै। पूरा होय विचार लै बोलै ॥३॥

शब्दार्थ—अधघट = आधा भरा हुआ घड़ा।

(उपदेश-विचार, वचन-विचार)

टीका—हे भाई! किससे कहा सुना जाय? क्योंकि कहने सुनने से अपना स्वभाव और वृत्ति नष्ट हो जाती है। बोलते-बोलते विकार बढ़ जाता है, इसलिए ऐसी बात कहना चाहिये जो कि विचार में आ सके ॥ १ ॥ यदि संत जन मिल जाय तो उनसे दो बातें अवश्य कर लेनी चाहिये। और यदि असंत से पाला पड़ जाय तो चुप रह जाना चाहिए ॥ २ ॥ पंडित से हितकारी वचन कहना चाहिए और मूर्ख के आगे मन मार कर रह जाना चाहिये। कबीर साहेब कहते हैं कि, जैसे आधा भरा हुआ घड़ा छलकता रहता है और बोलता रहता है। इसी तरह छोटी बुद्धिवाले बात-बात पर बिगड़ते रहते हैं। और जो पूरे हैं वे तो विचार करके ही बोलते हैं ॥ ३ ॥

सोग बधावा जिन्ह सम कै माना। ताकी बात इन्द्रे नहिं जाना।
जटा तोरि पहिरावै सेली। जोग जुगति कै गरब दुहेली ॥१॥
आसन उड़ाये कवन बड़ाई। जैसे कौवा चिल्ह मिंड़राई।
जैसी भीति तैसी है नारी। राजपाट सभ गनै उजारी ॥२॥
जस नरक तस चंदन जाना। जस बाउर तस रहै सयाना।
लपसी लौंग गनै एकसारा। षांड़ परिहरि मुष फांकै छारा ॥३॥

इहै बिचार बिचार ते, गये बुद्धि बल चेत।
दुइ मिलि एकै होय रहा, मैं काहि लगाऊं हेत ॥४॥

(७१) रमैनी।

शब्दार्थ – सेली = सं. स्त्री. (हि. सेला) सूत, उन, रेशम या बालों की बद्धी या माला जिसे योगी लोग गले में डालते या शिर में लपेटते हैं। उ०–'सीस सेली केस मुद्रा, कनक बीरी बीर। विरह भस्म चढाय बैठी, सजह कंथा चीर'॥ सू० र०। दुहेली = भारी। आसन उड़ाये = आकाश में उड़ जाना। छारा = सं. पु. [सं. क्षार] भस्म, राख। उ० – 'तुरतहि काम भयो जरि छारा'। तु०।

(शैव हठ-योगियों की तथा वाचक ब्रह्मज्ञानियों की दशा)

टीका—स्थिर बुद्धिवाले मननशील आत्म-योगियों को जो अमित आनन्द प्राप्त होता है। उसका अनुभव तो इन्द्र भी नहीं कर सकता है। वे महात्मा हर्ष और शोक के उपस्थित होने पर अविचल-चित्त बने रहते हैं। जैसा भगवद्-गीता का वचन है कि—"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते"॥ तथा सच्चे ज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं की यह स्थिति होती है कि, वे "न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्॥ स्थिरबुद्धिर-संमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः"॥ पहिले नाथयोगी लोग जटाधारी वैष्णवों को किसी प्रकार परास्त कर उनकी जटायें कटवा देते थे। पश्चात् जटा के बालों से बनी हुई सेलो (माला-विशेष) उनको पहिना कर शिष्य बना लेते थे। यह बात "सब के मुद्रा डालता जो नहि होत कबीर" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। और पवनासनादिक हठयोग की सिद्धियों का भारी अहंकार रखते हैं १॥ आकाश में उड़ जाना कौन महत्व का काम है? यह शक्ति-सिद्धि तो कौवे और चील्हों में स्वाभाविक ही रहती है। [सूचना-वाचक ज्ञानी (वन्ध्य ज्ञानी) और सच्चे ज्ञानियों के तारतम्य को जानने के लिये ज्ञान की सात भूमिकाएँ जान लेनी चाहिये। "ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता। विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा॥ सत्वापत्ति-श्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका। पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्य्यगा स्मृता"॥ शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुरीया; ये सात भूमिकाएं हैं। इनमें से पंचम भूमिका में आरूढ़ ज्ञानियों को तन के अभिमान का अभाव हो जाता है। और छट्ठी भूमिकावालों को बुद्धयादिक पदार्थों का अभाव हो जाता है। और सप्तम (तुरीया) भूमिकारूढ ज्ञानियों के तो भावाभाव "मैं" और "तू" इत्यादिक कुछ भी नहीं बन सकते। और अंतिम भूमिकारूढ ज्ञानियों का शरीर भी (पूर्णतया देहाध्यास की निवृत्ति के कारण) थोड़े ही काल तक रहता है। इस रमैनी में "लपसी लवंग गनै एक सारा" यहां तक ज्ञानी महात्माओं की ज्ञान-भूमिकाओं का भली भांति वर्णन है। वाचक-ज्ञानियों को तो इन भूमिकाओं के स्वप्न में भी दर्शन नहीं हो सकते। चाहे जन्म भर "अहं ब्रह्मास्मि" और "शिवोऽहं" की मिथ्या हाँक लगाया करें।

वे लोग तो आत्म-विमुख और प्रपञ्च-परायण होने के कारण इस उक्ति को चरितार्थ कर रहे हैं कि—"षांड छांड़ि मुष फांकै छारा"। और छट्ठी ज्ञान-भूमिकावाले महात्माओं की दृष्टि में पदार्थों का विशेष रूप से अभाव होने से उनके आगे जैसी भींत वैसी स्त्री है और राजपाट का ऐश्वर्य भी जंगल के दृश्य के समान है ॥ २ ॥ और वे जैसा चंदन को जानते हैं तैसा ही नरक को जानते हैं। और वे जैसे सयाने हैं वैसे ही पागल हैं। तथा वे लपसी और लवँग को एक ही समान गिनते हैं। और इनके विपरीत वाचक ज्ञानी तो ज्ञानी कहलाते हुए भी निजानन्द रूप खांड को छोड़कर विषय-भाग रूप धूरि को फांकते हैं ॥३॥ निरन्तर विषयों के चिन्तन से इन ज्ञानाभिमानियों की बुद्धि, बल और चित्त की निर्मलता सदा के लिए चली गई। असली मजनू और नकली मजनू को पहचान लेना थोड़ी बुद्धिवालों के लिए कठिन है; क्योंकि वे लोग बाहरी-वेष, बानादिकों से तो ज्ञानी (साधु) ही मालूम पड़ते हैं। इसी कारण भोले-भाले श्रद्धालु भाई उनके द्वारा बार-बार वञ्चित होकर सोचते रहते हैं कि, हम किसका आदर और किसका अनादर करें ! ॥ ४ ॥

भावार्थ—'हंस बगु देषा एक रंग, चरै हरियरे ताल।
हंस छीर ते जानिये, बग उघरै ततकाल' ॥ (बीजक)

(७२) रमैनी।

नारी एक संसारहिं आई। माय न वाके बापहि जाई।
गोड़ न मूड़ न प्रान-अधारा। ता महं भमरि[1] रहा संसारा ।१।
दिना सात लै उनकी सही। बुध अधबुध अचरज का कही।
वाकी बंदन करै सभ कोई। बुध अधबुध अचरज बड़ होई ।२।

मूस बिलाई एक संगे, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज एक देषौ हो संतो, हस्ती सिंघहि षाय ॥३॥

शब्दार्थ—भमरि = भ्रम और भूल।

[1]. पाठा.—ट, ड, भमरि।

[माया की प्रबलता]

टीका—एक अनोखी नारी (माया) संसार में आई है। उसके न माता है न पिता (अर्थात् माया अनादि है) । और न गोड़ (पैर) है न मूड़ (सर) है और न उसके प्राणों का आधार जीव ही है । उसीने सारे संसार को भुला दिया है ॥ १ ॥ चंचला माया की यह चमक थोड़े ही काल तक ठहरती है । ज्ञानी और अज्ञानी दोनों अचरज में पड़कर माया को सत्य ही कहते हैं । ज्ञानी और अज्ञानी सब मिलकर माया ही की बंदना करते हैं । यह एक बड़ा भारी अचरज है ॥ २ ॥ मूस (जीव) और बिलाई (माया) ये दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं ? । कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो! आप लोग एक अचरज देखिये, हस्ती (मन) सिंह (जीव) को खा रहा है ॥ ३ ॥

भावार्थ—माया ने सारे संसार को अपने अधीन कर लिया है ।

(७३) रमैनी ।

चली जात देषी एक नारी । तर गागरि ऊपरि पनिहारी ।
चली जात वो ये बाटहि बाटा । सोवन्हिहार के ऊपर षाटा ।१
जाड़न मरै सपेदी-सौरी । षसम न चिन्है घरनी भौ बौरी ।
सांझ सकार दिया लै बारै । षसमहि छोड़ि संबरै लगवारै ।२
वाही के रस निसुदिन राची । पिया सो बात कहै नहिं सांची ।
सोवत छांड़ चली पिया अपना । ई दुष अबधौं कहब कैसना[1]।

अपनी जांघ उघारि कै, अपनी कही न जाय ।
की चित जानै आपना, की मेरो जन गाय ॥४॥

शब्दार्थ—संबरै = क्रि. सं. [सं. स्मरण, हि. सुमिरण], याद करना, स्मरण करना । उ०—'संवरौ आदि एक करतारू' । जा० सौरी = सं. स्त्री. [सं शाटी, हि, सौड], सौर, चादर, ओढ़ना । उ०—'तेते पांव पसारिये, जेतो लंबी सौर' । रहीम । घरनी = सं. स्त्री [सं. गृहिणी], घरवाली, भार्या । उ०—'तरनी मुनी घरनि होय जाई' । तु० ।

[1] पाठा०—ङ, घ, केहिसना ।

(आत्म–विमुख वृत्ति)

टीका—सुरति–योगियों का कथन–ध्यान के समय एक नारी (सुरति को) ऊपर की ओर जाते हुए देखा। अनन्तर ध्यानपूर्वक देखने से मालूम हुआ कि, गगरी (शरीर) तो नीचे धरी हुई है, और पनिहारी (सुरति) उसके ऊपर (ब्रह्माण्ड में) बैठी हुई है। भाव यह है कि, गगन मंडल में एक उलटा कूंवा है। योगियों की चित्त–वृत्ति रूप पनिहारी उसमें से अमृत-रस भरने के लिए ऊपर की ओर जाया करती है। "कर नैनों दीदार महल में प्यारा है। गगन मंडल में ऊर्ध मुख कूंवा, संत सोई जो भरि भरि पीवा। निगुरा मरै पियास, हिये अंधियारा है" ॥ वह (सुरति) क्रम से बीच के सब स्थानों को पार करती हुई रास्ते-रास्ते चली जा रही है। इस प्रकार उत्तरोत्तर स्थानों को पार करती हुई अष्टम सुरति–कमल के आगे चली गयी। जहां कि मन की गति नहीं है। अतएव उक्त स्थान पर पहुंची हुई सूक्ष्म वृत्ति रूप खटिया सोनेवाले मन के ऊपर बैठ गई। भाव यह है कि, मन की गति सहस्रार (सहस्र-दल-कमल) तक ही है। इस रहस्य को लेकर "सोवनिहार के ऊपर खाटा" यह कहा गया है। दूसरा यह भी अर्थ है कि, सोनेवाले अज्ञानी जीव को मन की वृत्ति रूप खटिया ऊपर से दबाये रहती है। (परन्तु यह अर्थ सिद्धान्त पक्ष में है) ॥ १ ॥ सद्‌गुरु कहते हैं कि, उक्त योगियों की अनात्म–वृत्ति विक्षिप्त हो गई है; क्योंकि वह "सफेद सौर" ज्ञानप्रधान नरतन रूपी रजाई के मिलने पर भी अज्ञानता के कारण उसके उपयोग से वञ्चित रहकर जड़ता–जाड़ से मर रही है। और विक्षिप्तता के कारण ही पास में खड़े हुए अपने पतिदेव (स्वरूप) को भी नहीं पहचानती है। यह विक्षिप्तता की पराकाष्ठा है। "पास खड़ा तेरे नजर न आवे महबूब पियारा वे"। "मानुष–जनम हि पाय नर, काहें को जहँडाय" ॥ बीजक)। "जड़ता जाड विषम उर लागा"। (रामायण)। चित्तवृत्ति की विक्षिप्त लीला–सायं सन्ध्या और बड़े सबेरे दीपक जलाकर बैठ जाती है और निज पति (चेतनदेव) को भूल कर उपपति (मन) की गुप्त लीलाओं का स्मरण किया करती है। (दीपक, सत्कथा)। भाव यह है कि, प्रतिदिन दोनों समय सत्कथाओं के श्रवण से भी बिना सत्व-शुद्धि के वृत्ति स्थिर नहीं हो

सकती है। ॥ २ ॥ वृत्ति (कुलटा) सदैव बहिर्मुखी रहती है, अन्तर्मुख नहीं होती! अतएव निजात्मा रूप पति के निजानन्द रूप सच्ची बानी को भी नहीं प्रकट करती है। सदैव जागते हुए पति मालिक (चेतन देव) को अपनी अज्ञानता (पागलपन) के कारण सोता हुआ समझ कर छोड़ गई। और मन के साथ विहार करने लगी। भला, यह दुःखकारक कथा कौन किससे कहे! ॥३॥ अपने हृदय-मंदिर का यह गोपनीय रहस्य पूरी तरह प्रकट नहीं किया जा सकता है। या तो इसको अच्छी तरह अपना ही चित्त समझ सकता है, अथवा अपने समान जो भुक्त-भोगी (भक्तजन, भेदी पुरुष) हो वह जान सकता है! "घायल की गति घायल जाने, का जाने बैद विचारा" ॥४॥

(७४) रमैनी।

तहिया होते गुपुत अस्थुल नहि काया।
न ताके सोग ताकी पै माया।
कंवल-पत्र तरंग एक मांहीं। संगहि रहै लिप्त पै नाहीं ॥१॥
आस ओस अंड मंह रहई। अगनित अंड ना कोई कहई।
निराधार आधार लै जानी। राम नाम लै उचरी बानी ॥२॥
धरम कहै सभ पानी अहई। जाती के मन पानी अहई।
ढोर पतंग सरै घरियारा। तिहि पानी सभ करै अचारा ॥३॥
फंद छोरि जो बाहर होई। बहुरि पंथ ना जोहै सोई ॥४॥
भरमक बांधल इ जग, कोई ना करै बिचार।
एक हरि की भगति जाने बिना, बूड़ि मुवा संसार ॥५॥

[रचना-रहस्य और आचार-विचार]

टीका—सृष्टि (रचना) के पूर्व स्थूल-प्रपञ्च गुप्त था; अतः स्थूल शरीर भी नहीं था। उस समय जीवात्मा शोक से मुक्त था; परन्तु माया अवश्य लगी हुई थी; क्योंकि माया भी अनादि है। माया के संग रहता हुआ भी आत्मा कमलपत्रवत् निर्लेप था, और सम्प्रति भी माया के संग रहता हुआ तरंगों में पड़े हुए कमल-पत्र की तरह वस्तुतः निर्लिप्त ही रहता है।

अनन्तर कर्मों के भोगोन्मुख होने के कारण जब सृष्टि (रचना) हुई तब जीवों ने शरीर पाकर अनेक सकाम-कर्म किये, जिसकी फल-प्राप्ति की आशा ओस-कण को चाटते हुए कर्मी जीव अनन्तानन्त ब्रह्माण्डों में जा जाकर रहने लगे। इस विषय में श्रीमद्गोस्वामीजी ने कैसा अच्छा वर्णन किया है कि, "ऐसी मूढ़ता या मन की ! परिहरि राम भजन सुर-सरिता, आस करत ओस कन की। ऐसी मूढ़ता"। (विनय-पत्रिका) ॥ १ ॥ विवेकियों ने असंहत आत्मा का अनुमान संघात से किया है। "संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च"। (सांख्यकारिका १७)। अर्थात् आराम की सामग्री भोक्ता के लिए हुआ करती है, अपने सामग्री के लिए नहीं। इत्यादिक युक्तियों से आत्मा की सिद्धि होती है। इसी प्रकार "निराधाराणां गुरुत्ववतां सूर्यादीनां धृतिः प्रयत्नविशेष-प्रयोज्या धृतित्वात्, वियति विहङ्गधृतिवत्"। तथा "परकीयं शरीरं सात्म-शरीरत्वादस्मच्छरीरवत्" (प्रशस्तपादभाष्य)। इत्यादि अनुमानों से दूसरों के शरीरों में भी आत्मा की सिद्धि हो जाती है और अपने शरीर में तो आत्मा साक्षात् उपलब्ध ही है। और वेदादिकों का आविर्भाव भी राम, रमैया है नाम जिसका अर्थात् चेतन पुरुष ही से हुआ है। "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदःसामवेदोऽथर्ववेदश्चेति"। क्योंकि शब्दी (चेतन) के बिना शब्द (वर्णात्मक शब्द) नहीं हो सकता है। वर्णात्मक शब्दोत्पत्ति का क्रम यह है—"आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ मारुतम् तूरसि चरन् मंद्रं जनयति स्वरम्। प्रातःसवनयोगान्तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥"—पाणिनीय शिक्षा। तथा "आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः। देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन्। नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयते ध्वनिम्" ॥ (संगीत रत्नाकर, स्वराध्याय)। इस ग्रन्थ में भी वाणी की उत्पत्ति का विषय निम्न लिखित पद्य में बाजे के रूपक द्वारा खूब ही स्पष्ट किया है। यथा—"जंत्री जंत्र अनूपम बाजै, (वाके) अष्ट गगन मुख गाजै। तूही बाजे तूही गाजे, तूही लिये कर डोलै। एक शब्द माँ राग छतीसौ, अनहद वानी बोलै"। अन्त में कहा है कि, "कहहिं कबीर जन भये विवेकी, जिन जंत्री सों मन लाया"। (बीजक शब्द)। "रामनाम लै उचरी वानी"।

इस स्थल पर रामनाम के उपासक परम श्रद्धालुओं का यह कथन है कि, राम नाम से ऊँकारादि सब वाणियों का प्रकाट्य हुआ है। इसी प्रकार ओंकारोपासक भी अपने उपास्य की महिमा का वर्णन करते हैं। वस्तुगतया विचारा जाय तो इन सबों का कथन औपासनिक है, वस्तुस्थित्या नहीं; क्योंकि "अतस्मिन् तद्-बुद्धिरुपासना"। यह तो उपासना का लक्षण ही है। अर्थात् जो वस्तु वस्तुतः वैसी न हो तिस पर भी उसको वैसा मानना। जैसे गण्डक-शिला (शालिग्राम) में विष्णु-बुद्धि करना यही उपासना है। और शब्दों की उत्पत्ति का तो यह नियम है कि, वे स्व-सजातीय उत्तरोत्तर शब्दों को ही उत्पन्न करते हैं, और क्षणिक होते हैं। अतः वर्णात्मक शब्द शब्दी (चेतन) से होता है या शब्द (जड़) से ? इसका विवेक करना विवेकियों पर ही निर्भर है ॥२ धर्मशास्त्र का कथन है कि, पार्थिव रचना के पूर्व सर्वत्र जल ही जल था। और उसी जल में नारायण ने शयन किया था। इसी कारण उसका नाम नारायण हुआ है। "सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ आपो नरा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः" ॥ मनु० अ० १।८।१। " जाती के मन पानी अहई "। वही जल यह है कि, जो सम्प्रति शरीररूप से परिणत होकर स्थित है। और इस शरीर रूपी जल में भी इस समय जीव-नारायण है। " जीवो नारायणो देवः " विद्यमान है। इस प्रकार जल का और नारायण का सतत सम्बन्ध है, तो बतलाइये कि, नर-नारायण के सम्बन्ध से कूपतडागादिक जलाशय (निर्वाण) निष्कारण अपवित्र कैसे हो सकते हैं ? नर-नारायण के छू देने से उसकी कल्पित जाति को मन में लाकर आप लोग जलाशयों को निष्कारण ही अपवित्र मान बैठते हैं जिस जल की पवित्रता का अहङ्कार आप लोग करते हैं, उसकी स्थिति सुनिये— " ढोर पतंग सरै घरियारा " इत्यादि। अब बतलाइये, क्या मनुष्य पशुओं से भी बुरे हैं ?। सुनिये, जात्या कोई मनुष्य अछूत नहीं है। हां, मलिनता रखने के कारण वह दूर किया जा सकता है; अतः मनुष्य-विशेष को स्वाभाविक अछूत मानना अन्याय है ॥३॥ जिसको इस पाखण्ड-फन्द का ज्ञान हो गया है वह इस अनुचित छूआ-छूत के बन्धन को तोड़कर निकल जाता है और

फिर वह उस पाखण्ड-मार्ग को कभी देखता भी नहीं है ॥ ४ ॥ इस संसार में भ्रम जाल में पड़े हुए मनुष्यों में से कोई सत्य का निर्णय नहीं करता है। अतएव सर्वपापों को हरण करनेवाले हरि (आत्मदेव) की जो सच्ची भक्ति सामान्यतया सर्वात्म-प्रीति, विश्वात्म-प्रीति तथा विशेषतया नर-नारायण-प्रीति है, उसको जाने बिना मिथ्या अहंकारी सारे संसारी अपार संसार-पारावर में डूब कर मर जाते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ – 'छूतहिं जेंवन छूतहिं अचवन, छूतहिं जगत उपाया ।
कहहिं कबीर ते छूत विवरजित, जाके संग न माया ' ॥ (बीजक)

(७५) रमैनी ।

तेहि साहब के लागहु साथा । दोइ दुष मेटि के होहु[१] सनाथा ।
दसरथ कुल औतरि नहि आया । नहि लंकाके राव सताया ।१
नहि देवकी के गरभहि आया । नहीं जसोदे गोद षेलाया ।
प्रिथिमी रवन धवन[२] नहि करिया ।
पैठि पताल नहीं बलि छलिया ॥ २ ॥
नहि बलि राजा से मांडल रारी । नहि हिरनाकुस बधल पछारी ।
बाराह रूप धरनी नहिं धरिया । छत्री मारि निछत्री नहि करिया ॥
नहि गोवरधन कर गहि धरिया ।
नहि ग्वालन संग बन बन फिरिया ।
गंडक सालिगराम न कूला ।
मछ कछ होय नहीं जल[३] डोला ॥ ४ ॥
द्वारावती सरीर न छांड़ा । लै जगनाथ पिंड नहिं गाड़ा ॥५
कहहिं कबीर पुकारि कै वहि पंथ मति कोइ भूल ।
जाहि राषेहु अनुमान कै, सो थूल नहीं अस्थूल ॥ ६ ॥

शब्दार्थ – तेहि साहब = निर्लिप्त, शुद्ध चेतन । दोइ दुष = जन्ममरणादिक

१ पाठा०-ग, छ, झ, रहहु । २ पाठा० ज, झ, बदन । ३ पाठा०-त, थ, जला-होला ।

द्वन्द्व । औतरि = अवतार लेकर । राव = राजा (रावण) । रवन = विहार । धवन = दौड़ना । पैठि = घुस कर । रारी = युद्ध । गंडक सालिगराम = गंडक नदी के शालिग्राम । पिंड = शरीर । द्वारावती = द्वारका ।

(अवतारवाद)

टीका—उस 'साहब' शुद्ध चेतन का साक्षात्कार करो और जन्ममरणादिक द्वन्द्व को मेट कर कृत-कृत्य हो जाओ । उस 'साहब' ने दसरथजी के सूर्यवंश में अवतार नहीं लिया । और लंका के राजा रावण को नहीं मारा ॥ १ ॥ और देवकी के गर्भ में आकर कृष्णावतार नहीं बने । और यशोदा के गोद में भी नहीं खेले । और पृथ्वी-रमण तथा शत्रुओं के ऊपर धावन (धावा) भी नहीं किया ॥ २ ॥ और बलिराजा से युद्ध भी नहीं किया । और नरसिंह अवतार से हिरण्यकशिपु दैत्य को पछार कर नहीं मारा । और वराह रूप से धरनी को भी नहीं धरा । और परशुराम के अवतार से क्षत्रियों को मारकर पृथ्वी को क्षत्रिय-हीन भी नहीं किया ॥ ३ ॥ उस 'साहब' ने गोवर्द्धन पर्वत को हाथ में नहीं धरा । और गोपों के साथ वन-वन में नहीं घूमे । और गंडक नदी के तट में शालिग्राम भी नहीं बने और मच्छ का अवतार और कच्छप का अवतार होकर जल में भी नहीं चले-फिरे ॥ ४ ॥ उस 'साहब' ने द्वारिकापुरी में शरीर को नहीं छोड़ा । और जगन्नाथपुरी में बुद्धरूप से उनका शरीर भी नहीं गाड़ा गया ॥५॥ कबीर साहेब पुकार-पुकार कर कहते हैं कि, हे भाइयों ! तुम लोग माया के मार्ग में मत भूलो । तुम अपनी कल्पना से उस रमैया राम का स्थूल या सूक्ष्म जैसा आकार समझ रहे हो वह वैसा नहीं है; क्योंकि ये सब आकार माया के हैं। और वह तो सब प्रकार के आकारों से रहित है । न कहीं आता है, न कहीं जाता है, न मरता है और न मारता है ॥ ६ ॥

भावार्थ – ' दस अवतार ईसरी माया, करता कै जिन पूजा ।
कहंहिं कबीर सुनो हो संतो, उपजै खपै सो दूजा' ॥ (बीजक)

(७६) रमैनी ।

माया मोह कठिन संसारा । इहै विचार न काहु बिचारा ।
माया मोह कठिन है फंदा । होय बिबेकी सोई जन बंदा ॥१॥

राम नाम लै बेरा धारा। सो तो ले संसारहि पारा ॥ २ ॥

रामनाम अति दुरलभ, अवरे ते नहिं काम।
आदि अंत औ जुग जुग, मोहि रामहि ते संग्राम ॥३॥

शब्दार्थ – बेरा = जहाज अर्थात् आत्मोपासक।

(माया-फांस और उसका विनाश)

टीका – संसार में माया और मोह कठिन है। इस विचार को किसी ने नहीं विचारा। माया और मोह का फंदा जबरदस्त है। जो विवेकी होगा वही मेरा दास बनेगा और फंदे को काटेगा ॥१॥ चेतन स्वरूप राम है नाम जिसका ऐसे रमैया राम के जहाज पर चढ़ो अर्थात् आत्मोपासक बनो। वह तुमको संसार-सागर से पार कर देगा ॥ २॥ मुमुक्षु कहता है कि, राम नाम रूप आत्मा का लाभ यद्यपि दुष्कर है तथापि प्रपञ्च से मुझे काम नहीं है। आदि, अंत और अनेक युगों तक आत्माराम की प्राप्ति के लिए ही मेरी रगड़ है। "जन्म-जन्म यह रगड़ हमारी। बरौं शंभु न तु रहउ कुमारी" ॥ मुमुक्षु की यह शुभ इच्छा रहती है कि, हमारी आत्म-तत्परता सदैव बनी रहे ॥३॥

भावार्थ – माया को पीठ देकर आत्मोन्मुख हुए बिना माया का भय नहीं मिट सकता है।

(७७) रमैनी।

एकै काल सकल संसारा। एक नाम है जगत्र पियारा।
त्रिया पुरुष किछु कथो न जाई। सरब-रूप जग रहा समाई ॥
रूप निरूप जाये नहि बोली। हलुका गरुवा जाय नहि तोली।
भूष न त्रिषा धूप नहि छांही। दुष सुष रहित रहे तेहि मांही ॥
अपरं पारं रूप मगु, ग्यान[१] रूप बहु भाय।
बहुत ध्यान[२] कै जोहिन[३], ना तेहि सष्या आहि ॥ ३ ॥

१ पाठा०—च, ब, रूप निरूप न भाय। २ त, थ, जतन। ३ ज, भ, खोजिया।

शब्दार्थ – मगु = रास्ता । जोहिन = खोजा है ।

(कालपुरुष और जीव का स्वरूप)

टीका – सारे संसार में एक निरञ्जन मन काल है और एक आत्मा सारे जगत में प्रिय है । वह आत्मा न स्त्री है, न पुरुष ही है । वह नाना कर्म-जन्य शरीरों को धारण कर जगत में समाया हुआ है ॥ वह आत्मा वाणी का अविषय है । इस कारण उसको न रूपवाला कह सकते हैं और न रूप रहित ही । और वह चेतन भूख, प्यास और सुख–दुःखादिक विकारों से रहित जो अपना स्वरूप है उसीमें सदैव स्थिर रहता है ॥ २॥ जीव का स्वरूप अपरंपार है और उसका मार्ग [साधन] भी पूर्ण ज्ञान रूप है । ज्ञानियों की ऐसी ही प्रतीति है । ज्ञानियों ने दीर्घकाल तक निरन्तर बड़े भारी चिन्तन से उसको खोजा है । तत्त्ववेत्ताओं का उसके विषय में ऐसा अनुभव है कि, न वह एक है न दो है । " एक कहूं तो है नहीं, दोय कहूं तो गारि । है जैसा तैसा रहे, कहंहिं कबीर विचारि " ॥ [बीजक] ॥ ३ ॥

भावार्थ – चेतन है अवश्य; परन्तु अतत्त्वदर्शी जैसा समझते हैं वैसा नहीं है ।

[७८] रमैनी ।

मानुष-जन्म चुके अपराधी । यहि तन केर बहुत है साझी ।
तात जननि कहै पूत हमारा । स्वारथ लागि कीन्ह प्रतिपाला ॥
कामिनि कहै मोर पिउ आहै । बाघिन रूप गिरासन चाहै ।
सुत कलत्र रहै लौ लाये । जम की नाई रहै मुष बाये ॥२॥
काग गीध दुई मरन बिचारै । सिकर स्वान दुइ पंथ निहारै ।
अगिन कहै मैं ई तन जारौं । पानि कहै मैं जरत उबारौं[1] । ३॥
धरती कहै मोहि मिलि जाई । पौन कहै संग लेउं उड़ाई ।
तेहि घर के घर कहे गंवारा । सो बेरी है गले तुम्हारा ॥४॥

[1] पाठा०–त, थ, द, सो न कहै जो जरत उबारौ । ध, न, सो न करौ जो जरत उबारौ ।

एतना तन के साझिया, जन्मो भरि दुष पाव ।
चेतत नाहि मुगुध नल बौरे, मोर मोर गोहराव ॥५॥

शब्दार्थ – अपराधी = पापी । साझी = हिस्सेदार । कामिनी = रखनी रखो हुई स्त्री । पिउ = पति । मुष बाये = मुख खोले हुए । सिकर = सियार [या सूअर आदिक] । बेरी = गले की तोख [जंजीर] । मुगुध = मूर्ख ।

[नरतन के साक्षी और ग्राहक]

टीका – हे पापी ! तुम अपने मनुष्य जन्म से चूक गये ! देखो, तुम्हारे इस नरतन के बहुत से हिस्सेदार हैं । पिता और माता कहते हैं कि, यह हमारा पुत्र है और स्वार्थवश ये लोग तुम्हारा प्रतिपालन करते हैं ॥ १ ॥ रखेलनी (रक्खी हुई स्त्री) कहती है कि, यह मेरा पति [उपपति] है और बाघिन के समान उसको ग्रास लेना चाहती है । और पुत्र तथा विवाहिता स्त्री भी प्रेम लगाये हुए हैं और यमराज की तरह सदैव मुख खोले रहते हैं ॥ २ कौवे और गीध दोनों ही तुम्हारे मरन को चाहते हैं । सियार और कुत्ते भी तुम्हारे मरन की प्रतीक्षा में लगे रहते हैं । अग्नि कहती है कि, मैं इस शरीर को जला दूंगी । और पानी कहता है कि, मैं इसको जलते से बचा लूंगा ॥ ३ ॥ पृथ्वी कहती है कि, यह शरीर मेरे में मिल जाय । और पवन कहता है कि, मैं ऊड़ा कर अपने साथ ले जाऊं । हे मूर्ख ! जिस शरीर को तुम अपना घर समझते हो वह तो सचमुच तुम्हारे गले की बेड़ी [तोख, जंजीर] है ॥४॥ उस शरीर को तुमने अपना समझ रखा है । रे अज्ञानियों ! तुम विषय के फन्दे में भूल गये हो ॥५॥ जिस शरीर की रक्षा के लिए तुम जन्मभर दुःख उठाते हो, उस शरीर के तो इतने हिस्सेदार हैं । तिस पर भी हे दिवाने मूर्ख मनुष्य ! तू चेतता नहीं है । और मेरा है, मेरा है यह पुकारता है ॥६॥

भावार्थ – अनित्य शरीर के लिए अन्यायाचरण करना महा अनर्थ है ।

[७९] रमैनी ।

बाढत[१] बढ़ी घटावत छोटी । परषत षरी परषावत षोटी ।
केतिक कहौं कहां लौं कही । अवरो कहौं परै जो सही ॥१॥

१ पाठा०–य, र, बढवत ।

कहल बिना मोहि रहल न जाई। बेरहिं[1] लै लै कूकुर षाई ।२।

षाते षाते जुग गया, बहुरि न चेतहु आय।
कहंहिं कबीर पुकारि कै, ई जीव अचेते जाय ॥३॥

शब्दार्थ—षोटी = खराब। बैरहिं = सं. स्त्री. (हि. बेढना = घेरना) वह रोटी जिसके बीच में दाल या पिट्ठी भरी हो।

(माया और वाणी की दशा)

टीका – माया और वाणी बढ़ाने से बढ जाती है और घटाने से कम हो जाती है। और उसकी स्वयं परीक्षा करता है तो सच्ची मालूम होती है। और दूसरों से परीक्षा कराता है तो वह झूठी हो जाती है। मैंने तो कितना ही कह दिया और अभी कहां तक कहूँ ? । यदि मेरी बात सत्य समझी जाय तो और भी कहने के लिए तैयार हूँ ॥ १ ॥ मुझ से तो बिना कहे रहा नहीं जाता है। देखो, अच्छे भोजन कुत्ते खा रहे हैं। भाव यह है कि, राम-बियोगी जिज्ञासुओं को वंचक लोग अपने जाल में डाल रहे हैं ॥२॥ विषयों को भोगते-भोगते अनेक युग बीत गये; परन्तु इस जीव ने चेत नहीं किया। कबीर साहेब पुकार कर कहते हैं कि यह जीव अचेत ही चला जाता है ॥३॥

भावार्थ—माया–जाल और वाणी–जाल से बचना चाहिये।

[८०] रमैनी।

बहुतक साहस करहु जिव अपना।
तेहि साहब सो भेंट न सपना।
षरा षोट जिन्ह नहि परषाया।
चाहत लाभ तिन्ह मूल गंवाया ॥१॥

समुझि न परलि पातरी मोटी। ओछे गांथिन्हि सभै भौ षोटी।

---

1 पाठा०—ल, व, श, बेहहिं।

कहहिं कबीर केहि देहौ षोरी।
जब चलिहौ झिझि आसा तोरी[1] ॥२॥

शब्दार्थ—साहस = हिम्मत। मूल = पूंजी, ज्ञान। गांथिन्हि = गूंथ कर (सम्बन्ध, प्रेम करके)। षोरी = सं. स्त्री. (सं. खोट या खोर) दोष, ऐब। उ०—'कहो पुकारि खोरि मोहि नाहीं'। तु०। झिझि = झीनी झीनी।

(विवेक की आवश्यकता)

टीका—हे जीव! तुम अपने मन में बहुत ही हिम्मत करते हो; परन्तु उस 'साहब' से तुम्हारी स्वप्न में भी भेंट नहीं होगी, क्योंकि जिसने झूठी और सच्चे की परीक्षा नहीं की है, वह चाहता तो लाभ है; परन्तु मूल पूँजी ज्ञान को भी खो देता है॥१॥ मोटी माया और झीनी माया को न समझ सके; अतएव ओछे (मन) से प्रेम करने के कारण सब कुछ खराब हो गया। "ओछे नेह लगाय के, मूरहु आवै खोय"। मन के संगी सब दुष्ट बन गये। कबीर साहेब कहते हैं कि जब तुम झीनी-झीनी अनन्त आशाओं को तोड़कर सदा के लिए चलते बनोगे तब किसको दोष लगाओगे!॥ २॥

भावार्थ—विवेक दृष्टि से सन्मार्ग को ढूंढ़ निकालना परम कर्तव्य है।

(८१) रमैनी।

देव-चरित्र सुनहु रे भाई। सो ब्रह्मा जो धियउ नसाई।
ऊजे सुनी मंदोदरि तारा। तेहि घर जेठ सदा लगवारा।१।
सुरपति जाये अहीलहिं छरी। सुर-गुरु-घरनि चंद्रमै हरी।
कहहिं कबीर हरि के गुन गाया। कुंती करन कुंवारहि जाया।२।

शब्दार्थ—नसाई = नष्ट किया। सुरगुरुघरनि = बृहस्पतिजी की स्त्री।

(शील-सुधार और माया की प्रबलता।

टीका—हे भाइयो! देवताओं के चरित्र को सुनो। जो ब्रह्माजी थे

---

१ ब, स, ष, पुस्तकों में इस रमैनी के अन्त में यह साखी है।

झी झी आसा में लगे, ज्ञानी पंडित दास।
शब्द न चीन्है बावरा, घर घर फिरै धुवार॥ (उदास)

उन्होंने अपनी लड़की को ही भ्रष्ट किया, और वे जो मन्दोदरी और तारा सुनी जाती थीं, उनके घर में जेठ [पति के बड़े भाई] सदा के प्रेमी बने हुए थे ॥ १ ॥ इन्द्र ने जाकर अहिल्या को छला, और बृहस्पतिजी की स्त्री तारा को चन्द्रमा ने हरा। कबीर साहेब कहते हैं कि सन्तों ने हरि की माया को प्रबल समझ कर उससे बचने के लिए हरि के गुणों का गान किया है। देखिये, कुंती ने कुंवारेपन में ही कर्ण को पैदा किया ॥ २ ॥

भावार्थ—माया ने मौका (दाव, अवसर) पाकर बड़े-बड़े लोगों को भी गिरा दिया है। इसलिये हमको तो बहुत ही सावधान रहना चाहिये।

(८२) रमैनी।

सुष के ब्रिच्छ एक जगत्र उपाया।
समुझि न परलि विषै किछु माया।

छव-छत्री पत्री[1] जुग चारी। फल दुई पाप पुन्य अधिकारी।१।
स्वाद अनंत किछु बरनि न जाई। कै चरित्र सो ताही[2] मांही
नट-वट साज साजिया। जो षैलै सो देषै बाजिया ॥२॥
मोहा बपुरा जुगुति न दीठा। सिव सक्ति विरंचि नहि पेषा।३।

परदे परदे चलि गया, समुझि परी नहि बानि।
जो जानि है सो बांचि हैं, नहीं तो होत सकल की हानि।४।

शब्दार्थ—उपाया = उत्पन्न किया। जगत्र = जगत, संसार। पत्री = पक्षी। न दीठा = नहीं देखा।

(संसार-वृक्ष की विलक्षणता)

टीका—जिस माया ने इस जगत में सुखदायी मालूम होनेवाले विषय-रूपी एक बड़े भारी विष-वृक्ष को लगाया है, उस माया को संसारी लोग कुछ भी न समझ सके। चारों युगों में होने वाले छः चक्रवर्ती राजा लोग उस वृक्ष

---

१ पाठा०—त, थ, निहपत्री। २ ज, ताहि समाई।

के निवासी बड़े-बड़े पक्षी हैं, और अधिकारियों को अपने कर्मों के अनुसार मिलनेवाले पाप और पुण्यरूप दो फल उस वृक्ष में सदैव लगे रहते हैं ॥१॥ उसका स्वाद अनन्त है। कुछ वर्णन करने में नहीं आ सकता है। और बड़े छोटे सब प्रकार के उक्त पक्षी विषय-वृक्ष पर बैठे हुए नाना प्रकार के लीला-विहार किया करते हैं। यह माया नाट्य-निपुण नट की तरह अनेक दृश्यों की साधन-सामग्री को सदैव प्रस्तुत (तैयार) किया करती है। इसके खेलों में यह विशेषता है कि संसारी लोग इसके खेले हुए खेलों को देखकर प्रसन्न और अप्रसन्न होते हुए भी विवश होकर सदैव देखा ही करते हैं ॥२॥ उस चतुर ठगनी के मनोहर अभिनय को देखकर बेचारे अज्ञानी लोग अपने आपको भूल गये। इस कारण उसकी चालाकी को न देख सके। प्राकृत जनों की तो कथा ही क्या है? शिव, शक्ति और ब्रह्मादिक अधिकारी पुरुष भी माया के बिछाये हुए अधिकार रूपी जाल को न देख सके। इस कारण अधिकार-बन्धन में पड़ गये। 'अधिकारं समाप्येते प्रविशन्ति परम्पदम्'। अर्थात् अधिकार-समाप्ति के अनन्तर अधिकारी (देवता) परम पद (मुक्तिपद) में प्रवेश करते हैं। "राज ठगौरी विष्णु पर परी, चौदह भुवन केर चौधरी"। (बीजक)। यह जीव भूल ही भूल में चला गया और अनात्म-पदार्थों में उरझानेवाली वाणी इसकी समझ में नहीं आई। जो समझेंगे वे बचेंगे; नहीं तो सबों की हानि तो हो ही रही है ॥ ४ ॥

भावार्थ—"बाजि झूंठि बाजीगर सांचा, संतन की मति ऐसी।
कहंहि कबीर जिन जैसी समुझी, तिनकी गति भइ तैसी" ॥

(८३) रमैनी।

छत्री करै छत्रिया धरमा। सवाई वाके बाढै करमा।
जिन्ह अवधू गुरुज्ञान लषाया। ताकर मन तहंई ले धाया।१।
छत्री सो जो कुटुम से जूझै। पांचौ मेटि एक कै बूझै।
जीव मारि जीव प्रतिपालै। देषत जनम आपनो हारै।२।
हालै करै निसानै घाऊ। जूझि परे तहां मनमथ राऊ।३।

मन-मथ मरै न जीवै, जीवहि मरन न होय।
सून्य सनेहे राम बिनु, चलै अपन पौ षोय ॥४॥

शब्दार्थ—अवधू = स्त्री त्यागी। हालै = तुरन्त। मनमथ राऊ = कामदेवरूपी राजा। अपन पौ = सं. पु. (हि. अपना+पौ (प्रत्यय) आत्मीयता, आत्मस्वरूप। उ० – 'सो मैं निरखि अपन पौ खोयो'। सूर०।

[क्षत्रिय–कर्तव्य विचार]

टीका—क्षत्रिय लोग यदि पूरी तरह क्षात्र-धर्म का पालन करे तो उनका सत्कर्म सवाया बढ़ता जाय। जिसको गुरुने जिस मार्ग पर चलने का उपदेश किया उसका मन उसको उसी रास्ते से ले दौड़ा ॥१॥ वह क्षत्रिय है जो मन और इन्द्रियों को जीतने के लिए उनसे युद्ध करता है और अन्त में इन्द्रियों का दमन करके आत्म–साक्षात्कार करता है। और जो क्षत्रिय जीवों को मार कर अपने पेट को पालते हैं वे देखते हुए अपने मनुष्य जन्म को नष्ट कर देते हैं ॥२॥ वही सच्चा क्षत्रिय है जो अपने दुष्ट मनरूपी लक्ष्य को सद्–उपदेश रूप वाणों से शीघ्र ही भेद देता है। और मन को मथनेवाले अरिषडवर्ग रूप अन्तःशत्रु राजाओं से घोर युद्ध ठान देता है। (सूचना–काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य; ये अरि–षड्वर्ग संज्ञावाले हैं। बाहर के शत्रुओं का आक्रमण तो कभी-कभी होता है; परन्तु इनको तो आक्रमण करने का सुअवसर सदैव मिला करता है। और यह भी बात है कि, अन्तःशत्रुओं को जीते बिना बाहर के शत्रुओं को जीतने की क्षमता भी नहीं हो सकती) ॥३॥ शत्रु–विजय का फल—यदि मन को मथनेवाले उक्त कामादिक तथा कल्पनादिक ऐसे मार दिये जांय कि फिर वे कभी न जी सकें तो जीवात्मा का मरण न हो सके अर्थात् मुक्ति हो जाय; परन्तु इस बात को सिद्धियों के भूखे योगी लोग नहीं मानते हैं। वे लोग तो अनात्म–उपासक होने के कारण शून्य गगन मंडल में बसनेवाले कल्पित मालिक से प्रेम लगाया करते हैं। अतएव (स्वरूप–विस्मृति के कारण) राम रूप आत्माराम के विहार से वञ्चित होकर भयंकर और गहन संसार–कानन में चले जाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—'काया गढ़ जीतो रे मेरे भाई, जाके संत करेला बादशाही ।' जीवन मारो बापुरे, सबके एकै प्रान । हत्या कबहु न छूटसी, कोटिन सुनो पुरान' ॥ " सुन्नहि बांछा सुन्नहि गयऊ । हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ " ॥

(८४) रमैनी ।

ए जियरा ! तें अपनो दुषहि संभारू ।
जे दुष व्यापि रहल संसारू ।
माया मोह बंधा सभ लोई । अलप लाभ मूल गौ षोई ॥१॥
मोर तोर में सभै बिगुरचा । जननी वोद्र गरभ महं सूता ।
बहुतेक षेले बेलै बहुरूपा । जन भौंरा अस गये बहूता ॥२॥
उपजे बिनसै जोइनि फिरि आवै ।
सुष का लेस सपनेहुं नहि पावै ।
दुष संताप कष्ट बहु पावै । सो न मिला जो जरत बुझावै ॥३॥
मोर तोर मंह जरे जग सारा । धिग स्वारथ झूठा संसारा[1] ।
झूठा मोह[2] रहा जग लागी ।
इन्ह ते भागि बहुरि पुनि आगी ॥४॥
जेहि हित के राषै सभ लोई ।
सो सयान बांचा नहिं कोई ॥५॥
आपु आपु चेतै नहीं, कहौं तो रुसवा होय ।
कहंहि कबीर ई सपने[3] जागे, निरा आ।थ अस्थि न होय ॥६॥

---

१ पाठा०—च, छ, हंकारा ।   २ ज, झ, आस ।
३ य, र, ल, जो आपुन जागे ।

शब्दार्थ—बिगुरचा = फंसना, नष्ट होना । जोइनि = शरीर । रुसवा = क्रि. सं. (हि. रोष) रुसना, नाराज होना ।

(उद्‌बोधन—चेतावनी)

टीका—जो अज्ञानतादिक दुःख सारे संसार में फैल रहा है, हे जीव ! तू अपने आपको उस दुःख से बचा ले । सब लोग माया और मोह में बंधे हुए हैं । विषय-भोग के थोड़े से लाभ से मूल ज्ञान नष्ट हो जाता है ॥ १ ॥ मोर तोर के फन्दे में सब फंस गये । इस कारण जननी के उदर-गर्भाशय में जाकर सोना पड़ा । जो लोग (नेता बनकर) अपनी अपार बुद्धि—शक्ति से संसार में अनेक प्रकार की बड़ी-बड़ी क्रान्तियां कर दिखलाते थे, ऐसे बहुत से जन-भंवरे सदा के लिए उड़ गये ॥ २ ॥ मनुष्य उत्पन्न होकर, नष्ट होकर फिर शरीर में चला आता है; परन्तु स्वप्न में भी इसको सुख का लेश नहीं मिलता है । दुःख, संताप और बहुत कष्टों को पाता है; परन्तु ऐसे सद्‌गुरु उसे नहीं मिलते हैं जो सन्ताप—अग्नि में जरते हुए को शान्त कर दे ॥ ३ ॥ मोर-तोर की अग्नि में सारा संसार जल रहा है । स्वार्थ को धिक्कार है, और संसारियों का अहंकार भी मिथ्या है । मोहवश संसारी लोग झूठी आशा में लगे हुए हैं । अतः वे झूठे मोह में एक अग्नि के कुण्ड से किसी तरह बच जाते हैं तो दूसरे में जा गिरते हैं ॥ ४ ॥ जिनको सब लोग भारी हितकारी समझते थे, उनमें से कोई चतुर नहीं बचा ॥ ५ ॥ अज्ञानी मनुष्य अपने हिताहित का स्वयं विचार नहीं करते हैं । और मेरे उपदेशों को सुन कर अप्रसन्न हो जाते हैं । कबीर साहेब कहते हैं कि यह जीवात्मा यदि अज्ञानतारूप निद्रा के स्वप्नों से स्वयं जग जाय तो निरस्ति [मिथ्या संसार] अस्ति [सत्य] प्रतीत न हो । भाव यह है कि जिस प्रकार सोये हुए मनुष्य को निद्राकाल में सपना सच्चा मालूम पड़ता है; परन्तु जग ने पर वह मिथ्या हो जाता है । इसी प्रकार अज्ञानतारूप निद्रा में पड़े हुए लोगों को संसार सत्य मालूम पड़ता है; परन्तु ज्ञानियों को नहीं । "या निशा सर्वभूतानां तस्यां

जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः" ॥ [गीता] ॥ ६ ॥

[सूचना—इन रमैनियों का प्रायः चौपाई छन्द है। लक्षण—"सोरह क्रमन 'जत' न चौपाई"। प्रत्येक चरण में १६ मात्रा हो और अंत में जगण अथवा तगण न पड़े। अर्थात् एक लघु अन्त में न हो, एक से अधिक लघु हों]।

भावार्थ—मनुष्य स्वयं सचेत नहीं होता है; अतः स्वप्नमय संसार से मुक्ति नहीं पाता है। यदि वह स्वयं चेते तो एक होवै।
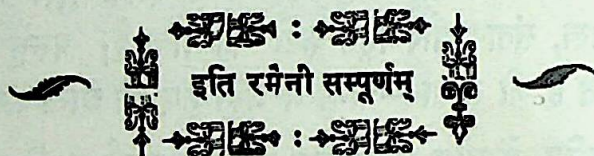
* सत्यनाम *

शब्द ।

❀

(१) शब्द ।

सन्तो ! भक्ती सतगुरु आनी ।
नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझहु पंडित ग्यानी ॥१॥
पाहन फोरि गंग एक निकरी, चहुं दिसि पानी पानी ।
तेहि पानी दुइ परबत बूड़े, दरिया लहर समानी ॥२॥
उड़ि मंषी तरिवर के लागी, बोलै एकै बानी ।
वहि मांषो के मांषा नाहीं, गरभ रहा बिनु पानी ॥३।
नारी सकल पुरुष वहि षाये, ताते रहौ अकेला ।
कहहिं कबीर जो अबकी समुझै, सोई गुरु हम चेला ॥४॥

मङ्गलाचरण ।

यदीयसुखलेशेन, सुखिनः सर्वजन्तवः ।
तं कबीरमहं वन्दे परमानन्दविग्रहम् ॥१॥
वन्दयित्वा सतः सर्वान्, करुणावरुणालयान् ।
जगन्नाथपदारूढो विशामि शब्दसागरम् ॥२॥

जिनके परमानन्द के लेशमात्र को ग्रहण करके सब प्राणी सुखी हो जाते हैं, परमानन्द के स्वरूप ऐसे सद्गुरु कबीर साहेब की मैं वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥ तथा करुणा के समुद्र सब सन्त महात्माओं की वंदना करके जगन्नाथ साहब के चरण–कमल रूपी नौका पर चढ़कर बीजक ग्रन्थ के शब्द–प्रकरण रूप अमृत–सागर में प्रवेश करता हूं ॥ २ ॥

शब्दार्थ—पाहन = पत्थर । मंषी = मक्खी ।

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, हे जिज्ञासुओं ! आप लोग आत्म-ज्ञानी सद्गुरु की भक्ति (अनुराग) हृदय में लाइये, जिससे कि माया के

जाल से बच सकें। अब माया की प्रबलता बताते हैं—एक नारी (माया) ने दो पुरुषों को [जीव तथा ईश्वर को] प्रगट किया है। इस बात को हे ज्ञानियों ! और हे पण्डितो ! आप लोग समझिये। श्रुति ने भी स्पष्ट कहा है कि, " जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या चेति "। तथा "मायाख्या कामधेनोर्वत्सो जीवेश्वरावुभौ " अर्थात् माया रूप कामधेनु के जीव और ईश्वर दो बछड़े हैं ॥१॥ इस माया का आविर्भाव तथा तिरोभाव चेतन में ही होता है। जिस प्रकार गंगाजी हिमालय से प्रकट हुई थीं। इसी तरह पाहन तुल्य सैन्धव-घन चेतन से शुद्ध सत्व-प्रधान माया रूप गंगा का आविर्भाव हुआ है, जिसका यह पानी (प्रपञ्च) चारों ओर फैल रहा है। [यह कथन माया के आविर्भाव पक्ष से है; अतः विरोध नहीं]। अनन्तर माया रूप गंगा में सब से बड़े दो पर्वत [जीव और ईश्वर] डूब गये अर्थात् माया ने दोनों को उपहित [उपाधिवाला] बना लिया। इस प्रकार यह भयङ्कर नदी सारे संसार को आप्लावित करती हुई समस्त विश्व को एक कोने में रख लेनेवाले चेतन-समुद्र में जाकर एक तुच्छ लहर की तरह समा जाती है। भाव यह है कि यह विश्वमोहिनी माया ज्ञानियों के आगे मन्त्र-मुग्ध सी होकर किं-कर्तव्य-विमूढा हो जाती है ॥ २ ॥ अब साधन-सम्पत्ति रहित वाचक ब्रह्म-ज्ञानियों की अर्थात् [वन्ध्य ज्ञानियों] की दशा को बताते हैं :—ज्ञानाभि-मानियों की वृत्तिरूप मक्खी उड़कर संसार रूप वृक्ष पर बैठी हुई है। अर्थात् मिथ्या ज्ञानी पूरी तरह प्रपञ्च-पंक में फंसे हुए हैं। और वह एक ही वाणी ' अहं ब्रह्मास्मि ' [मैं ब्रह्म हूं] बोलती है। वस्तुतः उस वृत्ति रूप मक्खी का मांखे रूप ब्रह्म के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ है। अर्थात् इन प्रपञ्च-परायण वञ्चक ज्ञानियों की वृत्ति ब्रह्माकार नहीं हुई है। यदि हुई होती तो प्रपञ्च को वान्त अन्न की तरह दूर ही से त्याग देते। क्योंकि—

"जो विभूति साधुन तजो, तिहि विभूति लपटाय।
ज्यों श्वान वमनहि करै, उलटि अशन पुनि खाय ॥ "

तिस पर भी देखिये, यह कैसा आश्चर्य है कि इनकी वृत्ति रूप मक्खी को विना पानी ही के गर्भ रह गया है। भाव यह है कि सत्व-शुद्धि

के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता है। उक्त ज्ञानाभिमानी भ्रमवश अपने को ब्रह्मज्ञानी मानते हुए मिथ्या अहंकार-समुद्र में डूबे रहते हैं। परन्तु आत्म-साक्षात्कार के बिना केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' कहने से कदापि मुक्ति नहीं मिल सकती है। इस प्रसंग में यह कैसा अच्छा वचन है—" न गच्छति विना पानं, व्याधिरौषधशब्दतः। विनाऽपरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते " ॥ ३ ॥ अब माया से छूटने का उपाय बताते हैं :—माया रूप नारी ने अपने सब स्वामी को खा डाला। " कारे मूंड को एकहुं न छांडी अजहुं आदि कुमारी "। इसलिए जो माया नारी से बचना चाहे उसको उचित है कि, वह अकेला [असंग] रहे; क्योंकि संग ही बन्धन का कारण है। कबीर साहेब कहते हैं कि जो अबकी [नरतन पाकर] आत्म-परिचय करते हैं वे गुरु हैं [श्रेष्ठ हैं] और हम तो ज्ञानी महात्माओं के दास ही हैं। "हम चेला " यह कथन नम्रता का परिचायक है॥ ४ ॥

भावार्थ—" माया के वस जग परा, कनक कामिनी लागि।
कहंहिं कबीर कस बांचि है, रुई लपेटी आगि " ॥

नोट—" शब्द " यह संज्ञा उन पदों की है जो बहुधा गाने में आया करते हैं। इन्हीं को " भजन " पद, हरि [ज] श भी कहा करते हैं सन्त-मत में " शब्द " पद पारिभाषिक है।

[२] शब्द।

संतो जागत नींद न कीजे।
काल न खाय कल्प नहि ब्यापै, देह जरा नहि छीजै ॥१॥
उलटी गंग समुद्रहिं सोषै, ससि और सूरहि ग्रासै।
नव-ग्रह मारि रोगिया बैठे, जल महं बिंब प्रगासै ॥२॥
बिनु चरनन को दहुं दिसि धावै, बिनु लोचन जग सूझै।
ससे ऊलटि सिंघ कहं ग्रासै, इ अचरज को बूझै ॥३॥
औंधे घड़ा नहीं जल बूड़े, सूधे सो जल भरिया।

जिहि कारन नल भीन भीन करु, गुरु-परसादे तरिया ॥४॥
पैठि गुफा महं सभ जग देषै, बाहर किछुउ न सूझै ।
उलटा बान पारथहिं लागै, सूर होय सो बूझै ॥५॥
गायन कहै कबहुं नहीं गावै, अनबोला नित गावै ।
नटवट बाजा पेषनि पेषै, अनहद हेत बढ़ावै ॥६॥
कथनी बदनी निजुकै जोहै, इ सभ अकथ कहानी ।
धरती उलटि अकासहिं बेधै, इ पुरुषन की बानी ॥७॥
बिना पियाले अमृत अँचवै, नदिय नीर भरि राषै ।
कहंहिं कबीर सो जुग जुग जीवै, जो राम-सुधारस चाषै ॥८॥

शब्दार्थ--कलप = प्रलयकाल । छ.जै = क्षीण होना कम होना । उ०-'पावडिया पग फिसलै अवधू लाहै छीजत काया' । गो० । सूरहि = सूर्य को । उ०- 'जेहि घरि चन्द्र सूर नहि ऊगै, तेहि घर होसी उजियारा' ॥ गो० । सूर = वीर ।

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि हे जिज्ञासुओ ! आप लोग नाना कल्पना रूप निद्रा के वश में क्यों पड़ गये ? जो कल्पना-समुद्र में नहीं पड़ते हैं वे काल के चक्र में नहीं आ सकते; अतः प्रलयकाल में भी अविक्रम [जैसे के तैसे] ही रह जाते हैं । और उसका देह [स्वरूप] कभी जरा-वस्था से आक्रान्त नहीं होता । भाव यह है कि तत्त्वज्ञानी सर्व द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं ॥ १ ॥ कल्पना-समुद्र में पड़े हुए योगियों के मतों का दिग्दर्शन कराते हैं–हठयोगी कहते हैं कि प्राणायाम के द्वारा ब्रह्माण्ड में चढ़ाई हुई श्वासा रूप गंगा नाना शोक संताप रूप समुद्र को सुखा देती है । भाव यह है कि समाधि-काल में बाह्य प्रपञ्च नहीं भासता है । और वही उलटी गंगा चन्द्र [ईडा] तथा सूर्य [पिंगला] को भी ग्रस लेती है । भाव यह है कि योगीजन सुषुम्णा-काल में ध्यान लगाते हैं; अतः सुषुम्णा नाडी के चलने से उक्त सूर्य और चन्द्रमा का लय हो जाता है, इस अभिप्राय से [गरासे]

कहा है है। पश्चात् नवों द्वारों को बन्द करके रोगिया (योगी) निश्चल हो जाते हैं। इस प्रकार स्थिर-चित्त होने से जल में (ब्रह्माण्ड में) बिम्ब का प्रकाश होता है। वस्तुतः यह ज्योति तत्त्वों का प्रकाश है। यहां पर यह रहस्य है कि प्राणवायु प्रकाशशील है। अतः ब्रह्माण्ड में प्राणों के आयाम (रोकने) से वह केन्द्रित होकर ज्योति-रूप से भासने लगती है। योगी लोक उक्त ज्योति को आत्म—रूप समझकर उसकी ब्रह्मज्योति रूप से उसासना करते हैं। ये सब मन की कल्पनायें हैं॥ २॥ सतगुरु कहते हैं कि हे सन्तो! इन योगियों का मन रूपी पत्ता वासना—प्रभञ्जन में पड़कर बिना ही चरणों के दशों दिशाओं में दौड़ता रहता है, और बड़ी अड़चन तो यह है कि इन योगियों को बिना ही लोचन (विवेक) के अर्थात् कल्पना मात्र से यह सब जग (प्रपंच) दीख रहा है। और जरा यह तो देखिये कि ससा (मन) ही झपट कर सिंह (जीवात्मा) को दबोच रहा है। इस महा अचरज को विवेकी ही समझेंगे। भाव यह है कि योगियों की स्वप्नवत् कल्पित नाना कौतुक ब्रह्माण्ड में भासा करते हैं; अतः उक्त शैवाल जाल में फंस कर वे संसार—सागर ही में पड़े रहते हैं ॥३॥ संसार-समुद्र को तैरने का उपाय बताते हैं—जिस प्रकार औंधा घड़ा जल में नहीं बूड़ सकता है; किन्तु सीधा होने से ही उसमें जल भरा जा सकता है। इसी प्रकार बहिरंग वृत्ति में चित्प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है, किन्तु अन्तरंग वृत्ति में ही पड़ सकता है। अतः मुमुक्षुओं को उचित है कि, वे उक्त अनात्म-प्रपंचों को छोड़ कर तथा आत्म-निष्ठ महात्मा की शरण में जाकर मुक्ति के साधन आत्मज्ञान को प्राप्त कर ले, जिससे कि अनायास ही भवसागर से पार हो जायें। श्रुति ने भी आज्ञा दी है कि, "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" अर्थात् आत्मज्ञान के लिये सद्गुरु ही की शरण में जाना चाहिये। जिस अज्ञानता के कारण मनुष्य सबों को भिन्न-भिन्न करके मानता है वह अज्ञानी गुरु की कृपा से मुक्त हो जाता है ॥४॥ अब हठयोगी फिर कहते हैं कि गगन—गुफा में पैठने (प्रवेश करने) से विश्व-दर्शन हो जाते हैं अर्थात् प्राण—निरोध से ब्रह्माण्ड में सब लीलाएँ दीखती हैं, और बाहर तो चर्मचक्षुओं से उसकी अपेक्षा कुछ भी नहीं सूझता है। और उलटा हुआ बाण (श्वासा) पारथी = बीर (मन) को बेध देता है। इस बात को

सूर = वीर (योगी) ही जान सकते हैं। भाव यह है कि मन और पवन (प्राण) का अत्यन्त ही सम्बन्ध है। यहांतक कि दोनों की गति परस्पर साक्षेप है। यह वार्ता योग के ग्रन्थों में स्पष्ट है कि—

" चले वाते चलं चित्तं, निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति, ततो वायुं निरोधयेत् ॥ "

(हठयोग-प्रदीपिका। उपदेश २)

इस कारण व्युत्थान काल में पारथी (मन) बड़ी तेजी से श्वासारूप बाणों को चलाता रहता है; परन्तु जब ब्रह्माण्ड में प्राणों का निरोध कर दिया जाता है तब वे ही बाण उलट कर इन मन—पारथी को वेध देते हैं। अर्थात् मन का बाह्य प्रपंच मिट जाता है। अतः यह मूर्छित सर्प की तरह समाधि—काल में पड़ा रहता है ॥५॥ अनन्तर योगियों को यह भी उचित है कि वे बैखरी वाणी का संयम करे। अर्थात् ज्ञान—मूक हो जाय तथा अनबोला (अनाहत शब्द) का सदैव अभ्यास करते रहे, और पेखनी (बाह्य दृश्यों) को नट के बाजे की तरह समझ कर अनहद (अनाहत) शब्द से हेत (प्रेम) बढ़ावे। भाव यह है कि बैखरी के संयम से दिव्य अनाहत शब्द सुनने में आता है। यह योगशास्त्र में प्रसिद्ध है ॥६॥ योगियों को यह भी आवश्यक है कि, पूर्ण विवेक और संयम से सारे कर्मों को सिद्ध करे; क्योंकि ये सब बातें बडी कठिन हैं। अनन्तर दृढ़ अभ्यास के होने पर धरती (पिण्डाण्ड) को उलट कर आकाश (ब्रह्माण्ड) में ले जावें अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता करें। यह योगी पुरुषों का कथन है ॥ ७ ॥ अब कबीर साहेब कहते हैं कि " ऐ मरजीवा अमृतपीवा ! का धसि मरसि पताल। गुरु की दया साधु की संगति, निकरि आव येहि द्वार ॥ " अर्थात् हठयोगी कल्पित प्रपञ्चों में पड़कर घोरातिघोर कष्ट उठाते हुए अन्त में भव-सागर में डूब जाते हैं, क्योंकि बिना आत्म—साक्षात्कार के सिद्धियों के भूखे योगियों की मुक्ति कदापि नहीं हो सकती है। मुक्तिपद को तो ऐसे ही जन प्राप्त कर सकते हैं कि, जो नदिय नीर (आत्माकारवृत्ति) को भरि राखै, अर्थात् स्थिर रखते हैं। अतएव बिना पियाले, अर्थात् स्वतः अमृत (निजा-नन्दामृत) को " अँचवैं " पीते हैं। ठीक ही है, निर्मल तथा शीतल जल-वाली बहती हुई नदी के मिलने पर डोरी—लोटे और गिलास की आवश्यकता

नहीं रहती है। इसी प्रसंग में कबीर साहेब ने अच्छा बचन कहा है कि "जाको सद्गुरु ना मिला, व्याकुल दहुं दिसि धाय। आंखि ना सूझै बावरा, घर जरे घूर बुताय"॥ कबीर साहेब कहते हैं कि, जो राम—सुधारस (आत्मानन्दामृत) का पान कर लेते हैं, वे युग-युग अर्थात् सदैव अमर रहते हैं। थोड़े काल के लिए तो इन्द्रादिक देवता भी अमर बन जाते हैं, इसलिये युग-युग कहा है॥ ८॥

सूचना :—यहां पर यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि "हृदया बसे तेहि राम न जाना"। "कोई राम—रसिक पीयहुगे जुग जीयहुगे"। "राम न रमसि कवन डंड लागा"। इत्यादि अनेक स्थलों पर जहां-जहां 'राम' शब्द कहा है, उसका अर्थ दशरथापत्य आदि राम नहीं है, किन्तु आत्मारामों का आश्रयभूत शुद्ध चेतन (निजपद) 'अनादि राम' ही है।

यह बात "दसरथ सुत तिहुं लोक बषाना। राम नाम का मरम है आना"॥ तथा "गये राम और गये लछमना" इत्यादि वचनों के आकलन से स्पष्ट ही विदित हो जाती है। इसी प्रकार हरि, गोपाल आदिक शब्दों का अर्थ जानना चाहिये। इस विषय में यह शंका हो सकती है कि, कबीर साहेब ने "रामनाम का सेवहु पीरा"। तथा "रामनाम भजु रामनाम भजु" इत्यादि वचनों से रामनाम को भजने का उपदेश क्यों दिया? क्योंकि नाम और रूप तो मिथ्या ही है। इसका यह उत्तर है कि नाम और नामी की अभेद विवक्षा से उक्त स्थलों में नाम से नामी ही कहा गया है। केवल नाम का भजन विवक्षित नहीं; क्योंकि ज्ञान के विना केवल रामनाम के रटने से मुक्ति नहीं मिल सकती है। यह बात "पंडित वाद बदैं सो झूठा। राम के कहे जगत गति पावै, खांड कहे मुख मीठा"। इत्यादि शब्दों से स्पष्ट है।

(३) शब्द।

संतो घर महं झगरा भारी।

राति दिवस मिलि उठि उठि लागै, पांच ढोटा एक नारी॥१॥
न्यारो न्यारो भोजन चाहैं, पांचौं अधिक सवादी।
कोई काहू का हटा न माने, आपहि आपु मुरादी॥२॥

दुरमति केरि दुहागिनि मेटै, ढोटहिं चापि चपेरै ।
कहहिं कबीर सोई जन मेरा, जो घर की रारि निबेरै ॥३॥

शब्दार्थ :—ढोटा = बेटा, पुत्र । आ०—इन्द्रियां, विषय । उ०—' देखत छोट खोंट नृप ढोटा ' । तु० । हटा = मनाही । मुरादी = अभिलाषी, आकांक्षी । दुहागिनी = पति के चित्त से उतरी हुई स्त्री ।

(घर का झगड़ा)

टीका :—कबीर साहेब कहते हैं कि, हे सन्तो (सज्जनों) ! इस शरीर में बड़ा भारी झगड़ा मचा हुआ है । पांच ढोटा (पांच ज्ञानेन्द्रियां रूपी बालक) और कुमति रूपी नारी जीव को रातदिन बेचैन किये रहते हैं ॥१॥ पांचों इन्द्रियां और कुमतिः ये सब नाना प्रकार के अलग-अलग भोजन (भोग) चाहती हैं । सब इन्द्रियां बड़ी स्वाद की जाननेवाली हैं । कोई इन्द्री किसी के रोके नहीं रुक सकती है । सब अपने-अपने स्वार्थ में लगी हुई हैं ॥२॥ अब झगड़ा मिटाने का उपाय बताते हैं कि—दुर्मति रूपी कलह करनेवाली स्त्री को दुहागिन करके मेट दे । अर्थात् चित्त से उतार दे । और ढोटे जो पांच इन्द्रिय रूप बालक हैं उनको चांप चपेरे अर्थात् इन्द्रियों का दमन करें । कबीर साहेब कहते हैं कि वही जन मुझको प्रिय है जो इस घर की रारि (झगड़े) को मिटाता है ॥३॥

भावार्थ—कुमति को छोड़े बिना और इन्द्रियों का दमन किये बिना जीव सुखी नहीं हो सकता है ।

पांच ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, त्वचा और रसना, और उनका भोजन—रूप, शब्द गन्ध, स्पर्श और रस ।

इस पद्य में प्रस्तुत इन्द्रियादिकों के असंयत व्यवहार (झगड़े) से अप्रस्तुत कौटुम्बिक कलह को प्रतीति होती है । इस कारण समासोक्ति अलङ्कार है । लक्षण—' समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत् " । ' समासोक्ति प्रस्तुत फुरैऽप्रस्तुत वर्णन मांझ ' । (भाषाभूषण) ।

(४) शब्द ।

संतो देषत जग बौराना
सांच कहौं तो मारन धावैं, झूठहि जग पतियाना ॥१॥

नेमी देषा धरमी देषा, प्रात करहिं असनाना।
आतम मारि पषानहिं पूजै, उनि महं किछुउ न ग्याना ॥२॥
बहुतक देषा पीर अवलिया, पढ़ै कितेब कुराना।
कै मुरीद ततबीर बतावै, उनि महं उहै जो ग्याना ॥ ३ ॥
आसन मारि डिंभ धरि बैठे, मन महं बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ गरब भुलाना ॥ ४ ॥
माला पहिरैं टोपी पहिरैं, छाप तिलक अनुमाना।
साषी शब्दै गावत भूले, आतम षबरि न जाना ॥ ५ ॥
हिंदू कहैं मोहि राम पियारा, तुरुक कहैं रहिमाना।
आपुस महं दोउ लरि लरि मूये, मरम काहु नहिं जाना ॥ ६ ॥
घर घर मंतर देत फिरतु हैं, महिमा के अभिमाना।
गुरु सहित सीष सभ बूडे. अंत काल पछिताना ॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, ई सभ भरम भुलाना।
केतिक कहौं कहा नहिं मानैं, सहजै सहज समाना ॥ ८ ॥

शब्दार्थ :—बौराना = पागल होना। मारन धावैं = मारने दौड़ते हैं। पतियाना = विश्वास करना। आतम = जीव, बकरे, भैंसे आदिक। बहुतक = बहुत से। अवलिया = दिगम्बर मुसलमान फकीर। मुरीद = चेला। ततबीर = उपाय। सं. स्त्री (अ.)। उ —'तिनहिं लाई बुलाई राधा करत सुख तदबीर'। सूर०। डिंभ = ढोंग। रहिमाना = खुदा। मरम = असली भेद। सहजै = धीरे धीरे।

(यह भ्रम भूत सकल जग खाया)

टीका—हे सन्तो! देखते-देखते जगत् के लोग पागल हो गये। यदि मैं सच कहता हूं तो मारने दौड़ते हैं; क्योंकि संसारी लोग झूठ ही का विश्वास

करते हैं ॥ १ ॥ मैंने नियम रखनेवाले नेमियों और धर्मियों को देखा है। ये लोग बड़े सवेरे स्नान करते हैं। और बकरे, भैंसे आदिक जीवों को मार-कर पत्थरों की पूजा करते हैं। इनमें कुछ भी ज्ञान नहीं है ॥ २ ॥ बहुत से पीर और औलिया (दिगम्बर मुसलमान फकीरों) को भी देखा है। वे लोग किताबों को और कुरान शरीफ को पढ़ते रहते हैं, और शिष्य बनाकर उनको कुर्बानी का उपाय बताते हैं। उनमें वहां ज्ञान है ॥ ३ ॥ बनावटी हिन्दू साधु आसन लगाकर और ढोंग बनाकर बैठे रहते हैं। और मन में उनको अपने भेष का बहुत भारी अभिमान रहता है। वे लोग पीतल और पत्थर की मूर्तियों की पूजा में लगे रहते हैं और तीर्थों के करने के अहङ्कार में भी भूले रहते हैं। ४॥ ये सब माला पहिरते हैं और टोपी लगाते हैं और अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार तिलक-छाप करते हैं। और साखी और शब्दों के गाने में ही भूले रहते हैं; परन्तु आत्मा का परिचय नहीं करते हैं ॥ ५ ॥ हिन्दू कहते हैं कि हमें राम प्रिय है, और मुसलमान कहते हैं कि, हमें खुदा प्रिय है। इस प्रकार आपस में दोनों लड़ मरते हैं; परन्तु असली भेद (राम-रहीम की एकता) को किसी ने नहीं जाना। 'भाई रे दुई जगदीश कहां ते आया। कहु कौने बौराया'। (बीजक) ॥ ६ ॥ महिमा के अभिमान में पड़कर ये सब घरोंघर घूम-घूम कर मंत्र-दीक्षा देते फिरते हैं। इस कारण आत्मज्ञान के बिना गुरुओं के सहित सब शिष्य डूब जाते हैं। और अंत समय में पछताना पड़ता है ॥ ७ ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि, हे सन्तो! सुनो, ये सब भ्रम में भूल गये हैं। मैं इनको कहांतक कहूँ! मेरा कहना ये नहीं मानते हैं। इसलिये धीरे-धीरे सब चौरासी में चले जाते हैं। ८॥

भावार्थ—अज्ञानता के कारण विपरीत बुद्धिवाले चेतनात्मा का तिरस्कार करते हैं और जड़ पदार्थों का सत्कार करते हैं।

(५) शब्द।

संतो अचरज एक भौ भारी, कहौं तो को पतियाई ॥ १ ॥
एकै पुरुष एक है नारी, ताकर करहु बिचारा।
एकै अंड सकल चौरासी, भरम भुला संसारा ॥ २ ॥

एकहि नारी जाल पसारा, जग महं भया अंदेसा ।
षोजत षोजत काहु अंत न पाया, ब्रह्मा विस्नु महेसा ॥३॥
नाग फांस लीये घट भीतर, मूसिन्हि सब जग झारी ।
ग्यान षरग बिनु सभ जग जूझै, पकरि काहु नहिं पाई ॥४॥
आपुहि मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि षाई ।
कहंहिं कबीर तेइ जन उबरे, जिहि गुरु लिया जगाई ॥५॥

शब्दार्थ—भौ = हुआ । पतियाई = विश्वास करेगा । पुरुष = चेतन पुरुष । नारी = प्रकृति, माया । अंदेसा = चिंता, सोच । नागफांस = त्रिगुण फांसी । मूसिन्हि = चुरा लिया । झारी = पूरी तरह । षरग = तलवार ।

(माया की प्रबलता का वर्णन)

टीका—हे सन्तों ! एक बड़ा ही अचरज हुआ है !। यदि मैं सच कहता हूं तो कौन विश्वास करेगा ?।। १ ।। एक ही चेतन पुरुष है और एक ही माया रूप नारी है । इन दोनों का विचार करो । एक ही ब्रह्माण्ड में समस्त चौरासी लाख योनियां हैं । संसार तो भ्रम में भूला हुआ है ।।२।। एक ही माया रूप नारी ने प्रपञ्च का जाल फैलाया है, जिसका भय जगत में हो गया है । ब्रह्मा विष्णु और महादेव सबके सब माया के खोज में पड़े हैं; परन्तु किसी को उसका अन्त नहीं मिला है ।।३।। त्रिगुण की फांसी लेकर माया मन में बैठी हुई है । और वहीं बैठकर उसने सबों के सद्गुण रूप धन को पूरी तरह चुरा लिया है । संसारी लोग ज्ञान रूपी तलवार के विना ही माया से युद्ध करते हैं इसी कारण कोई उसको पकड़ नहीं सकता है ।।४।। वहीं माया संसार की मूल, फूल और फुलवारी है । और वही सबों को चुन-चुन कर खाती है । कबीर साहेब कहते हैं कि वही जन इस माया से बच सकते हैं जिनको गुरु ने आत्म बोध दे दिया है ।।५।।

भावार्थ–आत्म–ज्ञान के बिना माया के फन्दे से कदापि नहीं छूट सकते हैं ।

(६) शब्द ।

संतो अचरज एक भौ भारी, पुत्र धइल महतारी ॥१॥
पिता के संगे भई है बावरी, कन्या रहलि कुमारी ।
षसमहि छांडि ससुर संग गवनी, सो किन लेहु बिचारी ॥२॥
भाई के संगे सासुर गवनी, सासुहिं सावत दीन्हा ।
ननंद भउजी परिपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा ॥३॥
समधी के संग नाहीं आई, सहज भई घरबारी ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, पुरुष जन्म भौ नारी ॥४॥

शब्दार्थ—सावत = सौतपना । उ० – 'लहू गए मद मोह लोभ अति सागहु मिटहि न सावत ।' तु० ।

[माया का लीला–विहार]

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, हे सन्तो ! आप लोग सुनिये। एक बड़ा भारा अचरज हुआ है कि महतारी (माया) ने पुत्र (जीवात्मा) के साथ सम्बन्ध कर लिया है ॥१॥ इतना ही नहीं, वह कुंवारी कन्या माया ऐसी पागल हो गयी है कि, उसने अपने पिता (ईश्वर) के साथ भी सम्बन्ध (स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध) कर लिया है । इसके बाद खसम (ईश्वर) को छोड़कर उस माया ने ससुर (अज्ञान) के पीछे-पीछे चलना आरम्भ किया है । इस बात को आप लोग क्यों नहीं विचारते हैं ? ॥२॥ इसके बाद वह माया अपने भाई (अविवेक) के साथ ससुराल (संसार में) चली आयी और यहां आकर सासु (वञ्चक लोगों की वाणी) को अपनी सौत बना लिया है । यह सब प्रपञ्च ननंद (कुमति) और भउजी (अविद्या) ने रचा है । इसमें जीव को मिथ्या ही कलंक दिया जाता है ॥३॥ माया समधी (सन्तों) के पास नहीं आती है; क्यों कि वह स्वभाव से ही प्रपञ्च से सम्बन्ध रखती है । कबीर साहेब कहते हैं कि पुरुष (जीव) से नारी (इच्छा) का जन्म हुआ ।४।

भावार्थ— यह जीव–आत्मा अज्ञानवश अपनी कामना से आपही बन्धन में पड़ गया है ।

(७) शब्द ।

संतो कहौं तो को पतियाई, झूठ कहत सांच बनि आई ॥१॥
लौकै रतन अवेध अमोलिक, नहिं गाहक नहि सांई ।
चिमिकिचिमिकि चिकिकै द्रिग दहुंदिसि,अरव रहा छिरियाई।२।
आपे गुरु क्रिपा किछु कीन्हों, निरगुन अलष लषाई ।
सहज समाधी उनमुनि जागै, सहज मिलै रघुराई ॥३॥
जहं जहं देषौ तहं तहं सोई, मन मानिक बेधो हीरा ।
परम-तत्त गुरु ते पावो, कहै उपदेस कबीरा ॥४॥

शब्दार्थ—लौकै = चमकता है । अबेध = बिना छेदा हुआ । अमोलिक = अमूल्य । सांई = मालिक । चिमिकिचिमिकि = बार-बार चमकना । अरव = तेज । छिरियाई = फैला हुआ है । उनमुनि = एक प्रकार की मुद्रा । मनमानिक = मन रूपी मोती ।

[चेतन की सत्ता, व्यापकता तथा प्रकाशता का वर्णन]

टीका—हे सन्तो ! यह बात कहने से झूठी और अनुभव से सत्य मालूम होती है। इसलिये यदि मैं कहता हूं तो कौन विश्वास करेगा ? ॥१॥ बिना छेदा हुआ अर्थात् अखंड और अमूल्य आत्मा रूपी रत्न चमक रहा है; परन्तु उसका मालिक और गाहक कोई नहीं है । ज्ञानियों की ज्ञान-दृष्टि में दशों दिशाओं में वह बराबर चमक रहा है और उसका तेज भी फैला हुआ है ॥२॥ गुरु ने कुछ कृपा करके निर्गुण अलख को लिखा दिया है जिससे कि उनमुनि मुद्रा के द्वारा सहज समाधि लग गई है । इस प्रकार रघुराई (साहब) सहज ही मिल गये हैं ॥३॥ मैं तो जहां-जहां देखता हूं वहां-वहां वही प्रतीत होता है; क्योंकि मेरा मन रूपी मोती आत्म-तत्त्व रूपी हीरे में बिध गया है यह परमतत्व गुरु से प्राप्त कर सकते हो । सद्गुरू उपासक जन को ऐसा उपदेश देते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—शुद्ध हृदय होने से आत्म-साक्षात्कार होता है ।

(८) शब्द ।

संतो आवै जाय सो माया ।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुं गया न आया ॥१॥
क्या मकसूद मछ कछ होना, संखासुर न संघारा ।
है दयाल द्रोह नहि वाके, कहहु कवन को मारा ॥२॥
वै करता नहिं बाह कहाया, धरनि धरो नहिं धारा ।
ई सभ काम साहब के नाहीं, झूठ कहै संसारा ॥३॥
षंभ फोरी जो बाहर होई, ताहि पतीजै सभ कोई ।
हिरनाकस नष वोद्र बिदारो, सो नहिं करता होई ॥४॥
बावन रूप न बलि को जांचो, जो जांचै सो माया ।
बिना बिवेक सकल जग भरमे, मायै जग भरमाया ॥५॥
परसराम छत्री नहिं मारा, ई छल मायै कीन्हा ।
सतगुरु भेद भक्ति नहि पावो, जीव[1] अमिथ्या कीन्हा ॥६॥
सिरजनिहार न ब्याही सीता, जल पषान नहिं बंधा ।
वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरे सो अंधा ॥७॥
गोपो ग्वाल न गोकुल आया, करते कंस न मारा ।
है मेहरबान सभन्हि को साहब, नहि जीता नहिं हारा ॥८॥
वै करता नहिं बौध कहाया, नहीं असुर के मारा ।
ग्यान हीन करता सभ भरमें, मायै जग भरमाया ॥९॥

---

१ नोट — 'अमिथ्या' और 'अलोप' ये शब्द प्राचीन ग्रामीण भाषा के रूप हैं। जिनका क्रमशः अर्थ मिथ्या और लोप होता है ।

१ पाठा०—ड, ठ, जोवहि मिथ्या दीन्हा ।

वे करता नहिं भये निकलंकी, नहीं कलिंगहिं मारा।
ई छल बल सभ माये कीन्हा, जत्त सत्त सभ टारा ॥१०॥
दस अवतार ईसरी माया, करता कै जिन पूजा।
कहंहिं कबीर सुनो हो संतो, उपजै षपै सो दूजा ॥११॥

शब्दार्थ—मकसूद = प्रयोजन। संघारा=मारा। नहिं धारा=नहिं धराया। पतीजैं=विश्वास करते हैं। जत्त सत्त सभ टारा=यती और सतियों को भटकाया।

(मायिक अवतारों का वर्णन)

टीका—हे सन्तो! जो आती है और जाती है वह माया है अर्थात् मायिक अवतारों का आना और जाना बन सकता है। वे साहब तो सब के प्रतिपालक हैं। उनका कोई काल नहीं है और वे कहीं न जाते हैं न आते हैं ॥१॥ उनको मत्स्य अवतार और कच्छप अवतार लेने से क्या प्रयोजन है? उनने शंखासुर को नहीं मारा है। वे तो दयालु हैं। उनको किसी से द्रोह नहीं है। भला कहो, वे किसको मारेंगे? ॥ २ ॥ वे कर्ता साहब वराह अवतार नहीं कहलाये और पृथ्वी को न स्वयं धारण किया और न दूसरों को धराया (न धारण कराया) ये सब काम साहब के नहीं हैं। संसारी लोग झूठ कहते हैं ॥३॥ खंभे को फोड़कर जो बाहर निकलता है अर्थात् नरसिंह अवतार धारण करता है, उसका सब विश्वास करते हैं। जिसने हिरण्यकशिपु के उदर को नखों से फाड़ दिया वह कर्ता साहब नहीं हो सकता है॥४॥ उन साहब ने बावन रूप धर कर बलि से याचना नहीं की। जिसने याचना की है वह माया है। बिना विवेक के सारा संसार भ्रम में पड़ा हुआ है। और माया ने जगत् को भ्रम में डाल दिया है ॥५॥ उन साहब ने परशुराम बन कर क्षत्रियों को नहीं मारा है। यह छल तो माया ने ही किया है। हे मनुष्यो! तुमने अपने हृदय में माया को सत्य समझा है, इसलिये सद्गुरु के भेद और भक्ति को तुम नहीं पा सकते हो ॥ ६ ॥ सर्जनहार साहब ने सीता के साथ विवाह नहीं किया है। और समुद्र पर सेतु भी नहीं बांधा है। जो कर्ता साहब को और रघुनाथजी को एक समझ कर स्मरण करता है वह अविवेकी है ॥७॥ उन कर्ता साहब ने गोकुल में आकर

गोपी और ग्वालों का साथ नहीं किया, और न कंस को ही मारा है। क्यों कि वे साहब तो सब के दयालु हैं। न वे जोतते हैं न हारते हैं ॥८॥ वे कर्ता साहब बुद्ध अवतार नहीं कहलाये और न किसी दैत्य को ही मारा। ज्ञान के हीन सब लोग अवतारों को कर्ता साहब समझ कर भ्रम में पड़ गये। क्यों कि माया ने सारे जगत् को भ्रम में डाल दिया है ॥६॥ उन कर्ता साहब ने निष्कलंक अवतार धारण नहीं किया है। और न कलिंग नाम के दैत्य ही को मारा है। ये सब छल और बल तो माया ने ही किया है। और उसी ने सब यतियों और सतियों को भटका दिया है ॥१०॥ दश अवतार ईश्वर की माया है। इनको कर्ता-साहब समझकर मत पूजो। कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, जो उत्पन्न और लीन होते हैं वे दूसरे ही हैं अर्थात् निर्विकार साहब नहीं हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—शुद्ध चेतन माया से परे है।

(६) शब्द।

संतो बोले ते जग मारै।

अनबोले ते कैसक बनि है, सब्दहिं कोइ न बिचारै ॥१॥
पहिले जन्म पूत को भयऊ, बाप जनमिया पाछे।
बाप पूत की एकै नारी[1], ई अचरज को काछे ॥२॥
दुंदुर राजा टीका बैठे; विषहर करै षवासी।
स्वान बापुरा धरनि ढाकनो, बिल्ली घर में दासी ॥३॥
कागद कार कारकुड आगे; बैल करै पटवारी।
कहंहिं कबीर सुनहु हो संतो, भैंसे न्याव निबेरी ॥४॥

शब्दार्थ—काछे = हटाना, काछना। दुंदुर = चूहा।

टीका—हे सन्तो! मैं सत्य उपदेश करता हूं तो अज्ञानी लोग मेरे साथ झगड़ा करते हैं। अतः बिना कहे कैसे बोध होगा ?। कहने पर भी तो मेरे वचनों को कोई नहीं विचारता है ॥१॥ बात यह है कि, पहले पुत्र

---

1 पाठा०—प, फ, माया।

(जीव) का जन्म हुआ और पीछे पिता (ईश्वर) का जन्म हुआ। अर्थात् जीव ही अपने अनुमान प्रमाणदिकों से ईश्वर की सिद्धि करता है। पिता (ईश्वर) और पुत्र (जीव) की एक ही नारी है। इस अचरज को कौन काछे (हटावेगा ?) अर्थात् माया ने जीव और ईश्वर को अपने अधीन कर लिया है ॥२॥ और देखिये, अज्ञानी मनुष्य दुन्दुर (चूहे) के समान है। वह अपनी अज्ञानता से अपने को राजा माने हुए बैठा है। और विषहर = सर्प (मन) उसकी सेवा में रहता है। सर्प सेवक की सेवा से चूहे स्वामी की भलाई कैसे हो सकती है ? । यह भी एक अचरज ही है कि स्वान रूप संकल्प पति बना हुआ है। और बिल्ली रूप मन की वृत्ति उसके घर की स्त्री बनी हुई है ? ॥३॥ कागजकार जो कारकुड (अविचारी) है उसके आगे बैलरूपी अविवेकी पटवारीगिरी करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि, हे सन्तो ! भैंसा रूप वञ्चक गुरु संसार में उपदेशक बने हुए हैं ॥४॥

भावार्थ—अज्ञानवश जीव अहित को हित समझ लेता है। अतः सत्य उपदेश के बिना सत्य मार्ग कदापि नहीं मिल सकता है।

(१०) शब्द ।

संतो राह दुनो हम दीठा ।
हिंदू तुरुक हटा नहिं मानैं, स्वाद सभन्हि को मीठा ॥ १ ॥
हिंदू बरत एकादसि साधै दूध सिंघारा सेती ।
अँन को त्यागैं मनको न हटकैं, पारन करै सगौती ॥ २ ॥
तुरुक रोजा नीमाज गुजारैं, बिसमिल बांग पुकारैं ।
इनकी भिस्त कहांते होइ हैं, सांझैं मुरगी मारैं ॥ ३ ॥
हिंदू कि दया मेहर तुरुकन की, दोनों घट सो त्यागी ।
वै हलाल वै झटके मारै, आगि दुनौ घर लागी ॥ ४ ॥
हिंदू तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई ।
कहंहिं कबीर सुनहु हो संतो, राम न कहेउ[1] खुदाई ॥ ५ ॥

[1] पाठा०—च, छ, कहंहु । ज, झ, कहूँ ।

शब्दार्थ—राह = रास्ता, मत। दीठा = देखा है। हटा = मना करना सभन्हि = सबों को। सेती = साथ। न हटकैं = नहीं रोकते। सगौती = व्रत के अंत में मांसाहार करते हैं। नीमाज = नमाज पढ़ना। मेहर = दया

(हिन्दू और मुसलमानों के मतों की आलोचना)

टीका—हे सन्तो! हिन्दू और मुसलमान दोनों के मतों को हमने देखा है। हिन्दू और मुसलमान मना करने से नहीं मानते हैं। क्योंकि जिभ्या का स्वाद सबों को मिठा है ॥१॥ हिन्दू लोग एकादशी का व्रत करते हैं और दूध तथा सिंघारे का फलाहार करते हैं। इस प्रकार अन्न को तो त्याग देते हैं; परन्तु मन को नहीं रोक सकते हैं। अतएव द्वादशी के दिन पारणा में व्रत के अन्त में मांस का आहार करते हैं। वस्तुतः दशों इन्द्रियां और ग्यारहवें मन को रोकना सच्ची एकादशी है ॥२॥ मुसलमान रोजा रखकर नमाज पढ़ते हैं, और बिस्मिल्लाह की बांग देते हैं इनको स्वर्ग कहां से मिलेगा; क्यों कि ये तो सांझ को मुर्गी मारते हैं ॥३॥ हिन्दू और मुसलमान दोनों ने हृदय से दया को त्याग दिया है। मुसलमान बकरा वगैरह को हलाल करते हैं। और हिन्दू उनको झटके से मारते हैं। इस प्रकार हिंसा की आग दोनों के घरों में लगी हुई है ॥४॥ असल में देखा जाय तो हिन्दू और तुरक दोनों का एक ही रास्ता है। सद्‌गुरु ने यही बताया है। कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, जीव-वध करना न राम ने कहा है और न खुदा ने ही। यदि अत्याचारों को छोड़ दें तो हिन्दू और तुरक एक ही मार्ग पर आ जायें ॥ ५ ॥

भावार्थ—'मति भुलान दोइ दीन बषाना' (बोजक)

(११) शब्द ।

संतो पांड़े निपुन कसाई ।

बकरा मारि भैंसा पर धावैं, दिल महं दरद न आई ॥ १ ॥

करि असनान तिलक दै बैठे, विधि ते देवि पुजाई ।

आतम राम पलक मों बिनसैं, रिधिर की नदी बहाई ॥ २ ॥

अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये; सभा मांहि अधिकाई ।
इनते दीच्छा सम कोइ मांगै हंसि आवै मोहि भाई ॥ ३ ॥
पाप कटन को कथा सुनावहिं, करम करावहिं नीचैं ।
हम तो दोउ परस्पर देषा, जम लाये है धोषैं[1] ॥ ४ ॥
गाय बधै तेहि तूरुक कहिये, इनि ते वै का छोटे ।
कहंहिं कबीर सुनहु हो संतो, कलि महं ब्राह्मन पोटे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—निपुन = पूरे । धावैं = दौड़ते हैं । विनसैं = मारते हैं । रुधिर = खून । पुनीत = पवित्र । अधिकाई = बड़ाई । दीच्छा = गुरु-मन्त्र । नीचैं = नीच कर्म ।

[पुरोहितों की समालोचना]

टीका—हे सन्तो ! पांडेजी पूरे कसाई हैं । ये बकरे मार कर भैंसों पर भी धावा करते हैं । और अपने दिल में जरा भी दुःख नहीं लाते हैं ॥१॥ ये लोग स्नान करके और तिलक लगाकर बैठ जाते हैं और विधिपूर्वक देवी की पूजा कराते हैं । इसके पश्चात् बकरा आदि आत्माराम को पल भर में मार डालते हैं और खून की नदी बहा देते हैं ॥२। ये लोग बहुत पवित्र और ऊँचे कुल के कहलाते हैं । और सभा में इनकी बड़ाई होती है । और इनसे सब कोई गुरु-मन्त्र लेते हैं । हे भाइयो ! यह देखकर मुझे तो हंसी आती है कि मंत्र-दीक्षा लेनेवाले कितने अज्ञानी हैं ? ॥३॥ ये लोग पाप कटने के वास्ते कथा सुनाते हैं और स्वयं जीव-हिंसा आदि नीच कर्म कराते हैं । हमने तो हिन्दू और मुसलमान दोनों के व्यवहार को देखा है दरअसल में यमराज ने इनको धोखे में डाल दिया है ॥४ जो गौ को मारते है वे तुरुक कहलाते हैं । इन मुसलमानों से वे क्या छोटे हैं ? । कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनो, कलियुग के ब्राह्मण हिंसा आदि के कारण खराब हो गये हैं ॥ ५ ॥

१ पाठा० ज, रू, बुद्दत दोउ परस्पर देषा । गहे हाथ यम घींचा ॥

(१२)

संतो मते मातु जन–रंगी।

पियत पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सतसंगी ॥ १ ॥
अरधे उरधे भाठी रोपिन्हि, ले कसाव रस गारी।
मूंदे मदन काटि कर्म कसमल, संतत चुवत अगारी ॥ २ ॥
गोरष दत्त वशिष्ठ व्यास कपि नारद सुष मुनि जोरी।
सभा बैठि संभू सनकादिक, तहं फिरे अधर कटोरी ॥ ३ ॥
अंबुरीषि औ जाग जनक जड़, सेस सहस मुष पाना।
कहं लौं गनो[1] अनंत कोटि लौं, अमहल महल दिवाना ।४।
ध्रुव प्रहलाद विभीषन माते, माती शिव की नारी।
सगुन ब्रह्म माते ब्रिंदावन, अजहु लागु षुमारी ॥ ५ ॥
सुर नर मुनि जति पीर अऊलिया, जिन्ही रे पिया तिन्हि जाना।
कहंहिं कबीर गूंगे की सक्कर, क्यों कर करै बषाना ॥६॥

शब्दार्थ—जनरंगी = अनुरागी। अरधे = नीचे (पिंड)। उरधे = ऊँचे (ब्रह्माण्ड)। मूंदे = काम का नियन्त्रण। संतत = बराबर। कसमल = पाप। दत्त = दत्तात्रेय। कपि = हनुमान। अधर कटोरी = चन्द्रामृत का प्याला, चन्द्र रस का प्याला। जड़ = जड़भरत। षुमारी = मद को मस्ती। उ०– 'उतरी गई तब गर्व खुमारी'। सू०।

(प्रेम–प्रपा और आत्म–तुष्टि)

टीका– हे सन्तो ! अनुरागी जन मत के मतवाले हैं, और प्रेम रूपी अमृत रस को पीते ही संतसंगी मतवाले बन जाते हैं ॥१॥ पिंड और ब्रह्माण्ड की भट्ठी बनाई गयी है। और उसके द्वारा प्रेमरस गारने का आयोजन

---

[1] पाठा० - ज, क्र, आदि अंत ले।

किया गया है। काम का नियन्त्रण (पुट–पाक) कर पाप कर्मों को काट रहे हैं। उक्त विधि–विधान से प्रेम रस बराबर चूता रहता है ॥२॥ गोरख-नाथ, दत्तात्रेय, वशिष्ठ, व्यास, हनुमान, नारद और शुकमुनि को एकत्र करके शंभु और सनकादिकों की सभा लगी हुई है। और उसमें अधर प्याला फिर रहा है ॥३॥ अम्बरिष, याज्ञवल्क्य, जनक राजा और जड़भरतजी ने प्रेमरस का पान किया है। और शेषजी ने सहस्त्र मुखों से इसका पान किया है। कहां तक गिनो, अनंत कोटि प्रेमियों ने उसका पान किया है और वे सब सविशेष ब्रह्म (शवल ब्रह्म) को निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म समझ कर मस्त हो गये हैं। ॥४॥ ध्रुव, प्रहलाद और विभीषण प्रेम के मतवाले हो गये और पार्वती भी प्रेम की मतवाली हो गई। और ब्रह्म के सगुन अवतार कृष्णचन्द्र भी वृन्दावन में मतवाले हो गये। उनका मद की मस्ती अभी तक लगी हुई है ॥५॥ सुर, नर, मुनि, पीर, और औलिया इनमें से जिसने प्रेम का प्याला पिया है वही उसको जानता है। कबीर साहेब कहते हैं कि प्रेम तो गूंगे की शक्कर है इसका कोई कैसे वर्णन कर सकता है ? ॥ ६ ॥

(१३) शब्द।

राम तेरि माया दुंद बजावै[1]।

गति मति बाकी समुझि परै नहिं, सुर नर मुनिहिं नचावै ॥१॥

का सेमर के साखा बढ़ये, फूल अनूपम मानी।

केतिक चात्रिक लागि रहे हैं, देषत[2] रुवा उड़ानी ॥२॥

काह षजूर बड़ाई तेरी, फल कोइ नहि पावै।

ग्रीषम रितु जब आय तुलानी, छाया काम न आवै ॥३॥

अपने चतुर अवर को सिषवै, कनक कामिनी सयानी।

कहंहि कबीर सुनहु हो संतों, रामचरन रति मानी ॥४॥

शब्दार्थ — दुंदु= हर्ष-शोकादि। तुलानी = तौल में बराबर आना,

१ पाठा ड, ढ, मचावै। २ ठ ठ, चाषत।

समीप आना । उ०— 'आपनो काल आपुहि बोल्यो । इनकी मीचु तुलानी' सूर० । रामचरन = गुरुपद ।

(माया की प्रबलता और उससे छूटने का उपाय)

टीका—हे राम ! तेरी माया हर्ष, शोक आदि द्वन्द्व रूप बाजों को बजाती है । उसकी गति और मति (चाल ढाल) समझ में नहीं आती है । और वह सुर, नर और मुनियों को नचाती है ।।१।। सांसारिक ऐश्वर्य रूप सेमर वृक्ष की शाखाओं के बढ़ाने से क्या लाभ है ? जिसमें की अनुपम वाणी रूप अर्थात् रोचक वाणी रूप फूल लगे हुए हैं । भोगाभिलाषी कितने ही अज्ञानी जन रूप पक्षी उसमें लगे हुए हैं ; परन्तु उनके देखते ही देखते उसमें से रुई उड़ जाती है अर्थात् संसार के भोग निःसार और नष्ट हो जाते हैं ।।२।। मिथ्या आशा रूपी हे खजूर ! तेरी क्या बड़ाई है ? तेरे फल को तो कोई ले नहीं सकता है ! । जब वृद्धावस्था रूप ग्रीष्म ऋतु आ खड़ी होती है तब तो तेरी छाया भी काम में नहीं आती है, अर्थात् तेरा पता नहीं लगता है ।।३।। कनक और कामिनी दोनों चतुर हैं । ये अपनी चतुरता औरों को सिखलाती हैं । कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो ! आप सब गुरुपद पर आरूढ़ हो जाइये ।। ४ ।।

(१४) शब्द ।

रामुरा य संसै गांठि न छूटै, ताते पकरि पकरि जम लूटै ।।१।।
हो मिसकीन कुलीन कहावै, तुम जोगी संन्यासी ।
ग्यानी गुनी सूर कवि दाता, ई मति कीनहुं न नासी ।।२।।
सुम्रिति वेद पुरान पढ़ैं सभ अनुभव भाव न दरसै ।
लोह हिरन्य होय धौं कैसे, जो नहिं पारस परसै ।।३।।
जियत न तरेहु मुये का तरि हौ, जियतहिं जो न तरे ।
गहि परतीति कीन्ह जीन्ह जासो, सोई तहां[1] अमरे ।।४।।

---

१ पाठान्तर, ध, तहैं मरै ।

जो किछु जियहु ग्यान अग्याना, सोई समुझ सयाना ।
कहंहिं कबीर तासों का कहिये, जो देषत दिस्टि भुलाना ॥५॥

शब्दार्थ —मिसकीन = गरीव साधु । धौं = भला ।

[अध्यास–फांस]

टीका—हे रामराजा ! इसजीव के संशय (शरीराध्यास) की गांठ नहीं खुलती है । इस कारण यमराज इसको बार-बार पकड़ कर लूटता है ॥१॥ तुम योगी और सन्यासी रूप गरीव साधु बन कर भी कुलीनता का अहंकार करते हो । ज्ञानी, गुणी, सूरमा, कवि और दाता ! इनमें से किसी ने भी इस भेद–बुद्धि को नष्ट नहीं किया है ॥२॥ सब कोई धर्मशास्त्र, वेद और पुराणों को पढ़ते हैं ! परन्तु आत्मसाक्षात्कार नहीं होता है । भला, लोहा सोना कैसे हो सकता है ? यदि वह पारस से न छुवा दिया जाय ॥३॥ जो जीते हुए प्रपञ्च से नहीं छूटता है, वह मरने पर मुक्ति कैसे पा सकता है ? क्योंकि वह तो जीते जो नहीं तरा है । जिसने जिसमें पूरा निश्चय कर लिया है, वह मरने पर वहीं पहुंचता । "अन्ते मतिः सा गतिः" । "जाकी सुरति लगी है जहंवा, कहंहिं कबीर सो पहुंचे तहंवा ।" ॥४॥ समझे या बिन समझे जो कुछ तुमने किया है, हे विवेकी उसको समझो । "कृतो स्मर कृतं स्मर" । कबीर साहेब कहते हैं कि उससे क्या कहना चाहिये, जो आंखों से देख कर भी भूलता है ?

(१५) शब्द ।

रामुराय चली बिनावन माहो, घर छोड़े जात जुलाहा हो ॥१॥
गज नौ गज दस गज उनइस को, पुरिया एक तनाई ।
सात सूत नौ गंड बहत्तरि, पाट लागु अधिकाई ॥२॥
ता पट तुलना (तुलै) गजन अमाई, पैसन सेर अढ़ाई ।
तामहं घटै बढै रतिवो नहिं करकच करे घहराई[1] ॥३॥
नित उठि बैठ षसम सों बरवस, तापर लागु तिहाई ।
भीगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई ॥४॥

[1] पाठा ग, घ, गहराई । च, छ घरहाई ।

कहंहिं कबीर सुनहु हो संतो, जिन्ही यह सिस्टि उपाई ।
छांडु पसार राम भजु बौरे, भौ सागर कठिनाई ॥५॥

शब्दार्थ—करकच = बखेड़ा, झगड़ा । घहराई = बहुत ।

[माया की रचना]

टीका – शरीर छूटने पर भी जीव को माया नहीं छोड़ती है । प्रत्युत जीव रूप जुलाहों से नए-नए शरीर रूप वस्त्र बनवाती ही रहती है । इस बात को जुलाहे के रूपक द्वारा वर्णन करते हैं । जुलाहा [जीव] घर [शरीर] को छोड़कर जा रहा है । तिस पर भी माया उसका पीछा नहीं छोड़ती है । रामुराय राम की माया, हे रामराजा ! तुम्हारी माया जीव रूप जुलाहे से शरीर रूप दूसरा पट बनवाने को जा रही है । भाव यह है कि अज्ञानी जीव नाना शरीरों को धारण करते रहते हैं ॥१॥ माया ने जीव रूप जुलाहे से एक ताना (इन्द्रिय संघातरूप) तनवाया । वह ताना एक गज (मन), नव गज (नव द्वार), दश गज (दश इन्द्रियां और उनइस गज (उनइस तत्वों का-सूक्ष्म शरीर) का बनवाया । अनन्तर सात सूत (सप्त धातु), नव खंड (नव नाड़ी) और बहत्तर कोठे रूप वाने से मनुष्य शरीर रूप अत्यन्त श्रेष्ठ पाट अधिक मूल्य का वस्त्र चादर) बनवाया । भाव यह है कि नरतन रूप पट का "पाट" (चौड़ाई) अधिक है । इस कारण उक्त तन-पट के बनवाने में बड़ा प्रयत्न किया गया है ॥२॥ यह नरतन रूप पट वस्त्र ऐसा बना है कि इसकी बराबरी दूसरे पट देवादि शरीर कदापि नहीं कर सकते हैं, क्यों कि नरतन विवेक, वैराग्य दि सकल साधनों का धाम और मोक्ष का द्वार है । ऐसे सुर दुर्लभ नरतन के मिलने पर भी अज्ञानी लोग इस पट को निर्मल न रख सके किन्तु मन और माया रूपी काजर की कोठरी मैं रख-रख कर मैला बना दिया और नाना विषय रूप कांटों में उरझा-उरझा कर इस पट को छिन्न-भिन्न तार-तार कर दिया । जब नाना वासना रूप तार फैल गये तब गज रूप मन से नापने के योग्य नरतन रूप पट न रहा । अर्थात् भोगों से चित्त के विक्षिप्त होने पर गज (मन) हृदय में न आया (मन) न रुक सका । जब विषयों के संसर्ग से नरतन पट की यह दशा हुई तब खराब सूत के भाव पैसे का ढाई सेर बिकने लगा । अर्थात् कूकर सूकर के समान हो गया । इतना ही

नहीं, इसके अनन्तर भी जैसे-जैसे अज्ञान बढ़ता गया वैसे-वैसे नरतन रूप पट का मूल्य घटता ही गया, रत्ती भर भी अधिकता न हुई। जिस प्रकार उलझे और टूटे हुए सूत के दाम ढाई सेर का एक पैसा ही मिल सकता है। चाहे कितना ही करकच बखेड़ा करें, इससे कम ही हो सकता है, अधिक नहीं। इसी प्रकार चाहे कितने ही कठिन तप और जपादिक करें; परन्तु बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती है ॥३॥ और भी सुनिये, जुलाहा (जीव) जब-जब ताना-बाना ठीक करके नरतन रूपी पट को बनाने लगता है, तब-तब अविद्या रूप जुलहिन आकर इसको घेर लेती है और इससे झगड़ने लगती है। इसी तरह झगड़ते-झगड़ते तीन पन बीत जाते हैं और झगड़े की तिजारी जीव को ही लगी रहती है। अनन्तर झगड़ती हुई अविद्या देवी बेचारे जीव जुलाहे के सर्वस्व-भूत उक्त ताने पर भोग-वासना रूप पानी डाल देती है, जिससे कि वह भींज जाता है। जब प्रपञ्च-पानी से मन रूपी पुरिया (ताना) भींज जाती है, तब विवेकादिक उत्तम कामों के योग्य नहीं रहती है इसलिये जुलाहा (जीव) रिसाई (दुःखी होकर) दूसरी योनियों में चला जाता है ॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे बौरे जुलाहा (जीव)! तू इस प्रपञ्च को त्याग कर राम (निजपद) का परिचय कर कि जिस चेतन राम से यह सब सृष्टि बनी है, क्योंकि संसार-सागर में बड़ा दुःख है ॥ ५ ॥

भावार्थ-—"बहुत दुःख है दुख की खानी। तब बचिहौ जब रामहिं जानी"

(१६) शब्द।

रामुराय झीझी जंतर बाजै, कर चरन बिहूना नाचै ॥१॥
कर बिनु बाजै सुनै स्रवन बिनु, स्रवन सरोता सोई।
पाटन सुबस[1] सभा बिनु अवसर, बूझहु मुनिजन लोइ ॥२॥
इन्द्रि बिनु भोग स्वाद जिभ्या बिनु, अछये पिंड बिहूना।
जागत[2] चोर मंदिल तहं मूसै षसम अछत घर सूना ॥३॥

---

१ पाठा० - क, ज, स्रवण सुने बिनु। २ ठ, ड, जागैं चोर।

बिज बिनु अंकुल पेड़ बिनु तरिवर बिनु फूले फल फरिया ।
बांझ कि कोष पुत्र अवतरिया, बिनु पग तरिवर चढिया ॥४॥
मसि बिनु द्वात कलम बिनु कागद, बिनु अक्षर सुधि होई ।
सुधि बिनु सहज ग्यान बिनु ज्ञाता, कहंहिं कबीर जन सोई ।५।

शब्दार्थ– अछत = रहते हुए । उ०– 'तोर अछत दस कन्धर, मोर के अस गति होय' ॥ तु० ॥

(अनहद कहत कहत जग विनसे)

टीका –इस पद्य में सद्गुरु ने यह कहा है कि, दशम द्वार में ररंकार शब्द होता है । शब्द-वादी उपासक उसे अपना स्वामी (चेतन) समझ कर उसकी उपासना करते हैं । यह उनकी अज्ञानता है, क्योंकि पिण्ड और ब्रह्मा-ण्डान्तर्गत जितने शब्द और ज्योति आदि प्रकाश हैं, वे सब माया के कार्य (जड़) हैं, और उनका जाननेवाला चेतन उनसे भिन्न है । उक्त उपासकों का तो यह कथन है कि दशम द्वार में हे रामराजा ! झीझी जन्तर (झीना शब्द ररंकार वजता है । उसको सुन-सुन कर चरण विहूना (विना हाथ पैर का) जीव–आत्मा (मन) प्रसन्न होता है ॥१॥ वह शब्द विना हाथ के वजता है अर्थात् अपने आप होता है । और ध्याता जीव विना श्रवणेन्द्रिय के उस शब्द को सुनता है, क्यों कि सुरति रूपी श्रवण से श्रोता के सुनने में वह शब्द आता है । उक्त शब्द को जवही चित्त एकाग्र हो तवही सुन सकता है शब्द के सुनने में किसी विशेष समय की आवश्यकता नहीं है, क्यों कि वहां पर पाटन (नगर) सुवस अच्छी तरह बसा हुआ है । और ब्रह्मरन्ध्र में बिनु अवसर (सदा ही काल) सभा, मालिक का दरवार लगा रहता है। अतः जव चाहे तव सुन सकता है । इस वात को हे मुनियो ! (मनन करने वाले महात्माओं) ! आप समझिये ॥२॥ उस शब्द का भोग (ज्ञान) विना इन्द्रियों के होता है । और बिना जिह्वा के उसका स्वाद (आनन्द) चखने में आता है, और पिण्ड के नाश होने पर भी शब्द अक्षय (अविनाशी) हो रहता है । (क्यों कि शब्दवादी शब्द को नित्य मानतेहैं) । अब सद्गुरु कहते हैं कि हे सन्तो ! शब्दवादी अज्ञान की धारा में

बह गये हैं। मन ने इनको भ्रम में डाल दिया है। इन ररंकार के उपासकों के जागत (देखते देखते) चोर (मन) ने मन्दिर (इनके हृदय) से ज्ञान रूपी हीरा चुरा लिया है। अतएव अज्ञान रूपी अन्धकार के होने से खसम आत्माराम) के अछत (रहते हुए भी) इनका घर (हृदय) सूना सा हो गया है। भाव यह है कि ये लोग भ्रम से अपने मालिक को बाहर समझ कर उसके मिलने के लिये नाना उपाय कर रहे हैं। ॥३॥ अपने से भिन्न माने हुए मालिक का दशम द्वार आदिक स्थानों में रहना 'बिज बिनु अंकुर' बिना-बीज के अंकुर के समान है। और 'पेड़ बिनु तरिवर' (बिना मूल के वृक्ष-के समान) है अर्थात् मिथ्या है देखिये ! इन उपासकों का भ्रम रूपी वृक्ष 'बिनु फूले' (बिना ही वस्तु के) 'फल फरिया' (नाना कल्पना रूप फलों को फलता है।)और देखिये, इनके हृदय में यह निराला ज्ञान ऐसा पैदा हुआ है, मानों "बांझ की कोष पुत्र अवतरिया" (बांझ स्त्री से लड़का पैदा हुआ है) अर्थात् इनका ज्ञान मिथ्या है। ये लोग अपने कल्पित मालिक के पास ध्यान द्वारा प्रतिदिन जाया करते हैं, सो मानो "बिनु पग तरिवर चढिया" (बिना पैर के वृक्ष पर चढते हैं)अर्थात् यह भी मिथ्या ही है। न कहीं गये न आये न मिले न बिछुड़े; केवल कल्पना ही कल्पना है ॥४॥ कबीर सोहेब कहते हैं कि जिन उत्तमाधिकारियों को सहज समाधि और ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रूप त्रिपुटी के भास के बिना स्व-संवेद्य निजरूप का साक्षात्कार हो जाता है, वही "जन सोई" अर्थात् जीवन्मुक्त और सच्चे ज्ञानी हैं। उन उत्तम अधिकारियों का अन्तःकरण "मसि बिनु द्वात" अर्थात् उस कांच की दावत के समान निर्मल होता है कि जिसमें कभी स्याही न ढाली गयी हो ! और "कलम बिनु कागज" अर्थात् उस सफेद कागज के समान होता है जिस पर कलम न चलयी गई हो ! यह आत्मा स्व-संवेद्य है, अतः इसकी सुधि (साक्षात्कार) "बिनु अच्छर" अर्थात् बिना शब्दों के होती है, क्योंकि शब्दों से प्रायः परोक्ष ज्ञान हुआ करता है ॥ ५ ॥

(१७) शब्द।

रामहिं गावै औरहि समुझावे, हरि जाने बिनु बिकल फिरै[1] ।१।

---

१ पा० टा० य र, ताके ?

जा मुष बेद गायत्री उचरै, जाके बचन संसार तरै ।
जाके पांव जगत उठि लागै, सो ब्राह्मन जीव-बध करै ॥२॥
अपने ऊँच नीच घर भोजन, घीन -कर्म हठि वोद्र भरै ।
ग्रहन अमावस ढुकि ढुकि मांगै, कर दीपक लिये कूप परै ॥३॥
एकादसी बरत नहिं जानै, भूत-प्रेत हठि हृदय धरै ।
तजि कपूर गांठी विष बांधै, ग्यान गवांये मुगुध फिरै ॥४॥
छाजै साहु चोर प्रतिपालै, संतजना की कूटि करै ।
कहंहिं कबीर जिम्या के लंपट, यहि बिधि प्रानी नरक परै ॥५॥

शब्दार्थ—ढुकि ढुकि = घुस-घुस कर ।

(हिंसा-रत और प्रतिग्रह-परायण ब्राह्मणों की दशा)

टीका —हिंसक ब्राह्मण लोग राम के गुणों को गाते हैं और दूसरों को समझाते हैं, परन्तु हरि के यथार्थ ज्ञान के बिना विकल होकर घूमते हैं ॥१॥ जो मुख से वेद और गायत्री का उच्चारण करते हैं और जिनके बचन से लोग संसार से पार होने की इच्छा करते हैं और सब लोग उठकर जिनके चरणों में प्रणाम करते हैं । ऐसे ब्राह्मण जीवों का वध अर्थात् बलिदान कराते हैं ॥२॥ ब्राह्मण लोग स्वयं ऊँच जाति का अभिमान रखते हुए भी अपने से नीच जाति मानने वालों के घर में स्वार्थवश भोजन कर लेते हैं । और आग्रह से बलिदान रूप घृणित कर्म कराके अपना पेट भरते हैं । अर्थात् उसको जिविका बनाये हुए हैं । और सूर्य आदि के ग्रहण और अमावस के दिन लोगों के घरों में घुस-घुस कर भिक्षा मांगते हैं । इस प्रकार ये सब ज्ञान का दीपक हाथ में लेकर अज्ञानता के कूएँ में गिरते हैं ॥३॥ एकादशी व्रत के महत्व को नहीं जानते हैं और भूत तथा प्रेतों की भावना को आग्रहपूर्वक हृदय में धारण किये रहते हैं । कपूर को छोड़कर जहर को गांठ में बाँधते हैं । अर्थात् ज्ञान को गंवाकर अज्ञानी बने फिरते हैं ।।४।। ये लोग साधुओं से द्वेष और असाधुओं

१ पाठा० य, र, ब, ब, भूत बरत ।

से प्रेम करते हैं। और संतजनों की मसखरी करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि जिह्वा के लम्पट प्राणी इस प्रकार नरक में पड़ते हैं ॥ ५ ॥

सूचना—यह 'ताटङ्क' छन्द है। १६ और १८ के विश्राम से इसमें ३० मात्रायें होती हैं, और अंत में म गण होता है। किसी कवि ने इसके अन्त में एक गुरु दिया है। लक्षण—"सोरह रत्न कला प्रतिपादहि, है ताटंकै मो अन्ते" (छन्दःप्रभाकर)।

(१८) शब्द।

राम गुन न्यारो न्यारो न्यारो।
अबुझा लोग कहां लौं बूझैं, बूझनिहार बिचारो ॥१॥
केते रामचन्द्र तपसी से, जिन यह जग बिटमाया।
केते कान्ह भये मुरलीधर, तिन भी अंत न पाया ॥२॥
मच्छ कच्छ औ बराह सरूपी, बामन नाम धराया।
केते बौध निकलंकी केते, तिन भी अंत न पाया ॥३॥
केते सिध साधक संन्यासी; जिन्ह बनवास बसाया।
केते मुनिजन गोरष कहिये, तिन भी अंत न पाया ॥४॥
जाकी गति ब्रह्मौ नहिं जानै, सिव सनकादिक हारे।
ताके गुन नल कैसे पैहौ, कहहिं कबीर पुकारे ॥५॥

शब्दार्थ—अबुझा = अज्ञानी।

(अवतार-मीमांसा)

टीका—अनादि निर्लेप राम अर्थात् शुद्ध चेतन के गुण तीनों गुणों से भिन्न हैं। उसको अज्ञानी लोग कहां तक समझ सकते हैं? उसका विचार तो ज्ञानी जन ही करें ॥१॥ रामचन्द्रजी तपस्वी कितने ही हो गये जिन्होंने युद्ध के द्वारा इस जगत को बिडम्बना में डाल दिया। और मुरलीधर कितने ही कृष्ण हो गये, उन्होंने भी अनादि राम का अंत नहीं पाया ॥२॥ मच्छ अवतार, कच्छप अवतार, वराह अवतार और वामन अवतार, इन नामों के

घरानेवाले कितने ही हो गये। और बुद्ध अवतार, निष्कलङ्क अवतार भी कितने हो गये, परन्तु उन्होंने भी अनादि राम का अंत नहीं पाया ॥३॥ सिद्ध साधक और संन्यासी कितने ही हो गये, जिन्होंने कि बन में निवास किया था। मुनिजन और गोरख भी कितने ही हो गये, परन्तु उन्होंने भी अनादि राम का अंत नहीं पाया ॥४॥ जिस अनादि राम की गति को ब्रह्मा भी नहीं जानते हैं और शिव तथा सनकादिक भी जिसके पार पाने में हार गये हैं, कबीर साहेब पुकार कर कहते हैं कि हे लोगों! तुम लोग उसके गुण को कैसे पा सकोगे? ॥५॥

सूचना—यह "सार" छन्द प्रभाती लय का है। आगे उल्लिखित विशेष छन्दों को छोड़कर प्रायः यही छन्द है।

(१६) शब्द।

ये ततु राम जपहु हो प्रानी, (तुम) बूझहु अकथ कहानी।
जाको भाव होत हरि ऊपर, जागत रैनि बिहानी ॥१॥
डाइनि डारे सुनहा डोरे, सिंघ रहै बन घेरे।
पांच कुटुंब मिलि जूझन लागे, बाजन बाजु घनेरे ॥२॥
रोहु-म्रिगा संसै बन हांकै, पारथ बाना मेलै।
सायर जरै सकल बन डाहै, मच्छ अहेरा षेलै ॥३॥
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, जो यह पद अरथावै।
जो यह पद को गाय बिचारै, आप तरै औ[1] तारै ॥४॥

शब्दार्थ – सुनहा = कुत्ता। सायर = सं. पु. (सं. सागर) सागर, समुद्र। 'सायर बुझावहि बुझै न आग सरीर'। जायसी। 'जहां लग चंदन मलयागिरि औ सायर सब नीर'। एक कवि।

टीका– सारा संसार राम को जपता है, परन्तु साधन–हीन मनुष्यों को उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस बात को सिंह के रूपक द्वारा सद्गुरु

१ पाठा० य, र, ल; व, मोहि तारै।

बताते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम इस बात को समझो और ये ततु (इस प्रकार से) जपो अर्थात् चिन्तन करो । यह बात पूरी तरह कहने में नहीं आ सकती है । "जाको भाव होत हरि ऊपर" जिसके हृदय में ज्ञान के उदय होने से आत्म भाव हो जाता है, वह पुरुष निश्चय ही जागत (जागता रहता है) और उसके सामने से अज्ञानता रूपी रैनि (रात्रि) हट जाती है । और नित्य-बोध रूप सबेरा हो जाता है । सिंह के शिकारियों के पक्षमें यह अर्थ है कि जिसको हरि = सिंह के आखेट की इच्छा रहती है, वह जागते हुए रात बिता कर सबेरा कर देता है । योगियों के पक्ष में सिंह का अर्थ मन है ॥१॥ इसके पश्चात् "डाइनि डारे सुनहा डोरे" अर्थात् गुरु के उपदेश से मन को वश में करे । और कामादिक कुत्तों को डोरी से बान्धे, अर्थात् रोके । और "सिंघ रहे बन घेरे" अर्थात् सिंह रूप मन को हृदय में घेर लेवे । दूसरे पक्ष में डाइनि मन्त्रादि से सिंह को वश में कर लेते हैं, तथा शिकारी कुत्तों से उसको घेर लेते हैं, । और यह भी आवश्यक है कि "पांच कुटुंब मिलि जूझन लागे" अर्थात् पांचों इन्द्रियों का संयम कर मन को दमन करे । और "बाजन बाजु घनेरे" अर्थात् साधन समझ कर अनहद शब्द आदिक का भी अभ्यास करे तो कोई हानि नहीं है, परन्तु उन्हीं को निज रूप न समझे । दूसरे पक्ष में, सिंह के लिये बन में चारों ओर से बाजे बजाते हैं और सखा साथी लोग मिलकर सिंह से युद्ध करते हैं ॥२॥ "रोहु-म्रिगा संसै बन हांकै" अर्थात् गुरु के बचनों में पूरा विश्वास होने से सब संशय रूपी मृग अपने आप हृदय रूप बन से भाग जाते हैं अतः दृढ होकर सद्गुरु के उपदेश रूप वाणों से मन रूप सिंह को पराहत करना चाहिये । दूसरे पक्ष में, बाजाओं के बजने से हरिण उस जंगल को छोड़ कर भाग जाते हैं और बाण चलने लगते हैं । इस प्रकार संक्षेप से साधन बताकर सद्गुरु कहते हैं कि, यह बड़ा अचरज है कि "सायर जरे" संसार-सागर त्रितापाग्नि से जल रहा है और "सकल बन डाहे" बन जो गुरुवा लोगों (वञ्चकों) की रोचक वाणी है वह सकल डाहे अर्थात् सबों को जला रही है । और मच्छ (माया) अहेरा (शिकार) खेल रही है । अर्थात् वंचकों की रोचक वाणी से संसारी-लोग माया के जाल में फँस रहे हैं । जैसा कि सद्गुरु ने कहा है कि "मच्छ रूप माया भई जेवरि खेल अहेर"

॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो ! जो शब्द के अर्थ का निर्णय करते हैं और कहते विचारते रहते हैं, वे सन्त संसार-सागर से पार हो जाते हैं और दूसरों को भी पार कर देते हैं ॥ ४ ॥

(२०) शब्द ।

कोई राम-रसिक रस पीयहुगे, पीयहुगे सुष जीयहुगे ॥१॥
फल--लंकृत बीज नहिं बकला, सुष पंछी तहां रस षाई ।
चुवै न बुंद अंग नहिं भीजै, दास-भंवर सभ संग लाई ॥२॥
निगम-रिसाल चारि फल लागें, तिनि महं तीनि समाई ।
एक दूरि चाहैं सभ कोई, जतन जतन काहु बिरले पाई ॥३॥
गै बसंत ग्रीषम रितु आई, बहुरि न तरिवर तर आवै ।
कहंहिं कबीर सामी सुष सागर, राम मगन होय सो पावै ॥४॥

(राम–रस का पान)

टीका — कोई-कोई आत्माराम (आत्मा में रमण करनेवाले) वीतराग इस रामरस को पीते हैं जो पीते हैं वे सुख से जीते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ॥१॥ वह रामरस एक विचित्र और लंकृत–अंलकृत (सुन्दर) फल है । ऐसा विचित्र फल है कि उसके "बीज नहीं बकला" न बीज है न छिलका ही है । अर्थात् राम–रस बीज निर्गुण और बकला (सगुण) से अलग है । निर्गुण और सगुण तो मन के रूप हैं, राम शुद्ध चेतन इनसे परे है । "निर्गुण सगुण मन की बाजी, खरे सयाने भटके" । उस राम-रस को सुख (शुकाचार्य) रूप पक्षी ने चखा है, क्योंकि शुकाचार्य ने गर्भ ही से माया का त्याग किया है । "शुकाचार्य दुख ही के कारन, गर्भ हि माया त्यागी हो ।" अब इस बात को कहते हैं कि उक्त फल के रस का पान केवल शुक पक्षी ही कर सकता है । भौंरे उसके रस को नहीं पी सकते हैं । उस रामरस रूपी (रिसाल आम्र) फल को अनेक भक्तजनरूप भौंरे सदा घेरे ही रहते है । (अर्थात् उसको जपा ही करते हैं) परन्तु साधन–हीन होने से राम-रस

की एक बूंद भी उन पर नहीं चूती है। इसलिए बाहर से भी उनका अङ्ग सूखा ही रह जाता है ॥२॥ वेद रूप आम के वृक्षमें धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष रूप चार फल लगते हैं। उनमें से आदि के तीन फल तो समाई (नाशवाले) है। और एक मोक्ष रूपी फल दूर लगा हुआ है। उसी को सब कोई चाहते हैं, परन्तु बड़े प्रयत्न करने से कोई विरला ही पा सकता है ॥३॥ सद्गुरु कहते हैं कि जवानी बीत गई, और बुढ़ापा चला आया है, परन्तु ऐसा उपाय नहीं किया कि जिससे "बहुरी न तरिवर तर आवै" अर्थात् नाना फलों का भोगने के लिये संसार–रूपी वृक्ष के नीचे फिर से न आना पड़े। कबीर साहेब कहते हैं कि स्वामी, गुरुपद या निजपद सुख का सागर है, परन्तु जो राम में रमते हैं वे ही उसको पाते हैं। अर्थात् राम में रमना ही, आत्माकार–वृत्ति होना ही (स्वामी) गुरुपद का पाना है ॥४॥

(२१) शब्द।

राम न रमसि कवन डंड लागा, मरि जैबे का करबे अभागा।
कोई तीरथ कोइ मुंडित केसा, पाषंड मंत्र भरम उपदेसा ॥१॥
बिद्या बेद पढ़ि करै हंकारा, अंत काल मुष फाकै छारा।
दुषित-सुषित हो कुटुब जेंवावे, मरन बेर एकसर दुष पावे ।२।
कहंहिं कबीर यह कलि है षोटी, जो रहै करवा सो निकलै टोटी

शब्दार्थ–रमसि = रमता है। डंड = पाप। करबे = करेगा। जेंवावे = खिलाता है। एकसर = अकेला।

[भ्रम और आडम्बर]

टीका–हे अज्ञानी जीव ! तू राम में नहीं रमता है। तुझे कौन सा पाप लगा है ? हे अभागे ! मर जायगा तब क्या करेगा ? कोई तीर्थ में जाता है और कोई केश मुंड़ाता है। वञ्चकों के मन्त्र पाखंड रूप हैं और उनके उपदेश भी भ्रम में डालनेवाले हैं ॥ १ ॥ हिंसक लोग वेद विद्या को पढ़ते हैं और उसका अहंकार करते हैं, परन्तु अन्तकाल में उनके मुख में धूलि पड़ती है अर्थात् नरक में जाते हैं। संसारी लोग दुःखी या सुखी होकर मृतक भोज

में अपने कुटुम्बियों को खिलाते हैं, परन्तु मरते समय अकेले दुःख पाते हैं। उसके दुःख में कोई सम्मिलित नहीं होता है ॥२॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह कलयुग बड़ा खोटा है। देखो, बधना के अन्दर दूध या पानी जो कुछ रहता है वही उसकी टोटी से निकलता है।

"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" ॥३॥

(२२) शब्द।

अबधू ! छांड़हु मन-बिस्तारा।
सो पद गहहु जाहि ते सदगति, पारब्रह्म ते न्यारा ॥१॥
नहीं महादेव नहीं महंमद, हरि हजरत किछु नांहीं।
आदम ब्रह्मा नहिं तब होते, नहीं धूप नहि छांहीं ॥२॥
असियासै[1] पैगंबर नाहीं, सहस--अठासी मूनी।
चंद सुरज तारागन नाहीं, मच्छ कच्छ नहिं दूनि ॥३॥
बेद कितेब न सुम्रिति संजम, नहीं जवन परसाही।
बंग निमाज न कलमा होते, रामौ नाहिं षुदाई ॥४॥
आदि अंत मन मध्य न होते, आतस पवन न पानी।
लष चौरासी जिया जंतु नहिं, साषी सब्द न बानी ॥५॥
कहहिं कबीर सुनहु हो अबधू ! आगे करहु[2] बिचारा।
पूरन--ब्रह्म कहां ते प्रगटे, किरतम किन उपराजा ॥६॥

शब्दार्थ—पद=निर्विशेष आत्मा, शुद्ध चेतन। सदगति=मुक्ति। असियासै=अस्सी हजार। सहस अठासी=अठासी हजार। दूनी=दोनों। परसाही=मुसलमानों की बादशाही। बग=बांग। रामौ=अवतार राम। आतस=अग्नि जिया जंतु=चौरासी लाख योनियों के प्राणी। किरतम=मायिक प्रपञ्च। उपराजा=पैदा किया।

१ पाठा, घ, असी-सहस (अस्सी हजार)   २ पाठा, ज, झ, कहहु बिचारी

[सत्य-पद-प्रदर्शन]

टीका—हे अवधूतजी ! मन के फैलाव को छोड़िये । और उस पद को अर्थात् निर्विशेष आत्मा शुद्ध चेतन को ग्रहण करिये, जिससे मुक्ति प्राप्त हो। वह परब्रह्म सब से परे है ॥ १ ॥ "आत्मैवेदमग्र आसीन्नान्यत्किञ्चिन्मिषत्" इस श्रुति के अनुसार जब केवल आत्मा ही था, उस समय महादेव, महम्मद, हरि और हजरत; ये सब कुछ नहीं थे । और आदम तथा ब्रह्मा भी उस समय नहीं थे, और न धूप थी न छाया थी ॥२॥ और अस्सी हजार पैगम्बर तथा अठासी हजार मुनि भी नहीं थे । (नोट—ज्ञात होता है कि, असी—सहस का रूपान्तर असियासै हो गया है) । और चान्द, सूरज तथा तारागण भी नहीं थे । मत्स्य और कच्छप; ये दोनों अवतार भी नहीं थे ॥३॥ न वेद थे और न कुरान आदि इस्लामी किताबें थीं । और न धर्मशास्त्र थे और न नियम-संयम ही थे, और न मुसलमानों की बादशाही (राज्य) थी । बांग, निमाज और कलमा भी नहीं थे । अवतार राम (सादि राम) और सातवें आसमान पर रहनेवाला खुदा भी नहीं था ॥४॥ आदि अन्त और मध्य भी नहीं था, तथा अग्नि, पवन और पानी भी नहीं थे । चौरासी लाख योनियों के प्राणी भी नहीं थे तथा साखी, शब्द और वाणी भी नहीं थीं ॥५॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे अवधूतजी ! सुनिये, और माया के आगे का विचार करिये । कारण-ब्रह्म (ईश्वर) और कार्य-ब्रह्म (हिरण्यगर्भ मन, पारिभाषिक निरञ्जन); ये सब कहां से प्रकट हुए ? और मायिक प्रपञ्च को किसने पैदा किया ? ॥६॥

(२३ शब्द)

अवधू कुदरति की गति न्यारी ।
रंक निवाजी करै वै राजा, भूपति करै भिषारी ॥१॥
याते[1] लवंग हरफ नहि लागे, चंदन फूल न फूला ।
मच्छ सिकारी रमै जंगल महं, सिंघ समुद्रहि भूला ॥२॥
रेंडा-रूप भये मलयागिर, चहुंदिसि फूटी बासा ।
तीनि-लोक ब्रहमंड षंड महं, देषै अंध तमासा ॥३॥

१ पाठा०-च छ, येते लौंगनह हरफन लागे ।

पंगा मेर सुमेर उलंघै, त्रिभुवन मुकता डोलै।
गूंगा ग्यान बिग्यान प्रगासै, अनहद बानी बोलै ॥४॥
आकासहि बांधि पताल पठावै, सेस सरग पर राजै।
कहहिं कबीर राम हैं राजा, जो किछु करैं सो छाजै ॥५॥

शब्दार्थ—छाजै = शोभा देना।

[कुदरत की विचित्र लीला]

टीका—हे अवधूतजी ! हरि की कुदरत (माया) की गति, रचना निराली है। दरिद्रों पर दया कर चाहे तो वह उनको राजा बनादे, और भूपतियों को भिखारी बना दे ॥१॥ माया की रचना देखिये कि लवंग के वृक्षों में फल का हरफ तक नहीं लगता है, और चन्दन के वृक्ष में फूल नहीं लगते हैं। यह कितनी भूल है ! और भी आश्चर्य देखिये कि मच्छ (माया) संसाररूपी वन में विषयी पुरुषों का शिकार खेलती हुई घूमती है। और सिंह (जीव) संसार-समुद्र में झूलता है। मच्छी का वन में घूमना और सिंह का समुद्र में झूलना, कुदरत का कौतुक ही है ॥२॥ रेंडा रूप साधक (पुरुष) साधनों से सिद्ध होकर मलयागिरि रूप हो जाते हैं। और चारों ओर उनकी सुयश रूपी सुगन्ध छा जाती है। अंध = अन्धा (अन्तर्दृष्टि पुरुष) तीन लोक रूप खंडब्रह्माण्ड में तमासा (नाना कौतुक) देखते हैं ॥३॥ जिनका मन अभ्यास द्वारा पंगु अर्थात् निश्चल हो गया है, वे अपनी वृत्ति को रोक कर अभ्यास द्वारा सुमेरु[स्थान पश्चिम दंड (मेरुदंड) को लांघ जाते हैं और मुकता मुक्त पुरुष) तीनों भुवनों में स्वतन्त्र रहते हैं। गूँगे (मूक) तीन प्रकार के होते हैं। १—जन्म-मूक, २—ज्ञान-मूक और ३—अज्ञान-मूक। उनमें से ज्ञानमूक पुरुष ज्ञान और विज्ञान (स्वानुभव) का प्रकाश करते हैं। और अनहद वाणी (अखंड शब्द) का भी परिचय करते हैं ॥४॥ सूचना—"रेंडा रूप भये मलयागिर" इत्यादिक कथन से मुक्ति के उपयोगी अजिह्वादिक गुणों का वर्णन किया गया है। यथा—

"अजिह्वः षंढकः पंगुरंधो बधिर एव च।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः" ॥

अर्थ—गूँगा, नपुंसक, पगला, अन्धा, बहिरा और मुग्ध (भोला);

इन छः गुणों से भिक्षुजन (साधु) मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। गूंगा आदि की व्याख्या निम्नलिखित श्लोकों से की गयी है।

" इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जते।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते॥
अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम्।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्ढकः॥
भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च।
योजनान्न परं याति सर्वथा पंगुरेव सः॥
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्।
चतुर्दिक्षु भुवं गत्वा परिव्राट् सोऽध उच्यते॥"

भाव यह है कि—वैखरी के संयम से दिव्य—अनाहत—शब्द सुनने में आ जाता है। राम (चेतन) चाहें तो आकाश को बांध कर पाताल में भेज दें और पाताल-निवासी शेष को स्वर्ग में ले जायें। कबीर साहेब कहते हैं कि राम-राजा हैं, अर्थात् सर्वे-सर्वा सर्वोपरि हैं। वे जो कुछ करते हैं शोभा देता है॥५॥

(२४) शब्द।

अवधू सो जोगी गुरु मेरा, जो यहि पद का करै निबेरा।
तरिवर एक मूल बिनु ठाढा, बिनु फूले फल लागा॥१॥
साषा पत्र किछौ नहिं वाके, अस्ट गगन-मुष गाजा॥२॥
पौ बिनु पत्र करह बिनु तूंबा, बिनु जिभ्या गुन गावै।
गावनिहार के रेष रूप नहिं, सतगुरु होय लषावै॥३॥
पंछिक षोज मीन को मारग, कहहिं कबीर दोउ भारी।
अपरम पार पार परसोतम, मूरति की बलिहारी॥४॥

शब्दार्थ—करह = फूल की कली।

[पुरुषोत्तम की बलिहारी]

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि हे अवधूतजी! वे योगी गुरु (आत्म-योगी, ज्ञानी गुरु) सब से श्रेष्ठ हैं, जो इस पद के अर्थ का निर्णय करके

आत्म-तत्त्व को ग्रहण करते हैं। "तरिवर एक मूल बिनु ठाढ़ा" एक मूल प्रकृति रूप श्रेष्ठ वृक्ष है। वह बिना मूल के खड़ा है; क्योंकि सबका मूल प्रकृति है और प्रकृति का मूल कोई नहीं है। "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" (सांख्यसूत्र)। मूल का मूल नहीं होता है। उस मूल-प्रकृति रूप वृक्ष में बिना फूल के विश्वरूपी फल लगा है ॥१॥ उस विश्व-वृक्ष के शाखा-पत्र कुछ नहीं है और वह वृक्ष अष्ट प्रकृति रूप से संसार में फैला हुआ है। अष्ट प्रकृतियाँ ये हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। और दूसरा अर्थ यह भी है कि ब्रह्माण्डस्थ अष्टम गगन सुरति कमल के मुख (द्वार) पर अनाहत शब्द गरज रहा है। यह विहंगम-मार्गियों का मत है ॥२॥ अब स्वरवादियों का मत बताते हैं। इस शरीर में पौ (अँकुर) के बिना पत्र (द्विदल का कमल) हैं और करह (डंठी) के बिना एक तुम्बा (मस्तक) लगा हुआ है। और अजपा-जाप करनेवाले योगी, बिना जिह्वा के गुणगान (अजपा-जाप) करते हैं। गात्र-निहार के (श्वासा के) रूप रेख कुछ भी नहीं है। यदि स्वरोदय के भेदी सद्-गुरु मिलें तो सब रहस्य समझावें ॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि विहंगममार्गी और मीनमार्गी योगियों की लीलाओं का दिग्दर्शन मैंने कराया है। ये सब नाना प्रकार के मन के खेल हैं। जिस प्रकार आकाश में उड़े हुए पक्षी का मार्ग ढूँढ निकालना और जल में तैरती हुई मछली का रास्ता निर्धारित करना अत्यन्त ही कठिन है। उसी प्रकार इस विहंगम-मार्ग (खेचरी मुद्रा) और मीन-मार्ग-(स्वरोदय) में भी भारी उलझन है। आश्चर्य है कि योगी लोग इन अनात्म पदार्थों में ही उलझे रहते हैं। जो पुरुष मन और माया के बन्धनों से रहित है, वही सर्व बन्धनों से रहित होने से पुरुषोत्तम है, अतः उसकी मूर्ति (स्वरूप) की मैं बलिहारी हूं अर्थात् प्रतिष्ठा करता हूं ॥ ४ ॥

(२५) शब्द।

अवधू वो ततु रावल राता, नाचै बाजन बाजु बराता।१।
मौर के माथे दुलहा दीन्हौ, अकथा जोरि कहाता।
मंडवक[1] चादन समधी दीन्हौ, पुत्र बिबाहल माता ॥२॥

---

१ पाठा०—प, फ, मंडवक चारन।

दुलहिन लीपि चौक बैठायो, निरभय पद परगासा।
भाते उलटि बरातिहिं पायो, भलि बनी कुसलाता ॥३॥
पानी ग्रहन भये भौ मंडन, सुषमनि सुरति समानी।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, बूझहु पंडित ग्यानी ॥४॥

शब्दार्थ—रावल = सं. पु. (प्रा. राजुल) राजा, प्रधान। आ०—जीव।

[योगी माते योग ध्यान]

टीका—हठयोगियों की योग-लीला बताते हैं :—हे अवधू ! हे योगियों ! आपलोग निजरूप को भूलकर उस मिथ्या लीला को तत्त्व समझकर उसी में रत गये। आपलोगों का यह कार्य तो लौकिक दृष्टि से विपरीत सा मालूम पड़ता है, क्योंकि बरात में बाजे बजते हैं और बराती लोग नाचते हैं, परन्तु आपकी योग-लीला में तो "नाचै बाजन बाजु बराता" बराती लोग स्वयं बाजे बनकर बजते हैं और बजनेवाले बाजे नाच करते हैं। बात यह है कि ब्रह्माण्ड में प्राणों के आयाम (रोकने) से दश प्रकारके अनहद शब्द उठा करते हैं। वे नाना प्रकार के शब्द ही बाजे हैं, सो अभ्यास-काल में नाचते हैं। अर्थात् अपने अपने रूपों को प्रकट करते हैं। और बाराती योगियों के जो शारीरिक तत्त्व हैं वे बजते हैं। भाव यह है कि दश प्रकार के अनहद शब्द पांचों तत्त्वों की भिन्न भिन्न ध्वनि (झनकार) है। यह कैसी उलटी लीला है ॥१॥ और भी देखिये कि लौकिक ब्याह में तो दुलहा के मस्तक पर मौर रक्खा जाता है, परन्तु आपकी योग-लीला में तो "मौर के माथे दुलहा दीन्हौ" मौर ही के माथे पर दुलहा को बैठा दिया है अर्थात् मोर (नागिनी, कुंडलिनी शक्ति)के मस्तक पर अभ्यास द्वारा दुलहा (जीव) को बैठा दिया है। भाव यह है कि नाभी-चक्र में नागिनी (कुंडलिनी शक्ति) का निवास है और उसका मुख नीचे की ओर रहता है। अतः वह नाभी-चक्र के द्वार को रोके रहती है; इस कारण अभ्यास-काल में योगियों के प्राण ऊपर नहीं चढ़ने पाते हैं। जब योगी लोग पांच हजार कुंभक कर लेते हैं तब कुंडलिनी उलट जाती है। नागिन का मुख ऊपर होने से योगियों के प्राण ब्रह्माण्ड में चढ़ जाते हैं और समाधि लग जाती है। समाधि-दशा प्राप्त होने पर नाना प्रकार की सिद्धियों के बल से योगी

लोग नाना प्रकार की अकथनीय कथाओं को कहने लगते हैं। इस कारण सिद्धियों का अहंकार भी उनके हृदय में बढ़ जाता है। अनन्तर अहंकार के बढ़ने से "मंडवक चादन समधी दीन्हौ" अर्थात् मंडवक (शरीर के) चादन (छत) पर समधी (चेतन) को दीन्हा (रख दिया) अर्थात् आत्म-विमुख होकर शरीरासक्त हो गये। इस प्रकार इन योगियों की यह योग-लीला तो अनर्थ ही करनेवाली हुई; क्योंकि "पुत्र बिग्राहल माता" अर्थात् पुत्र जीवात्मा ने अपनी माता [माया] या अविद्या ही के साथ विग्राह कर लिया। भाव यह है कि योगी लोग बड़े भारी धोखे में फंस गये, क्योंकि बिना ज्ञान के इन योग की क्रियाओं से अविद्या कदापि दूर नहीं हो सकती है। प्रत्युत [पहले से भी अधिक] योगी लोग अहंकारादिक अविद्या के दलदल में फंस जाते हैं ॥२॥ इन हठयोगियों ने जीव की दुलहिन (सुमति) को तो लोप दिया है, अर्थात् मेट दिया है। और उस पर नाना विडंबना रूप चौके को बैठा दिया है। तिस पर भी अपने आपको सर्वथा निर्भय समझते हैं कि हमने जरा और मृत्यु को जीत लिया है। सद्गुरु कहते हैं कि उक्त विवाह में यह एक बड़ा भारी कौतुक हो गया है कि नाना सिद्धि रूप व्यंजनों की लिप्सा से योग-साधन रूप बरात में संमिलित हुए योगी रूपी बरातियों को भोग-वासना रूप वासी भात ने ही उलट कर खा डाला। यह देखिये, कैसी कुशलता रही ! भाव यह है कि सिद्धियों के भूखे योगियों को आत्मज्ञानादिक कुछ नहीं सूझता है। ठीक ही है "बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्" अर्थात् भूखे को कुछ नहीं सूझता है ॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो ! आप लोग सुनिये, और हे ज्ञानी पंडितो ! आप लोग समझिये ! यह एक बड़ा भारी आश्चर्य है कि हठयोगी सुषुम्णा चलने पर अपनी सुरति को ब्रह्माण्ड में चढ़ाकर वहां पर होनेवाले अनाहत शब्द में उसको लगाते हैं। इस कारण अविद्या के साथ पाणिग्रहण (विवाह) होने के बाद योगियों को मंडवा रूप नाना शरीर धरने पड़ते हैं। और उनका मंडन (रक्षण) भी करना पड़ता है। यही योगियों की विवाह-लीला है। लौकिक विवाह में तो पहले मंडवा बनाया जाता है और पीछे विवाह होता है, परन्तु इनके तो सारे ही काम उलट गये हैं। भाव यह है कि, योगी लोग अचेतन शब्दादिकों को आत्म-भाव से उपासना करते हैं। इस

कारण से अविद्या के अन्ध कूप में पड़ जाते हैं। और अविद्या ही के सम्बन्ध से नाना शरीर धरने पड़ते हैं ॥ ४ ॥

(२९) शब्द ।

भाइ रे बहुत बहुत का कहिये, बिरले दोस्त हमारे ॥ १ ॥
गढन भंजन संवारन आपै, राम रखै त्यों रहिये ॥ २ ॥
आसन पवन जोग स्रुति सुम्रिति, जोतिष पढ़ि बैलाना ।
छौ दरसन पाषंड छानवे, येकल काहु न जाना ॥ ३ ॥
आलम-दुनी सकल फिरि आयो, येकल[1] जिउहि न आना ।
तजी[2] करिगह जगत्र उचायो, मन महं मन न समाना ॥ ४ ॥
कहहिं कबीर जोगी औ जंगम, फीकी इनकी आसा ।
रामहिं नाम रटै जौं चात्रिक, निश्चै भगति-निवासा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—दोस्त = मित्र । संगी । सुम्रिति = स्मृति । बैलाना = प्रमत्त हो जाना । आलम = संसार । येकल = एकात्म तत्त्व ।

[भक्ति-विचार]

टीका – हे भाई ! बहुत ज्यादा क्या कहा जाय ! हमारे संगी तो कोई बिरले ही हैं ॥ १ ॥ आत्म-समर्पण भाव तो यह है कि बना कर बिगाड़ने और फिर बनानेवाले राम ही है, ऐसा समझ कर " राम रखे त्यों रहिये " । "हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरिनाम । जेहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिये" ॥ २ ॥ बहुत से लोग आसन लगा कर पवन चढ़ा कर योग-क्रिया करके वेदों, धर्मशास्त्रों और ज्योतिष को पढ़ कर अहंकार से प्रमत्त हो जाते हैं । षड्दर्शन वेषधारी और छानवे पाखंडों को धारण करनेवाले इनमें से येकल = अद्वितीय आत्मतत्त्व को किसी ने नहीं जाना । (सूचना- योगी, जंगम, सेवड़ा, संन्यासी, ब्राह्मण, और दरवेश आदि वेषधारी षड्दर्शन

१ पाठा०—ग, प, येकल उहै न जाना । २-च, फ, ताही करिकै जगत उठावै ।

(वेष) कहलाते हैं। और देहात्मवादी आदि नास्तिक पाखंडियों के छियानवे भेद हैं)॥ ३॥ सारे संसार में घूम फिर आये, परन्तु अद्वितीय आत्म-तत्त्व में अपने आपको नहीं लगाया। करिगह रूप शरीर की तरफ दृष्टि नहीं करके सारे संसार को शिर पर उठा लिया। अर्थात् आत्म-शुद्धि (संयम) को छोड़ कर अनेक पाखंडों में लग गये, परन्तु मन का निरोध नहीं किया॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि अनात्म-रत्त होने के कारण योगी और जंगम इनकी आशा फीकी है। जो नामोपासक समझ बूझ कर प्रेम-पादप को पल्लवित करने के लिये नाम की रटन लगाते हैं उनको निश्चित रूप से प्रेम-लक्षणा भक्ति का आश्रय मिल जाता है॥ ५॥

(२७) शब्द।

भाइ रे अदबुद रूप अनूप कथा है, कहौं तो को पतियाई।
जहं जहं देषौ तहं तहं सोई, सभ घट रहल समाई।॥१॥
लछि बिनु सुष दलिद्र बिनु दुष है, नींद बिना सुष सोवै।
जस बिनु जोति रूप बिनु आसिक, ऐसे रतन बिहूना रोवै॥२॥
भ्रम बिनु गंजन मनि बिनु निरष, रूप बिना बहुरूपा।
थिति बिनु सुरति रहस बिनु आनंद, ऐसो चरित्र अनूपा॥३॥
कहहिं कबीर जगत्र हरि मानिक, देषहु चित अनुमानी[1]।
परिहरि लाषौं लोग कुटुम सभ, भजहुं न सारंगपानी[2]॥४॥

शब्दार्थ – थिति = देश। गंजन = निवृत्ति।

[विश्वात्मदर्शन, ज्ञानलक्षणा भक्ति]

टीका – हे भाई! आत्मदेव का स्वरूप अद्भुत है और उसकी कथा भी अनुपम है। यदि मैं कहता हूँ तो कौन विश्वास करेगा? जहाँ-जहाँ मैं देखता हूँ वहां-वहां वही विद्यमान है, क्यों कि सब के हृदयों में वह समाया हुआ है॥१॥ ज्ञानी को बिना प्राप्ति के सुख है और अज्ञानी को बिना खोये दुःख है। और

१ पाठा०—त, थ मान। २ ग, घ, सालंगपानी।

उसको पाकर जीवन्मुक्त (समाधिस्थ) विना नींद के सुख से सोते हैं। "शेते सुखं कस्तु समाधिनिष्ठः" (शङ्कराचार्य)। वह तत्त्व विना यश का प्रकाश है, और उसके ज्ञाता बिना ही रूप (आकार) के प्रेमी होते हैं। इसी रत्न के न मिलने से अज्ञानी लोग रोते रहते हैं (सदा अप्रसन्न रहते हैं) ॥ २ ॥ स्वरूप में भ्रम के विना उसकी निवृत्ति होती है, और विना ही मणि के परीक्षा (परख) होती है। वह आत्म-देव विना रूप के अनन्त रूपवाला है। वह विना देश की सुरति (चिन्तन) है और बिना लीला का आनन्द है। उसका ऐसा अद्वितीय और विचित्र चरित्र है ॥३ ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि चित्त को शुद्ध करके सर्वत्र विद्यमान हरिरूप रत्न को देखो। आप लोग सांसारिक मोह-ममता को छोड़कर अभयकारक शार्ङ्गपाणि (राम) को क्यों नहीं भजते हैं ? ॥ ४ ॥

(२८) शब्द ।

भाइरे गैया एक बिरंचि दियो है,गैया भार अभार भौ भारी ॥१॥
नौ नारी को पानी पियतु है, त्रिसा न तैयो बुझाई ॥ २ ॥
कोठा बहत्तरि औ लौ लावे, बज्र केंवार लगाई ।
खूंटा गाड़ि दवरि द्रिढ बांधेउ, तैयो तोरि पराई ॥ ३ ॥
चारि ब्रिछ छव साषा वाके, पत्र अठारह भाई ।
एतिक लै गम कीहिसि गइया, गैया अति हरहाई ॥ ४ ॥
ई सातों औरो है सातों, नौ औ चौदह भाई ।
एतिक गैया षाय बढ़ायो, गैया तौ न अघाई ॥ ५ ॥
पुरता महं राती है गैया, सेत सींगि है भाई ।
अवरन बरन किछौ नहिं वाके, षद्द अषदहिं षाई ॥ ६ ॥
ब्रह्मा बिस्नु षोजि कै आये, सिव सनकादिक भाई ।
सिध अनन्त वाके षोज परे हैं, गैया किनहु न पाई ॥ ७॥

१ पाठ०- च, छ, खे प्राये ।

कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, जो यह पद अरथावै ।
जो यह पद को गाय बिचारै आगे होय निरबाहै ॥ ८ ॥

[वाणीरूप अद्भुत गैया]

टीका—हे भाइयो ! ब्रह्माजी ने मनुष्यों के सर्व कार्यों की सिद्धि के लिये वाणी रूप गैया दी है। अतः वाणी रूप गैया से परमार्थ—सिद्धि रूप दूध लेना उचित था। परन्तु तुम लोगों ने तो असद्वाणी का इतना प्रपञ्च कर दिया है कि उक्त वाणी रूप गैया का धारण—पोषण करना तुमको ही कठीन हो गया है, क्यों कि "गैया भार अभार भौ भारी" ॥१॥ बोलने से श्वासा वाणी में परिणत हो जाती है; अतः श्वासा को भी गैया कहते हैं। योगियों की वही श्वास रूपी गैया अभ्यासकाल में 'नौ नारी का पानी पियतु है' अर्थात् नवों नाड़ियों में योगियों की इच्छा के अनुसार भ्रमण करती है और नाड़ियों में नाना रस रूपी पानी को सदा पीती रहती है। तब भी उसकी प्यास नहीं जाती है। नव नाड़ियों के नाम—ईडा (चन्द्र नाडी), पिंगला (सूर्य नाडी), सुषुम्णा (मध्य नाडी), गान्धारी (दाहिने नेत्र की नाडी), हस्तिजिह्वा (बांये नेत्र की नाडी), पूषा (दहिने कान की नाडी), पयस्विनी (बांये कान की नाडी), लकुहा (गुदा नाडी) और अलम्बुषा (लिंग नाडी) यद्यपि दशम नाडी शंखिनी नाभिस्थान में है; परन्तु वह श्वासा का मुख्य स्थान है, अतः उसको छोड़ कर नव कही गयीं हैं। इसलिये विरोध नहीं है ॥२॥ इसके अनन्तर योगी लोग बहत्तर कोठों में प्राण वायु को घुमाकर बज्र—किंवाड़ लगाते हैं। (आंख, कान, नाक और मुख को विशेष प्रकार से बन्द करना बज्र—कपाट लगाना कहा जाता है)। बज्र—कपाट लगाने के बाद 'खूंटा गाड़ि दर्वार द्रिढ़ बांधेउ" प्राणों के आयाम से सहस्रार में ब्रह्म—ज्योति का जो प्रकाश होता है वही खूंटा है, क्यों कि प्राणों की गति सहस्र—दल कमल तक ही है, और वही स्थान ज्योति—स्वरूप (निरंजन) का है, अतः यहीं तक योगियों की गति है। इसके आगे अष्टम सुरति कमल है, जिसको सन्त मत के अनुसार अभ्यास करने वाले प्राप्त करते हैं। समाधि लगाकर योगी लोग उसी खूंटे से श्वास रूप गैया को बांध देते है, तथापि व्युत्थान काल में

(समाधि खुलने पर) निरोध रूप रस्सी को तोड़कर वह गैया भग जाती है। भाव यह है कि बिना स्वरूप-परिचय के केवल हठ योग द्वारा समाधि लगाकर योगी लोग मूर्छित सर्प की तरह समाधि काल में रहते हैं। पश्चात् व्युत्थान काल में उनकी भोग-वासनायें फिर जग जाती हैं ॥३॥ अब वाणी रूप गैया का प्रपञ्च बताते हैं। वाणी ने चार वेद, छः शास्त्र, अठारहों पुराणों को व्याप्त कर लिया है। इनमें चार वेद तो वृक्ष-स्थानापन्न मुख्य हैं और शास्त्र तथा पुराण शाखा और पत्र स्थानीय गौण हैं। इन वाणी रूप गैया ने 'एतिक लै गम कीहिसि" अर्थात् इन वेदादिकों को लेकर ही छोड़ा। यह वाणी रूप गैया बड़ी हरजाई है। अर्थात् अनात्म (प्रपञ्च) रूप दूसरे के खेतों को सदैव खाया करती है। वाणी अनात्म-पदार्थों को ही विषय करती है। भाव यह है कि आत्म--तत्व वेदादिक वाणी से परे है, क्यों कि जिसको मन विषय करता है, वाणी भी प्रायः उसी को विषय करती है। आत्मा स्व--संवेद्य है, अतः वाणी उससे पराङ्मुख होकर अनात्म वस्तुओं को ही विषय करती रहती है। श्रुति ने भी इस बात को बताया है कि "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" अर्थात् वेदादिक वाणी आत्मा को विषय नहीं कर सकती हैं ॥४॥ यह वाणी का प्रसार बताया। और भी कहते हैं कि षट्-चक्र सातवां सहस्रार और पांच तत्व, महत् तथा अहंकार; ये सात आवरण हैं। ये सब वाणी के विषय हैं और नव व्याकरण तथा चौदह विद्याएं; इन सब को वाणी रूप गैया ने खा डाला तो भी वह सन्तुष्ट नहीं हुई। भाव यह है कि ये सब वाणीमात्र हैं, परमार्थतत्व तो इन सबों से पृथक् है; अतः उसी को प्राप्त करना चाहिये ॥५॥ अब माया के कार्य लोगों का गैया के अंग-प्रत्यगं रूप से वर्णन करते हैं कि इस माया रूपी गैया का पुरता (मध्य भाग) अर्थात् माया का कार्य मध्यम लोग रजोगुण प्रधान है। और इसके सींग रूप स्वर्गादिक लोक सत्व-गुण प्रधान हैं। और इसके खुर स्थानीय नीचे के लोक तमोगुण प्रधान हैं। इस त्रिगुणात्मक माया के तीन गुणों से तीनों लोक की रचना होती है। जैसे कि वर्णन किया है कि-"ऊर्ध्वं सत्वविशालस्तमोविशा- लश्च मूलतः सर्गः। मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥" (सांख्यकारिका) अर्थात् ऊपर के लोक सत्व-प्रधान, मध्य के रज-प्रधान और नीचे की रचना

तमः-प्रधान है। माया का स्वरूप न वर्ण्य न अवर्ण्य है। अर्थात् माया सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है। और वह माया "षद्" खाद्य (शुभ कर्मी) "अषद्" अखाद्य (अशुभ कर्मी) दोनों को खा लेती है। भाव यह है कि शुभ कर्म और अशुभ कर्म दोनों ही माया की बेड़ी हैं। "कहंहिं कबीर ये दोनों बेरी। कोइ लोहा कोइ सोना केरी" ॥६॥ उक्त माया रूप गैया को ढूंढ कर उसका स्वरूप जानने के लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिव, सनकादिक देवताओं ने बड़ा प्रयत्न किया; परन्तु खोज कर थक गये। वह न मिली, क्यों कि ये ब्रह्मादिक अधिकारी पुरुष स्वयं माया के कार्य हैं। अतः स्व-कारण रूप माया को कैसे जान सकते हैं ? और इस समय भी अनन्त सिद्ध लोग उसी गैया की खोज में लगे है, परन्तु 'गैया किनहु न पाई' अर्थात् "पूरा किनहु न भोगिया इसका यही वियोग"। भाव यह है कि सिद्ध लोग नाना प्रकार की सिद्धियों में भूले रहते हैं, अतः इनकी सांसारिक वासनाएं निवृत्त नहीं होती। "सिद्ध भया तो क्या भया, चहुं दिसि फूटी वास। अंतर वाके बीज है, फिरि जामन की आस" ॥७॥ कबीर साहेब कहते है कि हे सन्तों ! आप लोग सुनिये, जो इस पद के अर्थ का निर्धारण करेंगे और जो इसको कहेंगे और विचारेंगे वे सब "आगे होय निर्वाहै" अर्थात् माया से आगे (रहित) होकर संसार-सागर से पार हो जायेंगे। इस पद्य में श्लेषानुप्राणित सावयव रूपक अलंकार भली भांति प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

(२६) शब्द।

भाई रे नयन रसिक जो जागै।
पार ब्रह्म अविगति अविनासी, कैसहु के मन लागै ॥ १ ॥
अमली-लोग षुमारी त्रिसुना, कतहुं संतोष न पावै।
काम क्रोध दोनौ मतवाले, माया भरि-भरि प्यावै[1] ॥ २ ॥
ब्रह्म--कोलाल चढाइनि भाठी, लै इन्द्री रस चाहै।
संगहि पोच है ग्यान पुकारै, चतुरा होय सो पावै ॥ ३ ॥

---

१ पाठा०—ट, ठ, आवै।

संकट सोच पोच यह कलि महं, बहुतक ब्याधि सरीरा ।
जहां धीर गंभिर अति निहचल[1], तहं उठि मिलहु कबीरा ॥४॥

शब्दार्थ—अमली = अनात्म-व्यसनी ।

[ब्रह्म-ज्योति आदिक अनात्मोपासकों को उपदेश]

टीका—हे भाइयो ब्रह्म-ज्योति के दर्शनों के अभिलाषी नयन-रसिक हठयोगी यदि मोह की मीठी नीन्द से जग जायें तो अविगत और अविनासी पारब्रह्म में किसी प्रकार से उनका मन लग जायेगा ॥१॥ अनात्मव्यसनी अमली लोग तृष्णा की मस्ती में लग गये हैं, इस कारण उनको कहीं सन्तोष नहीं मिलता है । काम और क्रोध दोनों मतवाले हैं । इनको माया रूप कलवारिन विषयों प्याला भर-भर कर पिलाती है । "यह माया जैसे कलवारिन मद्य पिलाय राखै बौराई । एक तो पड़ा धूल में लोटे, एक कहै चोखो दे माई" ॥२॥ रजोगुण रूप कलवार ने विषय-वारुणी की भट्ठी चढ़ा रखी है । "काम एषः क्रोध एषः रजोगुणसमुद्भवः" (गीता) । और विषयी जन इन्द्रियों के द्वारा विषय रस को लेते हैं और चाहते हैं । कुत्सित मन का संग नहीं है, तिस पर भी मिथ्या ज्ञान की पुकार लगाते रहते हैं, किन्तु जो चतुर होता है वही उसे प्राप्त करता है ॥३॥ इस खराब कलियुग में संकटों के कारण बहुत सोच लगा रहता है । और शरीर में भी बहुत व्याधियां लगी रहती हैं इस कारण हे जीव ! जहां अत्यन्त निश्चल धीर और गंभीर अपार सुख का सागर हिलोरे मार रहा है, उठ चल, उसमें मिल जा ॥ ४ ॥

(३०) शब्द ।

भाइ रे दुइ जगदीस कहां ते आया, कहु कवने भरमाया ।
अल्लह राम करीमा केसो, हरि हजरति नाम धराया ॥१॥
गहना एक कनक ते गहना, इनि महं भाव न दूजा ।
कहन सुनन को दुइ करि थापिनि, इक निमाज इक पूजा ॥२॥

---

1 पाठा०— च, छ, निर्मल ।

वही महादेव वही महंमद्, ब्रह्मा आदम कहिये।
को हिंदू को तुरक कहावैं, एक जिमीं पर रहिये ।। ३ ।।
बेद कितेब पढ़ै वै कुतुबा, वै मोलाना वै पांड़े।
बेगरि बेगरि नाम धराये, एक मटिया के भाड़े ।। ४ ।।
कहंहि कबीर वै दूनौं भूले, रामहिं किनहुं न पाया।
वै षस्सी वै गाय कटावैं, बादहिं जन्म गंवाया ।। ५ ।।

शब्दार्द—करि थापिनि = मान लिया। कुतुबा = बहुत सी किताबें रखने वाले। मोलाना = मौलाना। पांडे=पण्डित। बेगरि-बेगरि=अलग-अलग। भांडे=बर्तन। बादहिं=व्यर्थ ही।

[राम और रहीम की एकता]

टीका—हे भाइयो ! संसार के दो मालिक (परमेश्वर) नहीं हैं। कहिये आप लोगों को किसने भ्रम में डाल दिया है ? उसी एक ईश्वर ने अल्लाह राम, करीमा, केशव, हरि और हजरत; ये सब नाम धराये हैं ।।१।। जिस प्रकार सोना और गहना दोनों एक हैं, क्योंकि सोने से ही गहने बने हैं। इन दोनों में दूसरा भेद नहीं है। इसी प्रकार नमाज और आरती-पूजा कहने सुनने के लिए दो मान लिए गये हैं, वस्तुतः दोनों ही प्रकार -भेद से एक ही ईश्वर की पूजाएं हैं ।।२।। वही महादेव और वही महम्द है, और ब्रह्मा आदम कहलाते हैं। जब सब एक ही जमीन पर रहते हैं तो कौन हिंदू और कौन तुरक कहावेंगे ? ।।३।। वेदों के पढ़ने वाले पाण्डेय और किताबों के पढ़नेवाले मौलाना कहलाते हैं, जो कि बहुत सी किताबे रखनेवाले हैं। एक ही मिट्टी के बरतनों के ये सब अलग-अलग नाम हैं ।।४।। कबीर साहेब कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों के दोनों भूल में पड़े हुए हैं, क्योंकि इनमें से राम को किसी ने भी नहीं पाया है। हिन्दू लोग बकरों को मारते हैं और मुसलमान गायों को काटते हैं इस प्रकार दोनों के दोनों ने व्यर्थ ही अपने को गंवा दिया है ।।५।।

(३१) शब्द ।

हंसा संसै छूरी कुहिया, गैया (पियै) बछरुवहिं दुहिया ॥ १ ॥
घर घर सावज करै अहेरा, पारथ ओटा लेई ।
पानी मांहि तलफिगे भूंभरि, धूरि हिलोरा देई ॥२॥
धरती बरसै बादर भींजै, भीटि भये पौराऊ ।
हंस उड़ाने ताल सुषाने, चहले बिंधा पांऊ ॥ ३ ॥
जौं लगि कर डोलै पगु चालै, तौ लगि आस न कीजै ।
कहंहिं कबीर जेहि चलत न दीसै, तासु बचन का लीजै ॥४॥

शब्दार्थ–भूंभरि=सं० स्त्री. (सं. भू+भुर्ज) भूभल, गर्म रेत, गर्म राख व धूल । उ०–'जायहु विसै दुपहरि मैं बलि जांऊ मुंइ भूंभुरि कस धरि हौ कोमल पांऊ' । प्रतापनारायण। हिलोरा=लहर, तरंग । उ०–'तुलसी हुलसै हिय हेरि हिलोरे' । तु० ।

[प्रपंची गुरुवों की संगति का फल]

टीका–कबीर साहेब कहते हैं कि चिदाकाश में तथा निजानन्द-सागर में बिरहनेवाले हे हंसा (जीव) ! तू अनात्म-पदार्थों में उरझानेवाले प्रपंची गुरुवों की वाणीरूप जाल में फंस गया है । इसी कारण तेरे कलेजे में संशय–रूपी छुरी लग गयी, अर्थात् कुसंगवश उलटा ज्ञान होने से तू प्रपंच में अनुरक्त हो गया है, अतः नाना शोक, संताप, संशय तुझको लग गये हैं । आकाश में उड़नेवाले को छुरी का लगना बड़ा आश्चर्य है । और भी अचरज देखिये कि जब जीव प्रपंच में रत गया तब गैया (माया) ने बछुरुवे (इस जीव) का ज्ञान रूपी दूध दुह कर पी लिया । "माया मोह मोहित कीन्हा । ताते ज्ञान रतन हरि लीन्हा" (बीजक) । अर्थात् प्रपंच में पड़कर जीव अज्ञानी हो गया ॥१॥ यह भी एक अचरज ही है कि सावज जगंली जानवर (मन) सबों के हृदयों में ज्ञान, वैराग्यादिकों का आखेट कर रहा है । अर्थात् मन सबों को भटका रहा है। और पारथ-पारधी वीर जीव आत्मा है सो असदुपदेश

से नाना देवताओं की उपासना रूपी ओटा=आड़ में अपनी रक्षा के लिये छिपता है। और भी देखिये, वंचक गुरुओं के उपदेश से जीवों की चित्त वृत्ति रूपी मछली एसी हो गयी है कि, वह निजानन्द रूप "पानी मांहि तलफि गई" अर्थात् परम शान्ति रूप ठंडा पानी उसको सन्तापकारी मालूम होने लगा। और जो भुभुरी धूर (त्रितापकारिणी विषयवासना) है, उसमें हिलोरा लेने लगी। अर्थात् आत्म-सुख से विमुख होकर विषय-सन्ताप में पड़ गई ॥२॥ यह भी एक निराली बात है कि धरती रूप जो पिंड की वायु है वह बरसती है और बादर रूप जो ब्रह्माण्ड है वह भींजता है। अर्थात् प्राणायाम के समय पिंड की वायु ब्रह्माण्ड में भर जाती है। इस कारण भींटि (तालाब की पाल) रूप दशम द्वार तैरने लायक हो गया है। यह हठयोगियों की स्थिति है। इस प्रकार अज्ञानता में पड़े हुए जीवों का जब अन्त समय आया "हंस उड़ाने ताल सुखाने" अर्थात् हंस (जीव) जब शरीर को छोड़कर चला गया तब ताल (शरीर) सूख गया। लोक में तो ताल सूखने के पश्चात् हंस उड़ते हैं; परन्तु यहां तो हंस के उड़ने से ही ताल सूखता है, यह कैसी विचित्र बात है। हंस ! सूखे ताल को छोड़कर उड़ गया; परन्तु सरोवर का प्रेम उसके हृदय से न गया। इस कारण दूसरे-दूसरे विमल एवं परिपूर्ण सरोवरों के विकसित कमल वनों में स्वच्छन्द विहार के लिये उसको जाना पड़ा। इससे यह कहा है कि "चहले बिंधा पाऊ" अर्थात् उक्त हंस का पैर उड़ते समय चहले=वासना-पंक में बिंधा=फंस गया, इसलिए पूर्ण स्वतन्त्र न हो सका। भाव यह है कि यह हंस (जीव) नाना भोगों में आसक्त होकर नाना योनियों में भ्रमण करता ही रहता है। जब तक सद्गुरु के शरण में आकर अपने शुद्ध रूप को नहीं पहचानता है तब तक भवचक्र से नहीं छूटता है। "हंसा सरवर तजि चला, देही परि गौ सून। कहहिं कबीर विचारके, तेई दर तेई थून" ॥३॥ अब विवेकी की आवश्यकता और सद्गुरु का परिचय देते हैं—कबीर साहेब कहते हैं कि, हे भाइयो ! दूसरे के प्रलोभन में आप लोग न पड़िये, क्योंकि यह जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं उनके फलों को भी भोगता है एवं अज्ञानवश संसार में भ्रमण करता है। तथा ज्ञान प्राप्त होने पर स्वयं मुक्त भी हो जाता है। इसलिये दूसरों की दिलाई हुई मुक्ति की आशा को छोड़कर

पूर्ण प्रयत्न से ज्ञान के साथ विवेकादिकों को धारण करिये, जिससे ज्ञानोदय होने से निःसंदेह मुक्ति मिल सके। और नाना विडम्बनाओं में डालने वाले वंचक गुरुओं के वचनों को मत मानिये। जो स्वयं सत्य मार्ग पर नहीं चलते उनके वचनों के मानने से क्या लाभ होगा ? उचित तो यह है कि, "जैसी कहै करै पुनि तैसी, राग द्वेष निरुवारै। तामें घटै बढ़ै रतियो नहि, यहि विधि आप संभारै"॥ "कहा हमार गांठि दृढ़ बांधहु, निसिवासर रहियो हुसियारा"। "ये कलि गुरु बड़े परपञ्ची, डारि ठगौरी सभ जग मारा"। इस पद्य में भी श्लेष–घटित ताद्रूप्य-रूपक अलंकार है। क्यों कि हंस के साधर्म्य से हंस (जीव) में हंस का आरोप किया गया है। और "गैया पिये बछरुये दुहिया" इत्यादि स्थलों में विरोधाभास अलंकार है; क्यों कि सुनने में तो ये पद विरुद्ध से मालूम पड़ते हैं, परन्तु अर्थ समझने से विरोध हट जाता है ॥४॥

(३२) शब्द ।

हंसा हो चित चेतु सकेरा, इन्हि परिपंच कैल बहुतेरा ।
पाषंड रूप रचिन्हि इन्हि तिरगुन तेहि पाषंड भूलल संसारा ॥१॥
घर के षसम बधिक वै राजा, परजा का धौं करै विचारा।
भगति न जानै भगत कहावै, तजि अम्रित बिष कैलिन्ह सारा ॥२॥
आगे बड़े ऐसे ही भूले, तिनहुं न मानल कहा हमारा।
कहलि हमारी गांठी बांधहु, निसुवासर रहियो हुसियारा ॥३॥
ये कलि गुरु बड़े परिपंची, डारि ठगौरी सभ जग मारा ।
बेद कितेब दुइ फंद पसारा, तेहि फंदे परु आपु बिचारा ॥४॥
कहंहिं[1] कबीर तेहि हंस न बिसरो, जाहि मैं मिलौं छुड़ावनिहारा।

शब्दार्थ—सकेरा=जल्दी ।

+ छन्द समान सवैया विशेष।

१ पाठा० ट, ठ, कहंहिं कबीर ते हंस न बिसरे जेहि मा मिलन छुडावनिहारा ॥

[शिक्षा और उद्‌बोधन]

टीका—हे हंस ! विवेकी जन ! तू अपने चित्त में जल्दी चेत; क्योंकि वंचक गुरुओं ने बहुत सा प्रपंच कर रखा है। इन्होंने पाखंड रूप त्रिगुणमत रचा है। "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" (गीता)। और उसी पाखंड में संसारी लोग भूले पड़े हैं ॥१॥ जबकि घर के स्वामी (मालिक) राजा बधिक हो जाय तो भला प्रजा क्या विचार कर सकती है ? अर्थात् वेद वादरत पंडित ही कर्मों का जाल फैलाने लगे तो साधारण बुद्धिवाले उसमें क्या कर सकते हैं ? । "यामिमां पुष्पितां वाचां प्रवदन्त्यविपश्चितः । वेदवाद रता पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः" ॥ (गीता)। भक्ति को नहीं जानते हुए भी भक्त कहलाते हैं। इस प्रकार अमृत को (निजबोध को) छोड़कर सबों ने विष-रूप प्रपंञ्च को ले लिया ॥२॥ आगे चलने वाले बड़े लोग इसी प्रकार की भूल में पड़ गये। उन्होंने भी हमारे कहने को नहीं माना। हमारे उपदेश को पूरी तरह हृदय में धर लो, और रात दिन होशियार रहो ॥३॥ ये कलियुग के गुरु बड़े प्रपंची हैं। इन्होंने भ्रम की ठगाई लगा कर सब जगत को नष्ट कर दिया है। इन्होंने वेद और कितेब रूप दो फन्दे फैलाये हैं और उसी फन्दा बेचारे आप भी फंसे हैं ॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि वे विवेकी जन भूल में नहीं पड़ सकते हैं, जिनको फन्दा से छुड़ानेवाले सद्‌गुरु मिल गये हैं ॥५॥

(३३) शब्द ।

सुनु हंसा प्यारे सरवर तजि कहां जाय ॥१॥
जेहि सरवर बिच मोतिया चुगत होते, बहु बिधि केरि कराय।
सूखे ताल पुरइनि जल छांड़े, कंवल गइल कुंभिलाय ॥२॥
कहहिं कबीर अबही के बिछुरे, बहुरि मिलहु कब आय ॥३।

शब्दार्थ—केरि कराय = केलि, विहार किया।

[शरीर–वियोग (अन्तिम दृश्य)]

टीका—हे प्यारे जीव ! तू शरीर छोड़ कर कहां जा रहा है ? ॥१॥ जिस तन रूप सरोवर में तुम ज्ञान के मोती चुगते थे और बहुत प्रकार से आनन्द

—विहार करते थे। जीवात्मा के निकल जाने पर वह शरीर सूख गया और नेत्र जल बहाने लगे तथा मुख कमल भी कुंभला गया। दूसरे पक्ष में यथा—श्रुत सुन्दर तालाब आदिक अर्थ है ॥२॥ कबीर साहेब कहते हैं कि अबकी बार बिछुड़े हुए हे हंस! तुम फिर कब मिलोगे? (सूचनाः—यहां पर 'हंस' पद श्लिष्ट है। अतः श्लेषोत्थापित रूपकातिशयोक्ति अलंकार है ॥३॥

(३४) शब्द।

हरिजन[1] हंस दसा लिये डोलैं, निरमल नाम चुनी चुनि बोलै।
मुकताहल लिये चोंच लभावैं, मौन रहे की हरि जस गावैं।२।
मान सरोवर-तट के बासी, रामचरन चित अंत उदासी। ३॥
कागा कुबुधि निकट नहि आवैं, प्रति दिन हंसा दरसन पावैं।४।
नीर छीर का करै निबेरा, कहंहिं कबीर सोइ जन मेरा॥५॥

शब्दार्थ—मुकताहल = मोती। मान सरोवर = शुद्ध मनरूप सरोवर।

[निज भक्तों के लक्षण तथा हंस—स्थिति]

टीका—हरि के भक्त हंस-स्थिति को धारण करके संसार में विचरते हैं। और हरि के निर्मल नाम को चुन-चुन कर बोलते हैं ॥१॥ ज्ञानादिक सद्गुण रूप मोतियों की प्राप्ति के लिए अपनी वृत्ति रूप चोंच को वे फैलाते हैं, या तो वे मौन रहते हैं, या हरिगुण गान करते हैं ॥२॥ शुद्ध मनरूप सरोवर के तट में निवास करते हैं। और रामचरण में चित्त को रखते हैं तथा संसार से उदासीन रहते हैं ॥३॥ कुबुद्धि रूप कौवे उनके समीप नहीं जाते हैं और प्रतिदिन उनको विवेकी हंसों का समागम हुआ करता है ॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जो सत्य और असत्य का निर्णय करता है वही मेरा जन है। "साधु संत तेई जना जिन मानल बचन हमार" ॥५॥

(३५) शब्द।

हरि[2] मोरा पिउ मैं राम की बहुरिया, राम बड़ो मैं तनकि लहुरिया।

---

१ यह चौपाई छन्द है। २ मात्रिक दण्डक छन्द।

हरि मोरा रहंटा में रतन पिउरिया,
हरि के नाम सुत[1] काततति बहुरिया ॥१॥
छत्र मास ताग बरिस दिन कुकुरी, लोग बोलैं भल कातल बपुरी।
कहंहि कबीर सूत भल काता, चरषा न होय मुकुति के दाता॥

शब्दार्थ—बहुरिया = दुलहिन । तनकि लहुरिया = बहुत छोटी । रहंटा = चरखा । रतन पिउरिया = अच्छी पिउनी ।

[नामोपासकों की धारणा]

टीका—हरि मेरा पति है और मैं राम की दुलहिन हूँ । मेरा राम सब से बड़ा है, और मैं बहुत छोटी हूं । हरि मेरा चरखा है और मैं उसकी अच्छी पिउनी हूं । मैं दुलहिन हरि के नाम का सूत कातती हूं ॥१॥ छः महिनाओं के सादर और निरन्तर (रामनाम के जपरूप) अभ्यास से बाह्य वृत्तियों की क्षीणता और आन्तर-वृत्तियों का सन्धान रूप तागा (सूत) बना । इसी प्रकार एक वर्ष के अभ्यास से आन्तर-वृत्ति-प्रवाह तथा धारणा, ध्यान और समाधि रूप कुकुरी = सूत की अंटी तैयार हुई । लोग कहने लगे कि बेचारी ने अच्छा काता है ! कबीर साहेब कहते हैं कि नामजप रूप, जपयोग का सूत तुमने अच्छा काता है; परन्तु विना ज्ञान के केवल नाम-रटन से मुक्ति नहीं होती । "विनु देखे बिनु अरस परस बिनु, नाम लिये का होई । धन के कहे धनिक जो होवै, निरधन रहै न कोई" ॥ (बीजक) ॥२॥

(३६) शब्द ।

हरिठग जगत्र ठगौरी लाई, हरि वियोग कस जियहु रे भाई ।१।
को कागो पुरुष कवन काकि नारी, अकथकथा जम दिष्टि पसारी ।
को काको पुत्र कवन काको बापा, को रे मरै को सहै संतापा ॥
ठगि ठगि मूल सभनि को लीन्हा, राम ठगौरी काहु न चीन्हा ।
कहंहि कबीर ठग सो मन माना, गई ठगौरी जब ठग पहिचाना ।

१ प ठा०—ष, लेत ।

[मोह–जाल]

टीका—हरि रूप धन को ठगनेवाले मन ने जगत में ठगाई लगा रखी है। इसलिये हे भाइयो! हरि के वियोग से तुम लोग कैसे जीवित रहते हो? ॥१॥ कौन किसका पुरुष है और कौन किसकी स्त्री है? मन रूपी यमराज की कथा अकथ है। उसने अपनी क्रूर दृष्टि फैला रखी है। कौन किसका पुत्र है और कौन किसका पिता है? कौन मरता है और कौन संताप सहता है ॥२॥ उस मन ने ठग ठग कर सब की मूल पूंजी ज्ञान को ले लिया है; परंतु राम ठग मन की ठगौरी को किसी ने नहीं पहिचाना है। कबीर साहेब कहते हैं कि जीवात्मा का मनरूपी ठग से प्रेम हो गया है; परन्तु जब ठग को पूरी तरह पहिचान लिया तब उसका ठगपन जाता रहा। भाव यह है कि जिस प्रकार ठग को पहिचान लेने से मनुष्य उससे सचेत रहता है। इसी प्रकार मन की प्रतारणाओं को जान लेने से आत्मधन को बचा सकता है ॥३॥

(३७) शब्द।

हरि ठग ठगत सकल जग डोलै, गवन करत मोसे मुखहुं न बोलै।
बालापन के मीत हमारे, हमहीं तजि कहं चलेउ सकारे ॥१॥
तुह अस पुरुष हुं[1] नारि तुहारी, तुहरि चालि पाहुनहुं ते भारी।
माटिक देह पवन के सरीरा, हरिठग ठग से डरहिं कबीरा ॥२॥

शब्दार्थ—मीत = मित्र। सकारे = सबेरे, जल्दी। चालि = दशा।

[प्राण–वियोग]

टीका—काया और प्राण-पुरुष का संवाद। (सूचना—सूक्ष्म शरीर में मन और प्राणों की प्रधानता होती है)। जिन प्राणों की पुष्टि और तुष्टि के लिए हरिभक्ति को भी तिलाञ्जलि देनी पड़ी थी, वे प्राण चलते समय मुख से बोले तक नहीं। काया कहती है कि हे प्राणपुरुष! तुम हमारे बचपन के मित्र हो, अतः हमको छोड़कर तुम जल्दी से कहां चले? ॥१॥ मैं तुम्हारी स्त्री हूं और तुम हमारे पुरुष हो और तुम्हारा हृदय तो पत्थर से भी कठिन

१ पाठा०—ग, वै।

है। जिस प्रकार मिट्टी को छोड़कर पवन चला जाता है। इसी प्रकार स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर चला जाता है। हरि-भक्ति से विमुख करानेवाली इस प्राण-प्रीति और मन की प्रीति रूप ठगनी (ठग) से उपासक हरि-भक्त सदैव डरते रहते हैं। भजन—"चल दिये प्राण काया रहै रोई। चल दिये प्राण०। मैं जानो यह संग चलेगी, तेहि कारन काया मल-मल धोई" ॥२॥

(३८) शब्द।

हरि बिनु भरम-बिगुरचै गंदा।
जहं जहं गयो अपन पौ षोयो, तेहि फंदे बहु फन्दा ॥१॥
जोगी कहै जोग है नीको, दुतिया अवर न भाई।
चुंडित[1] मुंडित मौनि जटाधर, तिनहुं कहां सिधि पाई ॥२॥
ग्यानी गुनी सूर कवि दाता, ई जो कहंहि बड़ हमहीं।
जहंइसे उपजे तहंइ समाने, छूटि गयल सभ तबहीं ॥३॥
बांये दहिने तजो बिकारा, निजु कै हरिपद गहिया।
कहंहिं कबीर गूंगे गुर षाया, पूछे से का कहिया ॥४॥

[गुरु-पद]

टीका—अज्ञानी लोग हरि (सर्वपापहारी निजपद) से विमुख होकर अपावन भ्रम-पङ्क में फंस जाते हैं। यह जीव जब अनात्म-पदार्थों में फंसता है तो अपने आपको (स्वरूप को) खो बैठता है; क्योंकि भ्रम के फंदे में बहुत से फंस गये हैं ॥१॥ योगी कहते हैं कि योग ही सब साधनों से श्रेष्ठ है। हे भाई! इसके समान दूसरा साधन मुक्ति-प्राप्ति के लिये नहीं है। गुरु कहते हैं कि शिखाधारी, मुंडन करानेवाले, मौनी और जटाधारी, इन्होंने क्या सिद्धि प्राप्त की है? ॥२॥ ज्ञानी, गुनी, वीर, कवि और दाता, ये कहते हैं कि हम ही बड़े हैं। ये सब माया से उत्पन्न होते हैं और माया में ही समा जाते हैं। उस समय इनका सारा अहङ्कार जाता रहता है ॥३॥ अपमान और मान के

१ पाठा—घ, चुञ्चित।

भाव को, और वाममार्ग तथा दक्षिणमार्ग को एवं ईडा और पिंगला के चक्र को विकार समझ कर छोड़ दो। और हरिपद को अपना कल्याणकारक समझ कर पूरी तरह ग्रहण करो। कबीर साहेब कहते हैं कि, जिस गूंगे आदमी ने गुड़ खाया हो, यदि उससे उसका स्वाद पूछा जाय तो वह क्या कह सकता है ? । भाव यह है कि हरिपद (गुरुपद) प्राप्ति का परमानन्द स्व-संवेद्य है, अतः कहने में नहीं आ सकता है ॥४॥

(३९) शब्द ।

ऐसे हरि सों जगत्र लरतु है, पंडुर कतहूँ गरुड़ धरतु है।
मूस बिलाई कैसनि हेतू, जंमुक करै केहरि सों षेतु ॥१॥
अचरज इक देषहु संसारा, सुनहा षेदे कुंजल असवारा।
कहहिं कबीर सुनहु संतो भाई, इहै संधि काहु विरले पाई ॥२॥

शब्दार्थ—सुनहा = कुत्ता। कुंजल = हाथी।

[आत्म-विमुखता]

टीका—माया के फंदे में पड़े हुए संसारी लोग सर्वान्तरात्मा और आनन्द-घन ऐसे हरि (सर्व कष्टों को हरण करनेवाले निजानन्द) से "लरतु है" अर्थात् वञ्चित हो रहे हैं, अलग हो रहे हैं। इतना ही नहीं, हरि का साक्षात्कार करानेवाले महात्मा तथा भक्तजनों से भी संसारी लोग लड़ते झगड़ते रहते हैं। सो "पंडुर कतहु गरुड धरतु है" क्या पाण्डुर (जल का सर्प) गरुड़ को पकड़ सकता है ? कभी नहीं। अर्थात् संसारी लोग ज्ञानी तथा भक्तों को अपने लक्ष्य से विचलित नहीं कर सकते हैं। अब यह बतलाया जाता है कि अज्ञानी लोग वंचक गुरुओं से तो प्रेम करते हैं और सत्य उपदेश देकर पाखंडों से हटानेवाले गुरुओं से बैर करते हैं। ये दोनों ही बातें अनुचित हैं। "मूस बिलाई कैसनि हेतु' अर्थात् बिलाई रूप वञ्चक गुरु मूस रूप अज्ञानियों के हितकारी कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि वे तो स्वार्थवश उनसे प्रेम करते हैं। और "केहरि" के समान निर्भय ज्ञानी पुरुष तथा भक्तजनों का जंबुक के समान भय-कातर अज्ञानी लोग क्या पराभव कर सकते हैं ? कदापि नहीं ॥१॥ संसार में यह तो एक बड़ा भारी अचरज है कि हाथी के सवार रूप

ज्ञानी पुरुष एवं भक्तों को कुकुर के तुल्य संसारी लोग डराते हैं, अर्थात् नाना प्रकार की आपत्तियां उपस्थित करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि, हे संतों! आप सुनिये, "इहै संधि काहु विरले पाई" हरि का सच्चा परिचय तो किसी-किसी को मिला है। अधिक लोग तो हरिठगों के फंदों में ही पड़े हुए हैं। (नोट—इसमें विरोधाभास अलंकार है। लक्षण—भासे जबै विरोध को, यहै विरोधाभास'। (भाषाभूषण) इस प्रसंग में यह कैसा अच्छा भजन है कि—

"तू तो राम सुमिर जग लड़ने दे॥ टेक॥
कोरा कागज कारी स्याही, लिखत पढ़त वाको पढ़ने दे।
हाथी चलत है अपनी चाल से, कुतवा भूके वाको भूकने दे।
देवी देवता भूत भवानी, पथर पूजै वाको पूजने दे।
कहँहि कबीर सुनो भाई साधो, नरक पड़े वाको पड़ने दे॥"

(४०) शब्द।

पंडित बाद बदै सो झूठा।

राम कहै जो जगत्र गति पावै, तब षांड कहै मुष मीठा॥१॥
पावक कहै पांव जो डाहै जल कहै त्रिषा बुझाई।
भोजन कहै भूष जो भाजै, तो दुनिया तरि जाई।२॥
नल के संग[1] सुवा हरि बोले, हरि परताप न जानै।
जो कबहुं उड़ि जाय जंगल महं, तो हरि सुरति न आनै॥३॥
बिनु देषे बिनु अरस परस बिनु, नाम लिये का होई।
धन के कहे धनिक जो होई, तो निरधन रहै न कोई॥४॥
सांची प्रीति[2] विषय माया से, हरि भगतन की फांसी[3]।
कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बांधे जमपुर जासी॥५॥

शब्दार्थ—बाद = बाद-विवाद (झगड़ा)।

१ पाठा०—ड, ढ, साथ। २ पाठा०—च, छ, हेतु। ३ ज, झ, हांसी।

[अंध–विश्वास]

टीका–हे पंडितजी ! आप वाद-विवाद करते हैं सो मिथ्या है। राम के परिचय के बिना केवल रामनाम के कहने से यदि जगत् की गति हो जाय तो खांड के कहने से मुंह मीठा होना चाहिये। ॥१॥ अग्नि के कहने से पैर जल जाय, जल के कहने से प्यास बुझ जाय, भोजन के कहने से भूख हट जाय और यदि यह असम्भव-परम्परा सम्भव रूप को धारण कर ले तो बिना जाने हुए रामनाम के जपने से भी सारी दुनिया संसार-सागर से पार हो जाये ॥२॥ नर के साथ में रहनेवाला सुग्गा हरि के नाम को बोलता है; परन्तु वह हरि के प्रताप को नहीं जानता। यदि वह कभी उड़कर जंगल में चला जाय तो फिर कभी हरि का खयाल भी नहीं करता है ॥३॥ बिना देखे और हरि के साक्षात्कार के बिना केवल नाम के लेने से क्या होता है ?। यदि धन के कहने से लोग धनवान् हो जायें तो फिर संसार में कोई निर्धन न रहे ॥४॥ संसारी लोगों की सच्ची प्रीति तो विषयों से और माया से है और हरिभक्तों को तो वे नष्ट करना चाहते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि रमैया राम के स्वरूप–परिचय के बिना (आत्मसाक्षात्कार के बिना) तुम बंधे हुए यमपुर को जाओगे ॥५॥

(४१) शब्द।

पंडित देषहु मन महं जानी।

कहुधौं[1] छूति कहां ते उपजी, तबहि छूति तुम मानी ॥१॥
नादे बिंद रुधिर के संगे, घटही महं घट सपचै।
अस्ट–कंवल होय पुहुमी आया, छूति कहां ते उपजै ॥२॥
लष चौरासी नाना बहु बासन, सो सभ सरि भौ मांटी।
एकै पाट सकल बैठाये, छूति लेत धौं काकी[2] ॥३॥
छूतहि जेंवन छूतहि अंचवन, छूतहि जगत उपाया।
कहहिं कबीर ते छूति विवरजित, जाके संग न माया ॥४॥

शब्दार्थ–नाद-बिन्दु-रुधिर = पवन, वीर्य और रज। सपचै = बढना।

---

१ पाठा० ट, ठ, कहु दुहूँ। २ च ग, सींचि लेत धौं काटी।

[छूवा—छूत विचार]

टीका—हे पंडितजी ! आप खूब देखकर मन में जानिये। भला, कहिये तो सही, यह छूत (अस्पृश्यता) कहां से पैदा हुई है, जिससे आपने उसको मान रखा है ? ॥१॥ पवन, वीर्य और रज के सम्बन्ध से गर्भाशय में गर्भ रहता है। अनन्तर वह क्रमशः बुद-बुद, कलल और पेशी रूप को धारण करता हुआ शरीर रूप में परिवर्तित होकर सपचै=बढ़ता है। पश्चात् पूरा समय होने पर मणिपूरक नामवाले अष्टदल कमल (नाभि चक्र के नीचे रहने वाले गर्भ) से बालक पृथ्वी पर आता है। सब मनुष्यों के जन्म का यही प्रकार है। इस दशा में यह प्रश्न स्वाभाविक ही होता है कि यह अनोखा छूवाछूत का भूत कहां से पैदा हुआ है ? ॥२॥ चौरासी लाख योनियों में बँटे हुए प्राणियों के विविध शरीर रूपी अनेक वर्तन सड़ गलकर मिट्टी बन गये हैं। और ईश्वर ने अपने सब पुत्रों को एक ही पृथ्वी रूप पीढ़े पर बैठाया है। भला अब बतलाइये, आपमें से कौनसा भाई अछूत है ? ॥३॥ यदि तत्वतः शौचाशौच का निर्णय करते हैं, तो सब पदार्थों की उत्पत्ति आदि का विचार तटस्थ होकर करिये। देखिये, भोजन और जल में भी छूत लगी हुई है। और छूत (वीर्यादिक) से ही जगत् की उत्पत्ति है। कबीर साहेब कहते हैं कि हां, यदि छूत से कोई बचा हुआ है तो केवल वह है, जिसके साथ माया नहीं है ॥४॥

भावार्थ—हरिचरणों से उत्पन्न हुए भाइयों को निष्कारण अछूत (अस्पृश्य) मानना हरि के चरणों का भारी तिरस्कार करना है।

(४२) शब्द।

पंडित सोधि कहहु समुझाई, जाते आवागवन नसाई।
अरथ धरम अरु काम मोछ फल,[1] कवन दिसा बस भाई ॥१॥
उतर कि दछिन पूरब कि पछिम, सरग पताल कि मांहीं।
बिनु गोपाल ठवर नहिं कतहूँ, नरक जात धौं काहीं ॥२॥
अनजाने को सरक नरग है, हरि जाने को नाहीं।

१ पाठा०—त, थ, सम। २ च, छ, कहु।

जेहि डर ते भव लोग डरतु हैं, सो डर हमरे नाहीं ।।३।।
पाप पुन्य की संका नाहीं, सरग नरक नहीं जाहीं ।
कहंहिं कबीर सुनहु हो संतो, जहं पद तहां समाहीं ।।४।।

शब्दार्थ—सोधि = खूब समझकर । पद = अमर पद, अमर लोक ।

[ज्ञानियों की स्थिति]

टीका—हे पंडितजी ! खूब सोच विचारकर और समझकर कहिये, जिससे जन्म–मरण की निवृत्ति हो जाये । लोक–विशेष में जानेवाले ही मुक्त होते हैं, ऐसा माननेवालों से यह प्रश्न है कि–अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष; ये चारों फल हे भाई ! कौनसी दिशा में बसते हैं ? ।।१।। उत्तर, दक्षिण, पूर्व या पश्चिम में रहते हैं, अथवा स्वर्ग या पाताल में रहते हैं। यह तो केवल आपलोगों का कथन मात्र ही है कि, "बिनु गोपाल ठवर नहिं कतहूँ" अर्थात् कोई जगह गोपाल से खाली नहीं है । यदि सचमुच ही ऐसा है तो भला बतलाइये कि "नरक जात धौं काहे" नर्क में क्यों जाते हैं ? ।। २ ।। वस्तुतः बात यह है कि "अनजाने को सरक नरग है" अर्थात् जो हरि को नहीं जानते हैं उनके लिये स्वर्ग या नरक है । और जो हरि के जानने वाले हैं उनके लिये नहीं है । संसारी लोग जिस डर से डरते हैं वह डर अपरोक्ष ज्ञानियों को नहीं है ।।३।।

" मगहर मरै सो गदहा होय । भल परतीति राम सों खोय ।
मगहर मरै मरन नहीं पावै । अनते मरै तो राम लजावै ।
का कासी का मगहर ऊसर । (जोपै) हृदय राम बसै मोरा ।
जो कासी तन तजै कबीरा । रामहिं कवन निहोरा " ।।

पाप और पुण्य दोनों से रहित रहने के कारण हम दोनों की शंका से रहित हैं; अतएव स्वर्ग और नरक में भी नहीं जाते हैं । कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तों ! सुनिये! ज्ञानी पुरुष को ऐसा ज्ञान होने पर स्वरूप में स्थित हो जाते हैं ।। "तस्यायमात्माऽयं लोकः," एतमेव लोकमभीप्सन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति" । "ज्ञान अमर पद बाहिरे, नियरे ते है दूरि । जो जानै तेहि निकट

१ ज, झ, सो डर हम न डराहीं ।

है, रहा सकल घट पूरि" ॥ "अमर लोक फल लावै चाव, कहैं कबीर बूझै सो पाव" (बीजक) । "बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः । गुणस्य माया मूलं चान्तं मे मोक्षो न बन्धनम् " ॥ (भागवत) ॥ ४ ॥

[४३] शब्द ।

पंडित मिथ्या करहु विचारा, न वहां सिस्टि न सिरजनहार ॥१॥
थूल अस्थूल पवन नाहि पावक, रवि ससि धरनि न नीरा ।
जोति-सरूप-काल नहिं उहवां, बचन न आहि सरीरा ॥२॥
करम धरम किछुवो नहिं उहवां, ना वहं मन्त्र न पूजा ।
संजम सहित भाव नहिं उहवां, सो धौं एक कि दूजा ॥३॥
गोरष राम एकौ नहिं उहवां, ना वहं बेद विचारा ।
हरि हर ब्रह्मा नहि सिव सक्ति, ना वहं तिरथ अचारा ॥४॥
माय बाप गुरु जाके नाहीं, सो धौं दूजा कि अकेला ।
कहहिं कबीर जो अबकी बूझै, सोइ गुरु हम चेला ॥५॥

शब्दार्थ—ससि = चन्द्रमा । आहि = है ।

[स्वरूप-स्थिति एवं तत्व-विचार]

टीका—हे पंडितजी ! आप मिथ्या विचार करते हैं । निजपद में न सृष्टि है और न सिरजहार ही हैं ॥१॥ आत्म-देश में स्थूल और सूक्ष्म प्रपंच नहीं है । और पवन, अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा, पृथ्वी तथा पानी भी नहीं हैं । और वहां निरंजन (मन) भी नहीं है और बचन तथा शरीर भी नहीं है ॥२॥ और वहां कोई कर्म और धर्म नहीं है, वहां न मंत्र है, न पूजा है और न संयम के सहित कोई भाव है । भला, ऐसी स्थिति में उसको एक कहा जाय या दो ? भाव यह है कि न वह द्वैत है, न अद्वैत है; क्योंकि ये दोनों सापेक्ष हैं और वह तत्त्व निरपेक्ष है ॥३॥ वहां गोरख और अवतार राम दोनों में से एक भी नहीं है । और "यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह" इस श्रुति के अनुसार वहां वेदों का विचार भी नहीं है । वहाँ हरि, हर, ब्रह्मा,

शिव और शक्ति भी नहीं हैं। न वहां तीर्थ हैं और न आचार ही है ॥४॥ उस आत्म-देव के न माता है, न पिता है और न गुरु है। भला, वह अकेला कहा जाय या दुकेला ? कबीर साहेब कहते हैं कि नरतन पाकर जो उसको समझता है वही गुरु है। हम तो उनके शिष्य हैं। (सूचना—इस कथन से ज्ञाता की श्रेष्ठता और वक्ता की अधीनता सूचित होती है। यह असाधारण उपदेशकों का परम गुण है। "दादा भाइ बाप के लेखा, चरनन होइ हौं बन्दा। अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा" ॥५॥

(४४) शब्द।

बूझहु पंडित करहु बिचारा, पुरुष है कि नारी ॥१॥
ब्राह्मन के घर ब्राह्मनि होती, जोगी के घर चेली।
कलमा पढ़ि पढ़ि भई तुरुकनी, कलिमहं रहै अकेली ॥२॥
बर ना बरै व्याह ना करई, पुत जनमावनिहारी[1]।
कारे मुंड को एक[2] न छांड़ै, अजहूँ आदि कुंवारी ॥३॥
मैके रहै जाय नहिं ससुरे. सांई संग न सोवे।
कहंहि कबीर वे जुग जुग जीवैं, जाति पांति कुल षोवै ॥४॥

[अनोखी नारी]

टीका—हे पंडितो ! आपलोग इस बात को समझिये और खूब विचारिये कि यह माया पुरुष है या नारी (स्त्री) ? । इसकी प्रबलता से तो यही मालूम होता है कि यह पुरुष ही है; क्योंकि इसने सारे संसार को बांध रखा है। "बांधे ते छूटे नहीं ज्ञानी" ॥१॥ इसकी अघटित घटनाओं का थोड़ा सा परिचय मैं आपको देता हूं। इस माया ने अपरा विद्या (वेदादि विद्या) रूप से तो ब्राह्मणों के हृदयागारों को हस्तगत कर लिया है। भाव यह है कि अधिकतर ब्राह्मण लोग अपरा विद्या (कर्मकाण्डादिकों) के अहंकार में पड़कर आत्मविद्या से वञ्चित रह जाते हैं। और चेली (शिष्या) बना कर योगियों के चितों

१ पाठा०—च, पुत्र जनमावति हारो। २ त, थ, कारे मुंड कौवो नहि छोडै।

को लुभा लिया है। और भी देखिये यह माया तुरुकों के घरों में कलमा पढ़कर तुरुकनी बनकर बैठ गई है। भाव यह है कि निकाह के समय मुसलमान लोग वर और वधू को कलमा पढ़ाते हैं। स्त्री माया रूप है ही; अतएव मानों माया ही मुसलमानों को वश में करने के लिए कलमा पढ़कर तुरुकनी बन बैठी है। इस प्रकार सारे संसार को अपने फंदा में फांसती हुई भी "कलिमहं रहै अकेली" स्वयं निर्बन्ध होकर विचरती है। कलि अधर्मप्रधान युग है, इसलिए "कलि" में कहा है ॥२॥ यह माया रूपी स्त्री तो ऐसी नटखट है कि वर (श्रेष्ठ ज्ञानियों को) नहीं बरती है, अर्थात् ज्ञानियों से सगाई (लगन) नहीं जोड़ती है। और शुद्ध चेतन से विवाह भी नहीं करती है। इस प्रकार आपाततः विमला होने पर भी यदि सूक्ष्म दृष्टि से इस माया के चरित्रों का निरीक्षण किया जाय तो स्पष्ट ही यह विदित हो जाता है कि यह माया तो "पुत जनमात्रनिहारी" अर्थात् माया चेतन की सत्ता से शबलित जीवेशों को तथा प्रपञ्च को बार-बार पैदा करती-करती थक सी गई है। यह माया की गुप्त लीला है जिसको ज्ञानी ही जानते हैं। माया के और और चमत्कारों को भी सुनिए—इस माया ने सब ही अज्ञानियों को वश में कर लिया है। एक भी काले मूंड को (अज्ञानी को) नहीं छोड़ा, तौ भी आद्या शक्ति माया अब तक अविवाहिता (कुमारी) ही बनी हुई है। भाव यह है कि माया ने सब को वश में कर लिया है; परंतु माया को किसी अज्ञानी ने पति बनकर अधीन नहीं किया। "पूरा किनहु न भोगिया, इसका यही वियोग"। क्योंकि चींटी से ब्रह्मा पर्यन्त सारा संसार तो माया ही का पुत्र (कार्य) है, अतः ये सब माया के पति किस तरह बन सकते हैं ? ॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह माया मैके = नैहर (संसार) में ही रहती है। और ससुरे (निजपद, आत्मपद) में तो पैर भी नहीं देती है। और यदि किसी प्रकार ससुराल में चली भी जाय, अर्थात् चेतन को शबलित कर भी ले, तौ भी "सांई संग न सोवै" सांई = शुद्ध चेतन में तो ज्ञान के बिना माया का लय कदापि नहीं हो सकता है। अब माया के फन्दा से छूटने का सर्वोत्तम साधन बताते हैं—जो जाति, विद्यादि और कुलादिकों के अहङ्कार को छोड़ देते हैं और स्वरूप-परिचय के लिए सतत प्रयत्न करते हैं वे निजरूप का साक्षात्कार कर के "जुग जुग जीवैं" अर्थात्

सदैव अमर (जीते) रहते हैं। थोड़े काल के लिये अमर तो देवता भी हो जाते हैं। इसलिये 'युग युग' (सदैव) पद लिया है ॥ ४ ॥

(४५) शब्द ।

को ना मुवा कहो पंडित जना, सो समुझाय कहौ मोहि सना ॥
मूये ब्रह्मा बिस्नु महेसा, पारबती–सुत मुये गनेसा ।
मूये चन्द मुये रवि सेसा, मुये हनुमत जिनि बांधल सेता ॥२॥
मूये क्रिस्न मुये करतारा, एक न मुवा जो सिरजनिहारा ।
कहंहिं कबीर मुवै नहि सोई, जाके आवागवन न होई ॥३॥

[मृत्यु–विचार]

टीका—(सूचना—यहां पर "को न" ऐसा भिन्न पाठ (अलग-अलग पाठ) प्राचीन हस्त लिखित पुस्तकों में है)। हे पंडितजन ! कौन नहीं मरा है, यह आप मुझसे समझा कर कहिये [१] ॥ १ ॥ ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी भी चल बसे। अधिकारावसान रूप ही इनका मरण है। "अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम्"। पार्वती के पुत्र गणेशजी भी चले गये। चन्द्रमा, सूर्य और शेषजी भी चले गये, और जो सेतुबन्ध में पूरे सहायक थे वे हनुमानजी भी चले गये। ॥ २ ॥ कृष्णचन्द्रजी चल बसे। गुणाभिमानी कर्तापने का अहंकार रखनेवाले भी चले गये। "यः कर्ता स एव भोक्ता"। "अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते" (गीता) जो सिरजनहार है अर्थात् सत्तामात्र से सर्जन आदिक व्यवहार करनेवाला (शुद्ध चेतन) है वह केवल नहीं मरता है। कबीर साहेब कहते हैं कि उक्त आत्मतत्त्व को साक्षात्कार करनेवाला, अतएव आवागमन से रहित मुक्त पुरुष ही नहीं मरता है ॥३॥

(४६) शब्द ।

पंडित अचरज एक बड़ होई ।
एक मरे मुवले अँन नहि षाई, एक मरे सिझै रसोई ॥१॥

---

१ पाठा०—न, ण, स्याना ।

करि असनान देवन की पूजा, नौ गुनी कांध जनेऊ।
हंड़िया हाड़ हाड़ थरिया मुख, अब षट करम बनेऊ ॥२॥
धरम कथै जहं जीव बधै तहं, अकरम करे मोरे भाई।
जो तोहरा को ब्राह्मन कहिये, तो ताको कहिये कसाई ॥३॥
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, भरम भूलि दुनियाई।
अपरमपार पार परसोतिम, या गति बिरले पाई ॥४॥

[मनुष्यों की भारी अज्ञानता]

टीका—हे पंडितजी ! एक बड़ा भारी आश्चर्य होता है। वह यह है कि घर के आदमी के मरने पर तो अन्न का परित्याग कर दिया जाता है और बकरे आदि को मार कर विधिपूर्वक रसोई (भोजन) बनाई जाती है ॥ १ ॥ ब्राह्मण लोग स्नान करके देवता की पूजा करते हैं। शम, दम, तप, शौच, शान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य; ये गीतोक्त नवगुणी जनेऊ (यज्ञोपवीत) कन्धे पर धारण करते हुए भी ऐसा घृणित कार्य करते हैं, यह आश्चर्य है ! । देखिये, आपकी हंडी, थरिया और मुंह में पशुओं की हड्डी रखी हुई है। इस कर्म से तो आपके षट् कर्मों की बड़ी प्रतिष्ठा हुई ! यह काकूक्ति (परिहासवचन) है ॥२॥ धर्म की प्रधानता होने ही के कारण जिस यज्ञ की संज्ञा ही "धर्म" हो गई है। तत्र "यागादिरेव धर्मः" (मीमांसा)। उसी परम पवित्र यज्ञ में हे भाइयो ! आप लोग पशुवध रूप महापाप करते हैं और धार्मिक कथा कहने के धर्म–स्थानों में हिंसा रूपी अधर्म किया जाता है। ऐसा कार्य करने पर भी यदि आप लोगों को ब्राह्मण कहा जाय तो कसाई किसको कहना चाहिये ? । "जीवत जिय मुरदा करै, करमहि भया कसाय। मरी खाय चमरा भया, अधम करम के भाय" ॥ (साखी-ग्रन्थ) ॥ ३ ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो ! दुनिया भ्रम में भूल गई। निर्लेप आत्म-देव पुरुषोत्तम सब से परे हैं; अतएव सब विकारों से रहित हैं। उसका परिचय किसी विरले को होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—"जिभ्या स्वाद के कारने, नर कीन्हे बहुत उपाय"।

(४७) शब्द ।

पांडे बूझि पियहु तुम पानी ।
जिहि मटिया के घर महं बैठे, तामहं सिस्टि समानी ॥१॥
छपन कोटि–जादव जहं भींजे, मुनिजन सहस–अठासी ।
पैग पैग[1] पैगंबर गाडे, सो सभ सरि भौ माटी ॥२॥
तेहि मटिया के भांड़े पांडे, बूझि पियहु तुम पानी ॥३॥
मच्छ कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया ।
नदिया नीर नरक बहि आवे, पसु मानुष सभ सरिया ॥४॥
हाड़ झरी झरि गूद गरीगरि, दूध कहां ते आया ।
सो लै पांड़े जेंवन बैठे, मटियहिं छूति लगाया ॥५॥
बेद कितेब छांड़ि देहु पांड़े, ई सभ मन के भरमा ।
कहंहिं कबीर सुनहु हो पांड़े, ई सभ तुहरे करमा ॥६॥

शब्दार्थ—गरीगरि = गली गली, रास्ते, रास्ते । मटियहिं = पृथ्वी ।

[जल–विचार]

टीका—हे पंडितजी ! आप जाति पूछकर पानी पीते हैं; परन्तु तत्वों के स्वरूपों (स्थितियों) का विचार नहीं करते हैं । जिस मिट्टी के घर में आप बैठे हुए हैं, उसमें तो सारी सृष्टि समा गई है ॥१॥ जिस पृथ्वी में छप्पन कोटि यदुवंशी गलकर सड़ गये । और अठ्ठासी हजार मुनिजन भी गल सड़ गये । और हरेक पैंड में पैगम्बर गड़े हुए हैं । वे सब सड़ गल कर मिट्टी बन गये हैं । हे पाण्डेयजी ! उसी मिट्टी के बरतन बने हुए हैं । आप लोग समझ-कर पानी पीजिये ॥३॥ नदियों के जल में मछलियां, कछुये और घरियाल बियाते हैं और उनके खून से जल सना रहता है और उनमें नर्क भी बहकर चला आता है और मरे हुए पशु तथा मनुष्य उनमें सड़ते रहते हैं ॥४॥ जिस प्रकार गौमाता का दूध अस्थि और मज्जा के रास्ते-रास्ते उनको स्पर्श करता हुआ

[1] पाठा० क, ञ परग परग ।

निकलता है; परन्तु अपनी श्रेष्ठता के कारण अपवित्र नहीं हो सकता है। इसी प्रकार धरती माता भी किसी मनुष्य के केवल छू देने से अपवित्र नहीं हो सकती हैं। हे पांडेजी ! यह दूध कहां से आता है ? इसका विचार करिये ! उस दूधको तो आप पवित्र समझकर भोजनमें लेकर बैठते हैं और मिट्टी में(पृथ्वी में) छूत लगाते हैं ॥ ५ ॥ कबीर साहब कहते हैं कि, हे पाण्डेजी ! अपने सजातीय की लगाई छूवा-छूत को सिद्ध करने के लिए वेदों के प्रमाण देना छोड़ दीजिये; क्योंकि यह नवीन छूवा-छूत-लीला आप लोगों के मन की कल्पना और भ्रम है। वेद में तो "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इत्यादि मंत्र से एक ही पिता से सब की उत्पत्ति का विधान है। ऐसी स्थिति में किसी भाई को निष्कारण (जन्मना) नीच ठहराने का आपको क्या अधिकार है ?। वैदिक विचार से तो यही ज्ञात होता है कि ये सब आपही लोगों की करतूतियां हैं॥६॥

भावार्थ—आप लोग अग्रजन्मा अर्थात् सब लोगों के बड़े भाई हैं। इस कारण स्वाश्रित छोटे भाइयों को गले से लगाना, और उनकी शिक्षा और दीक्षा के लिए सदैव सतर्क रहना आप सबों का परम धर्म है। "एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः" ॥ (मनु)।

(४८) शब्द।

पंडित देषहु हिदय बिचारी, को पुरुषा को नारी ॥१॥
सहज समाना घट घट बोलै, वाके चरित अनूपा।
वाको नाम काह कहि लीजै, ना वाके बरन न रूपा ॥२॥
तैं मैं काह करसि नल बौरे, का तेरा का मेरा।
राम-षोदाय सकति सिव एकै, कहुधौं काहि निहोरा ॥३॥
बेद पुरान कुरान कितेबा, नाना भांति बषाना।
हिंदू तुरुक जइनि औ जोगी, येकल काहु न जाना ॥४॥
छत्र दरसन मह जो परवाना, तासु नाम मन माना।
कहहिं कबीर हमहीं पै बौरे, ई सभ षलक सयाना ॥५॥

शब्दार्थ—निहोरा = स्तुति, प्रार्थना।

[स्वरूप—विचार]

टीका—हे पंडितजी! आप हृदय में विचार कर देखिये कि आत्मा तो न पुरुष है, न स्त्री है। "हंस न नारी पुरुष है, यह सब जग का भेद" ॥१॥ वह सब में एक रूप से व्यापक (विद्यमान) है। सब शरीरों में वही बोल रहा है। उसका ऐसा अनुपम चरित्र है। और उसका हिन्दू या मुसलमान क्या नाम धराया जाय? क्योंकि उसकी कोई रूप-रेखा (चिन्ह) है ही नहीं ॥२॥ हे बौरे मनुष्य! तू हिन्दू और मुसलमान, इस प्रकार क्या भेद करता है? इसमें हिन्दूपन और मुसलमानपन क्या है? क्योंकि एक ही तत्त्व के राम, खुदा, शक्ति और शिव आदिक अनेक नाम हैं। अज्ञानता के कारण उक्त व्यक्तियों में स्व-स्व मतों के अनुसार हीन और श्रेष्ठ बुद्धि करते हुए उन्हीं को प्रसन्नता के लिये निहोरा = स्तुति, प्रार्थना किया करते हैं ॥३॥ उसी एक तत्त्व का वर्णन वेद, पुराण और कुरान आदि नाना ग्रन्थों में नाना प्रकार से है। इस बात को अविवेकी (लड़ाकू) हिन्दू और मुसलमान आदि नहीं समझते हैं। सुनिए—"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्। नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव" ॥ (शिवमहिम्नस्तोत्रम्)। अर्थात् हे भगवन्! टेढ़ीमेढ़ी बहनेवाली अनेक नदियों के एकमात्र गन्तव्य स्थान समुद्र की तरह अपनी-अपनी रुचियों की विचित्रता के सीधे और टेढ़े नाना मार्गों (मत और मजहबों) को पकड़नेवाले मनुष्यों के एकमात्र गंतव्य आप ही हैं। तथा—

"यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ॥
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः।
सोऽयं वो विदधातु मोक्षपदवीं त्रैलोक्यनाथो हरिः" ॥

अर्थात् जिसकी शिव के उपासक शिव रूप से, वेदान्ती ब्रह्म रूप से, बौद्ध लोग बुद्ध रूप से और प्रमाण देने में कुशल नैयायिक कर्ता रूप से, जैनी लोग अर्हन्त रूप से और मीमांसक लोग कर्म रूप से उपासना करते हैं, वह त्रिलोकीनाथ हरि आप सबों को मोक्ष का मार्ग प्रदान करें। इस प्रकार वर्णन करते हुए भी हिन्दू, तुरुक, जैनी और योगी; इनमें से उस एकाकी (अकेले निःसंग) तत्त्व को किसीने भी नहीं जाना है ॥४॥ योगी, जंगम आदि छः दर्शन (वेषधारी)

कहलाते हैं। ये लोक उस तत्त्व के स्व-स्व मतानुसार कल्पित पशुपति आदि नामों को प्रामाणिक मानते हुए औरों से झगड़ते रहते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि सच्ची बात कहनेवाले हमही पागल हैं और यह सारी दुनिया चतुर है ॥५॥

"सांच कहे तो मारन धावे, झूठे जग पतियाय।
गली गली गोरस फिरे, मदिरा बैठ बिकाय॥"

(४६) शब्द।

बुझ बुझ पंडित पद निरबान, सांझ परे कहवां बस घाम[1] ।
ऊंच नीच परबत ढेला न ईंट, बिनु गायन तहंवा उठे गीत।१।
ओस न प्यास मंदिल नहिं जहंवा, सहसौं धेनु दुहावहिं तहंवां।
नितै अमावस नित संक्रांति, निति नव ग्रह बैठे पांती ॥२॥
मैं तोहि पूछौं पंडित जना, हिदया ग्रहन लागु केहि षना।
कहहिं कबीर एतनौ नहिं जान, कवन सबद गुरु लागल कान॥

शब्दार्थ—सांझ परे = सन्ध्या होने पर, शरीरान्त होने पर। केहि षना = किस समय।

[आत्मा की ज्ञानरूपता का वर्णन]

टीका-(नोट—इस पद्य में रूपकातिशयोक्ति से सूर्यास्त के वर्णन के द्वारा सूर्य, आत्मा; अनात्म-ज्योति (प्राणायाम के द्वारा ब्रह्माण्ड में प्रकट होनेवाला भौतिक प्रकाश = ब्रह्मज्योति) और अनाहत शब्द आदि चतुरस्र अर्थ है। और इसमें अनात्म-ज्योतियों का खंडन तथा आत्मज्योतिः (स्वप्रकाश आत्मा) का मंडन किया गया है।)। हे पंडितजी! मुक्तिपद को बार बार समझिए। और यह बतलाइए कि सांझ पड़ने पर प्रकाश रूप सूर्य कहां बसता है? और दूसरे पक्ष में शरीरान्त होने पर आत्मा कहां निवास करता है?। इसी बात को कठोपनिषद् में इस प्रकार वर्णन किया गया है कि—"यो यं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः" ॥ नचिकेता यमराज से प्रश्न करता है कि हे भगवन्!

1 पाठा०—च, छ, भान।

प्राणी के मरने पर यहां संशय होता है कि देहादि संघात से भिन्न देहान्तर में जानेवाला आत्मा है या नहीं ? वेदवेत्ता आस्तिक कहते हैं कि है; और नास्तिक कहते हैं कि नहीं है। आप गुरु से इस आत्मविद्या को मैं ठीक तरह जानना चाहता हूं। मेरे तीन वरों में से आत्म-ज्ञान रूप यह तीसरा वर दीजिए'। और भी लिखा है कि—"यतश्चोदेति सूर्य्योऽस्तं यत्र च गच्छति। तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदुनात्येति कश्चन" ॥ ।४।८। प्राण से सूर्य का उदय होता है और प्राण में ही लय होता है। उसीमें अग्न्यादिक और वागादिक अर्पित हैं। उसका उल्लंघन कोई नहीं करता है। नचिकेता का पूछा हुआ तत्त्व यही है। दृष्टान्त रूप सूर्य पक्ष में कथन—ऐसे ऊँचे नीचे पर्वत, ढेला और ईंटें कोई नहीं है कि जो सूर्य को छिपा सकें। किन्तु ज्योतिष शास्त्र के सुप्रसिद्ध सूर्य-सिद्धान्त ग्रन्थ के "अनस्तः सूर्यः" अर्थात् सूर्य अस्त नहीं होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सूर्य सदा उदित ही रहता है। केवल पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण उसकी आड़ में आ जाने से वह अस्त हुआ सा मालूम पड़ता है। और दार्ष्टान्त रूप आत्मा के पक्ष में-अक्रिय होने के कारण गमनागमनहीन आत्मा सदैव विद्यमान है। केवल सूक्ष्म शरीर-घटक प्राणों के निकल जाने से वह उपाधिवश भ्रम से निकल गया सा मालूम पड़ता है। हठयोगियों का कथन है कि ब्रह्माण्ड में बिना गायन के गीत होते हैं। अर्थात् वहां अनाहत शब्द होते हैं ॥१॥ सूर्य-प्रदेश में न ओस है और न उससे मिलनेवाली प्यास है तथा न किसी प्रकार का मंदिर है, किन्तु वहां सहस्रांशु की सहस्रों किरणों का ? सरण होता रहता है। "दिग्दृष्टिदीधितिस्वर्गवज्रवाग्बाणिवारिषु भूमौपशौचगोशब्दः" । इस विश्वकोष के अनुसार 'धेनु' नाम सूर्य किरणों का है। आत्मा के पक्ष में न विषयसुख रूप ओस है और न आत्मज्ञानियों को उसकी प्यास है। और न उनकी दृष्टि में लोक-लोकान्तर रूप मंदिर हैं, किन्तु उनके हृदय में सात्विक वृत्तियों का सत्व-प्रसरण सदैव होता रहता है। "सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरिकृपा हृदय बसु आई।" (रामायण)। हठयोगियों के पक्ष में—सुषुम्णा नाडी के उदय होने से ईडा (इंगला-चन्द्रनाडी) और पिंगला (सूर्यनाडी) के लय हो जाने से हठयोगियों के लिये नित्य ही अमावस (कुहू) है। "सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली सा नष्टेन्दु-

कला कुहूः" (अमरकोष)। और नित्य ही सूर्य-संक्रमण रूप संक्रान्ति है और प्राणायाम के द्वारा नव द्वारों का निरोध होने से नवग्रह रूप नव-द्वार पंक्तिशः बैठ जाते हैं ॥२॥ हे पंडितजी ! मैं आपसे पूछता हूं कि आपके हृदय में ज्ञानभानु को ग्रस लेनेवाला यह अज्ञानता रूपी खग्रास कबसे लगा है ? अर्थात् सत्य (आत्मा) अनृत (माया) का मिश्रण अथवा जड-चेतन की ग्रंथी कबसे पड़ गई है ?। "जड़ चेतन हि ग्रंथि पर गई, जदपि मृषा छूटत कठिनाई। तब से जीव भयो संसारी, ग्रन्थि न छूटे न होय सुखारी"। (रामायण)। कबीर साहेब कहते हैं कि तुम इतना भी नहीं जानते कि भौतिक प्रकाश (ब्रह्म-ज्योति) और भौतिक शब्द (अनाहत शब्द) भूतों के सम्बन्ध से ही होते हैं। फलतः पञ्चतत्व-प्राप्ति के अनन्तर दोनों ही लीन हो जाते हैं। उक्त दोनों पदार्थों के विलीन होने पर भी जिस सूर्य का प्रकाश अम्लान रूप से विद्यमान रहता है वह "आतम-भानु" है। उसी के दर्शन से निर्वाण पद मिलता है। तुम्हारे गुरु का वह उपदेश किस काम का है, जिससे इतना भी बोध न हो सका ? ॥३॥

(५०) शब्द।

बुझ बुझ पंडित बिरवा न होय, आधे बसे पुरुष आधे बसे जोय।
बिरवा एक सकल संसारा, सरग सीस जरि गयल पतारा ॥२॥
बारह पंखुरी चौबिस पात, घन बरोह लागे चहुं पास ॥३॥
फुलै न फरै वाकी है बानी, रैनि दिवस बिकार चुवे पानी ॥४॥

कहहिं कबीर किछु अछलो न तहिया।
हरि बिरवा प्रतिपालिनि जहिया ॥५॥

[विश्व—वृक्ष]

टीका—हे पंडितो ! इस संसार रूपी वृक्ष तत्त्व के आप लोग खूब समझ लीजिए। वस्तुतः यह संसार "बिरवा न होय" वृक्ष नहीं है; क्योंकि वृक्ष तो केवल जड़ होता है और यह संसार-वृक्ष तो चिदचिदात्मक है। अर्थात् जड़-चेतन उभय रूप है, क्योंकि "आधे बसे पुरुष आधे बसे जोय"। भाव

यह है कि संसार प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध से बना है। और जोय=नारी, प्रकृति (जड़) और पुरुष (चेतन), इन दोनों भागों में विभक्त है ॥१॥ यह संसार इस प्रकार का वृक्ष है कि स्वर्ग लोक तो इसकी चोटी है और पाताल लोक जड़ है। अर्थात् पाताल से स्वर्ग तक संसार-वृक्ष फैला हुआ है ॥२॥ बारह मास और चौबिस पक्षात्मक काल ही इस विश्व-वृक्ष की पंखुड़ियां और पत्ते हैं। अर्थात् काल भी अचेतन होने से संसार ही के अन्तर्गत है और नाना कामना रूप वरोह (जटाओं) ने इसको सब तरफ से घेर कर बांध रखा है। अर्थात् यह संसार कामनाओं के ही आश्रित है। वटादिक पुराने वृक्षों को उनकी जटायें थामे रहती हैं। इस प्रसंग में रहीम कवि ने कैसा अच्छा दोहा कहा है—"आवत काज रहीम हैं, बन्धु विरल गहि मोह। जीरन पेड़हिं के भये, राखत वरहिं बरोह" ॥३॥ विश्व-वृक्ष में और वृक्षों से यह भी एक विशेषता है कि इसमें न ज्ञान रूप फूल ही लगते हैं, न मुक्ति रूप फल ही लगता है। यह उसकी बानी=आदत, स्वभाव है। अर्थात् संसार-परित्याग के विना ज्ञान द्वारा मुक्ति नहीं मिल सकती है। "जो गिरही परपंच न होते, नृपति जंगल क्यों जाते। दे पाहन-पारस तेली को, दत्त खरी क्यों खाते ? ॥" संसारवृक्ष में यह भी एक विचित्रता है कि काम-क्रोधादि विकार रूपी पानी रातदिन इस पेड़ से चूता ही रहता है। "यहि पेड़ उत्पत्ति परलय का, विषया सबै बिकार।"। भाव यह है कि, वृक्ष अपने पैरों से (जड़ों से) पानी पीते हैं, इसी से इनको पादप कहते हैं। संसार भी एक वृक्ष है; अतः वह कामादि विकार रूपी पानी को पीता है और सदैव उक्त विकारों को चुवाता रहता है। ठीक ही है, "जो रहे करवा सो निकरे टोटी" ॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जब हरि-माली नन्हे पौधे (सूक्ष्म प्रपंच) की रक्षा में लगे हुए थे, उस समय यह कुछ स्थूल पसारा नहीं था ॥५॥

भावार्थ—स्थूल जगत् के नष्ट होने पर भी सूक्ष्म प्रपंच सुरक्षित रहता है; क्योंकि ज्ञानाग्नि के विना वासनांकुर नहीं जलता है।

(५१) शब्द।

बुझ बुझ पंडित मन चित लाय, कबहुं भरलि बहे कबहुं सुखाय॥

षन ऊबे षन डूबे षन औगाह, रतन न मिलै पावै नहि थाह ।।
नदिया नहीं संसरि[1] बहै नीर, मांछ न मरै केवट रहै तीर ।।३।।
पोषरि नहिं बंधली तहं घाट, पुरइनि नाहि कंवल महं बाट ।।४।।
कहंहिं कबीर ई मनका धोष, बैठा रहे चलन चहै चोष ।।५।।

शब्दार्थ—औगाह = वि० (सं० अवगाध) अथाह, बहुत गहरा । उ०—"उभय अपार उदधि औगाहा" । तु० । संसरि = सं. पु. (सं. संसरण) निरन्तर ।

[मन की लीला]

टीका—हे पंडितों । आप लोग विद्या और सदाचार सम्पन्न होने से विचार-शील हैं, इसलिये समाहित-चित्त होकर इस मन के स्वरूप को खूब समझ लीजिए; जिससे कि आप मन रूपी नदी में न बह सकें । यह मन रूपी नदी किसी समय (कार्य में सफलता होने से) तो द्विगुणित उत्साह तथा नाना आशा रूप जल से भर जाती है । एवं किसी समय (बार बार असफलता होने से) उक्त नदी का अपार मनोरथ-जल जहां का तहां लीन हो जाता है ।।१।। मन की धारा में बहते हुए लोगों की घटनाएं सुनिऐ—ये लोग कभी तो ऊबे = जल के ऊपर आ जाते हैं, और थोड़ी ही देर में फिर डूब जाते हैं, एवं कभी-कभी तो उक्त लोगों की विकल्प-नदी औगाह (अथाह) हो जाती है । भावार्थ यह है कि—योग्य उपाय देख पड़ने से मनुष्य उछलने लगता है तथा असहाय होने से चिन्ता में डूब जाता है एवं कभी-कभी तो चिन्ता ऐसी बढ़ती है कि वह समुद्र ही बन जाती है । मन नदी का थाह अज्ञानियों को नहीं मिल सकता है, क्योंकि इस नदी के अन्तस्थल में पैठने की शक्ति (ज्ञान शक्ति) और सतत विचार रूप दृढता अज्ञानियों में नहीं होती है । अतएव उनको "रतन न मिलै" अर्थात् निजपद (आत्म-तत्त्व) रूप रत्न नहीं मिल सकता है । भाव यह है कि जिस प्रकार मृत्यु से निर्भय होकर मोती निकालने वाले मरजीवा लोग (गोता—खोर) दरिया के नीचे जाकर मोतियों को निकाल लाते हैं । इसी प्रकार सर्वथा

[1] पाठा०—ब, म, सांसरि ।

निर्द्वन्द होकर निरन्तर दीर्घ काल पर्यन्त और अत्यन्त ही आदर पूर्वक आत्य-विचार में निमग्न रहनेवाले ज्ञानी पुरुष ही आत्म-तत्त्व रूपी रत्न को ले सकते हैं। "नैष आत्मा दुर्वलेन लभ्यः" इस आत्मा को चंचल चित्त-वाले दुर्बल हृदय के पुरुष नहीं प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि "जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ। मैं बौरी बूडन डरी, रही किनारे बैठ" ॥२॥ वस्तुतः देखा जाय तो यह मन नदी नहीं है, क्योंकि नदी तो दूसरी जगह से आए हुए पानी से बढ़ती है और बहती है, परन्तु यह मन तो स्वयं संसरि के अर्थात् नाना संकल्प-विकल्पों से झर-झर के बहता रहता है। भावार्थ—इसके संकल्प और विकल्पों का प्रवाह कभी नहीं रुकता है। इस मन-नदी में काम, क्रोध और रागादिक बड़े बड़े मत्स्य (भारी मछलियां) सदैव तैरते रहते हैं। वे मारने में नहीं आते, क्योंकि 'केवट रहै तीर' ज्ञान रूपी केवट (मल्लाह, धीमर) सदैव इस मन रूपी नदी के किनारे पर ही बैठा रहता है। जल में पैठने से मल्लाह अपने जाल से मछलियों को मार सकता है। भाव यह है कि, हृदय में ज्ञान का सञ्चार (प्रवेश) होने से ही कामादिक विकार नष्ट हो सकते हैं ॥३॥ अब मन की कल्प-नाओं का वर्णन करते हैं—योग-उपासना करनेवाले सब प्रकार के योगी जन अपने अपने गुरुओं की दीक्षा-प्रणाली के अनुसार पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड में चतुर्दलादि नाना कमलों की तथा नाना प्रकार के लोकों और द्वीपों की कल्पना करके उन्हीं कल्पित लोकों में सदैव संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) किया करते हैं। "त्रयमेकत्र संयमः"। (योगदर्शन)। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास के करने से संकल्पों की स्थिरता एवं दृढ़ता के कारण मन से कल्पित तथा गंधर्व नगर के समान प्रतीति मात्र नाना प्रकार के लोकों का आभास स्वप्नवत् तथा तडित (बिजुली के) प्रकाशवत् उनको अभ्यास-काल में भास जाता है। वस्तुतः ये सब मिथ्या ही हैं। इस बात को बताते हैं कि "पोखरि नहिं बंधलीं तहं घाट" यह ब्रह्माण्ड पोहकर (तालाब) नहीं है, जिसमें घाट तथा सीढ़ियां बन सकें, एवं नाना प्रकार की कमल-लताएं लग सकें। तथापि योगीलोग तो ब्रह्माण्ड में रात-दिन ही घाट और सीढ़ी रूप नाना लोकों की रचना किया करते हैं। और इसी प्रकार पिण्ड में भी नाना कमलों की (षट्-चक्रों) की कल्पना करते हैं। और प्राणायाम द्वारा षट्-चक्रों के

भेदन से कल्पित मार्ग बनाकर रातदिन उसी मार्ग से आया जाया करते हैं ॥४। कबीर साहेब कहते हैं कि इन अज्ञानियों के मन को वञ्चक गुरुओं ने यह केवल धोखा दिया है। इन सब विडम्बनाओं से मुक्ति कदापि नहीं मिल सकती है। यह मन तो जहां का तहां (संसार में) ही बैठा हुआ है, क्योंकि और द्वीप तो इसी के बनाए हुए घर हैं। अतः इन कल्पित मोदकों से पेट नहीं भर सकता है। कुछ सच्चे साधन (ज्ञानादिक) प्राप्त करने चाहिए, जिनसे कि निज पद मिल सके। इन अज्ञानियों के मन का काम तो इस कहावत के अनुसार है कि "बैठा रहै चलन चहै चोष"। ये लोग चाहते हैं कि हमको सहज ही में मुक्ति मिल जाय ॥५॥

(५२) शब्द।

बूझि बूझि लीजै ब्रह्म ग्यानी।
घूरि घूरि बरसा बरषावो, परिया बुंद न पानी ॥१॥
चिउंटी के पगु हस्ती बांधो, छेरी बींगर षाया।
उदधि मांह ते निकरि मछरिया, चौरे ग्रीह कराया ॥२॥
मेंढुक सरप रहैं एक संगे, बिलिया स्वान बियाही।
नित उठि सिंध सियारा सों डरपै, अदबुद कथो न जाई ॥३॥
कवने संसय मिरगा बन घेरे, पारथि बाना मेलै।
उदधि भूपते तरिवर डाहै, मच्छ अहेरा षेलै ॥४॥
कहहिं कबीर ई अदबुद ग्याना, को यहि ग्यानहिं बूझै।
बिनु पंषै उड़ि जाय अकासैं, जीवहि मरन न सूझै ॥५॥

शब्दार्थ—बींगर = सं. पु. (सं. वृक) बीग (भेडिया। आ०—जीव।

[अनधिकार—चर्चा]

टीका—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन" का पाठ आपामर सबों को पढ़ानेवाले ब्रह्मज्ञानियों! (वाचक ज्ञानियों!) अब आप लोगों की

१ पाठा०—ट, ड, छाछरि   २ पाठा०—घ, च, जीवन।

बारी आ गयी है। मेरी भी इस सत्य बात को सुनकर समझ लीजिये। बात यह है कि विवेक और वैराग्यादि साधनों से सम्पन्न अधिकारियों को तो "अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूं) इत्यादि महावाक्यों का उपदेश देना शास्त्रानुमोदित है ही; परन्तु आप लोग तो अधिकारी-परीक्षा को भी धता दे कर गजनिमीलिका करते हुए स्वयं ब्रह्मज्ञान के काले काले मेघ बनकर तथा सावन-भादों की घटा की तरह घूम घूमकर सारे संसार में ब्रह्मज्ञान की ही झड़ी लगा रहे हैं; पर जरा देखिये तो सही, किसी भी अनधिकारी के हृदय में आपके ब्रह्म-ज्ञान की तो एक बूंद भी नहीं पड़ती है। इसलिए विचारपूर्वक उपदेश दीजिए ॥१॥ हे मेरे भाइयो! आप लोग तो अनधिकारियों को ब्रह्मोपदेश देकर चिऊंटी के पैर में हाथी बांध रहे हैं। भाव यह है कि बिना साधन सम्पत्ति के चित्त-वृत्ति ब्रह्माकार नहीं हो सकती है। अतएव मिथ्या ब्रह्मभाव से मन नहीं रुक सकता है। मन के न रुकने से ही "छेरी बीगर पाया" छेरी (अजा=माया) ने बीगर (भेड़िए के तुल्य जीवात्मा) को खा डाला। देखिए, यह भी कैसा आश्चर्य है कि इन अनधिकारियों की चित्तवृत्ति रूप मछरिया (जल की मछली) अमितानन्द सागर निज रूप से निकलकर (विमुख होकर) इस लम्बी चौड़ी तथा सन्तप्त संसार भूमि में अपना घर कर रही है। भावार्थ-विषयी जनों की वृत्ति विषयाकार रहती है ॥२॥ इन अनधिकारियों के हृदय-निकेतन का तो वृत्तान्त आपने अभी तक सुना ही नहीं, सुनिए। इनके यहां तो मेंढक (अज्ञानी) और सर्प (अहंकार) दोनों साथ ही रहते हैं। भावार्थ—अहंकार इनको कैसे बचने देगा? और बिलिया (अज्ञानियों की चित्त-वृत्ति) ने श्वान रूप संसार-सुख के साथ विवाह कर लिया है। भाव यह है कि सांसारिक सुख से चित्त-वृत्ति कदापि सन्तुष्ट नहीं हो सकती है। और भी सुनिए, सिंह रूप जीव सियार रूप मन तथा अध्यास (भ्रम) से सदैव डरता रहता है। अर्थात् मन ने तथा अध्यास ने जीव को अपने अधीन कर लिया है। यह अनोखी कथा कहने में नहीं आती है ॥३॥ अब यह बताते हैं कि ऐसे विवेकी (अधिकारी) जनों की मुक्ति में कोई संशय नहीं है, जो अपने हृदय रूपी वन में विचरनेवाले नाना प्रकार के संशय रूप मृगों को घेरकर उनके ऊपर (पारथ=वीर) सद्गुरु के उपदेश रूपी बाणों को चलाते हैं अर्थात् सद्-

गुरु के वचन द्वारा सम्पूर्ण संशयों को निवृत्त कर लेते हैं। एवं वृत्ति-भूमि को आत्मानन्द-समुद्र में आप्लावित कर माया-प्रपंच रूप भारी पेड़ को जला डालते हैं (समुद्र के पानी से पेड़ जल जाते हैं)। इसके पश्चात् आत्म-साक्षात्कार से मच्छ रूप माया तथा उसके कार्य मन को भी लय कर देते हैं॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह आपका ब्रह्मोपदेश तो बड़ा अलौकिक है। शीघ्र ही मुक्ति प्रदान कर देता है, परन्तु इसको समझ कर दृढ़तया धारण करनेवाले तो अधिकारी बहुत ही कम हैं। अधिक संख्या तो ऐसे ही लोगों की है, जो वैराग्यादि साधन रूप पांखों के बिना ही उड़कर आकाशरूप ब्रह्म में विहरना चाहते हैं। और प्रपञ्च-पंक में पड़े हुए भी "अहं ब्रह्मास्मि" और "शिवोऽहं" की हांक लगाते हुए अपने आपको कैवल्य धाम के पर्यङ्क में पर्यवस्थित जानते हैं। इतना ही नहीं, अपने आपको निर्लिप्त ब्रह्म समझते हुए निशङ्क होकर यथेच्छाचरण में भी लगे रहते हैं। मृत्यु के बाद हमारी क्या दशा होगी? यह उनको नहीं सूझता है, क्योंकि वे तो भ्रम से अपने को अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानी मानते हुए स्वयं ब्रह्म होने के भ्रम में पड़े हुए हैं।

(ऐसे ही अनधिकारियों के ब्रह्म होने के अहंकार को लक्ष्य करके ही कबीरपंथी ग्रन्थों में तथा अन्यान्य साम्प्रदायिक ग्रन्थों में भी ब्रह्म को भ्रम बतलाया गया है। मेरी बुद्धि में तो ऐसा ही आता है; क्योंकि अपरोक्ष (सच्चे) ब्रह्मज्ञानी बहुत ही कम होते हैं इस बात को शंकरावतार भगवान् शङ्कराचार्य ने भी अपने गीताभाष्य में स्पष्ट ही कह दिया है। और वेदान्त के एक जीववाद के अनुसार यदि देखा जाय तो अभी तक अपरोक्ष (सच्चा) ब्रह्मज्ञान किसी को हुआ ही नहीं है। यदि एक को भी सच्चा ब्रह्मज्ञान हो जायगा तो उक्त मतानुसार सारे संसार की मुक्ति हो जायगी। इन्हीं सब विवाद-ग्रस्त बातों को समझकर अर्वाचीन महात्माओं ने निष्कण्टक तथा सरल मार्ग का अन्वेषण किया है और उसी राजमार्ग से चलने के लिये अनुरागी आत्म-जिज्ञासुओं को आदेश भी दिया है। परन्तु कितना ही सरल क्यों न हो, तथापि यह भी एक मार्ग ही है। इसलिए सम्बल बांधकर बराबर चलते रहना पथिकों के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है; क्योंकि बिना पुरुषार्थ के परमपद नहीं पा सकते हैं। "कहैं कबीर यह मन का घोष, बैठा रहे चलन चहैं चोष"।

"मारग चलते जो गिरे, ताको नाहीं दोष। कहैं कबीर बैठा रहै, ता सिर करडे कोष । "थोड़े ही में बहुत है, अति समझन की बात। मेंहदी अधिक लगाय ते, कर कारो ह्वै जात ॥ एक जीववाद का उल्लेख अद्वैतवाद के ग्रन्थों में सविशेष किया गया है। यहाँ पर दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। "एको जीवः, तेन चैकमेव शरीरं सजीवम्। अन्यानि स्वप्नदृष्टशरीराणीव निर्जीवानि। तदज्ञानकल्पितं सर्वं जगत्, तस्य स्वप्नदर्शनवद्यावदविद्यं सर्वो व्यवहारः। बद्धमुक्तव्यवस्थापि नास्ति जीवस्यैकत्वात्। शुकमुक्त्यादिकमपि स्वाप्नपुरुषान्तरमुक्त्यादिकमिव कल्पितम्। अत्र च सम्भावितसकलशङ्कापङ्कप्रक्षालनं स्वप्नदृष्टान्तसलिलधारयैव कर्तव्यमिति । (सिद्धान्तलेशसंग्रहे, १ परिच्छेदः, जीवैकत्वविचारः)। तथा, "अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते । इत्यादिश्रुतिष्वेकवचनप्राप्तेकत्वविरोधेनोदाहृतश्रुतीनामनेकत्वपरत्वाभावात् । सार्वजनीन प्रमासिद्धतदनुवादेनाविरोधात् ॥ (अद्वैतसिद्धौ १ परिच्छेदे, एकजीववादः) एक जीववाद की मूलभूत कुछ श्रुतियां और स्मृतियां ये हैं। एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः, "पुरत्रये क्रीडति यस्तु जीवः इत्यादि। देही कर्मानुगोऽवशः, तथा, शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि गृह्णाति नरः। इत्यादि ॥५॥

(५३) शब्द।

वहि[1] बिरवा चीन्है जो कोय, जरा मरन रहिते तन होय ॥ १ ॥
बिरवा एक सकल संसारा, पेड़ एक फूटल तीनि डारा ॥ २ ॥
मध्य कि डारि चारि फल लागा, साषा पत्र गिनै को वाका ॥ ३ ॥
बेलि एक त्रिभुवन लपटानी, बांधे ते छूटे नहिं ग्यानी ॥ ४ ॥
कहंहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेइ बिचारा।

शब्दार्थ—बिरवा = वृक्ष।

[संसार-तरु]

टीका—सद्गुरु कहते हैं कि जो कोई इस प्रपञ्च-पादप को भली-भांति से पहचान ले कि यह तो अज्ञानी शुकों को ठगनेवाला महा-नीरस और बड़ा भारी सेमर का पेड़ है तो वह जन जरा और मरण रूप नाना दुःखों से छूट

१ पाठा०—च, छ, करै।

जाय ॥१॥ सूक्ष्म से सूक्ष्म कीटाणु से लेकर हिरण्यगर्भ (पितामह ब्रह्मा) पर्यन्त चराचरात्मक यह संसार ही एक महाकाय वृक्ष है। इस वृक्ष के अवयवों का वर्णन सुनिये—मूल प्रकृति (माया ही) इस वृक्ष का मूल है; क्योंकि यह सब प्रपंच मायिक है। और समष्टि—सूक्ष्म शरीराभिमानी प्रथम शरीरी एक आदि पुरुष ही उस प्रपंच-पादप का पेड़ (मध्यम भाग) है। अनन्तर उस आदि पुरुष रूप वृक्ष से क्रमागत ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप त्रिगुणात्मक तीन डालियां निकलीं। ये तीनों देवता क्रमशः रज, सत्त्व और तमोगुण के अभिमानी हैं। अतः ये ही शब्दान्तरित त्रिगुण हैं। इन्हीं के द्वारा इस त्रिगुणात्मक प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति और लय बार-बार हुआ करते हैं ॥२॥ इस विश्व-वृक्ष की मध्य की डाली सत्त्व-गुण में पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) रूपी चार फल लगते हैं। अर्थात् सत्त्व-गुण रूप विष्णु की आराधना से सर्व पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। वैष्णवों की विष्णु—आराधना का यही रहस्य है। यह एक डाली का वृत्तान्त है। इसके अतिरिक्त रजोगुण रूप डाली में से काम-क्रोधादि रूप अनन्त शाखा-प्रशाखाएं और नाना वासना रूप पत्ते इतने निकल पड़े हैं कि, कौन निठल्लू बैठा-बैठा उनको गिना करे। काम एषः क्रोध एषः रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥ "आदि पुरुष एक वृक्ष है, निरंजन वाकी डार। तिरि देवा शाखा भये, पत्र भया संसार" ॥ तथा, "सार शब्द से बांचि हो, मानहु इतबारा हो। आदि पुरुष एक वृक्ष है, निरंजन डारा हो। त्रिदेवा शाखा भये, पत्ता संसारा हो" ॥ (बीजक-शब्द ११४) ॥३॥ बड़ा भारी आश्चर्य तो यह है कि वासना या आशा रूप एक तुच्छ लता ने इतने बड़े विराट वृक्ष को जड़ से लेकर चोटी तक घेर कर ऐसा लपेटा है कि स्वर्गादि फलों को तोड़ने की इच्छा से इस वृक्ष पर चढ़े हुए बड़े-बड़े योगी और ज्ञानाभिमानी भी बेचारे इसी आशा-लता में फंस कर मर गये। अनेकानेक उपाय किये परन्तु न छूट सके ॥४॥ परम दयालु गुरु कबीर कहते हैं कि हे भाइयों! मैं पुकार-पुकार कर कहता चला आ रहा हूं कि इस विषय—वृक्ष रूप प्रपञ्चतरु से दूर रहो, और इसके जहरीले फलों को अमृत फल समझ कर न चखो, और इस मिथ्या आशा रूप लता को भी मत छूओ। जो पंडित हों वे इस बात को विचार लें ॥ ५ ॥

(५४) शब्द ।

सांई के संग सासुर आई ।
संग न सूती स्वाद न मानो, गौ जौबन सपने की नांई ॥१॥
जना चारि मिलि लगन सुधायो; जना पांच मिलि मांडो छायो ।
सषी सहेलरी मंगल गावैं, दुष सुष माथे हरदी चढ़ावैं ॥२॥
नाना रूप परी मन भांवरि, गांठि जोरि भई पतियाई ।
अरघा दे लै चली सुवासिनि, चौके रांड भई संग सांई ॥३॥
भयो बियाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समुझाई ।
कहैं कबीर हम गौने जैबे, तरब कंत ले तूर बजाई ॥४॥

शब्दार्थ—सुवासिनि = सं० स्त्री० [सं. सुवासिनो] सधवा स्त्री । आ–वञ्चक गुरुओं की रोचक वाणी । तूर = सं. पु. [सं० तूर्ण] एक प्रकार का बाजा, नगारा, सिंघा । उ०–"तोरन तू रन तूर बजै वर भावत भामिन गावत ठाढ़ी" । के० ।

[कोइ काहू का हटा न माना, झूठा षसम कबीर न जाना ।]

टीका–इस शब्द में अज्ञानी जीव चित्त-शक्ति-रूप स्त्री का वञ्चक गुरुओं के द्वारा मनः-प्रपञ्च के साथ मिथ्या विवाह तथा सद्गुरु के द्वारा पुनः सच्चे पति शुद्ध–चेतन (निजपद) को प्राप्ति का रूपक दिखाया गया है। यह चित्त-शक्ति (जीवात्मा) सांई (शुद्ध-चेतन, निज रूप) को साथ लेकर ही (सासुर) संसार में आई है। अर्थात् सांई सदैव इसके संग ही रहता है; परन्तु अज्ञान-वश अपने पति को नहीं जानती हुई उसके परमानन्द–विहार से सदैव वञ्चित ही रहती है। प्रमाद–वश इस जीव–शक्ति का सारा यौवन (नरतन) व्यर्थ ही सपने की तरह चला गया। अतएव संसारी जीव जन्म–मरण के चक्र में पड़ गया ॥१॥ किसी प्रकार (मालिक की दया से) फिर भी इस चित्त-शक्ति को मनुष्य शरीर मिला तो वञ्चक गुरुओं ने फिर भी मनः-प्रपञ्च ही के साथ इसका विवाह कर दिया। अब विवाह का रूपक बताया जाता है–मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार; इन चारों ने एक मत होकर इस जीव–शक्ति रूप कुमारी

का देहादि—संघात रूप मनः प्रपञ्च के साथ सगाई-सम्बन्ध रूप लगन लगाने का निर्णय किया। अर्थात् जीव को शरीरासक्ति में डाल दिया। भाव यह है कि मन संकल्प करता है और बुद्धि निश्चय करती है। पश्चात् चित्त की स्फुरणा से अहंकार के द्वारा जीव नाना कर्मों को करता है। यही सब कर्मों की व्यवस्था है। इस प्रकार प्रपञ्चासक्ति रूप लगन चढ़ने पर पञ्च तत्व रूप पांच जनों ने मिल कर शरीर मंडवे की रचना कर दी। भाव यह है कि देहाध्यास ही के कारण नाना देह धरने पड़ते हैं। इस प्रकार मंडवे के तैयार होने पर इस जीव-शक्ति रूप दुलहिन की बालसखी इन्द्रिय रूप सहेलियां प्रमुदित-चित्त होकर मंगल गाने लगीं। अर्थात् सुन्दर-सुन्दर रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादि रूप विषय-भोग भोगने लगीं। अनन्तर भोगों से होनेवाले तथा पापपुण्य के फलीभूत नाना दुःख और सुख रूप हल्दी जीव रूप दुलहिन के मत्थे डाल दी। भाव यह है कि रूपादि विषयों का भोग तो इन्द्रियां करती हैं और उसके फल रूप दुःखादिक जीव-आत्मा को मिलते हैं ॥२॥ इस प्रकार हल्दी चढ़ाने के बाद भोग—जन्य नाना वासना रूप भांवरी इस जीव रूप दुलहिन के मन में पड़ गई। भाव यह है कि सम्पूर्ण शुभाशुभ क्रियाओं का यह स्वभाव होता है कि उन कर्मों के करनेवालों के हृदय-मुकुर में किये हुए कर्मों के शुभाशुभ संस्कार (वासना, सूक्ष्म-भोगेच्छा) रूप अक्स (फोटो) खींच जाता है। अतएव उन्हीं वासनाओं से विवश होकर संसारी लोग उन्हीं-उन्हीं कर्मों को करते हैं और फलों को भोगते हैं; क्योंकि जीवों ही के कर्म-संस्कार द्वारा स्वजातीय क्रियायों को पुनः-पुनः पैदा किया करते हैं। इस प्रकार भांवरि पड़ने के बाद जब इस जीव-दुलहिन (चेतन) का मनः—प्रपंच (जड़) के साथ गठ-बन्धन हो गया तब इसने भ्रमवश झूठे खसम को अपना पति मानकर उसके साथ घनिष्ठ प्रेम कर लिया। भाव यह है कि अज्ञान—जन्य देहासक्ति ही के कारण यह जीव चेतन के धर्म-आनन्दादिकों को विषयों के धर्म समझ रहा है। अर्थात् यह परम सुख मुझ को विषयभोग से मिला है, ऐसा जान रहा है। और जड़ के अनन्त धर्म—वर्ण, आश्रम, और अवस्था तथा बालापन, जवानी और बुढ़ापा, एवं दुबलापन और मुटाई, रंग—रूप, व्याधि—पीड़ा आदिकों को अपने (चेतन

के) धर्म मान रहा है। इसी अनमेल खिचड़ी को दार्शनिकों ने अन्योन्याध्यास तथा जड़-चेतन की ग्रन्थि भी कही है। इसकी विशेष कथा ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य के उपोद्घात में "सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।" (विवेकाग्रहादध्यस्येति योजना। सत्यं चिदात्मा अनृतं बुद्धीन्द्रियदेहादि ते द्वे धर्मिणी मिथुनीकृत्य युगलीकृत्येत्यर्थः। इति तत्रात्या भामती) इत्यादि ग्रन्थों से स्पष्ट की गई है। हमारे गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी इस विषय में लिखा है —"जड चेतन हि ग्रन्थी परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई"। इस प्रकार अनात्म-पदार्थों में फँस कर यह जीव संसारी हो गया है। इस प्रकार विवाह-विधि सम्पन्न होने के पश्चात् जीव दुलहिन को (सुवासिनी) सौभाग्यवती (अहिवाती) स्त्री रूप वंचक गुरुओं की वाणियां अरघा दे देकर (दुलहिन के आगे आगे पानी गिराती हुई) अपने संग ले चलीं। भाव यह है कि नाना सकाम कर्म रूप अनात्म-पदार्थों में उरझाने वाले वंचक गुरुओं ने नाना प्रकार की रोचक वाणियों से वस्तुतः नित्य-तृप्त जीव को भी स्वर्गलोकादिकों का भूखा बना दिया। इसी कारण यह अज्ञानी वंचक गुरुओं से मिथ्या मुक्ति रूप बासी भात लेने के लिए उनके द्वार पर पड़कर नाक रगड़ने लगा। "झूठि मुक्ति नर आस जीवन की, उन्ह प्रेत को झूठ खयो"। (बीजक शब्द)। अब इस विवाह का नतीजा सुनिये। इस जीव दुलहिन ने थोड़े ही काल में चल बसनेवाले इस झूठे संसार रूप पति के साथ अज्ञानवश विवाह कर लिया। इस कारण थोड़े ही काल में अपने प्रिय जन के विनाश से मंडवे (शरीर) में बैठी बैठी ही रांड हो गयी। और सच्चे सांई (पति) तो बेचारे बगल ही में बैठे रह गये। उनके देखते देखते यह सब खेल हो गया। भाव यह है कि यह जीव मोहवश धन, दारा और शरीरादिक प्रपंच से ऐसा प्रगाढ प्रेम बांध लेता है कि उनकी विकलता तथा वियोग से स्वयं अकर्मण्य और अनाथ बन जाता है। इसी भाव को कबीर गुरु ने एक स्थल पर कैसे अच्छे रूपक में झलकाया है—"फूल भल फूलल मालिन भल गांथल, फुलवा विनसि गैल भंवरा निरासल" ॥३॥ इस प्रकार विवाह हो जाने पर भी यह जीव दुलहिन बिना ही पति के रह गई। इसके पश्चात् अनेक सांसारिक आपत्तियों से त्रस्त होकर अपने सच्चे पति (निजपद) की खोज में यह

निकल पड़ी। अनन्तर नाना कर्म और उपासना रूप अनेक मार्गों में घूमती हुई जब यह सत्-संग रूपी बाट (रास्ते) पर पहुँच गयी, तब इसके सच्चे संबंधी संतजन मिल गये। इन्होंने इसको बोध (होश) कराया कि, "तूं नाहक ही निज पति (स्वरूप के मिलने केलिये स्वर्ग और पाताल की खाक छान रही है। और मुक्ति रूप पतिसुख के लिए पानी और पत्थरों में शिर मार रही है। तुझको स्वार्थियों ने धोका दिया है। केवल इस विधिवाद (कर्मकाण्ड) के बल से तू पति को नहीं पा सकती। तू किस उलझन में पड़ गयी है। तेरा पति तो देख तेरे साथ ही है। तू (संसार से) पीछे घूमकर और आंख खोल कर तो देखती ही नहीं। आंख बन्द कर औरों ही के पीछे दौड़ा करती है। सुन-"जेहि खोजत कल्पौ गये, घट ही मांहि सो मूर। बाढ़ी गर्व गुमान ते, ताते परि गौ दूर"॥ "सो तो कहिये ऐसे अबूझ, खसम अछत ढिग नाहीं सूझ"॥ बेचारे इस पति का क्या दोष है? ये सब तो तेरी ही अज्ञानता के फल हैं"। इस प्रकार अमृत रूप वचनों से जब महात्मा ने अज्ञानी जीव-शक्ति को खूब समझाया तब जीवात्मा के हृदय में बोध हुआ। अनन्तर बहुत पश्चात्ताप करके जीवशक्ति कहने लगी कि "अब तो हम अपने पति के साथ गौने जायेंगी और सदैव उन्हींके चरण-कमल रूप नौका में बैठी रहेंगी। जिससे कि तूर (तुरही) बजाकर संसार-सागर से पार हो जायेंगी"। यही भाव इन साखियों में भी झलकता है-"पाछे लागा जाय था, लोक वेद के साथ। पैंडे में सतगुरु मिले, दीपक दीन्हा हाथ॥ दीपक दीन्हा तेल भरि, बाती दई अघट्ट। पूरा किया बिसाहना, बहुरि आवे हट्ट"॥ भजन-"आछत खसम रांड भई धनियां, झूठ खसम मन भावत रे" ॥४॥

(५५) शब्द।

नल को ढाढस देषहु आई, किछु अकथ कथा है भाई ॥१॥
सिंघ सहदूल एक हर जोतिन्ह, सीकस बोइन्हि धाने।
बनकि भुलइया चाषुर फेरे, छागर भये किसाने ॥२॥
कागा कापर धोवन लागे, बकुला किरपै दांते।
मांषी मूंड़ मूंड़ावन लागे, हमहूँ जाइब बराते ॥३॥

छेरी बाघहिं ब्याह होत है, मंगल गावहिं गाई।
बन के रोझ धै दाइज दीन्हौं, गोह लोकंदे जाई ॥४॥
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, जो यह पद अरथावै।
सोई पंडित सोई ग्याता, सोई भगत कहावै ॥५॥

शब्दार्थ–सीकस = सं० पु० (देश) ऊसर। उ०–"ऊसर बरसे त्रिन नहि जामा"। तु०। चापुर = सं० स्त्री० [देश०] खेत से घास निकलने की क्रिया = निराई। लोकंदे = सु० पु० [हिं. लोकना] लोकंदा, विवाह में कन्या के डोले के साथ दासी को भेजना।

[अन्धा कहे अन्धा पतियाय, जस विसवा का लगन धराय]

टीका—सच्चे सद् गुरु के मिलने से जीवों के कल्याण की चर्चा ऊपर कर चुके हैं। अब वंचक गुरुओं के फन्दे में पड़े हुए अज्ञानियों की दुर्गति का दिग्दर्शन कराते हैं। सद् गुरु कहते हैं कि हे भाइयों! इन अज्ञानियों की जरा हिम्मत तो देखिये। ये लोग जन्म-मरणादि द्वारा अनन्त बार माया के कोल्हू में पेरे जा चुके हैं; परन्तु फिर भी दूने उत्साह से उसी कोल्हू में शिर देने के लिये सब से आगे रहते हैं। जादूगर गुरुवा लोगों ने इन बेचारे अज्ञानियों के ऊपर माया की ऐसी पुरिया डाल दी है कि ये लोग बड़े प्रसन्न होकर सबसे प्रिय अपने नर-जीवन को भी तुच्छ भेंट समझते हुए उनके चरणों में रख देते हैं और नाचते-कूदते तथा हँसते-खेलते हुए परम शोचनीय गति को चले जाते हैं। अज्ञानियों की यह कथा तो बड़ी ही विचित्र है! ॥१॥ अब वञ्चक गुरुओं की करतूती भी देखिये। छागर=माया के स्वामी बकरे रूप वञ्चक गुरु स्वयं किसान बन कर और सिंह तुल्य जीवात्मा तथा शार्दूल=सिंह को खा जानेवाले उनके मन को बैल बनाकर कर्म रूप एक ही हल में उन्होंने जोत दिया। अर्थात् सब लोगों को सकाम कर्मों में लगा दिया। इसके अनन्तर सीकस= ऊसर भूमिभूत संसार में नाना कामना तथा विविध आशा रूप धान (अन्न) बोने लगे। भाव यह है कि "राम कृष्ण की छोड़िन आसा, पढ़ि गुनि भये क्रितम के दासा। कर्म पढ़ै औ कर्म को धावै, जेहि पूछा तेहि कर्म दिढावै। निःकर्मी की निन्दा कीजै, कर्म करै ताही चित दीजै। ऐसी विधि सुर विप्र

भरीजै, नाम लेत पञ्चासन दीजै। बूडि गये नहिं आपु संभारा, ऊंच नींच कहि काहि जुहारा। ऊँच नीच है मध्य की वानी, एकै पवन एक है पानी। एकै मटिया एक कुम्हारा, एक सभनि का सिरजनिहारा। एक चाक सब चित्र बनाई, नाद बिन्द के मध्य समाई। व्यापक एक सकल की ज्योति, नाम धरे का कहिये भौति। राक्षस करनी देव कहावे, वाद करै गोपाल न भावै"॥ इत्यादि (बीजक)। इसके बाद बन की भुलैया=लोमड़ी रूप लालची गुरुलोग इस असार संसार को निभाने लगे अर्थात् इसकी रक्षा करने लगे ॥२॥ इस तरह खेती होने के बाद अब छेरी और बाघ के विवाह का रूपक दिखाते हैं। कागा=मलिन चित्तवाले पाखण्डी गुरु अपने उपदेश रूपी जल से अज्ञानियों के हृदय-रूप कपड़ों को धोने लगे। और बगुला रूप नकली साधु-वेषधारी उनके हृदयरूप कपड़ों पर इस्तरी फेरने लगे। अर्थात् उक्त गुरुओं के उपदेश का ये भी अनुमोदन करने लगे। अनन्तर मक्खी रूप अशुद्ध चित्तवाले पुरुष मूंड मुड़वाने लगे। और कहने लगे कि हम भी उक्त विवाह की बरात में शामिल होयेंगे। ठीक ही है, "जस दुलह तस बनी बराता।" ॥३॥ इस प्रकार बरात सजने के बाद छेरी माया और सिंह–तुल्य जीवात्मा का विवाह होने लगा। अर्थात् उक्त गुरुओं के उपदेश से जीवों को माया घेरने लगी। वस्तुतः यह जीव सिंह रूप है। यदि यह अपने रूप को जान ले तो बेचारी माया-बकरी इसके सामने क्या चीज है!। विवाह में मंगल गाये जाते हैं; अतएव इस विवाह में भी "गाई" गो=इन्द्रियां मङ्गल गाने लगीं ॥ ४ ॥

भावार्थ—यह जीव माया के फन्दे में पड़ गया तब इसकी इन्द्रियां नाना विषयों को भोगने लगीं। इस प्रकार (अनमेल) विवाह के हो जाने पर उक्त विवाह के उपलक्ष में बन के रोझ की तरह इधर उधर घूमनेवाले मन को दहेज में दे दिया गया। अर्थात् मन को प्रपंच के साथ कर दिया गया। विवाह होने के बाद दुलहा और दुलहिन डोले में बैठ कर जाया करते हैं। अतः इस विवाह के पश्चात् भी नाना शरीर रूप लोकंदा=डोले तैयार किये गये, जिन में बैठकर दुलहा (जीवात्मा) ने अपने गुरु=बरातियों के साथ अपने घर (चौरासी) का रास्ता पकड़ लिया।

कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! जो इस पद्य के अर्थ को समझ

कर उक्त भ्रम-फांस (धोके की टट्टी) में नहीं पड़ते हैं, वे ही पंडित और ज्ञानी हैं, तथा वे ही आत्मोपासक सच्चे भक्त भी कहलाते हैं ॥५॥

भावार्थ—"घर घर मंतर देत फिरतु हैं, महिमा के अभिमाना। गुरु सहित सिख सब बूडे, अन्तकाल पछताना।" तथा—"गुरु लोभी सिख लालची, दोनों खेलै दाव। दोनों बूडे बापुरे, बैठि पथर की नाव" ॥ (बीजक)। "गोह लोह कन्धे" में 'गोह, पद से यह सूचित किया है कि जिस तरह गोह एक प्रकार का विषैला जीव होता है। इसी तरह अज्ञानियों के शरीर भी विषय रूपी विष से भरे रहते हैं। विष विषयों का खाय हो, रात दिवस मिलि झार" । (बीजक)।

(५६) शब्द ।

नल को नहि परतीति हमारी।
झूठे बनिजि कियो झूठा सो, पूंजि सभनि मिलि हारी ॥१॥
षट-दरसन मिलि पंथ चलायो, तिरिदेवा अधिकारी।
राजा देस बड़ो परिपंचो, रैयति रहति उजारी ॥२॥
इतते ऊत ऊतते इत रहु, जम की सांड[1] सवारी।
ज्यों कपि डोरि बांधु बाजिगर, अपनी खुसी परारी ॥३॥
इहै पेड़ उतपति परलै का, विषया सभै विकारी।
जैसे स्वान अपावन राजी, त्यौं लागी संसारी ॥४॥
कहंहि कबीर इ अदबुद ग्याना, को माने बात हमारी।
अजहूँ लेउं छुड़ाय काल सों, जो करे सुरति संभारी ॥५॥

शब्दार्थ—बनिजि = व्यापार। पूंजि = मूल पूंजी (ज्ञान)। रैयत = प्रजा। अपावन = मलिन वस्तु। संसारी = वि० (सं. संसारिन) संसार में रहनेवाला, संसार की माया में फँसा हुआ। उ०—"तब से जीव भयो संसारी"। अजहुँ = अब भी। सुरति = सं. स्त्री.। रूप, आकृति।

१ पाठा०—ञ, ञ, ञाट सवारी।

[सुरति (वृत्ति) के निरोध की आवश्यकता]

टीका—संसारी मनुष्यों को हमारे वचनों का विश्वास नहीं है। देखिये—ये झूठे लोग झूठे मन की झूठी कल्पना रूप व्यवहार को करते हैं। इस कारण अपनी मूल पूंजी रूप ज्ञान को हार जाते हैं ॥१॥ जोगी, जंगम, सेवडा और दरवेश आदिक छः वेषधारी लोग मिलकर शैवादि मत को चलाते रहते हैं। और ब्रह्मा, विष्णु और महादेव; ये तीनों देवता उसके अधिकारी नियत किए गये हैं। दृष्टांत रूप में, जिस देश का राजा प्रजा का धन हरने में बड़ा प्रपंची होता है, वहां की प्रजा सदा (उजेड़ी) बरबाद ही रहती है। इसी प्रकार मन राजा रूप यम के उत्पीडन से प्रजा रूप का भी जन सदा अशान्त रहते हैं। "तीन लोक में है यमराजा, चौथे लोक में नाम निशान। लखे कोइ विरला पद निरवान" ॥ "स शान्तिमाप्नोति न कामकामी" (गीता) ॥२॥ मन रूप यमराज की ऊँट की सवारी पर बैठा हुआ यह जीवात्मा इस लोक से उस लोक और उस लोक (स्वर्गादि) से इस लोक (नरकादि) को जाता-आता रहता है। (ज्ञात हो कि पूर्व काल में लम्बी यात्रा ऊँटों के द्वारा की जाती थी)। जिस प्रकार खाने के लोभ से फँसे हुए बन्दर को बाजीगर डोरी से बांध लेता है। उसी प्रकार विषय-भोग में फँसा हुआ जीव बन्धन में फँस जाता है ॥३॥ मन रूप यमराज की कामना में विषय रूप विष फल को फलनेवाले उत्पत्ति और प्रलय के पेड़ हैं। "विष फल फलै अनेक हैं, मन कोई देखो चाख"। (साखी-ग्रन्थ)। जिस प्रकार कुत्ता मलिन वस्तु को खाने में प्रसन्न रहता है। इसी प्रकार विषयी और पामर संसारी कामोपभोग में सदा लगे रहते हैं। "कामी कुत्ता तीस दिन, अन्तर होय उदास। कामी नर कुत्ता सदा, छः ऋतु बारह मास" ॥ (साखी ग्रन्थ) ॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह हमारा बताया हुआ अद्भुत ज्ञान है; परन्तु हमारी बात को कौन मानता है ?। यदि मनुष्य अपने चित्त की एकाग्रता करे (विषयों से मन को हटावे), तो मैं उसको अब भी (ऐसी पतित दशा में भी) जन्म—मरण रूप कालचक्र से छुड़ा लूँ। "तावदेव निरोधव्यं, यावद्धृदि गतं क्षयम्। एतज्ज्ञानं च मोक्षश्च ह्यतोऽन्यो ग्रन्थ—विस्तरः" ॥ मन को इतना रोकना चाहिये कि वह हृदय में जाकर विलीन हो जाय। यही ज्ञान और यही मोक्ष है। इसके

अतिरिक्त दूसरी सब बातें ग्रन्थों की लम्बी चौड़ी कथाएं मात्र हैं। "सर्वथा वर्तमानोऽपि, न स भूयोऽभिजायते"। (गीता)। अर्थात् स्वेच्छाचारी भी मेरी शरण में आकर जन्ममरण से रहित हो जाता है ॥ ५ ॥

(५७) शब्द।

ना हरि भजै न आदति छूटि।
सब्दहिं समुझि सुधारत नाहीं, अंधरे भयहु हियहु की फूटी ।१।
पानी मांह पषान कि रेषा, ठोंकत उठै भभूका।
सहस घड़ा नित उठि जल ढारै, फिरि सूषे का सूषा ॥२॥
सीतै सीत सीत अंग भौ, सैनि बाढ़ि अधिकाई।
जो सनिपात रोगियाही मारै, सो साधन सिधि पाई ॥३॥
अनहद कहत कहत जग बिनसै, अनहद सिस्टि समानी।
निकट पयाना जमपुर धावै, बोलै एकै बानी ॥४॥
सतगुरु मिलै बहुत सुष लहिये, सतगुरु सब्द सुधारै।
कहहिं कबीर सो सदा सुषारी, जो यह पदहिं बिचारै ॥५॥

शब्दार्थ—आद्ति = स्वभाव। पषान कि रेषा = पत्थर की टुकड़ी। पयाना = चलना, कूच करना।

[वन्ध्य-ज्ञानी (वाचक-ज्ञानी) और हठयोगियों की दशा]

टीका—आत्माकार वृत्ति नहीं होती है, इस कारण जीव का स्वभाव (मन की कल्पना) भी नहीं छूटता है। मेरे शब्द को समझ कर अपनी भूल को नहीं सुधारते हैं; क्योंकि लोकाचार रूप ऊपर की दृष्टि और विवेक-विचार रूप अनन्तर की दृष्टि; इस प्रकार इनकी चारों आंखें फूट गई हैं। "कहहिं कबीर जाकी चारों गई, तासों काह बसाय" ॥१॥ जिस प्रकार पत्थर की टुकड़ी पानी में पड़ी रहती है; परन्तु भींजती नहीं है, और पानी से बाहर निकाल कर ठोकने पर उसमें से अग्नि की चिनगारियां निकलती हैं। इसी प्रकार वन्ध्य

पाठा०—च, छ, सेने सेते सेत अंग भौ सयन बढ़ी अधिकाई।

ज्ञानी और ज्ञान-हीन हठयोगियों का मन पत्थर के टुकड़े के समान है, जो सदैव जल में पड़ा रहता है; परन्तु भींजता नहीं है। जिस प्रकार पत्थर पर प्रतिदिन हजारों घड़े पानी डालने पर भी वह सूखे का सूखा ही रहता। इसी प्रकार वन्ध्य ज्ञानी दिखाने के लिए (अहं ब्रह्मास्मि) के, (अहंग्रहोपासना) के वृत्ति-प्रवाह रूप हजारों घड़े मन रूपी पत्थर पर प्रतिदिन ढरकाया करते हैं। इसी प्रकार हठयोगी भी सहस्र-कुम्भक रूप हजार जल के घड़े उक्त मन पर डाला करते हैं, परन्तु वह सूखा का सूखा ही रह जाता है। इसका कारण यह है कि उनके मन रूपी पाषाण कामाग्नि से नीरस और अभेद्य (अत्यन्त ही कठिन) हो गये हैं, अतएव सब साधन विफल हो जाते हैं ॥२॥ उक्त वन्ध्य ज्ञानी और हठयोगी शम, दमादि साधनों से हीन होते हैं। और उनके हृदय में मल, विक्षेपादिक दोषों का संचय भी अधिक मात्रा में रहा करता है। अतः आमज्वर से पीड़ित रोगी की तरह ये लोग उपासनादि उपवास (लंघन) और तपोऽनुष्ठानरूप स्वेद-प्रस्रवण (पसीना कराने के) अधिकारी हैं। अहंग्रहोपासनादि रूप जो शीतल-सरोवर का स्नान है, उसके अधिकारी ये लोग नहीं हैं। इसी कारण (उक्त शीतोपचारसे) इन लोगों के मन को "शीतांग वायु (सन्निपात) हो जाता है। ठीक ही है—"स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः, कोऽम्भसा परिसिञ्चति। [माघकाव्य]। भाव यह है कि अनधिकारियों को अहं ब्रह्मास्मि रूप महावाक्य का उपदेश देना उचित नहीं है। पूर्व-उक्त अनधिकार उपदेश से अहंकारादि विकारों की सेना अत्यन्त बढ़ जाती है। जिस प्रकार सन्निपात होने पर रोगी कदाचित ही बचता है। इसी प्रकार सिद्धि प्राप्त होने पर हठयोगियों की भी यही दशा होती है। भाव यह है कि सिद्धि के अहंकार से उक्त योगी लोग योग-भ्रष्ट हो जाते हैं। और वन्ध्य ज्ञानी भी उभय लोक से भ्रष्ट हो जाते हैं। यहां पर "सेते सेते सेत अङ्ग भो, सेन बाढी अधिकाई" ऐसा भी नूतन पाठ है। अर्थ-अधिकारशून्य होने पर भी अहंग्रहोपासना तथा हठयोग का सेवन करते-करते शरीर सफेद हो गया [वृद्धावस्था चली आई], परन्तु मन के विकार दूर न हुए, प्रत्युत मन राजा की सेना (काम-क्रोधादि) बढ़ती ही चली गई। "ऊपर उजर कहा भौ बौरे, भीतर अजहूँ कारा हो। तन के वृद्ध कहा भौं बौरे, मनुवा अजहूं बारो हो। (बीजक)॥ ३ ॥ केवल अनाहत

शब्द की उपासना करनेवाले आत्म-तत्त्व से वञ्चित रहने के कारण नष्ट हो गये, क्योंकि अनाहत शब्दोपासना साधन मात्र है, साध्य रूप नहीं। अनाहत में सब सृष्टि समा गई। चलना = कूच करना (अंतकाल) नजदीक है। साधन-हीन होने से उक्त लोग यमपुर के (चौरासी के) रास्ते में दौड़े चले जा रहे हैं। तिस पर भी शिवोऽहं और अनहद आदि की हांक लगाते जाते हैं॥४॥ सद्गुरु के मिलने पर अमित आनन्द की प्राप्ति होती है, क्योंकि सच्चे गुरु शब्द के मार्ग को सुधारते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि शम, दमादिक साधनों से सम्पन्न होकर जो आत्मतत्त्व का विचार करते हैं वे सदा सुखी रहते हैं॥५॥

भावार्थ—वन्ध्य ज्ञानियों का यथेष्टाचरण होता है, सच्चे ज्ञानियों का नहीं। "बुद्ध्वाऽद्वैतस्य तत्त्वज्ञ यथेष्टाचरणं यदि। शुनां तत्त्वदशां चैवं को भेदोऽशुचिभक्षणे" (पञ्चदशी)! अद्वैत,तत्त्व के जाननेवाले ज्ञानी भी यदि यथेच्छ आचरण (कामोपभोग) करने लगे तो कुत्ते और तत्त्वज्ञानियों में अशुद्ध वस्तु ग्रहण रूप कर्म में क्या भेद रहेगा ? ।

(५८) शब्द ।

नरहरि लागी दव विकार विनु इंधन, मिले न बुझावनिहारा।
मैं जानौं तो ही सो व्यापै, जरत सकल संसारा ॥१॥
पानी मांह अगिन को अंकुल, मिले न बुझावन पानी[1]।
एक न जरै जरै नौ नारी, जुगुति काहु नहिं जानी ॥२॥
सहर जरै पहरू सुष सोवै, कहै कुसल घर मेरा।
पुरिया जरै वस्तु निज उबरै, विकल राम रंग तेरा ॥३॥
कुबुजा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की सरधा[2]।
करत विचार जन्म गौ षीसै, ई तन रहत असाधा ॥४॥
जानि बूझि जो कपट करतु है, तेहि अस मंद न कोई।
कहहिं कबीर सभ नारि राम की, मो ते अवर न होई[3] ॥५॥

---

१ पाठा०—ड, ढ, जरत बुझावै पानी। २ फ, ब, साधा।
३ पाठा०—च, छ, कहहिं कबीर तेहि मूढ को भला कवन विधि होई।

शब्दार्थ—दव = जंगल की आग। पुरिया = अन्नमय कोष, स्थूल शरीर। पीसै = चला गया। पूजि = पूरी हुई।

[कामना-अग्नि का विचार]

टीका—हे भगवन्! संसार में बिना ही इंधन के विषय विकार की दावाग्नि लगी हुई है। इसको बुझानेवाला (सद्गुरु) नहीं मिलता है। साखी-"सब जग जलता देखिया, अपनो अपनी आगि। ऐसा कोई ना मिला, जासों रहिये लागि"॥ मैंने समझा था कि यह विकार की अग्नि तुझ (एक व्यक्ति) में ही लगी हुई है, परन्तु दीखता है कि सारा संसार ही इससे जल रहा है ॥१॥ वञ्चकों की रोचक वाणी रूप पानी में कामाग्नि की ज्वाला छिपी रहती है। इस कारण यथार्थ शान्ति नहीं होती है। कामना रूप अग्नि को सचमुच बुझानेवाला सत्योपदेश रूप सच्चा पानी नहीं मिलता है। असत्-कामनाओं से केवल मन को ही संताप होता है, यह बात नहीं, किन्तु नौ नारी के आश्रयभूत शरीर को भी महा कष्ट उठाना पड़ता है इस भेद को कोई नहीं जानते हैं ॥२॥ शरीर जलता रहता है और साक्षी आत्मा सोता रहता है। वह कहता है कि मेरा स्वरूप रूपी घर तो कुशल से ही है। पुरिया (अन्नमय कोष, स्थूल शरीर) जल जाता है और उसमें की निज वस्तु आत्मा बच जाती है। हे राम! यह तेरा रंग विकल है अर्थात् यह तेरी लीला है ॥३॥ वामन पुरुष रूप मन को जीवात्मा रूप कामिनी ने स्वेच्छा-पूर्ति के लिये गले से लगा लिया। इस कारण उसके मन की इच्छा पूर्ण नहीं हुई। अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति नहीं हुई। बल्कि यह तो "तुन्दिलो खर्वकामश्च" इत्यादि श्लोक की कहावत हो गई। "ओछे से नेह लगाय के, मूलहु आवे षोय" (बीजक) किन्तु मिथ्या विचारों में ही सारा जन्म चला गया और यह नरतन असिद्ध (कच्चा) ही रह गया ॥४॥ जो शास्त्रों के तत्त्व को जान कर और समझ कर भी आत्मवंचना रूप कपट करते हैं और पाप कर्म करते हैं, उनके समान मंद मति कोई नहीं है। कबीर साहेब कहते हैं कि, सब अज्ञानी लोग राम की नारी बने हुए हैं, परन्तु वह राम मुझसे (आत्मा से) भिन्न प्राप्त करने योग्य कोई दूसरा नहीं है ॥५॥

(५६) शब्द ।

माया महा ठगिनि हम जानी ।
तिरगुन फाँस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ॥१॥
केसो के कमला होय बैठी, सिव के भवन भवानी ।
पंडा के मूरति होय बैठी, तीरथहू महं पानी ॥२॥
जोगी के जोगिनि होय बैठी, राजा के घर रानी ।
काहू के हीरा होय बैठी, काहू के कौड़ी कानी ॥३॥
भगता के भगतिनि होय बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी ।
कहंहिं कबीर सुनहु हो संतो, ई सभ अकथ कहानी ॥४॥

शब्दार्थ—जोगिनि = अवधूतानी ।

[माया–विचार]

टीका–माया महा ठगिनी है । इस बात को हमने जान लिया है । "माया तो ठगिनी भई, ठगत फिरै सब देश । जा ठग ने ठगिनी ठगी, ता ठग को आदेश" ॥ यह त्रिगुण की फांसी को हाथ में लेकर सबों को फंसाने के लिये फिरती रहती है और मीठी मीठी बोली बोलती है ॥१॥ यह माया विष्णु के भवन में लक्ष्मी होकर बैठी है और शिव के भवन में भवानी बनी हुई है । यही पंडा के यहां मूर्ति होकर बैठी है और तीर्थों में पानी बनी हुई है ॥२॥ यह माया योगियों के (अवधूतों के) यहां योगिनी (अवधूतानी) होकर बैठी है, और राजा के घर में रानी बनी बैठी है । यह किसी (धनिक) के यहां तो हीरा होकर बैठी है और किसी (दरिद्री) के यहां कानी कौड़ी होकर बैठो है ॥३॥ और यह माया पुरुष भक्तों के यहां स्त्री भक्त होकर बैठी है, और ब्रह्मा के यहां ब्रह्माणी बनी बैठी है । कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनो, माया की यह वञ्चना (ठगोरी) की कथा पूरी तरह कही नहीं जा सकती है ॥४॥

(६०) शब्द ।

माया मोह मोहित कीन्हा, ताते ग्यान रतन हरि लीन्हा ॥१॥

जीवन[1] ऐसो सपना जैसो, जीवन सपन समाना ।
सब्द गुरु उपदेस दीन्हौं तैं, छांड्यो परम निधाना ॥२॥
जोति देषि पतंग हुलसै, पसु ना पेषै आगी ।
काल फांस नल मुगुध न चेतै, कनक कामिनी लागी ॥३॥
सेष सैयद कितेब निरषै, सुम्रिति सास्त्र बिचारि ।
सतगुरु उपदेश बिनु तैं, जानि के जिव मारि ॥४॥
करु विचार विकार परिहरु, तरन तारन सोय ।
कहहिं कबीर भगवंत भजु नल, दुतिया अवर न कोय ॥५॥

[अहिंसा—विचार]

टीका—माया ने मोह से सब को मोहित (बेचेत, बेभान) "मुंह नैचित्य" कर दिया । इस कारण उनके ज्ञान-रत्न को इसने चुरा लिया है ॥१॥ जीवन को ऐसा समझो, जैसा कि सपना (स्वप्न) । सचमुच जीवन स्वप्न के समान है । गुरु ने तुम्हें सार शब्द (यथार्थ वचन) का उपदेश दिया । "सार शब्द निर्णय को नामा । जाते होय जीव को कामा" । परन्तु तुमने उस परम धन रूप उपदेश को छोड़ दिया ॥२॥ जिस प्रकार दीप-शिखा को देखकर पतङ्गा नाचने लगता है; किन्तु वह कीटपशु यह नहीं देखता है कि यह अग्नि है (जल मरूँगा) । इसी प्रकार अज्ञानी नर कनक और कामिनी रूप काल की फांसी से नहीं चेतता है, नहीं बचता है; किन्तु उसीमें लगा रहता है । "दीप सिखा सम जुवति जन, मन जनि होसि पतंग" (रामायण) ॥३॥ शेख और सैयद जाति के मुसलमान कुरान वगैरह को पढ़ते रहते हैं और पण्डित लोग स्मृति और शास्त्रों का विचार करते रहते हैं; परन्तु सद्गुरु (सच्चे गुरु) के उपदेश के नहीं मिलने के कारण ये लोग जान बूझकर (दानिस्ता) जीवों को मारते हैं, अर्थात् कुर्बानी और बलिदान करते रहते हैं ॥४॥ विचार करो और अपने हृदय से हिंसा आदि विकारों को निकाल डालो । जो ऐसा करता है

१ सार छंद । छंद रूप माला । "रत्नदिसि कल रूप माला कीजिये सानन्द" । इसमें १४ और १० पर यति होती है ।

वह तरण–तारण हो जाता है। अर्थात् वह स्वयं संसार–सागर से पार होता है और अपने सत्संगियों को भी पार कर देता है। कबीर साहेब कहते हैं कि हे लोगों! भगवान को भजो अर्थात् आत्मा को पहिचानो (अपनी आत्मा को मत मारो)। सब जगह अपनी आत्मा के सिवाय दूसरा कोई नहीं है। "आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति" (गीता)। जो सब प्राणियों में अपनी आत्मा के समान देखता है वह ठीक देखता है ॥ ५ ॥

(६१) शब्द।

मरि हो रे तन का ले करिहो, प्रान छुटे बाहर लै डरि हो।
काया बिगुरचनि अनिबनि भांती, कोइ जारै कोइ गाड़ै मांटी।१।
हिंदू जारै तुरक ले गाड़ै, यहि विधि अंत दुनो घर छांड़ै।
करम फांस जम जाल पसारा, जस धीमर मछरी गहि मारा।२।
राम बिना नल होइहो कैसा, बाट मांझ गोबरौरा जैसा।
कहंहिं कबीर पाछे पछितैहो, या घर से जब वा घर जैहो।३।

शब्दार्थ—गोबरौरा = गोबर की गोली बनानेवाली मक्खी।

[अन्त–दशा विचार]

टीका—मरने पर तुम शरीर की रक्षा का कौन उपाय करोगे? क्योंकि प्राण छूटने पर तो तुम बाहर फेंके जाओगे। जीव के नहीं रहने पर तो अनेक प्रकार से काया का विनाश ही है। कोई इसे जलाते हैं और कोई मिट्टी में गाड़ते हैं ॥१॥ हिन्दू जलाते हैं और तुरुक मुर्दे को ले जाकर गाड़ देते हैं। इस प्रकार अंत में दोनों के दोनों अपने घर को छोड़ देते हैं। मन रूपी यमराज ने कर्मों का फन्दा फैला रखा है और उसीमें वह सब को उसी प्रकार फंसाता है, जिस प्रकार धीमर जाल में मछलियों को फंसा कर मारता है ॥२॥ हे मनुष्यो! राम के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना तुम्हारी वैसी ही गति होगी जैसी रास्ते में आये हुए गोबरौरा की दशा होती है। (नोट–गोबरौरा एक प्रकार की बड़ी मक्खी होती है जो बरसात में गोबर वगैरह की गोलियां बना–बना

लुढ़काया करती है। रास्ते में लुढ़कनेवाले गोवरौरा कदाचित् ही बचते हैं)। कबीर साहेब कहते हैं कि तुम उस समय अंत में पीछे पछताओगे जब कि इस लोक को छोड़कर परलोक के यात्री बनोगे ॥ ३ ॥

(६२) शब्द ।

माई ! मैं दूनो कुल उजियारी । १॥
सासु ननदि नटिया मिलि बंधलौं, भसुरहिं परलौं गारी ।
जारौ मांग मैं तासु नारिका, जिन्हि सरवर रचलि धमारी ॥२॥
जना पांच कोषिया मिलि रष लौं; अवर दुई औ चारी ।
पार परोसिन करौं कलेवा, संगहिं बुधि महतारी ॥३॥
सहजे बपुरे सेज बिछौलन्हि, सुतलि मैं पांव पसारी ।
आउं न जाउं मरौं नहिं जीवौं, साहब मेट लगारी ॥४॥
एक नाम मैं निजु कै गहलौं, ते छूटलि संसारी ।
एक नाम मैं बदि कै लेषौं, कहंहिं कबीर पुकारी ॥५॥

[सहज भावना—विचार]

टीका—सहज भावना विद्या माता से कहती है कि मैंने इस लोक और परलोक को प्रकाशित कर दिया है ॥ १ ॥ मैंने सास (माया) और ननदी (कुमति) को पटिया (खटिया की पटिया) से बांध दिया है अर्थात् दोनों को पूरी तरह अधीन कर लिया है और भसुर = जेठ (अविवेकी) को भी फटकारा है अर्थात् अविवेकी को भी लज्जित कर दिया है। मैंने उस स्त्री (अविद्या) की मांग (सौभाग्य को सूचित करनेवाले केशपाश) को जला दिया है, जिसने मेरे साथ सरवर धमारी = रणरंग (युद्धक्रीड़ा) मचाया था ॥२॥ मैंने पांचों वीरों (पञ्च ज्ञानेन्द्रियों) को पेट में रख लिया है, और द्वैतभाव तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार को भी जीत लिया है। अर्थात् शम, दम को धारण कर लिया है। और नाना कल्पना रूप पड़ोसिन और महल्ले में रहनेवालियों का (कामनाओं का) तो मैंने जलपान (नास्ता) ही कर डाला है। और उन्हीं

(कल्पनाओं) के साथ-साथ सात्त्विक बुद्धि-वृत्ति रूप माया को भी आत्मसात् (अपने में लीन) कर डाला है। भाव यह है कि सहानुभूति तथा सहज भाव रूप सूर्य के उदय होने पर वृत्ति रूप तारे अपने आप छिप जाते हैं। और उलूकवृन्द रूप नाना कल्पनाएं न जाने कहां चली जाती हैं ॥३॥ बेचारे सहज भाव ने मेरे लिये परमानन्द का पर्यङ्क बिछा दिया है; अतः मैं उस पर पांव फैलाकर सुख से सोती हूं। अब मैं न आती हूं, न जाती हूं, न मरती हूँ, न जोती हूं; क्योंकि सद्गुरु ने मेरी लगारी=लगाव, सम्बन्ध (जन्म और मरण रूप संसार के सम्बन्ध) को मेट दिया है ॥४॥ निज रूप राम को मैंने अपना कर पकड़ा है। इससे मेरा संसार छूट गया। एक राम है नाम जिसका अर्थात् चैतन्य देव (रमैया राम) को मैं सब पदार्थों से श्रेष्ठ समझती हूं। सहज भावना की यह स्थिति है। इस बात को कबीर गुरु पुकार-पुकार कर कहते ॥५॥

(६३) शब्द।

कासों[1] कहौं को सुने को पतियाय,
फुलना के छुवत भवर मरि जाय।
गगनमंडल महं फुल एक फूला, तरि भौ डार उपर भौ मूला।१।
जोतिये न बोइये सिंचिय न सोय,
बिनु डार बिनु पात फूल एक होय।
फुल भल फूलल मालिनि भल गांथल,
फुलवा बिनसि गैल भँवरा निरासल ॥२॥
कहंहि कबीर सुनहु संतो भाई,
पंडित जन फूल रहल लुभाई ॥३॥

शब्दार्थ—गांथल = गूंथा है अर्थात् रचा है।

[कल्पना—विचार]

टीका—मैं इस बात को किससे कहूं? और कौन सुनेगा? और कौन इस बात पर विश्वास करेगा? कि फूल के छूते ही भंवरा मर जाता है? (नोट—

[1] छन्द दण्डक।

यहां पर फुलवा पद से वंचकों की पुष्पित वाणी, कल्पना, ज्योति का ध्यान, विश्व-वृक्ष, शरीर, भोग्य धन, दारादिकों का तुल्य रूप से बोध होता है। क्योंकि ये सब फूलवत् आशु विनाशी हैं। और भंवरा पद से जीवात्मा का बोध होता है)। भाव यह है कि जीवात्मा उक्त फूल (शरीरादिकों) की आसक्ति से मरण=जन्य दुःख को उठाता है। गगन-मंडल में विश्व-वृक्ष और शरीर रूप एक फूल फूला हुआ है, जिसकी शाखाएं नीचे की तरफ फैली हुई हैं। और उसकी जड़ ऊपर की तरफ है। "ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्"। (गीता) ॥१॥ विना जोते, बिना बोये और विना सींचे ही बिना डालियों का और बिना पत्तों की कल्पना और संसार रूपी एक फूल पैदा होता है। ज्योतिःप्रकाश तथा भोगों की सामग्री रूप फूल अच्छा हुआ है। और माया रूप मालिन ने उसको अच्छी तरह गूंथा है अर्थात् रचा है। तिस पर भी वह फूल नष्ट हो गया। इस कारण मन और जीव रूप भंवरा निराश हो गया ॥ २ ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तों भाई! सुनो, नाना कल्पना तथा शरीरासक्ति आदिक जहरीले फूलों की मोहनी गन्ध में पण्डित रूप चतुर भंवरे भी लुभाय रहते हैं। देखिये, यह कैसा अचरज है! "विजानन्तोप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्। न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा!॥ (भर्तृहरिः)। मछली आदिक अज्ञानो जन्तु तो अज्ञानवश धीमर के जाल में फंस जाते हैं, परन्तु हम मनुष्य तो जानते बूझते हुए भी विपत्तियों के जाल से जकड़े हुए इन कामोपभोगों को नहीं छोड़ते हैं। अहाहा! मोह की महिमा बड़ी जबरदस्त है!॥ ३ ॥

(६४) शब्द।

जोलहा बीनहु हो हरिनामा, जाके सुर नर मुनि धरें ध्याना ॥१॥
ताना तनै को अहूंठा लीन्हो, चरखी चारिहुं बेदा।
सर खूंटी एक राम नारायन, पूरन प्रगटे कामा ॥२॥
भवसागर एक कठवत कीन्हों, ता महं मांड़ी साना।
मांड़ी के तन मांड़ि रहा है, मांड़ी विरले जाना ॥३॥

चांद सुरज दुइ गोडा कीन्हो, मांझ दीप कियो मांझा ।
त्रिभुवन नाथ जो मांजन लागे, स्याम मुररिया दीन्हा ॥ ४ ॥
पाई करि जब भरना लीन्हो, वै बांधै को रामा ।
वै भरा तिहुँ लोकहिं बांधै, कोई न रहत उबाना ॥ ५ ॥
तीनि लोक एक करिगह कीन्हो, दिगमग कीन्हो ताना ।
आदि पुरुष बैठावनि बैठे, कबीरा जोति समाना ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—अहुंठा = साढे तीन हाथवाला नापने का गज (आध्या० संकल्प) चरषी = जिस पर सूत लपेटा जाता है । सर = सरकंडे । षूंटी = मेख, दोनों ओर से ताने को थामनेवाली खूंटियां । कठवत = लकड़ी का कठौता । मांडी = पिच, लई । गोडा = लकड़ो की दो घोड़ियां । मांझा = सूत का मांझा । मुररिया = टूटे हुए सूत को ऐंठ कर जोड़नेवाला ।

[नाम सुमिरण का उपदेश]

(नोट—इस पद्य में प्रपञ्ची-परायण अज्ञानियों को जुलाहे के रूपक द्वारा हरिनाम का ताना-बाना तनने और बुनने का उपदेश दिया गया है; क्योंकि प्रपञ्ची लोग प्रपञ्च के तनने और बुनने में जुलाहों को भी परास्त (मात) कर देते हैं । अधिकारी-भेद से उपदेश दिया जाता है, अतः प्रपंचियों को सबसे प्रथम नाम की उपासना करनी चाहिये) ।

टीका—हे जुलाहा ! प्रपञ्चो जीव ! तुम हरिनाम का ताना तानो और उसको बुनो (जाप की उपासना को पूर्ण करो) । जिस हरि का सुर, नर और मुनि जन ध्यान धरते हैं । (नोट—यहां पर समष्टि और व्यष्टि भाव से कार्य करनेवाले ईश्वर और मन को भी जुलाहा कहा गया है । और हरिनाम और श्वासा दोनों को सूत बताया गया है । एवं नामोपासना, मनोज्योति—उपासना तथा प्राणायामादिक योगाङ्गों का साथ साथ ही वर्णन किया गया है)॥१॥ ईश्वर और मन ने रचना करने के लिये अहुंठा (संकल्प) धारण किया । अनन्तर चारों वेद रूप चरखियां घुमाई गईं । नामोपासक ताने को स्थिर रखने के लिये राम और नारायण रूप खूंटी उसमें लगा देते हैं । जिससे कि कामना

को पूर्ण करनेवाला नाम उनके हृदय में प्रगट हो जाता है ॥२॥ भवसागर रूप एक कठौता किया गया है और उसमें माया की मांडी के बने हुए निःसार और हेय शरीर में मांडि हो रहा है। दरअसल इस शरीर को मांडी रूप, तुच्छ रूप तो कोई बिरले ही जानते हैं ॥३॥ योगी लोगों ने प्राणायाम का ताना तनने के लिये चन्द्र और सूर्य (ईडा और पिंगला) का गोडा लगाया है। और मांझ दीप = मध्य द्वीप सुषुम्णा नाडी का मांझा किया है। और त्रिभुवननाथ रूप मन उसको मांझने लगा है। "तीन लोक मन भूप है, मन पूजा सब ठौर"। हरिनाम का ताना यदि किसी काल से टूट जाता है तो नामोपासक 'श्याम' 'गोपाल' आदिक नामों की मुररी देकर जोड़ देते हैं ॥४॥ इस प्रकार नामोपासना परिपक्व होने पर उक्त ताने को समेट कर बड़ी सावधानी से उस सूत को राम रूप नरा पर लपेट दिया। इस प्रकार उपासना से राम को बांध कर अपने अधीन कर लिया, जिससे मुक्ति रूप पट के बुनने में उक्त राम रूप नरा पूर्ण सहायक हो सके। इस प्रकार राम रूप नरा के साथ प्रेम-सम्बन्ध होने से अर्थात् आत्म-परिचय होने से विश्व-प्रीति (विश्व-बन्धुत्व) सम्पन्न हो जाता है। संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आत्म-सूत्र से लिपटी हुई न हो। "एतस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" (छान्दोग्योपनिषद्)। निश्चय से इस सारे संसार में आकाश रूप आत्मा ओत-प्रोत है ॥५॥ विश्व, तैजस और प्राज्ञ परिचय रूप एक करिगह मुक्ति पट बुनने का साधन (यंत्र) बनाया। और उससे दिगमग=हृदय में ताने हुए अपरोक्ष ज्ञान रूपी ताने से मुक्तिपद रूप पट को सम्पन्न किया। इस प्रकार निष्काम उपासक विवेकी जन तो आदि पुरुष शुद्ध चेतन का साक्षात् करके अनन्त विश्राम करने लगे। अर्थात् मुक्त हो गये। और अनात्म-ज्योति (भौतिक-ज्योति, निरंजन मन) के उपासक कबीरा= अज्ञानी लोग अन्त समय अपने उपास्य भौतिक ज्योति में समा गये। इस कारण मुक्त न हो सके। "भूतानि यान्ति भूतेज्या मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गीता)। "कहैं कबीर सुनो नर लोई, भुतवा के पुजले भुतवा होई"। (बीजक)। "अन्ते मतिः सा गतिः"। "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः" ॥६॥

(६५) शब्द।

जोगिया फिरि गयो नगर मंझारी; जाय समान पांच जहां नारी।

गयउ देसंतर कोइ न बतावै, जोगिया बहुरि गुफा नहि आवै ॥
जरि गौ कंथा धजा गौ टूटी, भजि गौ डंड षपर गौ फूटी ॥
कहंहिं कबीर इ कलि है षोटी, जो रहै करवा सो निकरै टोटी ॥

[हठयोगियों को गति]

वक्तव्य—इस पद्य में यह भाव योगी के रूपक द्वारा दिखाया गया है कि, हठयोगी योग—क्रियाओं से कुण्डलिनी को शोध कर तथा षट्-चक्रों और कमलों को बेध कर ब्रह्माण्ड में प्राणों का आयाम करते हुए समाधिष्ठ हो जाते हैं, और महाकाल को भी धोखा देने की चिन्ता में सदैव लगे रहते हैं। "साहु से भौ चोरवा, चोरहु से भौ हीत"। परन्तु स्वरूप-ज्ञान से वंचित रहने के कारण ये लोग मुक्तिपद नहीं पा सकते। विपरीत इसके हठयोगी पारदादि सिद्धियों के बल से अपने शरीर को पक्का करके अमर बनाने की धुन में लग कर शरीरान्त होने पर नाना योनियों में भ्रमण करते हैं। राजयोगियों से हठयोगियों का पद नीचा है; क्यों कि, हठयोग राजयोग का साधन है। इस कारण हठयोगियों को योगिया कहा है। और अज्ञानियों को भी योगिया शब्द से कहा है; क्योंकि ये भी योगी की फेरी की तरह नाना शरीरों में फेरी लगाते रहते हैं।

टीका—देहावसान के अनन्तर हठयोगी तथा अज्ञानी फिर नगरी (शरीर) में चला गया और इसके साथ ही पञ्च प्राण रूप पांच नारियां भी उस नगरी (शरीर) में जाकर बस गयीं, एवं प्राणों के बसने से इन्द्रियां भी बस गयीं। जीव प्राणों का धारण तथा पोषण करता है; अतएव इसकी 'जीव' संज्ञा है। "जीवो वै प्राणधारणात्"। इस अभिप्राय से प्राणों को नारी कहा गया है ॥१॥ योगी दूसरे देशों में चला गया। अब उसका हाल कोइ नहीं बतला सकता कि "उन कहां कियो है बासा"। इतना नहीं, अब वह योगी फिर लौट कर छोड़ी हुई गुफा में, पहले शरीर में नहीं आ सकता है ॥ २ ॥ योगी के निकलते ही उसकी कंथा (शरीर) जल गयी और गुफा की ध्वजा (सांस) टूट गयी। तथा योगदण्ड (मेरुदण्ड) और खप्पर (खोपड़ी) भी टूट फूट गया ॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह कलिरूप दुःखदायिनी वासना बड़ी खोटी है; क्योंकि जैसी वासना रहती है अन्त में वैसी ही मति होती है।

"अन्ते मतिः सा गतिः"। ठीक ही है, "जो रहे करवा सो निकरै टोटी"। भाव यह है कि जिस प्रकार पानी से भरे हुए बधने की टोटी से दूध की धारा नहीं गिर सकती है। इसी तरह देहाध्यासी हठयोगी भी शरीरान्त होने पर विदेह-मुक्ति नहीं पा सकते हैं; क्योंकि जन्मान्तर देनेवाले वासना रूपी बीज इनके हृदय-तल में पड़े रहते हैं। "सिद्ध भया तो क्या हुआ, चहुं दिसि फूटी वास। अन्तर वाके बीज है, फिर जामन की आस"॥ और ब्रह्माण्ड में प्राण निरोध करके सदैव जीते रहने की आशा भी मृगतृष्णा ही है; क्योंकि यह शरीर नश्वर तथा क्षणभंगुर है। "कोटिक जतन करो यहि तनकी, अंत अवस्था धूरी हो"। तथा "काचे वासना टिकै न पानी, उड़ि गौ हंस काया कुम्हिलानी"। "बालू के घरवा महं बैठे, चेतत नाहीं अयाना"। "मेरुदण्ड पर डारि दुलैचा, जोगी तारी लावै। सो सुमेर की खाक उड़ैगी, कचा जोग समावै"॥ "अवधू छांडहु मन विस्तारा। सो पद गहो जाहिते सद गति, पारब्रह्म सो न्यारा"। इत्यादि ॥ ४ ॥

(६६) शब्द ।

जोगिया के नगर बसो मति कोय, जोरे बसै सो जोगिया होय॥
वहि जोगिया का उलटा ग्याना, काला चौला नाहिं मियाना॥
प्रगट सो कंथा गुपता धारी, तामहं मूल सजीवनि भारी॥
वहि जोगिया की जुगुति जो बूझै, राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै॥
अम्रित बेली छिन छिन पीवै, कहंहि कबीर सो जुग जुग जीवै॥

शब्दार्थ—मियाना = न बहुत छोटा न बहुत बड़ा, मध्य आकार का।

[अमृत-वल्ली]

टीका—योगिया, देहादि प्रपंचासक्त हठयोगी तथा अज्ञानी के नगर (शरीर) कोई मत बसो। अर्थात् प्रपञ्च को छोड़ो; क्योंकि जो इस नगर (प्रपञ्च में) बसता (पड़ता) है वह योगिया (रमता-राम) हो जाता है। भाव यह है कि प्रपञ्च ही के कारण जीव की दुर्गति होती है ॥ १ ॥ इस योगिया (अज्ञानी) की उल्टी समझ है। और दूसरे पक्ष में, प्राणों को उलट कर ब्रह्माण्ड में

चढ़ा देना, यह हठ-योगियों का ज्ञान है। इन योगियों ने अज्ञानता रूप काला चोला ऐसा पहिना है कि वह जरा भी छोटा नहीं है। (मंझले को फारसी में मियाना कहते हैं, जैसे—मियाना कद)। अर्थात् इनका हृदय अज्ञानता से पूरी तरह ढँका हुआ है ॥२॥ इनकी अज्ञानता रूप कन्था तो साफ ही दीखती है; परन्तु उसको पहननेवाला जीव, आत्मा दृष्टिगत नहीं होता है। उसी जीव का स्वरूप (शुद्ध चेतनता) संजीविनी मूरि है। "राम संजीवनी मूरी"। भावार्थ—स्वरूप ज्ञान होने पर जीवात्मा जन्म-मरण से छूट जाता है ॥३॥ "अज्ञानतावश वह योगिया बार बार काय-प्रवेश किया करता है।" इस प्रकार उसकी युक्ति, रहस्य को यदि कोई समझ ले तो वह अज्ञान को दूर करके सब में रमे हुए शुद्ध चेतन में स्वयं रमने लगे। अर्थात् आत्मपद को पहुँच जाय तथा तटस्थ साक्षी होकर त्रिभुवन को देखने लगे ॥४॥ कबीर साहब कहते हैं कि वह योगी (जीवात्मा) यदि अमृत बेली रूप उक्त राम संजीवनी मूरी को खूब घोंट घोंट कर और छान छान कर सदैव पीता रहे; अर्थात् आत्म-चिन्तन में निरन्तर लगा रहे तो मृत्यु पर विजय पाकर सदैव जीता रहे। भाव यह है कि अध्यास (भ्रम) ही से कारण देहादिकों के जन्म-मरणादि धर्मों को यह जीव अपने में मान कर अपार अन्धकार से भरे हुए दुःखसागर में डूबा रहता है। अनन्त ज्ञान भानु के उदय होने से जब अपना स्वरूप निर्वि-कार तथा कूटस्थ रूप (निश्चल) साक्षात् भास जाता है तब कल्पित जन्म-मर-णादि रूप बन्धनों से छूट जाता है। और जीवन्मुक्ति (जीतेजी मुक्ति) हो जाती है। "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः"। जिनको आत्म-साक्षात्कार हो जाता है वे जीतेजी ही मुक्त हो जाते हैं। यदि जीतेजी संशय न छूटे तो मर कर मुक्ति को चाहना आकाश के फूल को सूंघना है। "जियत न तरै मुये का तरि हौ, जियतहि जो न तरै" ॥६॥

(६७) शब्द।

जो पै बीज रूप भगवान, तो पंडित का पूछहु आन।
कहां मन कहां बुद्धि कहां हंकार[1], सत रज तम गुन तीनि प्रकार॥

१ पाठा०—च, छ, ॐकारा।

विष अम्रित फल फरे अनेका, बोधा बेद कहै तरबेका ।
कहहिं कबीर तैं मैं का जान, को धौं छूटल को उरुझान ॥२॥

शब्दार्थ—बोधा = क्रि० वि० [सं० बहुधा प्रकार से ।

[बीजेश्वर–वादियों के मत की आलोचना]

वक्तव्य–बीजेश्वरवादियों का मत है कि, बीज–वृक्ष न्याय से सारा संसार लोकविशेष–निवासी और चतुर्भुजादि विग्रहधारी ईश्वर का परिणाम कार्य है ।

टीका–यदि बीज रूप भगवान से उत्पन्न होने के कारण यह विश्ववृक्ष कार्य और कारण की अभिन्नता से स्वयं भगवान ही है तो हे पंडितो ! आपकी ईश्वर-जिज्ञासा व्यर्थ है ? इतना ही नहीं, विश्वेश्वरान्तःपाति होने के कारण अन्तःकरण-चतुष्टय, त्रिगुण और शुभाशुभ कार्य; इनमें से कोई भी हेय नहीं हो सकता है । एवं व्यक्तिभेद–व्यवहार–व्यवस्था तथा बद्ध–मुक्त–व्यवस्था भी नहीं बन सकती है । इत्यादि आपत्तिशतजर्जरिताङ्ग होने के कारण यह आपका मन मल्ल-सुमल्ल नहीं है ॥१॥ संसार में तो देखा जाता है कि विष और अमृत के अर्थात् पाप और पुण्य के अनेक फल फले हुए हैं और उनसे तैरने के अनेक उपाय भी वेदों ने बताये हैं । कबीर साहेब कहते हैं कि जब सब कुछ ईश्वर ही है, तो तैं और मैं के व्यक्ति-भेद को क्या जाना जाय ? और कौन मुक्त है और कौन बद्ध है ? ॥२॥

(६८) शब्द

जो चरषा* जरि जाय, बढैया ना मरै ।
में कातौं सूत हजार चरषुला जनि जरै ॥ १ ॥
बाबा मोर ब्याह कराव, अच्छा बरहिं तकाव ।
जोलौं अच्छा बर ना मिलै, तोलौं तुमहि बियाहु ॥ २ ॥

* इसमें अमृत कुंडली रोला विशेष, दोहा और हरिपद–छन्द का मिश्रण है ।

प्रथमहि नगर पहुँचते, परिगौ सोक संताप।
एक अचंभव देषिया, बिटिया ब्याहल बाप॥ ३ ॥
समधी के घर समधी आये, आये बहु के भाय।
गोडे चुल्हा दै दै, चरषा दियो दिढ़ाय॥ ४ ॥
देव लोक मरि जायेंगे, एक न मरै बढ़ाय।
यह मन रंजन कारने, चरषा दियो दिढ़ाय॥ ५ ॥
कहंहिं कबीर सुनहु हो संतो, चरषा लषै जो कोय।
जो यह चरषा लषि परै, आवागवन न होय॥ ६ ॥

[मन की कल्पना]

टीका—कबीर गुरु कहते हैं कि यद्यपि चरखा रूप शरीर जल जाते हैं; परन्तु उनका बनानेवाला मन बढ़ई नहीं मरता है। इस कारण अपनी कल्पना से नाना शरीर रूप चरखों को बार-बार गढ़ा करता है। भाव यह है कि जीव-आत्मा मन की कल्पना से कर्मों को करता हुआ उन्हीं के फल–भूत नाना शरीरों को धरता रहता है; क्योंकि बिना ज्ञान के मन का नाश नहीं होता है। "माया मरी न मन मरा, मरि-मरि गये शरीर"। स्वर्गादि लोकों की इच्छा से सकाम कर्म करनेवाले कर्मी लोग तथा उपासक योगियों को तो सदैव यही इच्छा रहती है कि हमारा चरखा सदा बना रहे, जिससे कि हम कर्मों के द्वारा स्वर्गादि में तथा योग द्वारा सहस्रार (सहस्र दल कमल) में पहुंच जायं॥१॥ अब पूरे अज्ञानियों की कथा सुनिये, जो कि वञ्चक गुरुओं के दिये हुए मुक्ति-ग्रास के लिए सदैव मुंह बांये रहते हैं, पर स्वयं कुछ भी विचारादि करना नहीं चाहते हैं। यह कथा कन्या–विवाह के रूपक द्वारा बतायी जाती है। वे लोग उक्त गुरुओं के चरणों में गिर कर सदैव यही प्रार्थना किया करते हैं कि हे बाबा! (गुरुजी!) किसी अच्छे वर = दुलहा (दूसरे पक्ष में) देवता से मेरा विवाह (प्रेम) करा दो। और जब तक कोई अच्छा वर नहीं मिलता तब तक तुम ही मुझ को ब्याह लो। भाव यह है कि मिथ्या मुक्ति के भूखे "तन मन धन सब गुरुजी के चरणा" रख कर उनके अधीन हो जाते हैं॥२॥ उक्त

अन्धे गुरुओं के पीछे लगा हुआ अन्धा शिष्य फिर उसी पहली नगरी (प्रपञ्च) में पहुंच गया, जिसमें कि यह रहने से बहुत दुःखी हो रहा था। अनन्तर वहां पहुंचते ही जीवात्मा नाना शोक और संतापों में पड़ गया। भाव यह है कि पाखण्डियों के संग से जीवात्मा प्रपञ्च-पङ्क में फंस जाता है। कबीर साहेब कहते हैं कि यह एक भारी अचम्भा हमने देखा है कि उक्त गुरुओं की कृपा से पिता (जीव—आत्मा) ने अपनी बेटी (अविद्या) को ब्याह कर स्त्री बना लिया है; अर्थात् पूरा अज्ञानी बन गया है ॥३॥ यह बात यहां जान लेनी चाहिये कि वर और वधू के पिता परस्पर समधी कहलाते हैं और समधियों के भाई परस्पर लमधी कहाते हैं)। इसके बाद अज्ञानियों का दुर्गुण-सम्मेलन उक्त गुरुजी के सभापतित्व में होने लगा। समधी (विवेक) के घर (जगह) पर लमधी (अविवेक) चले आये और वधू (अविद्या) का भाई कुविचार भी आ गया। अनन्तर सबों के उपस्थित होने पर उक्त गुरु-बाबा ने देहात्मवाद पर यह भाषण सुनाया—

"जो कछु है सो देह रे भाई। ताका सेवन करो बनाई।
इन्द्रिन भोग भली विधि दीजै। बहुत बिचार काहे को कीजै।
मरै फेर को जन्मैं आई। जन्मे को कोई देखा भाई।
बहुरि जन्मना मिथ्या मानो। जीव ब्रह्म मिथ्या सब जानो।
पांच तत्त्व की देह बनाई। अन्त पांच में पांच समाई।
जैसे वृक्ष से पत्र झराई। बहुरि वृक्ष में लगै न जाई।
औरहि पत्र वृक्ष से निपजै। तैसहि जग जोनो जिव उपजै।
पांच तत्व को वृक्ष अनादी। तामें उपजत विनसत सादी।
ताते कहा हमारा मानो। बोध-विचार संस करि जानो।"

एव "न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः। नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः" ॥ अतः "यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" ॥ "जब तक जियें सुख से जियें, करज ले लेकर घी को पानी की तरह पीता रहै; क्योंकि जलबल कर खाक हुए शरीर का फिर आना कहा है ?"। इस प्रकार गुरु बाबा ने यह उपदेश देकर और नाना युक्तियों से देहात्मवाद को पुष्ट करके चरखा रूप देह-देवता की

भक्ति में सबों को लगा दिया। इस प्रकार अज्ञानियों को देहासक्ति में डाल देना तो मानों उनके गोड़ों (पैरों) को चूल्हे में दे देना है। अर्थात् जिस प्रकार पैरों के बिल्कुल जल जाने से उत्तम गति नहीं (गमन) नहीं होती है। इसी प्रकार देहात्मवादियों की भी उत्तम गति नहीं होता ॥४॥ यह तो देहात्मवादियों का हाल हुआ। अब कर्मी और योगियों की दशा सुनिये—हे भाइयो! जिन लोकों के लिये आप लोगों ने भारी कष्ट उठाया है, वे स्वर्गादिक लोक तो आपके क्षीण पुण्य के साथ ही नष्ट हो जायेंगे। परन्तु यह आपका मन बढ़ई तो फिर भी न मरेगा। आप लोग क्यों धोके में पड़े हैं। ये सब स्वर्ग लोक और सत्य लोकादिक तो आप हो के मन की कल्पनायें हैं "लोक कहूं तो लोको नाहीं। लोकों आहि काल की झांई" (अमर मूल)। सिर्फ झूठे सुख के भूखे आपके मन को प्रसन्न करने के लिये नाना लोक की कल्पना रूपी चरखे की फेर में उसको डाल दिया है, जिससे "कबहुक उँचे कबहुंक नीचे" हुआ करे ॥५॥ कबीर साहेब कहते हैं कि बिरले पुरुष मन की कल्पनाओं को चरखा रूप जानते हैं। अर्थात् वे सब उक्त लीलायें मन ही की हैं, ऐसा जान लेना कठिन है। जो इन कल्पनाओं को तथा मन को पूरी तरह पहचान लेता है वह संसार से पार हो जाता है ॥६॥

(६९) शब्द।

जंत्री जंत्र अनूपम बाजै, वाके अष्ट-गगन मुष गाजै ॥ १ ॥
तूहीं बाजै तूहीं गाजै, तूहिं लिये कर डोलै।
एक सब्द महं राग छतीसौं, अनहद बानी बोलै ॥ २ ॥
मुष को नाल स्रवन को तुंमा, सतगुरु साज बनाया।
जिभि के तार नासिका चरई, माया का मोम लगाया ॥ ३ ॥
गगन मंडल महं भौ उजियारा, उलिटा फेर लगाया।
कहंहिं कबीर जन भये बिबेकी, जिन्हि जंत्री सों मन लाया ॥

शब्दार्थ—जंत्री = सं. पु. [सं. यंत्रिन्] यन्त्र बजानेवाला। उ० 'सूरदास स्वामी के चलिवे ज्यों यंत्री बिन यंत्र सकात्'। आ० जीव। चरई=स. स्त्री.

(सं. चारिका) बड़े तारों के बीच में छोटे पतले तार को बांधनेवाली खूंटी।

[शब्द और शब्दी का विचार]

टीका—यन्त्र बजानेवाले शब्दी चेतन का बजाया हुआ जंत्र—वैखरी शब्द तथा अनाहत शब्द सुन्दर स्वर से बजता है। और वर्णों के आठों स्थान रूपी गगन में प्रतिध्वनित होता हुआ वैखरी शब्द मुख में आकर गरजता है। एवं अनाहत शब्द भी अष्टम गगन=सुरति कमल के द्वार पर गरजता है। "सार शब्द गरजै ब्रह्मण्ड।" (निर्भय ज्ञान)। "अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च" (शिक्षा)। ॥१॥

भजन—"सुनता है गुरु ज्ञानी गगन में आवाज हो रही झीनी"

वस्तुतः विचारा जाय तो तू हीं=चेतन (आत्मा) बाजता है और गाजता है; क्योंकि जड स्वयं कार्य करने में असमर्थ है और तू ही चेतन उन अनाहत शब्द रूपी बाजों को हाथ में लेकर घूमता है अर्थात् वे तेरे आधीन हैं। "आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया"। इत्यादि कथन से परा शब्दादि द्वारा आत्मा स्वयमेव छः राग और छत्तीस रागिनियों और ब्रह्माण्डोद्भव दिव्य अनाहत शब्द रूप वाणी को बोलता रहता है। २॥ साहेब ने यह नरतन रूपी एक विलक्षण (चलता फिरता) साज (बाजा) तम्बूरा बनाया है, जिसमें मेरुदण्ड से सम्बद्ध मुख रूपी नाल (तम्बूरे की डण्डी) लगी हुई है। और तुम्बा रूपी कान है। एवं जिह्वा रूपी तार तथा नासिका रूपी तार की चरई (खूंटी) लगी हुई है। उक्त तम्बूरे के छिद्रों को बन्द करने के लिये माया रूपी मोम का उपयोग किया गया है। भाव यह है कि शब्द और ब्रह्माण्डोद्भव भौतिक ज्योति माया से उत्पन्न एवं सुरक्षित होने के कारण मायिक हैं; अतः इन मायिक यन्त्रों (बाजों) की रसीली तानों में न भूल कर यन्त्री (चेतन-देव) का परिचय प्राप्त करना चाहिये ॥३॥ योगी लोग श्वासा को उलट कर ब्रह्माण्ड में निरुद्ध कर देते हैं। इस कारण वहां पर ज्योति का प्रकाश हो जाता है। कबीर साहेब कहते हैं कि जो जन्त्री से प्रेम करते हैं वही विवेकी हैं ॥४॥

भजन—'ये तन ठाठ तम्बूरे का"।

(७०) शब्द ।

जस मांस पसकी तस मांस नलकी, रिधुर रिधुर एक साराजी।
पसु की मांसु भषै सभ कोई, नलहिं न भषै सियाराजी ॥१॥
ब्रह्म कोलाल मेदिनी भइया, उपजि बिनसि कित गइयाजी ।
मांसु मछरिया[1] तौ पै षइये, जौ षेतन्हि महं बोइयाजी ॥२॥
माटी के करि देवी देवा, काटि काटि जीव देइयाजी ।
जो तुहरा है सांचा देवा, षेत चरत क्यों न लेइयाजी ॥३॥
कहंहिं कबीर सुनहु हो संतो, राम नाम निज लेइयाजी ।
जे किछु कियहु जीभ के स्वारथ, बदल पराया देइयाजी ॥४॥

[मांस भक्षण विचार]

टीका—मनुष्य और पशुओं के शरीरों में मांस और रुधिर आदि की समानता होते हुए भी पशुओं के अंग-प्रत्यङ्ग सर्वोपयोगी होते हैं, और मनुष्य के मृत शरीर को तो सियार भी अत्यन्त रुचि से (चाव से) नहीं खाते हैं। ऐसी दशा में निरुपयोगी अपने मांस की पुष्टि के लिये परमोपयोगी पशुओं को मार कर खा जाना कितना अनर्थ है ? ॥१॥ ब्रह्मा रूपी कुम्हार ने पृथ्वी पर अनेक प्राणियों की सृष्टि की है। भाव यह है कि जिस प्रकार एक किसान की पकी हुई खेती को काट लेने का अधिकार दूसरे किसान को नहीं है। इसी तरह विरंचि (ईश्वर) विरचित मछली आदिक प्राणियों को मार कर खा लेने का स्वत्व (हक्क) किसी भी मनुष्य को नहीं है। हां, यदि शाक-भाजी की तरह मांस और मछलियों को भी खेतों में बोकर पैदा कर सको तो अवश्य ही उनको खाने का अधिकार हो सकता है ॥२॥ देव-बलि रूप से पशुवध करना भी लोक-वञ्चना करके स्वरसनास्वादन करना ही है; क्योंकि देवता सबों के रक्षक होते हैं, भक्षक नहीं। यदि थोड़ी देर के लिये यह भी मान लिया जाय कि, मिट्टी के बनाये हुए देवो और देवता

[1] पाठा०--फ, ब, तैं पै खइया ज्यों षेतन मो बोइयाजी ।

सच्चे होते हैं; और वे सचमुच पशुओं के खून के प्यासे होते हैं; तो भला, यह तो बतलाइये कि "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" के अनुसार स्वयं (समर्थ होते हुए भी) पशुओं को पकड़ कर क्यों नहीं खा लेते हैं ? ॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि इस अभक्ष्य-भक्षण को छोड़कर राम को भजिये। जिह्वा के स्वाद से जो घोर पाप (जीवहिंसा) किया जाता है उसके बदले में अपनी गरदन देनी पड़ेगी और नर्क भी भोगना पड़ेगा। साखी—

"खुश खाना है खीचड़ी, मांहिं पड़ा टुक नौन।
मांस पराया खाय के, गला कटावे कौन ॥
तिल भर मच्छी खाय के, कोटि गऊ दे दान।
कासी करवत लै मरै, तौ भी नरक निदान ॥"

(७१) शब्द।

चात्रिक ! कहा पुकारौ दूरी, सो जल जगत्र रहा भरपूरी ।१।
जेहि जल नाद बिंदु का भेदा, षट कर्म सहित उपाने बेदा।२।
जिहि जल जीव-सीव का वासा, सो जल धरनी अंमर प्रगासा।
जिहि जल उपजल सकल सरीरा, सो जल भेद न जाने कबीरा।

शब्दार्थ—नाद = सं. पु. [सं.] शब्द, आकाश, अव्यक्त शब्द जिसका ठीक विवेचन न किया जा सके। उ०—'नाद बिंदु जाके घट जरै।' गो०। बिंदु = शरीर।

[चेतन की व्यापकता का विचार]

वक्तव्य—इस पद्य में तटस्थेश्वर (स्वविजातीयेश्वर) उपासकों का चातक (पपीहा) रूप से तथा आत्मदेव का जल रूप से वर्णन किया गया है।

टीका—हे उपासक रूप चातको ! आप लोग अति निकट रहनेवाले आत्मदेव को भ्रम से दूर समझ कर क्यों पुकार रहे हैं ? । वह आत्मजल तो सर्वत्र भरपूर है। "तज्जलानि शान्त उपासीत" यह श्रुति का वचन है। "नियरे न षोजै बतावै दूर, चहुंदिसि बागुरि रहलि पूरी" (बीजक]। भजन—'है नियरे तेहि दूरि बतावै, दूर की बात निरासी। संतो पानी में मीन पियासी। देषि २

आवै मोहि हांसी ॥ सन्तो० ॥१॥ जिस जल रूप आत्मा में नाद रूप प्राण और बिन्दु रूप शरीर का भेद छिपा पड़ा है। और जिस आत्मा से यज्ञादिक षट् कर्मादि प्रतिपादक वेदों का आविर्भाव हुआ है, अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति" ॥२॥ जिस शुद्ध चेतन के आश्रित शबलित (औपाधिक) जीव और ईश्वर हैं। "मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौजीवेश्वरावुभौ।" और जिस आत्मा से वियदादि क्रम से निखिल सृष्टि पैदा हुई है। "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" ॥३॥ और जिस आत्मा से समस्त शरीर तथा पूर्वोक्त कर्मानुसार निखिल कर्मों का निर्माण हुआ है, उस आत्मदेव के रहस्य (स्वरूप) को अज्ञानी (उपासक) नहीं समझते हैं ॥४॥

भावार्थ—'जेहि षोजत कल्पो गये, घटहि मांहि सो मूरि।
बाढो गर्भ गुमान ते, ताते परि गयो दूरि ॥" (बीजक)

(७२) शब्द ।

चलहु का टेढ़ो टेढ़ो टेढ़ो।
दसहूँ द्वार नरक भरि बूड़े, तू गंधी को बेढ़ो ॥१॥
फूटे नयन हिदया नहिं सूझैं, मति एको नहिं जानी।
काम क्रोध त्रिस्ना के माते, बूड़ि मुयहु बिनु पानी ॥२॥
जो जारे तन होय भसम धुरि, गाड़े क्रिमि किट षाई।
सीकर स्वान काग का भोजन, तन की इहै बड़ाई ॥३।
चेति न देषु मुगुध नल बौरे, तोहि ते काल न दूरी।
कोटिक जतन करहु यह तन की, अंत अवस्था धूरी ॥४॥
बालू के घरवा में बैठे, चेतत नाहिं अयाना।
कहंहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना ॥५॥

शब्दार्थ—बेढ़ो = सं. पु० [हि० बेढना = घेरना] घेरा। सीकर = सियार।

[शरीर की असारता और विनाशिता का वर्णन]

टीका—हे अज्ञानी नर ! तू अहंकार से अकड़ कर टेढ़ा-टेढ़ा क्या चलता है ? "झरना झरे दसो दिसि द्वारा" इसके अनुसार तेरे दशों द्वार मल रूप नर्क से भरे पड़े हैं। और तू सचमुच उस दुर्गन्धि का रक्षक कोट रूप हो है ॥१॥ ("ऊपर की दोऊ गई। हियहु की गई हेराय। कहंहिं कबीर चार हुं गई, तासों काह बसाय" ॥) इसके अनुसार तुम्हारे ऊपर के और हृदय के नैन फूट गये हैं। इस लिये तुमको नहीं सूझता है, और तुमने एक भी बुद्धि को धारण नहीं किया है। काम, क्रोध और तृष्णा के कारण मतवाले बन कर विना पदार्थ के मिथ्या भ्रम से आसक्ति में डूब कर मर रहे हो ॥२॥ मृत शरीर भस्म, कृमि, कीट और बींट रूप में परिणत हो जाता है और यह सियार, कुत्ते और कौवे का भोजन होता है। इस शरीर की यही बड़ाई है ॥३॥ हे प्रमादी अज्ञानी नर ! तू होश संभाल कर क्यों नहीं देखता है ? देख, तुझसे तेरी मौत दूर नहीं है। तू इस शरीर को बचाने के लिये चाहे करोड़ों उपाय कर ले; परन्तु अन्त में तो यह धूल ही में मिलेगा। "सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः। शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते सदा" ॥ अर्थात् सारी गंदकी का खजाना, कृतघ्न और नाशवान् इस तुच्छ शरीर के लिये भी आश्चर्य है कि मूर्ख लोग भारी पाप कमाते हैं ॥४॥ हे अज्ञानी नर ! तू तो बालू के घर में बैठा हुआ है (क्षणभंगुर शरीर में बैठा हुआ है) फिर क्यों नहीं होश सम्हालता है ? कबीर साहेब कहते हैं कि एक राम को भजे बिना बड़े बड़े चतुर संसार के समुद्र में डूब गये "चतुराई चूल्हे परो, जो नहीं शब्द समाय। कोटिन गुन सूवा पढ़े, अंत बिलैया खाय" ॥५॥

(७३) शब्द।

फिरहु का फूले फूले फूले।
जब दस-मास अउँध मुष होते, सो दिन काहे को भूले ॥१॥
जौं माषी सहते[1] नहिं बिहुरे, सोचि सोचि धन कीन्हा।
मुये पिछे लेहु लेहु करैं सभ, भूत रहनि कस दीन्हा ॥२॥

१ पाठा०—ट, ठ, साठो।

जारे देह भसम हो जाई, गाड़े माटी षाई।
कांचे कुंभ उदक जौं भरिया, तन की इहै बड़ाई ॥३॥
देहरि लौं बर-नारि संगि है, आगे संग सुहेला।
म्रितक-थान लौं संग षटोला, फिरि पुनि हंस अकेला ॥४॥
राम न रमसि मोह के माते, परेहु काल बसि कूवा।
कहंहिं कबीर नल आपु बंधायो, जौं ललनी भ्रम सूवा ॥५॥

शब्दार्थ—बिहुरे = उपभोग करना। सुहेला = सं० पु० [सं. सुहृद] इष्ट, मित्र। म्रितक-थान = श्मशान। षटोला = खटिया। हंस = जीव-आत्मा कूवा = कूप।

[भारी भ्रम]

टीका—अपने शरीर की सुन्दरता और यौवन के गर्व से प्रमत्त होकर तुम फूले फूले क्यों फिर रहे हो ? सुनो,

भजन—'जोवन धन पाहूना दिन चारा, याको गरब करै सो गंवारा।
पशु-चाम की बनत पन्हैया, नौबत मढ़त नकारा।
नर तेरी चाम काम नहि आवे, जरबर होसी छारा।' इत्यादि।

जब तुम माता के गर्भ में दश महिनाओं तक औंधे मुंह थे उन दिनों को अब तुम क्यों भूल गये हो ? ॥१॥ जिस प्रकार शहद की मक्खियां शहद को पूरी तरह स्वयं नहीं खाती हैं, इसी प्रकार तुमने पेट काट काट कर धन को इकट्ठा किया; परन्तु सोचो, मनुष्य के मर जाने पर उसके सब संगी लोग कहते हैं कि मुर्दे को जल्दी उठा ले चलो। अरे ! मुर्दे को तुमने इतनी देर तक कैसे रहने दिया ? ॥२॥ जलाने पर यह शरीर भस्म हो जाता है, और गाड़ देने पर उसको मिट्टी खा जाती है। जिस प्रकार कच्चे घड़े में भरा हुआ जल स्थिर नहीं होता है। यही हाल तो शरीर का है ॥३॥ प्रिय से प्रिय स्त्री देहली तक ही मुर्दे का साथ देती है, और संग सुहेला (सखा इष्टमित्र) कुछ आगे तक साथ देते हैं। और खटिया वगैरह (रथी) श्मशान तक साथ देते हैं। इसके बाद तो फिर इस जीव-आत्मा को अकेले ही जाना पड़ता है

॥४॥ हे मोह के मतवाले ! तू राम में क्यों नहीं रमण करता है ? कालचक्र के वश में पड़कर नर्क-कूप में क्यों पड़ गया है ? कबीर साहेब कहते हैं कि हे अज्ञानी नर ! तू अपनी अज्ञानता के कारण स्वयं इस प्रकार बंध गया है, जिस तरह सूवा (तोता) धोखे ललनी (बांस की बनी हुई चरखी] में फंस जाता है ।५॥

[७४] शब्द ।

ऐसो जोगिया बद करमी जाके, गगन अकास न धरनी ॥१॥
हाथ न वाके पांव न वाके, रूप न वाके रेषा ।
बिना हाट हटवाई लावै, करै बयाई लेषा ॥२॥
करम न वाके धरम न वाके, जोग न वाके जुगुती ।
सिंगि-पत्र किछुवो नहिं वाके, काहे को मांगै भुगुती ॥३॥
मैं तोहि जाना तैं मोहि जाना, मैं तोहि मांहि समाना ।
उतपति परलै किछुवो न होते, तब कहु कवन ब्रह्म को ध्याना ।
जोगी[1] एक आन ठाढ़ कियो है, राम रहा भरिपूरी ।
औषध मूल किछौ नहिं वाके, राम सजीवनी मूरी ॥५॥
नटवट बाजा पेषनि पेषै, बाजीगर की बाजी ।
कहंहि कबीर सुनहु हो संतो, भई सो राज बिराजी ॥६॥

शब्दार्थ—जोगिया = हठ-योगी । बदकर्मी = कुचाली । हाट = बाजार । बथाई लेषा = व्यापार का हिसाब । सिंगि = नाद बजाने के लिये मृग का सींग । मूरी = जड़ी ।

[जीवात्मा के स्वरूप का परिचय]

टीका—हीन योगी यह जीवात्मा वस्तुतः ऐसा है कि जिसके न आकाश है, न अन्तरिक्ष और न धरणी आदि ही है । अर्थात् यह अभौतिक है ॥१॥ जीवात्मा रूपी बनिये के रूप और आकार कुछ नहीं हैं, और न स्थायी बैठने को आधारभूत कोई हाथ ही है और न पैर ही है तिस पर भी

१ पाठा०—च, छ, जोगी आन एक ठाढ़ कियो । ज, झ, जोगिया ने एक ठाढ़ कियो है ।

नाना प्रपञ्च रूपी बाजार लगाया करता है। और हिसाब-किताब (उधेड़-बुन) भी सदैव किया करता है ॥ २ ॥ यह जीवात्मा ऐसा विलक्षण योगी है कि इसके योगकर्म और तज्जन्य फल (समाधि-लाभादि) कुछ भी नहीं हैं। न कोई योगयुक्ति ही रखता है, एवं सींगी और भिक्षापात्र इसके पास नहीं हैं। तिस पर भी यह कुचाली योगिया भोग-भिक्षा मांगता फिरता है, यह कैसा आश्चर्य है ॥३॥ मैंने तुमको जान लिया और तुमने मुझको जान लिया। बस, मैं तुम में समा गया। मुक्ति के लिये तो केवल इतना ही पर्याप्त है कि मैं और तू की यथार्थता को जान लिया जाय। मैं और तू यही द्वैत और आवरण है, जो कि निज रूप पर भारी परदा है। "मैं अरु मोर तोर ते माया"। "मोर तोर की जेवरी बटि बांधा संसार"। स्वामी श्री गौडपादाचार्य के अज्ञात-वाद के अनुसार जब कि संसार की उत्पत्ति और प्रलय कुछ था ही नहीं, तब कहो भला, वेदान्त की लय-चिंतन-प्रक्रिया के द्वारा किस ब्रह्म का ध्यान किया जाता है? ॥४॥ इस योगी ने अपनी अज्ञानता के कारण मिथ्या प्रपञ्च रूप यह महा व्याधि स्वयं उत्पन्न कर ली है। वस्तुतः नित्य सिद्ध राम तो सर्वत्र भरपूर है। उक्त अज्ञानी योगिया अतएव रोगिया जीवात्मा के भवरूप रोग की निवृत्ति के लिये परम औषध राम रूप का परिचय ही है। यह निज-रूप का बोध अमृत संजीविनी जड़ी है ॥५॥ अब माया की निवृत्ति का उपाय बताते हैं। पेषनी = (दृश्य प्रपंच) विषयों को नट के बाजे के समान (अपनी ओर आकर्षित करनेवाले) समझें। कबीर साहब कहते हैं कि इस प्रकार समझने से वह माया राज बिराजी (अधिकार रहित) हो जायगी। भाव यह है कि माया रूपी ठगनी की ठगौरी को ठीक-ठीक जान लेने से वह लज्जित हो जाती है। अतएव फिर कभी (ज्ञानियों के) सामने नहीं आती है।

"माया तो ठगनी भई, ठगत फिरै सब देश।
जा ठगने ठगनी ठगो, ता ठग को आदेश" ॥
"गई ठगौरी जब ठग पहिचाना" ॥ ६ ॥

(७५) शब्द।

ऐसो भरम बिगुरचन भारी।
वेद कितेब दीन औ दोजक, को पुरुषा को नारी ॥ १ ॥

मांटी के घट साज बनाया, नादे बिंदु समाना।
घट बिनसै का नाम धरहुगे, अहमक षोजत भुलाना ॥ २ ॥
एकै तुचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।
एक बूंद सों सिस्टि कियो है, को ब्राह्मन को सूद्रा ॥ ३ ॥
रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर, सत्त गुना हरि सोई।
कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिंदू तुरुक न कोई ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—दीन = धर्म (स्वर्ग)। दोजक = नर्क। अहमक = मूर्ख।

[एक जाति (मनुष्य-जाति) वाद]

टीका—जीवात्मा को ऐसा भ्रम रूपी भारी फन्दा लगा हुआ है कि कौन वेद है और कौन कितेब (कुरान) है? कौन दीन (धर्म—स्वर्ग) है और कौन दोजक (नर्क) है? कौन पुरुष है, और कौन स्त्री है? ॥१॥ शरीर रूप मिट्टी के घर का यह साज बनाया है, जिसमें कि नाद (प्राण) विन्दू (वीर्य) समाया हुआ है। शरीर रूपी घट के नष्ट होने पर जीवात्मा का क्या नाम धरोगे? वस्तुतः मूर्ख जन सत्य पथ से विचलित हो गये हैं ॥२॥ सबों के शरीर में त्वचा, हाड़, मल और मूत्र एक से ही हैं, और रुधिर तथा गूदा भी एक-सा ही है। एक ही बून्द से सारी सृष्टि का निर्माण किया गया है। ऐसी स्थिति में कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र है? ॥३॥ वस्तुतः रजः—प्रधान मनुष्य ही ब्रह्मा है; क्यों कि "चलश्च रजः" इस सिद्धान्त के अनुसार रजोगुण क्रियाशील है। और तमः—प्रधान नर शङ्कर है; क्योंकि तमोगुण कार्यों का लयकारी है। एवं सत्त्व-प्रधान मनुष्य हरि रूप हैं, क्योंकि ज्ञान, प्रकाश और सुखादि की अभिवृद्धि सत्त्व—गुणोद्रेक ही से होती है। कबीर साहेब कहते हैं कि आप लोग इन दोनों जातियों में समान रूप से रमनेवाले निज रूप "राम" का साक्षात्कार करिये। वस्तुतः हिन्दू और तुरुक ये दोनों ही जातियां बनावटी हैं। "हिन्दू तुरुक कहां ते आया, किन यह राह चलाई?" सच्ची तो एक मनुष्य-जाति है; क्यों कि जो आकृति को देखते ही जान ली जाय वही जाति है। आकृतिग्रहणा जातिः" (वार्तिक) ॥४॥

(७६) शब्द ।

अपन पौ आपुहि बिसरौ ।
जैसे सुनहा कांच मंदिल, महं भरम ते भूंकि मरो ॥ १ ॥
जौं केहरि बपु निरषि कूपजल, प्रतिमा देषि परो।
वैसे ही गज फटिका सिला पर, दसनन्हि आनि अरो ॥ २ ॥
मरकट मूंठि स्वाद नहि बिहुरै, घर घर रटत फिरो ।
कहंहिं कबीर ललनी के सुगना, तोहि कवने पकरो ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—केहरि = सिंह । बिहुरै = छोड़ना । ललनी = बांस की नली (फोंफी) ।

[निज भ्रम-विचार]

टीका—यह जीवात्मा अपने आपको आपही इस प्रकार भूल गया कि जैसे कांच के महल में घुसा हुआ कुत्ता भ्रमवश अपने प्रतिबिंबों को ही सच्चे कुत्ते समझ कर भूंकते भूंकते मर जाता है ॥१॥ और सिंह जैसे कूएं में अपनी परछाई देख कर कूद पड़ता है, और जैसे फटिक शिला पर बार बार दांतों से आक्रमण करनेवाला हाथी पराहत हो जाता है ॥२॥ और तंग वर्तन में फँसी हुई मूठी को नहीं छोड़नेवाला बन्दर बन्धन में पड़ कर घर घर भीख मांगता फिरता है। कबीर साहेब कहते हैं कि हे ललनी के सुग्गे! तुझको किसने पकड़ा है ? भाव यह है कि जिस तरह बांस की नलिका पर बैठा हुआ तोता फंदे में पड़ जाता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा अपने ही भ्रम से आप ही माया के फन्दे में पड़ जाता है। "स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते" ॥३॥

(७७) शब्द ।

आपन आस[1] कीजै[2] बहुतेरा, काहु न मरम पाव हरि केरा ॥
इंद्री कहां करैं बिसरामा, सो कहां गये जो कहत होते रामा ॥
सो कहां गये जो होत सयाना, होय म्रितक वहि पदहिं समाना

१ पाठा०—फ, ब, आपन अस । २ म, म, किये ।

रामानंद राम रस माते, कहंहिं कबीर हम कहि कहि थाके।४।

[स्वावलम्बन–विचार]

टीका–"नात्मानमवमन्येत" (मनु) इसके अनुसार अपने आपका पूरा भरोसा करना चाहिये, और हरि का मर्म तो किसीने नहीं जाना ॥१॥ इन्द्रियां कहां विश्राम करती हैं ? और ज्ञानहीन नामोपासक न जाने किस गति को पहुंच गये हैं ? ॥२॥ जो मिथ्या अभिमानी थे वे न जाने कहां चले गये ? जीवन्मृतक (निरहंकार) होने से निजरूप की प्राप्ति होती है ॥३॥ केवल राम नाम के उपासक रामानन्द-जन केवल राम नाम के जप रूप रस को पीकर मतवाले हो रहे हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि हम तुमको उपदेश देते देते थक गये कि "राम के कहे जगत गति पावै, षाँड़ कहै मुष मीठा"। तथा, "विन देषे विनु अरस परस बिनु, नाम लिये का होई। धन के कहै धनिक जो होवै, तो निरधन रहै न कोई" ॥ (सूचना–इस पद में स्वावलम्बन का मण्डन और परावलम्बन का खण्डन किया गया है। अतः रामानन्द पद से उक्तार्थ ही विवक्षित है। श्रीयुत स्वामी रामानन्दजी इस प्रसंग में विवक्षित नहीं हैं; क्योंकि इस ग्रन्थ में माते पद सर्वत्र खण्डनपरक है।) यथा–"सब ही मद माते कोई न जाग" इत्यादि ॥४॥

(७८) शब्द।

हम[1] जानिया हो हरि बाजी का षेल।

डंक बजाय दिषाय तमासा, बहुरिहु[2] लेत सकेल ॥ १ ॥

हरि बाजी सुर नर मुनि जंहडे, माये चाटक लाया।

घर मंह डारि सभै भरमाया, हिदया ग्यान न आया ॥ २ ॥

बाजी झूठि बाजीगर सांचा, साधुन की मति ऐसी।

कहंहिं कबीर जिन्हि जैसी समुझी, ताकी गति भौ तैसी। ३॥

शब्दार्थ–चाटक = सं० पु० [सं० चेटक] जादू या इन्द्रजाल विद्या। उ० "कतहूं नाद शब्द हो भला। कतहूं नाटक चेटक कला"। जा०।

१ पाठा०–ड, ढ, अब हम। २ फ, ञ, बहुरि सो।

बाजी = सं० स्त्री० (फा०) खेल, तमाशा, दाव, । बाजीगर = जादू के खेल दिखानेवाला ।

[ज्ञानोदय–दशा का वर्णन]

टीका—सद्‌गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्त होने पर जिज्ञासु जन कहते हैं कि हमने हरि की बाजी रूप माया के खेल को जान लिया है। ("गुरु मिला तब जानिये, मिटै मोह तन ताप । हर्ष शोक व्यापे नहिं, तब गुरु आपै आप" ॥) जिस प्रकार बाजीगर डंका बजा कर तमाशा दिखलाता है और समाप्ति के समय सबको समेट लेता है। इसी प्रकार ये संसार माया का खेल ॥ १ ॥ हरि की बाजी रूप माया के खेल में सुर नर मुनि जन भ्रम में पड़ गये। ऐसा जादू का तमाशा माया ले आई। उस माया ने सबों को अपने घर में डाल कर अर्थात् पूरी तरह अपने आधीन करके भरमा दिया। इस कारण हृदय में ज्ञान नहीं आ सका ॥२॥ खेल झूठे हैं और खेलाड़ी सचा है। यह सन्तों का निश्चय है। सद्‌गुरु कहते हैं कि जो जैसा निश्चय करता है वह वैसा ही पाता है। फलतः जो माया को सत्य समझता है वह उसमें अनुरक्त हो कर भवधार में बह जाता रै। "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः" ॥४॥

(७९) शब्द ।

कहु हो अंमर कासों लागा, चेतनिहारे चेतु सुभागा ॥१॥
अंमर मध्ये दीसै तारा, इक चेतै दूजै चेतवनिहारा ॥२॥
जो षोजहु सो उहवां नाहीं, मो तो आहि अमर पद मांहीं ॥३॥
कहंहिं कबीर पद बूझै सोई, मुष हिदया जाके एकै होई ॥४॥

शब्दार्थ—अंमर = आकाश ।

[शून्यवाद–निरास तथा आत्मोन्मुखता]

टीका—हे अमर जीव ! तू किस अनात्म–प्रपञ्च में लग गया है। दूसरे पक्ष में तू अम्बर (आकाश, शून्य) को तत्त्व क्यों समझता है ? "कहंहिं कबीर खोजे असमाना"। हे चेतनेवाले सुभागे ! तू चेत जा ॥ १ ॥ जिस तरह आकाश में तारे दीखते हैं, इसी तरह हे अमर ! ये सब ज्योति–प्रकाश आदि तेरे (चेतन) ही अन्तर्गत हैं। और एक चेतनेवाला और दूसरा चेताने-

वाला अर्थात् गुरु और शिष्य-भाव भी तुझ ही में है ।।२।। जिस तत्त्व (निज-रूप) को अनात्म-पदार्थों में ढूंढ़ता है, वह वहां नहीं है । किन्तु अमर-पद (आत्मा) अपने में है ।।३।। कबीर साहेब कहते हैं कि पद (आत्मपद) को वही समझ सकता है, जिसके मुख में और हृदय में एक ही बात हो, अर्थात् "जैसी कहै करै पुनि तैसी" । यह उत्तम अधिकारी का लक्षण है ।।४।।

(८०) शब्द ।

बंदे करि ले आपु-निबेरा ।
आपु जियत लषु, आपु ठवर करु, मुये कहां घर तेरा ।।१।।
यहि अवसर नहिं चेतहु प्रानी, अंत कोई नाह तेरा ।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, कठिन काल का घेरा ।। २ ।।

शब्दार्थ—आपु=अपरोक्ष ज्ञान । ठवर=स्थिति । घेरा=आक्रमण ।

[जीवित-मुक्ति विचार]

टीका—हे वन्दे ! तू अपना निबेरा आप कर ले, अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर ले। जीतेजी अपने आपको अच्छी तरह समझ ले, और जीतेजी अपनी स्थिति भी स्थिर कर ले । मरने के बाद तेरा घर कहां होगा ? ।।१।। हे प्राणी ! यदि तुम जीतेजी नहीं चेतोगे तो अन्त समय में तुम्हारा रक्षक कोई नहीं होगा । कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तों ! सुनो, काल का आक्रमण बड़ा जबरदस्त होता है ।। २ ।।

(८१) शब्द ।

ऊ[१] तोरहु ररा ममा की भांति हो,सभ संत उधारन चूनरी ।।१।।
बालमीकि बन बोइया, चूनि लिया सुषदेव ।
करम बिनौरा हो रहा, सुत कातहिं जैदेव ।। २ ।।

---

१ पाठा०—च, तु तो ररा ममा की भांति हो । छ, ऊतोरहु ररा ममा । ज, तूं तों ररा रमा की भांति । झ, वो ररा रामा की भांति हो ।

तीनि लोक ताना तनो, ब्रह्मा बिसुनु महेस।
नाम लेत मुनि हारिया, सुरपति सकल नरेस ॥ ३ ॥
विनु जीभै गुन गाइया, बिनु बस्ती का देस।
सूने घर का पाहुना, कासों लावै नेह ॥ ४ ॥
चारि वेद कैंडा कियो, निरंकार कियो राछ।
विनै | कबीरा चूनरी, मैं नांहनि[1] बांधल बाछ ॥ ५ ॥

[सुगम–भक्ति (रामोपासना) का विचार]

टीका—सन्तों ने सबों के उद्धार के लिये रामनाम की चूनरी बनायी है, परन्तु उसको ओढ़कर वे ही सुरक्षित रह सकते हैं जो रकार और मकार की तरह निजरूप (राम) से मिले जुले रहते हैं। "बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव इव सहज संघाती (रामायण)। भाव यह है कि ज्ञानपूर्वक राम को भजनेवाले ज्ञानी भक्त ही मुक्त होते हैं ॥१॥ आदि कवि बालमीकि मुनि ने (बन) कपास के खेत को बोया अर्थात् प्रथमारम्भ में आदि कविजी ने ही राम नाम की उपासना प्रचलित की। शुकदेवजी ने कपास को चून कर इकट्ठा किया और करमाबाई ने बिनौले अलग किये, अर्थात् कपास को औंटा। जयदेवजी भक्त ने सूत को काता ॥२॥ अन्तर ब्रह्मा, विष्णु, महेश अर्थात् राजसो, सात्विक और तामसी सभी कोटि के लोग तीनों लोकों में अर्थात् सर्वत्र रामनाम को जपने लगे। यह जाप रूप ताना-बाना सब जगह फैल गया। मुनिजन, सुरपति और सकल नरेश रामनाम को लेते लेते जपते जपते हार गये ॥३॥ उक्त मनुष्यों में अधिक संख्या तो ऐसे ही लोगों की है जो राम की बस्ती और देश को जाने बिना ही अर्थात् राम के पूर्ण परिचय के बिना ही केवल महिमा सुन-सुन कर बिन जिभ्या के अजपाजाप द्वारा उसके गुणों का गान करते हैं। "अन्तर्जपन्ति ये नाम जीवन्मुक्ता भवन्ति ते"। (महारामायणे शिववाक्यम्)। अर्थात् जो मन ही मन राम नाम का जाप करते हैं वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं। "बिनु देखे जो नाम जपतु हैं, सो

[1] पाठा०—५, मैं नहि बांधल बारि।

तो रैनि का सपना जी" । इस कथन के अनुसार अज्ञानी नामोपासक सूने घर के पाहुने हैं । इसलिये वे किससे प्रेम करें ? ॥४॥ कबीरा = नामोपासक लोग बिहित वैदिक क्रिया रूप कैंडा बनाकर अर्थात् प्रथममतः शुभ क्रिया रूप सूत्र को व्यवस्थित करके और निराकार रूप मन का राछ (साधन) बना कर रामनाम की चूनरी को बिनते हैं; परन्तु "नान्हनि बांधल वाछि" अर्थात् चूनरी के दोनों किनारी को अच्छी तरह नहीं बांधते । भाव यह है कि, विना निर्विशेष ज्ञान के निर्गुण-सगुण, द्वैत अद्वैत नहीं मिट सकते हैं ॥५॥

(८२) शब्द :

तुम यहि ब्रिधि समुझहु लोई, गोरी मुष मंदिर बाजै ॥१॥
एक सगुन षट-चक्रहिं बेधै, बिना ब्रिषभ कोल्हु मांचै ।
ब्रह्महिं पकरि अगिनि महं, होमै, मच्छ गगन चढि गाजै ॥२॥
नितै अमावस नितै ग्रहन होइ, राहु ग्रास नित दीजै ।
सुरही भच्छन करत वेद मुष, घन बरिसे तन छीजै ॥३॥
त्रिकुटी-कुंडल-मधि मंदिर बाजै, औघट अंमर छीजै ।
पहुमी के पनिया अंमर भरिया, ई अचरज को बूझै ॥४॥
कहंहिं कबीर सुनहु हो संतो, जोगिन सिद्धि पियारी ।
सदा रहे सुष संजम अपने, बसुधा आदि कुमारी ॥५॥

शब्दार्थ—मांचै = जोतना ।

['योगी माते योग ध्यान']

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि हे जिज्ञासुओं ! आप लोग योगियों की लीला को सुन कर समझिये । गोरी = कुण्डलिनी-शक्ति के मुख रूपी मन्दिर में अर्थात् नाभि-कमल में परा शब्द रूपी बाजा बजता रहता है । यही परा शब्द पश्यन्ती तथा मध्यमा रूप में परिवर्तित होता हुआ अन्त में वैखरी बन जाता है ॥१॥ त्रिगुण फांस में पड़ा हुआ यह योगियों का मन अकेला प्राणायाम-क्रिया से षट्-चक्रों को वेध देता है । अनन्तर सब चक्रों के मार्ग

को तय करता हुआ ब्रह्माण्ड में पहुँच कर ज्योति का उद्घाटन कर देता है।
षट्–चक्र और उनके स्थान—

नाम	स्थान
१ आधार चक्र	गुदा स्थान
२ स्वाधिष्ठान ,,	लिंग ,,
३ मणिपूरक ,,	नाभि ,,
४ अनाहत ,,	हृदय ,,
५ विशुद्ध ,,	कण्ठ ,,
६ आज्ञा ,,	भ्रूकुटी ,,

इन योगियों की लीला विचित्र है। इनके यहां विना बैल के कोल्हू (कुण्डलिनी) का सञ्चलन होता रहता है। ये सबके जनक ब्रह्मा (रजोगुण) को पकड़ कर योगाग्नि में जला देना चाहते हैं। तथा संसार–सागर में विहरनेवाला इनका मन रूपी मत्स्य ब्रह्माण्ड में चढ़ कर दश अनहद शब्द रूप से "गाजे" गरजता रहता है। भाव यह है कि सारशब्दादिक नामवाले सम्पूर्ण शब्द मिथ्या हैं; क्योंकि वे संघर्ष से पिण्ड तथा ब्रह्माण्डान्तर्गत आकाश में होते रहते हैं। अतः वे सब विराट चक्र के शब्द हैं। ब्रह्माण्ड से परे कोई शब्द नहीं होता; क्यों कि यह तो चेतन की सीमा है, जिससे नाना शब्द रूपी बाजे बजते रहते हैं। सुतरां, इन सबों को बजानेवाला चेतन सत्य है और ये सब शब्द मिथ्या हैं और मिथ्या के ग्रहण से मुक्ति नहीं हो सकती। "कहँहि कबीर ते भये विवेकी। जिन जन्त्री से मन लाया"॥ जन्त्री = बजानेवाला ॥२॥ ईंगला (चन्द्र), पिंगला (सूर्य) और सुषुम्णा (मध्य नाड़ी); ये तीन नाड़ियां हैं। जिस समय सुषुम्णा (मध्य की नाड़ी) चलने लगती है उस समय ईडा (चन्द्र) और पिंगला (सूर्य) दोनों का लय (अस्तभाव) हो जाता है। योगी लोग प्रतिदिन ही सुषुम्णा में ध्यान लगाया करते हैं। अतः उनके नित अमावस (चन्द्रलय–कुहू) "सा नष्टेन्दुकला कुहू" (अमरकोष) और नित ही सूर्य–ग्रहण (सूर्य नाड़ी का लय) हुआ करता है। अतः रोज-रोज राहु को ग्रास दिया जाता है। इसके अनन्तर खेचरी मुद्रा तथा अमृतपान की विधि का वर्णन

किया जाता है। हठ-योगी लोग साधन-विशेष से अपनी जिह्वा को ऐसी बना लेते हैं कि वह उलट कर तालु के ऊपर छिद्र में पैठ कर कुम्भक में सहायक हो जाती है। अनन्तर जिह्वा के संघर्ष से झरनेवाले रस (अमृत) को अमर होने की इच्छा से पीते हैं। उक्त विधि को हठ-योग के सांकेतिक शब्दों में क्रमशः "सुरभि-भक्षण," तथा "अमर-वारुणी" पान कहा गया है और इस विधि का माहात्म्य भी बहुत लिखा है। जैसे कि—

"गोमांसं भक्षयेन्नित्यं, पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये, चेतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥
गोशब्देनोदिता जिव्हा, तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु, महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥
जिव्हाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् स्रवति यः सारः, स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥
(हठयोग-प्रदीपिका, उपदेश ३) ॥

अर्थात् जो योगी प्रतिदिन गोमांस (जो आगे लिखा है) भक्षण करते हैं। और अमरवारुणी (जो आगे दिखाई जायगी) को पीता है वह अपने कुल का पालक है। और अन्य लोग कुल-घातक हैं। गोमांस शब्द का यह अर्थ है कि, गो नाम जीभ का है। अतः जिव्हा को तालु के छिद्र में चढ़ा देना ही गोमांस-भक्षण है। यह विधि महापातक को दूर करनेवाली है। तथा अमर-वारुणी शब्द का यह अर्थ है कि, तालु के ऊर्ध्व छिद्र में जिह्वा के प्रवेश से उत्पन्न हुई जो वह्नि (ऊष्मा) उससे उत्पन्न हुआ जो सार चन्द्रमा से झरता है अर्थात् भ्रूकुटियों के मध्य वामभाग में स्थित चन्द्रमा से-बिन्दु रूप सार गिरता उसको अमरवारुणी कहते हैं।

शब्दार्थ—वेदमुष = (श्रेष्ठ मुख से)। "जेहि मुख वेद गाइत्री उचरे"। पूर्वोक्त सुरभि-भक्षण हठ-योगी करते हैं। तथा धन, (बंकनाल रूपी मेघ) से पूर्वोक्त जो अमृत रसता है (उसको पीते रहते हैं) एवं योगियों का शरीर प्रतिदिन कृश होता चला जाता है। शरीर का कृश होना तथा क्रान्ति का बढ़ना हठ-योग सिद्ध होने का लक्षण है।

यथा—"वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता, नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्"
(हठयोगदीपिका, २ उपदेश)

अर्थात् देह की कृशता, मुख की प्रसन्नता, नाद की प्रगटता, नेत्रों की निर्मलता, रोग का अभाव और बिन्दू (वीर्य) का जय, अग्नि का दीपन तथा मल-शुद्धि; ये हठ-योगसिद्धि के लक्षण हैं ॥३॥ योगियों की त्रिकुटी (भ्रूमध्य से नीचे का भाग) कुण्डल के बीच में मंदिर = मृदंग गरजता है। अर्थात् अनाहत शब्द होता है। औघट घाट (बंकनाल = गगनगुफा) से अमृत (पूर्वोक्त) झरता है, और पृथ्वी के पानी (नाभी की वायु) को ब्रह्माण्ड में भर देते हैं। इस आश्चर्य को कोई कोई समझेगा ॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हठ-योगी मुक्ति नहीं चाहते; किन्तु उनको तो सर्वभोगकारी अष्ट सिद्धियां ही प्रिय हैं; क्योंकि "कच्चे सिद्धन माया प्यारी"। अपने मन के संयम से मनुष्य सदा सुखी रह सकता है। हठ-योगी अपने मन को वासना-रहित नहीं कर सकते हैं; क्योंकि ये लोग तो राजा बन कर नाना भोग भोगना चाहते हैं; परन्तु यह नहीं विचारते कि यह वसुधा सदा से कुमारी ही है; क्योंकि "वसुधा काहू की न भई"। भाव यह है कि हठ-योगी आत्मज्ञान रूपी नौका के आरोहण से वञ्चित रह कर संसार-सागर में डूब जाते हैं ॥५॥

(८३) शब्द।

भूला वे अहमक नादाना, तुम हरदम रामहिं ना जाना ॥१॥
बरबस आनि के गाय पछारिन्हि, गरा काटि जिव आपु लिया।
जीयत जी मुरदा करि डारिन्हि, तिसको कहत हलाल हुवा।२।
जाहि मांसु को पाक कहतु हो, ताकी उतपति सुनु भाई।
रज बीरज सों मांसु उपानी, मांसु नपाकी तुम षाई ॥३॥
अपनी देषि करत नहिं अहमक, कहत हमारे बड़न किया।
उसकी षून तुम्हारी गरदन, जिन्ह तुमको उपदेश दिया ॥४॥

स्याही गई सफेदी आई, दिल सफेद अजहूँ न हुवा।
रोजा बंग निमाज का कीजै, हुजरे भीतर पैठि मुवा ॥५॥
पंडित बेद पुरान पढ़तु हैं, मोलना पठहिं कुराना।
कहंहिं कबीर दोउ गये नरक महं,
जिन्हि हरदम रामहिं ना जाना ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—बरबस = जबरदस्ती। हलाल = जबह करना। उपानी = उत्पन्न होना। हुजरे = मस्जिद के पास की कोठरी।

[हिंसा और अभक्ष्य-भक्षण विचार]

टीका—हे मूर्ख! हे नादान! तू असलियत को भुला हुआ है। इस लिये प्राणी मात्र के श्वासोच्छ्‌वास में वर्तमान राम को नहीं जान रहा है ॥१॥ देखो, तुम लोग कुर्बानी के लिये गाय को लाते हो और पैर बांध कर उसको जबरदस्ती पछाड़ देते हो। और गला काट कर उसकी जान ले लेते हो। इस प्रकार जिन्दा गौ को मुर्दा बना देते हो। इस प्रकार मारी हुई गौ को तुम लोग पाक, पवित्र कहते हो ॥ २ ॥ हे भाइयों! जिस मांस को तुम पाक, पवित्र कहते हो उसकी उत्पत्ति को जरा सुनो। रज और वीर्य से मांस उत्पन्न होता है। सुतरां नापाक, अपवित्र मांस को तुम खाते हो ॥ ३ ॥ हे मूर्ख! तुम प्रत्यक्षतः अपनी देखी हुई बात पर गौर नहीं करते हो कि दूसरे की जान मारना महापाप है। और कहते हो कि 'यह काम हमारे बड़े बूढ़े करते चले आये हैं'। सुनो, जिसने तुमको कुर्बानी की नसीहत की है उसने सचमुच तुम्हारा खून कर ही डाला; क्योंकि "बदल पराया देइयाजी" ॥४॥ जवानी बीत गई और बुढ़ापा चला आया; परन्तु हृदय से पापबुद्धि न गई। ऐसा पापकर्म करने पर तुम्हारा रोजा रखना, आजान-बांग लगाना और नमाज पढ़ना क्या लाभ कर सकता है? और मस्जिद में बनी हुई भजन करने की एकान्त कोठरी, गुफा में बैठ बैठ मरने पचने से भी क्या लाभ है? भाव यह है कि हृदय-शुद्धि के बिना रोजा और नमाज आदि सब व्यर्थ हैं। "यदि हृदयमशुद्धं सर्वनेतन्न किञ्चित्"। यदि हृदय अशुद्ध है तो यह सब कुछ नहीं

है ॥५॥ पंडित लोग वेद और पुराण को पढ़ते हैं, और मौलवी कुरान को पढ़ते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि वे दोनों नरक में चले गये; क्योंकि उन्होंने प्राणी के प्रत्येक श्वास में वर्तमान राम को अपने समक्ष नहीं जाना। यदि जानते तो उसको हिंसा वे कदापि नहीं करते ॥ ६ ॥

(८४) शब्द।

काजी तुम कवन कितेब बषानी।
झंषत बकत रहहु निसु बासर, मति एकौ नहिं जानी॥ १॥
सकति अनुमाने सुनति करतु हो, मैं न बदौंगा भाई।
जो षुदाय तेरि सुनति करतु है, आपुहि कटि क्यों न आई।
सुनति कराय तुरुक जो होना, औरति को का कहिये।
अरध-सरीरी नारि बषानी, ताते हिंदू रहिये॥ ३॥
घालि जनेऊ ब्राह्मन होना, मेहरिहिं का पहिराया।
वै जनम की सुद्रि परोसे, तुम पांडे क्यों षाया॥ ४॥
हिंदू तुरुक कहां ते आया; किन यह राह चलाई।
दिल महं षोजि देषु षोजादे, भिस्ति कहां किन्हि पाई॥ ५॥
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, जोर करतु है भाई।
कबिरन्ह ओट राम की पकरी, अंत चलै पछताई॥ ६॥

शब्दार्थ—झंषत = बकते-झकते, कुढ़ना। जोर = हठ, दुराग्रह।

[धर्म का पाखंड]

टीका—हे काजी! तुम कुरान का कैसा व्याख्यान करते हो? वैसे तो तुम रात-दिन कुरान-शरीफ के विषय में बकते-झकते रहते हो; परन्तु वास्तविकता का विचार किया जाय तो तुमने ठीक तरह एक भी बुद्धि को नहीं जाना है ॥१॥ हे भाई! नीचे लिखी हुई किम्वदन्ती के अनुसार स्त्री की आज्ञा से प्रचलित हुए इस सुन्नति के कार्य को तुम लोग करते हो। इसलिये

मैं इसको प्रामाणिक नहीं मानता हूं। यदि वस्तुरीत्या (कुदरती तौर पर) खुदा ही तुम्हारी सुन्नत (मुसलमानी) करता है तो गर्भ में बच्चे की इन्द्री स्वयं काटी कटाई क्यों नहीं आती है ? (सूचना—मुसलमानी (खतना) की प्रथा प्रचलित होने के विषय में यह किम्वदन्ती है कि किसी अति प्राचीन बादशाह शाह ने या मुहम्मद साहब ने अपनी प्रियतमा की आज्ञा से मूंछों के बीचके बाल और खतना करवाया था। अतः शक्ति (स्त्री) की आज्ञा से यह घृणित कार्य प्रचलित हुआ है, खुदा की प्रेरणा से नहीं) ॥२॥ मुसलमान लोग जन्म से हिन्दू ही पैदा होते हैं। अनन्तर मुसलमानी कराने पर भी पूरे मुसलमान नहीं हो सकते हैं; क्योंकि स्त्री अर्धाङ्गिनी मानी गई है और उसकी सुन्नत होना असम्भव है। अतः "भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः।" इस कहावत के अनुसार मुसलमान लोग अंग-भंग होकर भी पूर्ण मनोरथ न हो सके। "न इधर के रहे न उधर के रहे।" इससे तो यही अच्छा था कि ये लोग सुन्नत न कराते और हिन्दू ही रह जाते ॥३॥ हे ब्राह्मणो ! आप लोग जनेऊ पहन कर ब्राह्मण बनते हो तो अपनी स्त्री ब्राह्मणी को क्या पहनाते हो ? वे तो जन्म से शूद्रा ही बनी हुई है। सुतराम उनके बनाये हुए और परसे हुए भोजन को हे पाण्डेजी ! तुम क्यों खाते हो ? यही दशा ब्राह्मणों की भी है। भाव यह है कि ईश्वरीय जाति एक ही है और वह मनुष्य जाति है। 'किरतम सुन्नति और जनेऊ, हिन्दू तुरुक न जाने भेऊ।' ये सब अनेक जातियां मनुष्यों ने स्वयं बनायी हैं और बनाते रहेंगे ॥ ४ ॥ हे भाइयो ! खूब विचार कर देखो कि हिन्दू और तुरुक कहां से आये हैं ? और किसने यह हिन्दू और तुरुक का मार्ग चलाया है ? खूब खोज कर अपने दिल में देखो कि गौ आदि की कुर्बानी से किसने बिहिस्त पाई है ?

भावार्थ—अत्यन्त अन्वेषणपूर्वक आप लोग अपने हृदय में विचार कर देखिये कि निरपराध और परमोपयोगी गौ आदिक पशुओं की हिंसा (कुर्बानी) से किसने झूठी बिहिस्त (स्वर्ग) पाई है ? "यही पुन वह वंदगी, क्यों कर पुषी पुदाय" ॥५॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो ! आप लोग इनकी कथा को सुनिये। ये मुस्लिम भाई कुर्बानी के लिये हठ और दुराग्रह करते हैं। इसी प्रकार अज्ञानी हिंसक हिन्दू लोग राम को अपना रक्षक समझ कर महा

अनर्थ करते चले जाते हैं। यह उनकी भारी मूर्खता है। "जब हम ऐहैं बांध चले हैं, नैन भरि भरि रोया"। अन्त में दोनों के दोनों पछता कर चलते बनते हैं ॥६॥

(८५) शब्द।

भूला लोग कहैं घर मेरा।
जा घरवा महं भूला डोलै, सो घर नाहीं तेरा॥ १ ॥
हाथी घोड़ा बैल बाहनो, संग्रह कियो घनेरा।
बस्ती महं से दियो षदेरा, जंगल कियो बसेरा॥ २ ॥
गांठि बांधि षरच नहिं पठयो, बहुरि कियो नहिं फेरा।
बीबी बाहर हरम महल में, बीच मियां का डेरा॥ ३ ॥
नौ मन सूत अरुझि नहि सुरझै, जनम जनम अरुझेरा।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, यह पद का करहु निवेरा॥४॥

शब्दार्थ—भूला = अज्ञानी। बाहनो = सवारियां। षदेरा = निकाल देना। बीबी = विवाहिता स्त्री। उ०—'बीबी रसना तन स्याम है, वक्रचलनि विष खानि'। तुलसी०। हरम = साधारण स्त्रियां।

[धन और धाम की ममता का विचार]

टीका—अज्ञानी लोग कहते हैं कि, यह मेरा घर है। वस्तुतः देखा जाय तो जिस घर में तुम भूले हुए फिरते हो वह घर तुम्हारा नहीं है ॥१॥ मनुष्य ने सुखोपभोग के लिये हाथी, घोड़े, बैल तथा अन्यान्य सवारियां आदि का भारी संग्रह कर लिया; परन्तु मरने पर वह अकेला बस्ती से निकाल दिया गया। और उसने जंगल में जाकर निवास किया ॥२॥ मृत मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये न किसी ने खरचा भेजा और न किसी ने सुधि ही ली। भाव यह है कि सुकृत के सिवाय पर-लोक का संगी कोई नहीं है। अज्ञानी रूप जीवात्मा ने विवाहिता स्त्री रूप सुमति को तो हृदय से बाहर निकाल दिया। और साधारण स्त्री रूप कुमति को हृदय रूप महल में

रख लिया। "सर्वस्य द्वे सुमतिकुमती संपदापत्तिहेतू।" "कबहुं कि सुमति प्रकाश उर, कबहुं कि कुमति अधीन। बिवि नारी के कंत जिमि, रहत सदा अति दीन" (विचार-माला) ॥३॥ पञ्च विषय, तीन गुण और मन; यह नौ मन सूत का ताना-बाना ऐसा उरझ गया है कि सुरझाये से भी नहीं सुरझता है। "श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूटे न अधिक अधिक अरुझाई" (रामायण)। इतना ही नहीं, यह भारी उरझावा अनेक जन्मों तक चला जाता है। भाव यह है कि अनेक कर्म-जन्य अनेक वासनाओं से अनेक शरीर धरने पड़ते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि, हे सन्तो! इसके सुरझाने का उपाय सुनो। वह यह है कि निज-पद (स्वरूप) को पहिचान कर प्राप्त करो। (सूचना—इस ग्रन्थ में "पद" शब्द 'पद्यते प्राप्यत इति पदम्' इस निरुक्ति से आत्म-तत्त्व का परिचायक है। जैसे कि—"गायन मांहि बसेहु नहिं कबहुं, कैसे के पद पहिचनवेहु हो।" (कहरा)। "कहंहिं कबीर पद बूझे सोई। मुष हृदया जाके एकै होई" (इत्यादि)। प्रमाण—"सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।" (कठोपनिषद्) ॥४॥

(८६) शब्द।

कबीरा तेरो घर कंदला में, या जग रहत भुलाना।
गुरु की कही करत नहिं कोई, अमहल-महल दिवाना ॥१॥
सकल ब्रह्म महं हंस कबीरा, कागन्हि चोच पसारा।
मनमथ-करम धरैं सभ देही, नाद-बिंद-बिस्तारा ॥२॥
सकल कबीरा बोलैं बानी, पानी में घर छाया।
अनंत लूटि होती घट भीतर, घट का मरम न पाया ॥३॥
कामिनि रूपी सकल कबीरा, मृगा चरिंदा होई।
बड़ बड़ ग्यानी मुनिवर थाके, पकरि सकै नहिं कोई ॥४॥
ब्रह्मा वरुण कुबेर पुरंदर, पीपा औ प्रहलादा।
हिरनाकुस नष वोद्र बिदारा, तिनहुं कालन राषा ॥५॥

गोरष ऐसो दत्त दिगंबर, नामदेव जयदेव दासा ।
उनकी षबरि कहत नहिं कोई, कहां कियो है बासा ॥ ६ ॥
चौपरि षेल होत घट भीतर, जन्म के पासा डारा ।
दम दम की कोई षबरि ना जाने,करि ना सकै निरुवारा ॥ ७॥
चारि दिग महि मंडल रचो है,रूम साम बिच डीली ।
ता ऊपर किछु अजब तमासा, मारो है जम कीली ॥ ८ ॥
सकल अवतार जाके महि मंडल, अनंत षड़ा कर जोरै ।
अदबुद अगम अगाह रचो है, ई सभ सोभा तोरे ॥ ९ ॥
सकल कबीरा बोले बीरा, अजहुं हो हुसियारा ।
कहहिं कबीर गुरु सिकली–दरपन,हरदम करहिं पुकारा ॥ १० ॥

शब्दार्थ—कंदला=सं० स्त्री० (सं० कंदरा) गुफा । हंस=विवेकी जन । चरिंदा = सं० पु० (फा०) चरनेवाला जीव । जैसे गाय, भैंस, बैल आदि । पुरंदर = सुरपति ।

[वासना–विचार और स्वरूप–स्थिति]

टीका—हे अज्ञानी जीव ! तूने संसार रूपी कीचड़ में घर बना रखा है। और इसी जगत् में भूला फिरता है। संसार में कोई भी मनुष्य यथार्थ वक्ता गुरु के कथन को अमल में नहीं लाते हैं, और नाना कल्पित लोकों की प्राप्ति के लिये प्रमत्त हो रहे हैं ॥ १ ॥ 'हंस' विवेकी जन शुद्ध मानस सरोवर में में विहार करते हैं, और सद्गुण रूपी मोतियों को ग्रहण करते हैं। अज्ञानी जन रूपी कौवे विषय रूप मलिन वस्तुओं में अपनी मनसा रूपी चोंच को चलाते (फैलाते) रहते हैं । इस प्रकार सब लोग काम-चेष्टा में लगे रह कर संसार को बढ़ाते रहते हैं ॥ २ ॥ वंचक गुरु दूसरों को तो मुक्ति का उपदेश देते हैं और स्वयं संसार-सागर में डूबे रहते हैं । काम-विकार के कारण उनके हृदयों में से सद्गुणों का भारी अपहरण होता रहता है । अपने हृदय के इस भेद को वे लोग नहीं जानते हैं ॥३॥ हे अज्ञानियो ! सारे संसार में यह कामिनी रूप

मृग वर्तमान है, जो बड़ा ही चंचल है। और आध्यात्मिक सद्गुण-शस्य (खेती) को चर जानेवाला चरिंदा=स्थलचर पशु है। बड़े-बड़े ज्ञानी और मुनिवर थक गये; परन्तु इसको कोई नहीं रोक सके। इसके फन्दे से अपने को नहीं बचा सके। इस विषय में किसी कवि ने क्या ही अच्छा कहा है—"संसार तव दुष्पारपदवी न दवीयसी। अन्तरा यदि नैव स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः।" अर्थात् सोरठा—"जो नहीं होती नार तो, जग में तरिवो सुगम। यह लंबी तरवार, मार लेत अध बीच में" ॥४॥ ब्रह्मा, वरुण, कुबेर, इन्द्र, पीपा, भक्त प्रहलाद और नरसिंहजी; इनको भी काल ने नहीं बचाया॥५॥ गोरखनाथजी, सुप्रसिद्ध दिगम्बर दत्तात्रेय, नामदेव और जयदेव भक्त; इनका पता कोई नहीं बतलाता है कि इन्होने कहां निवास किया है?॥६॥ मन जीवात्मा के साथ चौपड़ या चौसर (जूवा, दावपेंच) खेलता रहता है। इस कारण अच्छे और बुरे जन्म रूपी पासे पड़ते रहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार; ये चौपड़ के चार भाग हैं। दम के दम में, क्षणभर में क्या अनर्थ हो जायगा, यह कोई नहीं बता सकता है। "पाव पलक तो दूर है, मोसे कहा न जाय। ना जाने क्या हो-रगा, पल के चौथे भाय"॥ "पल में परले बीतिया, लोगन लागु तवांरि" ॥७॥ चारों दिशाओं में भूमिमण्डल की रचना है और रूम देश और शाम देश के बीच में दिल्ली है। उसके ऊपर कुछ अजब तमासा है कि यमराज ने कीला मार दिया है। दिल्ली की किल्ली का वृत्तान्त। यह ऐतिहासिक किंव-दन्ती है कि भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली के किसी हिन्दू सम्राट् ने राज्य की सुचिर स्थिति के लिये किले की भूमि में शुभ मुहूर्त में लोहे का एक भारी कीला (स्तम्भ) गड़वाया था। अनन्तर किसी अज्ञानी सम्राट् ने उसको उखड़वा कर अपने नाम का स्तम्भ (कीला) गड़वा दिया। तब से हिन्दू-राज्य नष्ट हो गया। इस पद्य में यह घटना रूपकातिशयोक्ति से इस प्रकार दिखाई गई है कि शरीर रूपी पृथ्वी मण्डल में नाभी, कंठ, हृदय और त्रिकुटी रूपी चार दिशाएँ बनी हुई हैं। और 'रूम' 'शाम' अर्थात् पूर्व देश और पश्चिम देश (शरीर का पूर्व भाग और उत्तर भाग) इन दोनों के बीच में दिल्ली स्थानीय हृदय नगर आत्म-देव की राजधानी है। "गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्"। ईश्वरः सर्व-भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"। "हृदय बसे तिहि राम न जाना"। जिसमें

कि ऋषियों के द्वारा बड़े प्रयत्न से आध्यात्मिक ज्ञान रूपी विजय-स्तम्भ (कीला) गाड़ा गया था। बड़े ही खेद का विषय है कि विषयी और पामरों की प्रमादता के कारण यमराज ने अवसर पाकर उस स्तम्भ को उद्ध्वस्त (मटियामेट) कर डाला, और उसकी जगह अपना सन्तप्त स्तम्भ भोग-वासना और अज्ञानता रूप) गाड़ दिया ॥८॥ जीव-आत्मा यदि निजरूप को पहचान ले तो यह स्वयंसिद्ध (बना-बनाया) ऐसा सम्राट् है कि सारे अवतार इसके मांडलिक राजा हैं। और अनन्त = शेष सदैव इसके रूप की स्तुति किया करता है। इसके ऐश्वर्य की महिमा अपार है और हे जीवात्मा! तेरी रचना अद्भुत, अगम और अथाह है। यह सब तेरी शोभा है ॥९॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे अज्ञानियो! सद्गुरु पुकार-पुकार सदैव कह रहे हैं कि "अजहुं लेहुं छुड़ाय काल से, जो करु सुरति संभारी।" इस कारण सावधान होकर अपने हृदय को सैकल किये हुए दर्पण के समान कर डालो। सुनो, सद्गुरु रूपी सिकलीगर बड़े भाग्य से मिलता है। "गुरु तो ऐसा चाहिये, ज्यों सिकलीगर होय। जनम जनम का मोरचा, पल में डारे धोय॥" (कबीर साखी)। दिल्ली भूमध्य रेखा के पास है। "यल्लंङ्कोज्जयनी पुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत्। सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः" (सिद्धान्तशिरोमणौ) ॥१०॥

(८७) शब्द।

कबीरा[1] तेरो घर बन कंदला में, मानु अहेरा षेलै।
बफु-बारी आनंद-मीरगा, रुचि रुचि सर मेलै ॥१॥
चेतत रावल पावन षेडा, सहजै मूल बांधै।
ध्यान धनुष ज्ञान बान, जोग सर साधै ॥२॥
षटचक्र बेधि कमल बेधि, जा उजियारी कीन्हा।
काम क्रोध लोभ मोह, हांकि सावज दीन्हा ॥३॥

---

[1] छन्द सरसी और शुभ गीता।

गगन मध्ये रोकिन्हि द्वारा, जहां दिवस नहिं राती।
दास कबीरा जाय पहूँचे, बिछुरे संग रु साथी ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—रावल = राजा। मूल = मूल-चक्र। सावज = वन के पशु।

[मन रूपी शिकारी और हठयोगियों का वर्णन]

टीका—हे संसारी जीव! तेरे हृदय-कानन में मनरूपी शिकारी शिकार खेलता रहता है। "घर घर सावज खेलै अहेरा, पारथ ओटा लेई।" उक्त शिकारी इन्द्रिय रूपी वाड़ी में चरनेवाले विषयानन्दी मृगों को उत्कट भोगेच्छा रूपी तीक्ष्ण बाणों से मार मार कर गिराता रहता है ॥१॥ हठ-योगियों का कथन है कि—जो योगी राजा सावधान रहता है वह अपने योग-राज्य को सुरक्षित रखता है। भजन—"योगी जन जागत रहियो भाई।" सबसे पहले मूलचक्र को जीते। भजन—"प्रथमे मूल सुधार काज हो सारा है। कर नैनों दीदार महल में प्यारा है।" इसके अनन्तर ध्यान के धनुष पर ज्ञान का बाण योगीश्वर लगाते हैं ॥२॥ वे छहों चक्रों और आठों कमलों को बेध कर प्राणायाम के द्वारा गगन-मंडल में ज्योति का प्रकाश कर देते हैं। और काम, क्रोध और लोभ, मोह रूपी बन के पशुओं को भगा देते हैं ॥३॥ इस प्रकार गगन-मंडल पहुँच कर दशम द्वार सहस्रदल कमल पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। तथा योगी उपासकों के वहां पहुंच जाने पर उनके संगी और साथी छूट जाते हैं। भाव यह है कि समाधि काल में कुछ काल के लिये योगियों का बाह्य प्रपंच छूट जाता है। (सूचना—सहस्रार और सुरति कमल तथा षट-चक्र रूप छः कमल; ये आठ कमल हैं) ॥४॥

(८८) शब्द।

सावज न होय भाइ सावज न होय, बाकी मांसु भषै सभ कोय।
सावज एक सकल संसारा, अविगति वाकी बाता।
पेट फारि जो देषिय रे भाई, आहि करेज न आँता ॥ २ ॥
ऐसी वाकी मांसु रे भाई, पल पल मांसु बिकाई।
हाड़ गोड़ ले घूर पंवारै, आगि धुवा नहिं षाई ॥ ६ ॥

सीर सींग किछुनो नहिं वाके, पूंछ कहां वे पावे।
सभ पंडित मिलि धंधे परिया, कबीरा बनौरी गावैं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बनौरी = सं० पु० [हि० बन्ना] बनरा। विवाह के समय का एक प्रकार का मंगल गीत।

[मन–माया रूप मृग–मांस के लोलुपों का वर्णन]

टीका—हे भाइयो ! मन और माया वस्तुतः मिथ्या होने के कारण सावज = शिकारी नहीं हैं। आश्चर्य है, फिर भी उसके मिथ्या मांस (भोगों) को सब कोई खाते रहते हैं ॥१॥ सारे संसार में मन रूपी एक शिकार घूम रहा है। उसकी बात आश्चर्यमय है। हे भाई ! यदि उसका पेट फार कर आन्तर निरीक्षण किया जाता है तो मालूम पड़ता है कि उसके कलेजा और आंतड़ियां नहीं हैं। भाव यह है कि "युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गम्" (न्यायदर्शन)। अर्थात् सब इन्द्रियों से एक समय ज्ञान की निष्पत्ति नहीं होती है, इस लिये ज्ञान के साधक मन–अनुमित हैं और माया तो अनिर्वचनीय है ही; अतः दोनों मिथ्या हैं ॥२॥ हे भाई ! अत्यन्त स्वादिष्ट होने के कारण उसका मांस ऐसा सर्व–प्रिय हो गया है कि, उसकी विक्री प्रतिक्षण में हो रही है अर्थात् भोगेच्छा सदैव रहती है। और उस मन-मृग की हड्डी और पैरों को घूरा में फेंक देते हैं। अर्थात् अन्ततः सब लोग जरा–जर्जरित होकर और नीरस सांसारिक योग-रूपी सूखी हड्डी और पैरों को घूर रूपी संसार में ही फेंक कर निराश होकर यह कहते हुये चले जाते हैं कि "भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।" इस भोगामिष ने तो पारे को भी परास्त कर दिया। अग्नि की तो कथा ही क्या है ? यह तो धुंए को भी सहन नहीं कर सकता है। भाव यह है कि माया ज्ञानाग्नि के संचार रूपी धुंए तक को नहीं सह सकती है ॥ ३ ॥ बड़े-बड़े आविष्कारक लोग मन और माया रूपी शिकार की खोज में पागल हो रहे हैं; परन्तु यह ऐसा विलक्षण हरिण है कि इसके न शिर है न सींग ही हैं, जिससे कि वश में आ सके या पहचाना जा सके। "विना सीस का चोरवा, परा न काहू चीन्ह।" और इसकी पूंछ को तो संसारी लोग किसी तरह पकड़ ही नहीं सकते हैं। यह तो पण्डितों के गोरख–धन्धे का

वृत्तान्त है । और "खर घूघू मूरख जना, सदा सुखी वृजराज" इस कथन के अनुसार पूरे मूर्ख तो बिनौरी=विवाह के गीत (मंगलगान) गाते रहते हैं।

भावार्थ—माया अनादि होने के कारण शिर रहित है और बिना ज्ञान के माया का अन्त रूपी पूंछ भी मिलना असम्भव है । अथवा "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" इस तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार पुच्छ स्थानीय ब्रह्म की प्राप्ति भी नहीं हो सकती हैं । तैत्तिरीय में यह प्रसंग मनोमय कोश को पक्षी के रूपक से वर्णन के अवसर में बताया गया है । और "बिनुमारे मृगला भागा जाय" इत्यादिक बहुत से भजनों में इस प्रसंग का उल्लेख है ॥४॥

(८६) शब्द ।

सुभागे काहि कारन लोभ लागे, रतन जनम षोयो ।
पूरब जनम भूमि कारन, बीज काहे को बोयो ॥ १ ॥
बूंद से जिन्हि पिंड संजोयो, अगिनि कुंड रहाया ।
दसै मास माता के गरभे, बहुरी लागल माया ॥ २ ॥
बारहु ते पुनि बिरध हुआ है, होनि रहा सो हुवा ।
जब जमु ऐहैं बांधि चलै हैं, नैन भरि भरि रोया ॥ ३ ॥
जीवन की जनि राषहु आसा, काल धरे हैं सांसा ।
बाजी है संसार कबीरा, चित चेति ढारो पांसा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—सुभागे = हे सज्जनो ! । अगिनि = जठराग्नि । बिरध = वृद्ध । सांसा = श्वासा ।

[चेतावनी]

टीका—हे सज्जनो ! आप लोगों ने किस कारण लोभ में लग कर रत्न-स्वरूप अपने मनुष्य-जन्म को खो दिया ? और पहिले जन्म के संस्कार रूपी पृथ्वी में फिर दोबारा वैसा ही बीज तुमने क्यों बोया ? अर्थात् फिर जन्म देनेवाले कर्मों को क्यों किया ॥१॥ पिता के वीर्य से जिस शरीर की रचना की गयी वह माता के गर्भाशयरूपी अग्नि-कुण्ड में रक्खा गया । और दस

महिनों तक माता के गर्भ में रहने के पश्चात् बालक बाहर आया और बाहर आते ही उसको फिर माया लग गयी ॥२॥ बालक से फिर वृद्ध हो गया, (जो कुछ होना था सो हो गया ।) अन्त समय में जब यमराज आवेंगे तो तुमको बांध कर चलता करेंगे । उस समय तुम आंखों में आंसु भर भर कर रोवोगे ॥३॥ तुम अपने जीवन की कोई आशा मत रक्खो; क्योंकि तुम्हारी श्वासा रूपी डोरी को पकड़ कर काल खैंच रहा है । हे जिज्ञासुओ ! इस संसार में कर्मों की बाजी (जूआ, खेल) लगी हुई है । "पासा पड़े सो दाव" इस कहावत के अनुसार जैसा कर्म वैसा फल । इसलिये तुमको उचित है कि खूब समझ बूझ कर कर्मों को करो, जिससे कि "अबके गवना बहुरि नहिं अवना, यही भेंट अँकवारी हो" यह सत्य हो जाय ॥४॥

(९०) शब्द ।

संत महंतो सुमिरहु सोई, काल फांस सों बांचा होई ॥ १ ॥
दत्तात्रेय मरम नहिं जाना, मिथ्या-स्वाद भुलाना ।
सलिता मथि के घृत को काढिन्हि, ताहि समाधि समाना ॥
गोरष पवन राषि नहिं जाना, जोग जुगुति अनुमाना ।
रीधि सीधि संजम बहु तेरे, पार ब्रह्म नहिं जाना ॥ ३ ॥
वसिस्ट सिस्ट विद्या संपूरन, राम ऐसो सिष साषा ।
जाहि राम को करता कहिये, तिनहु को काल न राषा ॥ ४ ॥
हिन्दू कहैं हमहि ले जारब, तुरुक कहैं हमारे पीर ।
दोनों आय दीन महं झगरैं, ठाढ़े देषै हंस कबीर ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—पार = निर्विशेष ।

[स्मरणीय वस्तु "तत्त्व"]

टीका—हे सन्तो और महन्तो ! आप सब उसका स्मरण करिये, जो कि काल के फन्दे से बचा हो ॥१॥ हठ-योगी दत्तात्रेय ने परम तत्त्व के रहस्य को नहीं जाना । इस कारण वे मन की कल्पनाओं में पड़ गये । और उन्होंने श्वासा रूपी नदी को प्राणायाम के द्वारा मथकर उसमें से भौतिक ज्योति,

ब्रह्माण्ड-ज्योतिरूप घृत को निकाला और उसीकी समाधि में लीन हो गये ॥२॥ हठ-योगी गोरख ने पवन को रखना नहीं जाना। वे केवल योग-युक्ति के अनुमान में लगे रहे। उनको संयम के द्वारा बहुत सी ऋद्धियां और सिद्धियां प्राप्त हुईं; परन्तु उन्होंने निर्विशेष आत्मा (शुद्ध चेतन) निज-रूप पार ब्रह्म को नहीं जाना। (सूचना—कबीरपन्थी ग्रन्थों में निजपद का स्मरण पारब्रह्म शब्द से बाहुल्येन किया गया है। यथा—"पारब्रह्म सो न्यारा।") ॥३॥ विद्या में सम्पूर्ण वसिष्ठजी श्रेष्ठ मुनि हुए, जिनके रामचन्द्रजी ऐसे शिष्य-प्रशिष्य हुए। जिन अवतार राम को संसार का कर्ता मानते हैं, उनका भी अयोध्या के "गुप्तार घाट" पर शरीरान्त हो गया। साधारण मनुष्यों की तो कथा ही क्या है ? ॥४॥ "राम मरैं तो हमहू मरि हैं, हरि न मरै हम काहे को मरि हैं।" इस निश्चय के अनुसार कबीर साहेब ने यह भविष्यद् घटना का उल्लेख किया है कि, हमारे गुप्त होने के अनन्तर हिन्दू कहेंगे कि " 'ये हमारे गुरु थे' इसलिये हम इनको जलावेंगे, और तुरुक कहेंगे कि 'ये हमारे पीर थे', इसलिये हम इनको गाड़ेंगे।" इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों दीन आपस में झगड़ेंगे" और उनको हम हंस कबीर ज्ञानी आत्मा के रूप में साक्षी रूप से देखेंगे ॥५॥

(६१) शब्द।

तन धरि सुषिया काहु न देषा, जो देषा सो दुषिया।
उदै अस्त की बात कहतु हौं, ताकर करहुँ विवेका ॥ १ ॥
बाटे बाटे सभ कोई दुषिया, का गिरही बैरागी।
सुषाचार्य दुष ही के कारन, गरभहिं माया त्यागी ॥ २ ॥
जोगी जंगम ते अति दुषिया, तपसी को दुष दूना।
आसा त्रिस्ना सभ घट व्यापै, कोइ महल नहि सूना ॥ ३ ॥
सांच कहौं तो सभ जग षीझै, झूठ कहा नहि जाई।
कहंहिं कबीर तेई भौ दुषिया, जिन्हि यह राह चलाई ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—सुषाचार्यजी = शुकदेवजी।

[दुःखमय जगत्]

टीका—संसार में किसी शरीरधारी को सुखी नहीं देखा । जो देखा गया सो दुखिया ही देखा गया । यह मैं उदय से अस्त तक की बात कह रहा हूँ । इसका विचार आप लोग स्वयं कर लें ॥ १ ॥ क्या गृहस्थ और क्या त्यागी, जो कर्मादिक मार्ग में चले वे सब दुःखी हो गये । सुखदेवजी ने दुःख ही के कारण गर्भ ही से माया का त्याग कर दिया ॥ २ ॥ योगी और शैवमतावलम्बी अत्यन्त दुखी हैं । और तपस्वियों को तो शरीर-जन्य और साधना-जन्य, इस प्रकार दूना दुःख है । कारण यह है कि सबों के हृदयो में आशा और तृष्णा व्याप्त हो रही है । इससे कोई हृदय खाली नहीं है ॥ ३ ॥ यदि मैं सच कहता हूं तो सब संसार क्रोधित होता है । और झूठ तो मुझ से कहा नहीं जाता है । कबीर साहब कहते हैं कि जिन ब्रह्मादिकों ने इन सकाम कर्मों का विधान किया है वे ही दुःखी हो गये हैं ॥ ४ ॥

(९२) शब्द ।

ता मन को चीन्हहु[1] मोरे भाई, तन छूटे मन कहां समाई ॥१॥
सनक सनंदन जैदेव नामा, भक्ति हेतु मन उनहुं न जाना ।
अंबुरीषि प्रहलाद सुदामा, भगति सही मन उनहुँ न जाना ॥२॥
भरथरि गोरष गोपीचंदा, ता मन मिलि मिलि कियो अनंदा ।
जा मनको कोई जाने न भेवा, ता मन मगन भये सुषदेवा ॥३॥
सिव सनकादिक नारद सेसा, तन के भीतर मन उनहुँ न पेषा ।
एकल निरंजन सकल सरीरा,
ता महं भ्रमि भ्रमि रहल कबीरा ॥ ४ ॥

[मनो-विज्ञान]

टीका—हे मेरे भाइयो ! उस मन को पहिचानो कि शरीर छूटने पर यह मन कहां समा जाता है ? । वस्तुतः तत्त्व तो यह है कि, "जाकी सुरति

१ पाठा०—त, थ; हू दहु ।

लगी है जहवां, कहंहिं कबीर सो पहूंचे तहवां।" इसके अनुसार जहां आशा होती है वहां ही वासा हो जाता है ॥ १ ॥ सनक, सनन्दन, जयदेव और नामदेव भक्त हुए; परन्तु भक्ति के कारण रूप मन को उन्होंने भी नहीं जाना। भाव यह है कि मन के निरोध के लिये उपासना की जाती है; परन्तु उपासना का जनक मन ही है। अर्थात् उपासना भी मन ही की कल्पना है। "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥" (कठोपनिषद्)। अम्बरीष राजा, प्रहलाद और सुदामा भक्त हुए। इनकी भक्ति ठीक थी; परन्तु मन का परिचय उनको भी नहीं हुआ कि भक्ति आदि की कल्पना करनेवाला मंन ही है ॥२॥ भर्तृहरि, गोरख और गोपीचन्द राजा योगी हुए। इन सबों ने उस मन की तरंगों में मिल मिल कर योगानन्द को प्राप्त किया। जिस मन के रहस्य को किसी ने नहीं जाना। उस मन में सुखदेवजी ज्ञानी "सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।" यह समझते हुए, विलक्षण मानसिक आनन्द का अनुभव करते हुए मग्न हो गये ॥३॥ शिव, सनकादिक, नारद और शेष ज्ञानी हुए; परन्तु तन के भीतर रह कर ही यह मन सब कुछ कल्पना कर रहा है, इस बात को उन्होंने भी नहीं देखा। भाव यह है कि अधिकारी पुरुषों को अधिकार-रक्षा के लिए मन का अनुसरण करना अनिवार्य होता है। सब शरीरों में अकेला निरंजन (मन) समाया हुआ है, और उसी के फन्दे में पड़ा हुआ यह जीवात्मा अनेक योनियों में भटक रहा है। भाव यह है कि समष्टि सूक्ष्म शरीर में मन की प्रधानता है, और उसका अभिमानी हिरण्यगर्भ है; अतः वह सूत्रात्मा सब शरीरों में सूत्र रूप से अनुस्यूत है। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे लोकस्य धाता।" समष्टि मनोऽभिमानी का नाम पारिभाषिक निरंजन है। यह पहले सविस्तार लिखा जा चुका है। फलतः सारे शरीर में एक मन है और उसीके भोग-स्वाद में पड़कर कबीरा = जीवात्मा अनेक योनियों में भटक रहा है ॥ ४ ॥

(६२) शब्द।

बाबू ऐसो है संसार तिहारो, ई है कलि बेवहारो।
को अब अनुष सहै प्रतिदिन को, नाहिं न रहनि हमारो ॥ १ ॥

सुम्रिते सुहाय सभै कोई जानै, हृदया तत्तु ना बूझै।
निरजीव आगे सरजिव थापै, लोचन किछुवो न सूझै॥ २॥
तजि अम्रित विष काहे को अंचवै, गांठी बांधे षोटा।
चोरन दीन्हो पाट सिंहासन, साहुन से भौ ओटा॥ ३॥
कहंहिं कबीर झूठे मिलि झूठा, ठगहीं ठग बेवहारा।
तीनि लोक भरिपूर रहो है, नाहीं है पतियारा॥ ४॥

शब्दार्थ—अनुष = सं० पु० [सं० अनख] क्रोध, दुःख।

[संसार-व्यवहार]

सूचना—तीन लोक (त्रिगुणात्मक भवसागर) में मन का आधिपत्य होने के कारण संसार का राजा मन ही है। "तीन लोक में है जमराजा, चौथे लोक में नाम निसान।" स्वभावतः दुःखदायी होने के कारण मन यम कहा जाता है। यह पद्य मन राजा को उद्देश्य करके कहा कहा गया है। इसी प्रकार के वचन "निरंजन गोष्ठी" नाम से प्रसिद्ध हैं।

टीका—हे बाबू! (मन) यह तुम्हारा संसार ऐसा प्रपञ्ची है और यही कलियुग का व्यवहार है। इसमें पड़ कर प्रतिदिन के श्रम-जन्य दुःख को कौन सहे? इसमें हमारा रहना नहीं हो सकता। क्योंकि यह हमारे अनुकूल नहीं है॥ १॥ मांसाहारी शास्त्र व्यवसायियों को केवल शब्द-दृष्टि है, अर्थ-दृष्टि (आत्म-दृष्टि) नहीं है। इसी कारण अपने अनुकूल होने से हिंसा-विधायक आधुनिक स्मृति-वचनों का तो—"यः शब्द आह" यह शब्द कहते हुए अक्षरशः पालन करते हैं। और "माहिंस्यात्सर्व भूतानि" इत्यादि श्रुति-वचनों की अवहेलना करते हैं; परन्तु अपने हृदय के तत्व को नहीं समझते हैं कि इस विषय में अपना हृदय क्या कह रहा है? इसके अतिरिक्त यह महा अनर्थ किया जाता है कि, मुर्दे (जड मूर्तियों) की प्रसन्नता के लिये जिन्दे (बकरा आदि बलि पशु) को मार कर उसके चरणों में रख देते हैं। स्वार्थियों को मुर्दा और जिन्दा नहीं सूझता है। सच्ची बात तो यह है कि—"जिभ्या स्वाद के कारने, नर कीन्हे बहुत उपाय"॥ २॥ आत्मप्रीति

को छोड़ कर आत्म-द्वेष क्यों करते हो ? और इस प्रकार कुकर्म रूपी खोटा दाम (रुपयादिक) पल्ले क्यों बांधते हो ? हे अज्ञानियो ! ज्ञान-रत्न को चुरानेवाले वंचकों को तो तुम गुरु बना कर पूजते हो, और सच्चे वीत-राग महात्माओं से मुंह छिपाते हो, यह महा अन्याय है ॥ ३ ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि झूठे लोग झूठों से ही मिलते हैं। और ठगों का ठगों के साथ ही व्यवहार चलता है। हे निरंजन देव ! तीनों लोकों में तुम्हारा अप्रतिहत शासन है। हमारे वचनों का तो किसी को विश्वास ही नहीं है ॥ ४ ॥

(६४) शब्द ।

कहहु निरंजन कवने बानी ॥१॥
हाथ पांव मुष स्रवन जीभि नहिं, का कहि जपहु हो प्रानी ॥२॥
जोतिहिं जोति-जोति जो कहिये, जोति कवनसहिदानी।
जोतिहिं जोति--जोति दै मारे, तब कहां जोति समानी ॥३॥
चारि बेद ब्रह्मा जो कहिया, तिनहुं न या गति जानी।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, बझहु पंडित ग्यानी ॥४॥

शब्दार्थ—सहिदानी = सं० स्त्री० [सं० संज्ञान] चिन्ह, पहचान।

[ब्रह्म-ज्योति के उपासकों से प्रश्न]

टीका—हे भाइयो ! निरंजन मन का क्या परिचय है ? ॥ १ ॥ जब मन रूप निरंजन के हाथ, पांव, मुख, श्रवण और जीभ नहीं हैं, अर्थात् वह निराकार है तब तुम उसके स्वरूप का क्या वर्णन कर के जपते हो ? ॥२॥ "दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।" इस यजुः—श्रुति के अनुसार ज्योति स्वरूप मन को आप लोग ज्योतियों का (इन्द्रियों का) ज्योति (प्रकाशक) कहते हैं तो उसकी नित्य प्रकाशता की क्या पहिचान है ? अथच प्रति-संचारावसर में जब उक्त भौतिक ज्योति स्व-प्रकाश स्वयंज्योति (चेतन) में विलीन हो जाती है, तब कहिये, उक्त ज्योति कहां रही ? ॥३॥ ब्रह्माजी ने चारों वेदों का वर्णन किया; परन्तु उन्होंने भी इस स्वयं ज्योति के रहस्य को नहीं जाना। अर्थात् स्वयं ज्योति (निजात्मा) स्व-संवेद्य है;

अतः वेदादिक का विषय नहीं। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" अतः वह ज्ञातव्य है। कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, और हे पण्डितो और ज्ञानियो! उसीको समझो ॥ ४ ॥

(९५) शब्द।

को अस करइ नगर कोटवलिया, मांसु फैलाय गीध रषवरिया ॥१॥
मुप भौ नाव मंजार कंडिहरिया, सोवै दादुल सरप पहरिया ॥२॥
बैल बिलाय गाय भै बंझा, बछवहिं दूहहिं तिनि तिनि संझा ॥३॥
नित उठि सिंघ सियार से जूझै,
कबीर का पद जन बिरला बूझै ॥ ४ ॥

["ये कलि गुरु बड़े परपंची, डारि ठगौरी सभ जग मारा"]

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसे महा विकट इस नटखट संसार-नगर की कौन कोतवाली (ज्ञानोपदेश द्वारा रक्षा) करे? जिसकी यह दशा है कि "सांच कहै तो मारा जावै, झूंठहिं जग पतियाई हो"। इस नगर की तो सारी ही चालें उल्टी हैं। "गोकुल गांव को पैंड़ो हि न्यारो"। "मुरारेस्तृतीयः पन्थाः"। देखिये, नाना विषय रूप मांस फैला हुआ है, और गिद्ध रूप मन उसका रखवारा बनाया गया है। भाव यह है कि पूर्वोक्त नाना प्रपञ्च रूपी पंङ्क से सना हुआ अज्ञानियों का मन आत्म-ज्ञान रूपी जल के विना कभी निर्मल नहीं हो सकता है। जिस प्रकार कीचड़ से कीचड़ नहीं धुल सकता है। उसी प्रकार वञ्चकों के प्रपञ्चोपदेश से अज्ञानियों का प्रपञ्च भी दूर नही हो सकता है। "विष के खाये विष नहीं जावै, गारुड़ सो जो मरत जियावै।" ॥ १ ॥ यह भी एक अचरज ही है कि मुस (अज्ञानी) तो बेचारे नाव (दूसरों के चलाने से चलनेवाले) बने बैठे हैं। और मंजार (वञ्चक गुरु) इनके कंडिहार = कर्णधार (नाव चलानेवाले मल्लाह) बने हुये हैं। भाव यह है कि वञ्चक गुरु अन्ध श्रद्धावालों को भटकाकर अपना स्वार्थ बना रहे हैं। एव दादुर = मेढक (अज्ञानी) अपने उक्त गुरुओं के भरोसे सो रहे हैं और सर्प (अहंकार) उनका पहरेदार बना हुआ है। भाव यह है कि अज्ञानियों

के वचनों को मान कर अपने आपको जीवन्मुक्त मान लेना केवल मिथ्या अहंकार है। हे भाईयो! जो स्वयं सत्य मार्ग पर नहीं चलते, उनके वचनों में पड़कर अपना सर्वनाश क्यों करते हो ? । "लोग भरोसे कवन के, बैठ रहे अरगाय। ऐसे जियरहि जम्र लुटै, जस मटिया लुटै कसाय।" ॥२॥ अज्ञानियों के घर में तो सदैव बैल (अज्ञान) ही बियाया करता है। और निरंतर भूखी रहनेवाली बेचारी गाय (सात्विक-बुद्धि) तो बांझ (बन्ध्या) ही हो गई है। "सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई" (रामायण उत्तरकांड)। तथा उक्त बैल से पैदा हुए मन के संकल्प रूपी बछडे को तीनों बेर दूहने लगे। अर्थात् असत्योपदेश से अज्ञानी लोग नाना संकल्प–विकल्पों में पड़ गये ॥ ३ ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह सिंह (जीवात्मा) प्रतिदिन सबेरे उठ कर सियार (मन) से युद्ध करता है। और मेरे बताये हुये निजपद (आत्म-तत्त्व) को तो कोई विरला ही समझता है।

भावार्थ–इस अज्ञानी सिंह को मन मदारी खूब ही नचाया करता है। "बाजीगर का बांदरा, ऐसा जिउ मन साथ। नाना नाच नचाय के, राखे अपने हाथ।" (बीजक) ॥ ४ ॥

(९६) शब्द।

काको रोउं गयल बहुतेरा, बहुतक मुवल फिरल नहीं फेरा ॥१॥
जब हम रोया तैं न संभारा, गरभ बास की बात बिचारा[1] ॥२॥
अब तैं रोया का तैं पाया, केहि कारन तैं मोहि रुवाया ॥३॥
कहंहिं कबीर सुनहु नर लोई, काल के बसी परै मति कोई ॥४॥

शब्दार्थ—मुवल = मर गये। नर लोई = लोगों।

[काल की प्रबलता का विचार]

टीका – मरे हुये प्रेमी जनों में से किस—किसको रोउँ ? क्योंकि बहुतेरे चल बसे, मर गये और किसी के लौटाने से नहीं लौटे। "वहां के गये बहुरि नहिं आवै, ऐसो है वह देसवा" ॥ १ ॥ जवानी में तुमको समझाने

१ पाठा–घ, ङ, बिसारा।

के लिये जब हमने बहुत कुछ रोया--धोया, तुमको समझाया--बुझाया; तुम नहीं संभले और संसार के सुख में पड़कर गर्भवास के कष्टों को भूल गये ॥ २ ॥ अब अन्त समय में रो कर तुमने क्या पा लिया ? और किस लिये तुमने अपने दुःख से मुझे भी दुःखी किया ? ॥ ३ ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे लोगो ! सुनों, और कामना रूपी जाल में न पड़ो और निजरूप को न भूलो । (सूचना -- इसी "लोई' शब्द के आधार से अज्ञानी लोग 'लोई माई' की कल्पना करते हैं, जो अज्ञानमूलक है ।) ॥ ४ ॥

(९७) शब्द ।

अल्लह राम जिवो तेरि नांई, जन[1] पर मेहर होहु तुम सांई ॥
का मूंडी भूमी सिर नाये, का जल देह नहाये ।
षून करै मसकीन कहावै, अवगुन रहै छिपाये ॥ २ ॥
का ऊजू जप मंजन कीन्हे; का महजिद सिर नाये ।
हृदया कपट निमाज गुजारैं, का हज मंका जाये ॥ ३ ॥
हिंदू एकादसि करैं चौबिसो, रोजा मूसलमाना ।
ग्यारह मास कहो किन टारै, एकहि माह नियाना ॥ ४ ॥
जो षोदाय महजिद बसतु है, अवर मुलुक केहिकेरा ।
तीरथ मूरति राम निवासी दुइ महं किन्हहु न हेरा ॥ ५ ॥
पूरब दिसा हरी को बासा, पच्छिम अलह मुकामा ।
दिल महं षोजु दिलहिं महं षोजो, इहैं करीमा रामा ॥ ६ ॥
वेद कितेब कहो किन झूंठा, झूंठा जो न विचारै ।
सभ घट एक एक करि जानै, वै[3] दूजा केहि मारै ॥ ७ ॥
जेते औरति मरद उपाने, सो सभ रूप तुम्हारा ।
कबिर पोंगरा अलह रामका, सो गुरु पीर हमारा ॥ ८ ॥

१ पाठा—थ, द, जन के मेहर ।　　२ पाठा—त, फ एक महीना आना ।
३ पाठा--फ अ, भय दूजा के मारे ।

शब्दार्थ—मसकीन = गरीब (फकीर)। उजू = इन्द्रिय शुद्धि। मंजन = स्नान। मंका = मक्का। नियाना = निदान। हेरा = खोजना। पोंगरा = बच्चा।

[राम और रहीम की एकता तथा पाखंड विचार]

टीका -- हे सांईजी ! ये सब (हिन्दू और गाय वगैरह) आप ही की तरह अल्लाह और राम के पैदा किये हुए जीव (प्राणी) हैं। और आप कहलाते भी सांई (स्वामी, रक्षक) हैं। इसलिये सबों पर दया करिये। याद रखिये, दीन की दुहाई देकर बेगुनाहों का खून करनेवाले जाहिल मुसलमानों का रोजा और नमाज हराम हैं। इसी तरह हज करने के लिये मक्का और मदीने में जाना भी फिजूल है; क्योंकि दिल ही की सफाई से बिहिस्त मिलती है। "यदि हृदयमशुद्धं सर्वमेतन्न किञ्चित्" ॥ १ ॥ पापकर्मों से हृदय के अशुद्ध रहने पर नमाज के समय भूमि पर सिर रगड़ने से और बार बार शिर को झुकाने से तथा जल से देह को नहलाने से क्या लाभ है ? आप लोग खून करते हैं और गरीब फकीर कहलाकर अपने अवगुणों को छिपाये रहते हैं ॥२॥ जबकि पापकर्मों से आपका मन मैला है तो नमाज के लिये इन्द्रिय-शुद्धि करने से, जप करने से, स्नान करने से और मस्जिद में जाकर शिर के झुकाने से क्या लाभ है ? क्योंकि आप लोग सब प्राणियों में खुदा को हाजिर-नाजिर बतलाते हो, और उनको मार भी डालते हो। यह कपट आप लोगों के हृदय में है तो फिर खुदा को खुश करने के लिये झूठी नमाज पढ़ने से क्या लाभ है ? और हज के लिये मक्का शरीफ जाने से क्या लाभ है ? ॥३॥ हिन्दू लोग चौबीस एकादशियों को पवित्र मान कर व्रत रखते हैं, तो बाकी के दिन भी तो ईश्वर निर्मित होने से पवित्र ही हैं। उन दिनों में भी पुण्य कर्म करना अच्छा ही है। और मुसलमान रमजान मास में रोजा रखते हैं। उनसे यह प्रश्न है कि हे मुसलमानो ! आप लोग सिर्फ रमजान माह (महिना) को पाक समझ कर रोजा रखते हैं; भला यह तो बतलाइये कि बाकी के मुहर्रम, वगैरह ग्यारह महिनों को किसने नापाक बतलाकर अलग कर दिया है ? (नियाना = निदान, फलतः "नियाना" यह प्राकृत शब्द संस्कृत

निदान शब्द का तद्भव रूप है) ॥४॥ आप लोगों की धारणा के अनुसार यदि खुदा मस्जिद में बसता है तो बतलाइये कि दूसरे मुल्क किसके हैं और वहाँ कौन रहता है ? इसी प्रकार हिन्दू लोग तीर्थों में और मूर्तियों में राम का निवास मानते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो ठीक बात को दोनों में से किसी ने नहीं खोजा है ॥ ५ ॥ हिन्दू पूरब दिशा में अर्थात् क्षीरसागर में हरि का निवास मानते हैं। और मुसलमान पश्चिम दिशा में अर्थात् मक्का में अल्लाह का मुकाम बतलाते हैं। हे भोले भाइयो ! यदि आप लोगों को सचमुच अल्लाह और राम के दर्शन करना है; तो बड़ी सावधानी, नम्रता और प्रेम के साथ सब प्राणियों के हृदय-निकेतनों को ढूंढो। अर्थात् सर्वप्रिय (विश्व-बन्धु) बनो। इन्हीं हृदयों में तुमको करीमा और केशव मिलेंगे। "इस बोलते का खोज करो; जिसका इलाही नूर है। जिन प्राण पिंड संवारिया, सो तो हाल हजूर है। कहैं कबीर पुकार के, साहब घट-घट पूर है" ॥ ६ ॥ वेद और कुरान को किसने झूठा बतलाया है ? । झूठा वही है, जो इनमें वर्तमान अहिंसा धर्म का विचार नहीं करता है। अर्थात् वेद और कुरान के एकात्म-तत्त्व को जो नहीं जानता है वह अपराधी है। अपने समान ही सुख और दुःख का अनुभव करनेवाला जो सबों के हृदयों को एक समान जानता है, वह दूसरे को कैसे मार सकता है ? ॥७॥ संसार में जितने स्त्री और पुरुष उत्पन्न हुये हैं वे सब तुम्हारे ही रूप हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि, सब जीव अल्लाह और राम के पोंगरा=(बच्चे) हैं; क्योंकि एक ही मालिक के वे सब नाम हैं। और वह "साहब" हमको भी मान्य है ॥ ८ ॥

(९८) शब्द ।

आव[1] बे आव मुझे हरि को नाम,
अवर सकल तजु कवने काम ॥ १ ॥
कहं तब आदम कहं तब हव्वा, कहं तब पीर पैगंबर हूवा ॥२॥
कहं तब जिमीं कहां असमान, कहं तब बेद कितेब कुरान ॥३॥

[1] इसमें चोपई और चौपाई छन्द है। चोपई में १५ मात्रा और अंत में गुरु-लघु होते हैं। "तिथि कल पौन चोपई मांहि" ॥

जिन्हि दुनिया महं रची मसीद, झूंठा रोजा झूंठी ईद ॥४॥
सांचा एक अलह को नाम, जाको नै नै करहु सलाम ॥५॥
कहुधौं भिस्त कहां ते आई, किसके कहे तुम छुरी चलाई।
करता किरतम बाजी लाई, हिंदू तुरुक की राह चलाई ॥६॥
कहं तब दिवस कहां तब राती, कहं तब किरतम किन उतपाती
नहिं वाके जाति नहि वाके पांती,
कहहिं कबीर वाके दिवस न राती ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—मसीद=मस्जिद । जाति=श्रेणी ।

[नाम-चर्चा और आदि कथा]

टीका—मुझे हरि के नाम का बार-बार स्मरण हो । और सब छोड़ दिया जाय; क्योंकि वह किस काम में आनेवाला है ? ॥ १ ॥ सृष्टि के पहले न आदम था और न उसकी स्त्री हव्वा थी । और न पीर तथा पैगम्बर ही हुए थे ॥ २ ॥ न उस समय जमीन थी न आसमान था, और न वेद, कितेब और कुरान ही था ॥३॥ जिन मुल्लाओं ने दुनियां में मस्जिद, रोजा और ईद वगैरह ये सब झूठे खेल रचे थे वे भी आरम्भ काल में न थे ॥४॥ केवल एक मालिक का नाम सच्चा है, जिसको तुम लोग अल्लाह कहते हो, और झुक-झुक कर सलाम करते हो ॥५॥ भला, यह तो बतलाओ कि ऐसी बिहिस्त को किसने बनाया है, और कहाँ पर है ? जो कि निरपराधों के खून से मिलती है, और किसके हुक्म से तुम लोग छूरी चलाते हो ? क्योंकि पाक अल्लाह तो रहमान और रहीम हैं, दयालु हैं । ये सब मालिक की माया के खेल हैं, जिससे कि हिन्दू और मुसलमान अपने आपको भिन्न-भिन्न देशों (पूरब और पश्चिम) के पथिक समझ रहे हैं ॥६॥ सृष्टि के पहले न दिन था, न रात थी, और न कोई बनावटी वस्तु ही थी । सोचो कि, इन बनावटी वस्तुओं को किसने पैदा किया ? तत्त्व तो यह है कि वह मालिक न हिन्दू है न मुसलमान । अतः किसी भी श्रेणी का पक्षपाती नहीं है । खेद है कि इस तत्त्व के न जानने से हिन्दू और मुसलमान कल्पित नाना पाखण्डों में पड़ कर एक दूसरे को मिटा

देने पर उद्यत हो रहे हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि उस स्वयंप्रकाश और नित्यप्रकाश मालिक के आगे न दिन है, न रात है ॥ ७ ॥

(९९) शब्द ।

अब कहं चलेहु अकेले मीता, उठहुन करहु घरहू की चिंता ॥
षीरि षांड़ घ्रित पिंड संवारा, सो तन लै बाहरि करि डारा ॥२॥
जिहि सिर रचि रचि बांधेउ पागा, सो सिर-रतन बिडारत कागा
हाड़ जरैं जस लकरी झूरी, केस जरैं जस घास[1] की पूरी ॥४॥
आवत संग न जात संगाती, काह भये दल बांधल हाथी ॥५॥
माया के रस लेन न पाया, अंतर जमु बिलारी होय धाया ॥६॥
कहंहिं कबीर नल अजहुं न जागा,
जम का मुदगर मंझ सिर लागा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—बिडारत = नोचना । झूरी=सूखी हुई । अंतर = अन्त समय ।

[अन्तिम अवस्था का विचार]

टीका—हे प्रपञ्ची मित्र ! अब अकेले कहां जा रहे हो ? क्यों नहीं उठ कर घर के धन्धे की चिंता करते हो ? ॥१॥ हे अज्ञानी नर ! जिस शरीर को तुमने खीर, खांड और घृत से पाला था, वह तेरा शरीर अब घर से बाहर कर दिया गया ।॥२॥ और जिस सिर पर तू खूब संवार-संवार के पगडी बांधता था, तेरे उस सुन्दर शिर को अब कौवे नोचते हैं ॥३॥ मृत शरीर की हड्डियां चिता पर सूखी हुई लकड़ियों की तरह जलती हैं और उसके केश घास की पूली की तरह भर्र से जल जाते हैं ॥४॥ जब कि जीवात्मा के जन्म और मरण के कोई साथी और संगाती नहीं हैं, तो फिर झुंड के झुंड हाथियों के बांधने ही से क्या लाभ है ? ॥५॥ हे अज्ञानी नर ! तुमने माया का संग्रह तो किया; परन्तु उसका आनन्द नहीं लेने पाया । और बीच ही में तुझ अज्ञानी

[1] पाठा०—ढ, ढ, जस त्रिन की कूरी ।

चूहे को पकड़ने के लिए यमराज बिल्ली होकर दौड़ पड़ा]। "इत उत मुस फिरे, ताकि रहे मिनकी"। (सुन्दरविलास) ॥६॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे अज्ञानी नर ! पूरा बुढ़ापा आने पर भी तुमने अभी तक विषयभोगों का नहीं छोड़ा। देख, अब तो तेरे शिर के बीच के बाल भी सफेद हो गये हैं। वही सफेदी मानों यमराज का मुदगर तेरे बीच शिर में लग गया है । यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७ ॥

(१००) शब्द ।

देषहु लोगा हरिकि सगाई, माय धरै पुत धिय संग जाई ॥१॥
सासु[1] ननंदि मिलि अचल चलाई, मादरिया ग्रिह बेटी जाई ॥
हम बहनोइ राम मोर सारा, हमहिं बाप हरि पूत हमारा ॥३॥
कहंहिं कबीर ई हरि के बूता, राम रमे तैं कुकरिं के पूता ॥४॥

['राम न रमसि कवन दंड लागा, मरि जैबे का करबे अभागा']

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, हे विवेकी लोगो ! सर्व पापों के हरण करनेवाले शुद्ध चेतन को जानकर आप सब उसी से अपना प्रेम-सम्बन्ध (अभेद-बुद्धि, आत्म-चिंतन) जोड़िये। यह पवित्र सम्बन्ध आपको संसार-सागर से पार कर देगा। अज्ञानियों ने तो बड़ा ही अनुचित और घृणित सम्बन्ध जोड़ा है। सुनिये, पूत=पुत्र (अज्ञानी) माय=माता (ममता) को धरता है, और असद्-बुद्धि रूप धी (निज कन्या) के साथ भी गमन करता है। भाव यह है कि जीवात्मा ममता में पड़कर बार-बार संसरण करता हुआ मिथ्या कल्पना में पड़ा रहता है ॥१॥ जब मादरिया (मन) के घर में बेटी (इच्छा) पैदा हुई तब अविद्या के पति जीवात्मा की सासु (माया) और अविद्या की ननँद (कुमति) ने मिलकर अविचल रूप आतमा को भी जन्म-मरण के चक्र में डालकर चलायमान कर दिया। "मन के चलाये तन चले, ताते सर्वस जाय।" (बीजक) नीचे दिये हुए "ज" पु० के पाठान्तर का अर्थ—

अविद्या के पति जीवात्मा की सासु (माया) और अविद्या की ननँद

१ पाठा०—ज, 'सासु-ननंदि मिलि अदल चलाई। मादरिया ग्रिह बैठी जाई, ॥

(कुमति) ने मिल कर सारे संसार में अदल (अधिकार) जमा लिया है। इतना ही नहीं, उन दोनों ने तो मदारी ईश्वर के रहने के घर (हृदय) में भी जाकर अपना दखल जमा लिया है। "नट मरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेश वेद अस गावत" ॥ "नाना नाच नचाय के, नाचे नट के भेख। घट घट अविनासी अहै, सुनहु तकी तुम सेख" ॥ अर्थात् अज्ञानियों के हृदयों में कुमति और माया बैठ गयी है। ऐसा अनर्थ हुआ कि ईश्वर का भी घर छिन गया ॥२॥ इस प्रकार माया की प्रबलता हो जाने से निजरूप राम में भी भेद-मूलक नाना सम्बन्धों की कल्पना करते हुये भेद-बुद्धिवाले ऋष्य-शृङ्ग और दशरथादि कहने लगे कि, "हम बहनोई राम मोर सारा। हमहिं बाप हरि पूत हमारा" ॥ ३ ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यह सब हरि के बूता (रचना-माया) हैं। इसलिये इसको पीठ देकर कुकरी (माया) के पूतो हे जीवो! तुम लोग राम में [सब में रमनेवाले शुद्ध चेतन में] रमो, अर्थात् अपने को पहिचानो ॥ ४ ॥

भावार्थ—वस्तुतः कूटस्थ (अचल) जीवात्मा भी माया और कुमति के चक्र में पड़ कर नाना योनियों में दौड़-सा रहा है। यह जीव का संसरण अभ्यास-जन्य भोगेच्छा के कारण होता है। "भरमक बांधल ई जग, यहि विधि आवै जाय" अज्ञान-दशा में मन भी मदारी बन कर जीवात्मा को नचाया करता है। इससे मन को भी मदारी कहा है। "बाजीगर का बांदरा, ऐसा जीव मन साथ"। इस पक्ष में भी 'हम बहनोई राम मोर सारा' का वही अर्थ है कि हम बहनोई (सुमति के धारण करनेवाले) हैं। इस नाते से राम हमारे सारे हैं, । तथा राम हमारे पुत्र [पूत् = नर्क से त्र = रक्षा करने - वाले] हैं। इस नाते से हम हरि के पिता हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि भक्तों का यह कथन हरि के बूता (बल या भरोसे) से है; परन्तु हरि में रम रहनेवालों को ये (भेद-बुद्धि-मूलक) सम्बन्ध नहीं भासते हैं। अतः हे भक्तो! आप भी राम में पूर्णतया रम जाइये।

(१०१) शब्द।

देषि देषि जिय अचरज होय, ई पद बूझै बिरला कोय ॥१॥

धरती उलटि अकासहिं जाय, चिउंटी के मुष हस्ति समाय ॥२॥
बिनु पवने जो परबत ऊडे, जिया-जन्तु सभ बिरछा बूड़े ॥३॥
सूषे सरवर उठै हिलोर, बिनु जल चकवा करै किलोल ॥४॥
बैठा पंडित पढ़ै पुरान, बिनु देषे का करै बषान ॥५॥
कहंहि कबीर जो पद को जान, सोई संत सदा परवान ॥६॥

[सहजयोग—विहङ्गममार्ग]

प्राक्कथन—योगियों के ये दो मार्ग बहुत प्रसिद्ध हैं। एक पिपिलिका मार्ग और दूसरा विहंगम मार्ग। प्राणायाम द्वारा षट्-चक्रों को बेध कर धीरे-धीरे प्राणों को ब्रह्माण्ड में चढ़ाना पिपीलिकामार्गी हठ-योगियों का काम है। और जिस प्रकार पक्षी एक पेड़ से उड़कर दूसरे पेड़ पर बिना ही अधिक परिश्रम के बैठ जाता है, इसी प्रकार सुरति (वृत्ति) द्वारा मनोनिग्रह करके सत्यलोक में पहुंच जाना संतमत के अनुसार अभ्यास करनेवाले विहङ्गममार्गियों का काम है। हठ-योगियों की अपेक्षा सुरति-योगियों का अभ्यास मार्ग अच्छा है; क्योंकि इससे साधन-सम्पन्न अधिकारियों का थोड़े से परिश्रम से ही मनो-निग्रह हो जाता है। निरक्षर सारशब्द का अभ्यास (अर्थात् नादोपासना रूप सहज-योग) को केवल साधन मात्र समझ कर आत्म-परिचय रूप साध्य की प्राप्ति के लिये यदि किया जाय तो कोई हानि नहीं है; परन्तु आजकल तो सहज योग के अभ्यासी पूर्वोक्त साधन को ही साध्य समझ कर "तत्व" की ओर तो पीठ ही कर बैठे हैं। और दिनोंदिन नाना कल्पित लोक और धामों का सन्देशा सुनाते हुए अन्धकार में पड़े हुए अज्ञानियों को अधिक अन्धकार में ढकेलते जा रहे हैं। सन्त-मत के प्रवर्तक सद्गुरु कबीर साहेब आदिक सन्त महात्माओं की यह आज्ञा कदापि नहीं है कि अधिकारियों की आंखों पर अज्ञानता की पट्टी बांधकर कल्पित नाना लोक और धामों में उनको घुमाते हुए आत्म-तत्व से वंचित कर दिया जाय। जीव के स्वरूप को ही कबीर साहेब तथा अन्य महात्माओं ने अमरपद, पद, अमरलोक और सत्य लोक आदिक नामों से निर्दिष्ट किया है। उक्त लोक की प्राप्ति का एक

मात्र साधन आत्म-ज्ञान को बतलाया है। अतः ज्ञानातिरिक्त अन्यान्य पाखण्डों से (जो जीवात्मा को सत्य मार्ग से गिरानेवाले हैं) उक्त सत्य लोक की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है; क्योकि, सत्य लोक (आत्मा) तो अत्यन्त समीप है और ये पाखण्ड तो जीवों को ववंडर (वबूला) की तरह सोरह असंख्य योजन दूर आकाश में फेंक देते हैं। इसी बात को श्रुति ने स्पष्ट ही कर दिया है कि, "तस्यायमात्माऽयं लोकः"। इस जीव की आत्मा (शुद्ध चेतन) ही लोक है। तथा "एतमेव लोकमभीप्सन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति"। इसी आत्म-लोक को पाने के लिये महात्मा संसार को त्याग देते हैं। कबीर साहेब ने भी कहा है कि 'ज्ञान अमर-पद बाहिरे, नियरे ते हैं दूर। जो जाने तेहि निकट है, रहा सकल घट पूर"। "अमर लोक फल लावें चाव। कहंहिं कबीर बूझै सो पाव। नियरे न खोजि वतावे दूरि। चहुं दिसि वागुलि रहलि पूरि"।

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि यह देख कर मुझ को बड़ा आश्चर्य होता है कि सब प्रकार के योगी लोग मन के कल्पित नाना लोक और धाम-रूपी सराय में ही पड़े रह जाते हैं, और इस निजपद अपना घर (अमरपद), अमरलोक, आत्म-तत्त्व को तो कोई-कोई बूझता है ॥१॥ अब सुरति-योग की प्रक्रिया बतलाते हैं-अभ्यास के बल से धरती (सुरति) उलट कर = अन्तरङ्ग होकर आकाश में ऊर्ध्व गमन करती हुई अष्टम सुरति कमल से पार होकर सार-शब्द में समा जाती है। "सार-शब्द है शिखर पर, मूल ठिकाना सोय। विनु सतगुरु पावे नहीं, लाख कथे जो कोय" ॥ धरति अकाश के ऊपरे, जोजन अष्ट प्रमान। तहां सुरति ले राखिये, देह धरे नहि आन" ॥ और भी सुनिये; चिऊँटी (सुरति) के मुख सुरति कमल में हस्ति (मन) समा जाता है। भाव यह है कि उक्त अभ्यास से मन का बाह्य-जगत से तो निरोध हो जाता है, परन्तु बिना आत्म-परिचय के अन्तर-जगत (नाना कल्पना तथा वासनाओं) से छुटकारा नहीं होता है; क्योंकि यह तो तेली के बैल की तरह भीतर ही दौड़ लगा-लगा कर पूरी मिहनत (व्यायाम) कर लेता है। "तेली केरे बैल ज्यों घर ही कोस पचास।" इस बात को आगे स्पष्ट करते हैं ॥२॥ विना पवन (प्राणों) के पर्वत की तरह फैला हुआ योगियों का मन उड़ जाता

है, और नाना जीव-जन्तु, वृक्ष रूप बाह्य जगत बूड़ जाता है। भाव यह है कि मन और पवन (प्राणों) का अत्यन्त ही सम्बन्ध है। यहां तक कि मन की चंचलता तथा स्थिरता से प्राण भी चंचल और स्थिर हो जाते हैं, और मन की चंचलता तथा स्थिरता का भार प्राणों की चंचलता एवं स्थिरता पर रहता है। यह बात योग के ग्रन्थों में स्पष्ट है कि "चले वाते चलं चित्तं, निश्चले निश्चलं भवेत्। योगीस्थाणुत्वमाप्नोति, ततो वायुं निरोधयेत् ॥" इसका अर्थ पहले लिखा दिया गया है। विहंगम-मार्गी केवल सुरति-योग द्वारा मन को अन्तरङ्ग करते हैं, इसलिये 'बिना पवन बिना प्राणायाम' के कहा है ॥३॥ इस प्रकार सुरति-शब्द के मेल से सूखे सरोवर रूपी कल्पित अकह और अगम लोक में कल्पित आनन्द की तरंगें उठती हैं, और बिना ही आत्म-रूप जल के उक्त अनात्म (मिथ्या) सागर में चकवा = जीवात्मा (अज्ञानान्धकार से दुःखी होनेवाला) प्रमत्त होकर अविद्या रूपी चकई के साथ विहार करता है। भाव यह है कि उक्त योग द्वारा होनेवाले क्षणिक मनो-निग्रह से जो कुछ आन्तर सुख झलक जाता है, उसको भ्रम से लोक और धामों का सुख समझते हुये विहंगमी सदैव उसी चक्र में पडे रहते हैं ॥४॥ उक्त प्रकार से अभ्यास करके मनो-निग्रह द्वारा आत्म-कैवल्य ज्ञान से मुक्तिपद प्राप्त करनेवाले सुरति योगी (विहंगम-मार्गी) तो बहुत थोड़े होते हैं। अधिकतर तो सुनी-सुनायी ही करनेवाले होते हैं। ऐसे लोगों को मिथ्या पुराण-पाठी कहना चाहिये, जो स्वयं अनुभव न रखते हुए दूसरों को उपदेश देकर भटकाते हैं ॥५॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जो इस पद (निज-पद, आत्म-तत्त्व) को साक्षात् रूप से जानते हैं, वे उक्त सम्पूर्ण प्रपंचों से रहित होकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं। ऐसे ही सज्जनों को "सन्त" कहना चाहिये। यथा-'साधु संत तेई जना' (जिन्ह) मानल वचन हमार" ॥६॥

(१०२) शब्द।

हो दारीके ले देऊँ तोहि गारी,
तैं समुझि सुपंथ बिचारी ॥ १ ॥
घरहु के नाह जो अपना, तिन्हहुं से भेंट न सपना ॥२॥

ब्राह्मन[1] छत्री बानी, तिन्हहुं कहल नहिं मानी ॥३॥
जोगी जंगम जेते, आपु गहे हैं तेते ।४॥
कहंहि कबीर एक जोगी, वो तो भरमि भरमि भौ भोगी ॥५॥

शब्दार्थ—हो दारी = कुलटा । नाह = स्वामी, मालिक । आ०—चेतन, आत्मा । बानी = बनियां, वैश्य ।

[प्रेमोपालम्भ और दयापूर्वक उपदेश]

टीका – हे दारीके ! (कुलटा के पुत्र, माया को माता की तरह पूजनेवाले अज्ञानी जन) तुझको गाली देकर भी समझाता हूं । तूं समझ कर सत्य मार्ग का विचार कर। (सूचना – "राम रमे ते कुकरि के पूता ।" "सद्गुरु ऐसे चाहिये, गढ़ि-गढ़ि काढ़ैं खोट । भीतर रक्षा प्रेम की, ऊपर मारे चोट ॥" (कबीर साखी) । इस कथन के अनुसार यह "दारं के" शब्द प्रेम वचन है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये) ॥१॥ जो अपने हृदय के स्वामी "साहब" हैं उनसे तुम्हारा साक्षात्कार सपने में भी नहीं हुआ ॥२॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य; इन बड़े लोगों ने भी मेरे उपदेश को नहीं माना ॥३॥ और जितने योगी तथा जंगम हैं वे सब अपने-अपने अहङ्कार में पड़े हुए हैं ॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जीवात्मा तो वस्तुतः स्वयंसिद्ध एक विलक्षण योगी है; परन्तु सम्प्रति तो भ्रम-वश योग–भ्रष्ट होकर यह भोगी बन गया है । अतएव संसारोद्यान में घूम-घूम कर प्रमत्त भँवरे की तरह "कली-कली रस लेत" ॥ ५ ॥

(१०३) शब्द ।

लोगा तुमहीं मति के भोरा ।
जौं पानी पानी मंह मिलिगौ, त्यौं धुरि मिलै कबीरा ॥१॥
जो[2] मैं थीकौं सांचा व्यास, तोर मरन हो मगहर पास ॥२॥

---

१. छन्द दिगपाल—विशेष । (अर्थात् २४ मात्रात्मक "अवतारी") जात्यन्तर्गत-छन्दोविशेष । "दिगपाल छन्द सोई । सविता विराज दोई" ॥

२. पाठा०–क, " 'जौ' मिथिला का सांचा वास । तौंहि मरन हो मगहर पास" ।

मगहर मरै सो गदहा होय, भल परतीति राम सों षोय ॥ ३॥
मगहर मरे मरन नहिं पावे, अनते मरे तो राम लजावे ॥ ४॥
का कासी का मगहर ऊसर, हृदय राम बस मोरा ॥५॥
जो कासी तन तजइ कबीरा, रामहिं कवन निहोरा ॥६॥

शब्दार्थ—थीकौं = हूँ। निहोरा = सं० पु० [हि०] प्रार्थना। उ०–'जो कछु देवन मोहि निहोरा'। तु०।

[सम्वाद]

सूचना–मालूम होता है, काशी से मगहर जाते समय किसी मिथिला निवासी व्यासजी से कबीर साहेब का सम्वाद हुआ था। उसी सम्वाद का परिचायक यह पद्य है।

टीका – कबीर साहेब कहते हैं कि हे लोगो! तुम ही बुद्धि के भोले हो; क्योंकि तुम कहते हो कि, जैसे पानी पानी में मिल जाता है, इसी प्रकार शरीर छुट जाने पर जीवात्मा मिट्टी में मिल जाता है। सुतराम् देहात्मवादी अज्ञानियों की यह धारणा नितान्त ही भ्रम–मूलक है कि शरीर की पञ्चत्व-प्राप्ति की तरह जीवात्मा भी भूतों में विलीन हो जाता है ॥१॥ व्यास वचन-व्यास कहते हैं कि हे कबीर साहेब! मुक्ति-दायिनी काशी को छोड़ कर इस समय आप मगहर जा रहे हैं, तो यदि मैं सच्चा व्यास हूं तो आपका मरण मगहर के पास ही हो जायगा। मगहर में मरने से गदहा का जन्म होता है। (सूचना–थिकौं यह मिथिला भाषा है) ॥ २ ॥

"झ" पु० के पाठान्तर का अर्थ –

जिस प्रकार जानकीजी की जन्म-भूमि होने के कारण मिथिला मुक्ति-दायिनी है। इसी प्रकार ज्ञानी के लिए मगधादि निषिद्ध प्रदेश भी मुक्ति-दायक हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि मगहर में मरने से गदहे का जन्म होता है, ऐसा कहनेवाला राम–भक्त तो मुक्तिदाता राम के विश्वास को पूरी तरह खो रहा है ॥३॥ ज्ञानी पुरुष आत्माराम होते हैं; अतः निषिद्ध प्रदेश में शरीरान्त होने पर भी वे मुक्त हो जाते हैं। अतएव "पुनः मरन नहिं पावै"। क्योंकि

"न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते" यह श्रुति वचन है। "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।" (गीता) । यदि कोई राम-भक्त "काश्यां मरणान्मुक्तिः" इस अर्थवाद को सुन कर मुक्ति की इच्छा से काशी आदि क्षेत्रों में शरीर त्यागता है, तो वह क्षेत्र से राम को न्यून समझता हुआ उसका तिरस्कार करता है ॥४॥ यदि मेरे हृदय में 'राम, साहब' का निवास है, तो मेरे लिये पवित्र काशीपुरी और निषिद्ध मगहर तथा ऊसर भूमि आदिक सब समान हैं "तनुं त्यजतु वा काश्यां, श्वपचस्य गृहेऽथवा । ज्ञान-सम्प्राप्तिकाले वै, मुक्त एव न संशयः" ॥५॥ मुक्ति की इच्छा से यदि कबीर काशी में शरीर छोड़ता है तो फिर राम, साहब की स्तुति-प्रार्थना, उपासना किस काम में आवेगी ? भाव यह है कि काशी में मिलनेवाली मुक्ति में मुझको कोई विप्रतिपत्ति नहीं है; परन्तु मैं तो अपने राम (निजरूप) से मुक्ति लेने का इच्छुक हूँ । क्यों कि राम-द्वार (निजपद) पर आरुढ़ रहने वाले को वह अवश्य ही मिलती है "द्वारे धनी के पड़ि रहो, धन का धनी का खाय । कबहुंक धनी निवाजई, जो दर छांड़ि न जाय" ॥ ६ ॥

(१०४) शब्द ।

कैसे तरो नाथ कैसे तरो, अब बहु कुटिल भरो ॥ १ ॥
कैसी तेरी सेवा पूजा, कैसो तेरो ध्यान ।
ऊपर उजर देषो, बग अनुमान ॥ २ ॥
भाव तो भुजंग देषो, अति विभिचारी ।
सुरति सचान तेरी[1], मति तो मंजारी ॥ ३ ॥
अति रे बिरोधि देखो, अति रे दिवाना[2] ।
छव दरसन देषो; भेष लपटाना ॥ ४ ॥
कहंहिं कबीर सुनहु नल बंदा, डाइन डिंभ सकल जग षंदा ॥

शब्दार्थ—सचान = श्येन पक्षी, बाज । उ० "जिमि सचान बन झपटेउ लावा" । तु० । मंजारी = बिल्ली ।

१ पाठा०- च, छ, देषो । २, क, ज, सयाना

[सम्वाद और उपदेश]

सूचना–यह केवल वेषधारी किसी नाथ (गोरक्षनाथानुयायी) के साथ सम्वाद है। और वंचक भक्तों को उपदेश है।

टीका–हे नाथजी! केवल वेष के बनाने से तुम मुक्त कैसे हो जाओगे? क्योंकि तुम्हारे हृदय में अबतक भी बहुत सी कुटिलता भरी हुई है ॥१॥ कुटिलता होने के ही कारण तुम्हारी सेवा, पूजा और ध्यान किस काम का है? तुम बगुले की तरह ऊपर से तो उजले हो और भीतर से काले हो ॥२॥ अत्यन्त व्यभिचारी तुम्हारा मनो भाव देखो, सर्प की तरह जहरीला है। और तुम्हारी मनोवृत्ति और बुद्धि बाज पक्षी और बिल्ली की तरह विषयों को झपटनेवाली है ॥३॥ षट् दर्शन भेषधारियों में देखा जाता है, तो अधिकतर भेष ही के बनाने में लिपटे रहते हैं। और परस्पर अत्यन्त बैर और विरोध करके दिवानों (पागलों) की तरह लड़ते-मरते हैं ॥४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे नर, हे बन्दे! तुम सार बचन को सुनो। इस माया डाकिनी ने सारे संसार के अज्ञानी जन रूप बालकों को खा डाला है ॥ ५ ॥

(१०५) शब्द।

यह भ्रम-भूत सकल-जग षाया,
जिनिजिनि पूजा तिनि जहंडाया ॥ १ ॥
अंड न पिंड न प्रान न देही, काटि काटि जिव कौतुक देही ॥
बकरी मुरगी कीन्हेउ छेवा, अगिलि जनम उन अवसर लेवा ॥
कहंहि कबीर सुनहु नर लोई, भुतवा के पुजले भुतवा होई ॥

शब्दार्थ–जहंडाया = धोखा खाना। कौतुक = आश्चर्य। छेवा = प्रहार अवसर लेवा=बदला लेना।

[भ्रमभूत-विचार]

टीका–भूत-प्रेतों तथा मिट्टी आदि के बने हुए तामसी देवी-देवताओं को अपना रक्षक समझना रूप इस भ्रम-भूत ने सारे संसार को खा डाला। और जिन-जिन ने इसको पूजा वे सब धोखा खा गये ॥१॥ जड़मूर्तियों के प्राणादिक

नहीं होते हैं। फिर भी आश्चर्य है कि, बकरे आदि को काट-काट कर उनका बलिदान उन पर चढ़ाते रहते हैं ॥२॥ जिन बकरी और मुर्गी आदिकों का तुमने वध किया है, वे सब मारे हुये पशु अगले जन्म में तुमसे बदला लेंगे ॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि, हे अज्ञानी लोगो! सुनो, भूतों के पूजनेवाले अवश्य भूत होंगे। भाव यह है कि, उपासक को उपास्यरूपता प्राप्त हो जाना ही उपासनासिद्धि है। इस सर्वतंत्रसिद्धान्त के अनुसार यह कहा गया है कि, "भुतवा के पुजले भुतवा होई"। ठीक ही है, "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"। "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतिः। यहां पर भूत शब्द अनात्म–परक है। जैसा कि, गीता का वचन है कि– "भूतानि यान्ति भूतेज्या मद्भक्ता यान्ति मामपि।" "जो तन त्रिभुवन मांहि छिपावै। तत्तहिं मिलै, तत्त सो पावै"। (बीजक) ॥ ४ ॥

(१०६) शब्द।

भंवर उड़े बग बैठे आय, रैनि गई दिवसौ चलि जाय।
हल हल कांपे बाला जीव, ना जानौं का करिहैं पीव ॥१॥
कांचे बासन टिकै न पानी, उड़िगौ हंस काया कुंभिलानी।
काग उड़ावत भुजा पिरानी, कहंहिं कबीर यह कथा सिरानी॥

शब्दार्थ–बाला = प्रिय।

[अनात्मोपासकों का अन्तिम पश्चात्ताप]

टीका–काले भंवरे उड गये, और सफेद बगुले आ बैठे। अर्थात् बालों की स्याही चली गई और सफेदी आ गयी। रात बीत गयी और दिन भी चला जा रहा है, अर्थात् जवानी बीत गई, और बुढ़ापा भी कच्छप चाल से चल रहा है। प्रिय प्राण छटपट करके कांप रहे हैं कि, मेरे स्वामी, साहब, पति प्रभु न जाने क्या करेंगे ? ॥ १ ॥ कच्चे घड़े में पानी नहीं ठहर सकता है, अर्थात् क्षण-भंगुर शरीर में जीवात्मा चिरस्थायी नहीं हो सकता है। सुतराम् जीवात्मा के निकल जाने पर शरीर कुंभला गया (मुर्दा हो गया)। (सूचना-प्रोषित पतिका विरहिणी स्त्री प्रिय-आगमन की जिज्ञासा से हाथ उठाकर

काग को उड़ाने के लिये चेष्टा किया करती हैं, ऐसी प्रथा है)। कौवे को उड़ाते उड़ाते हाथ भी थक गया। भाव यह है कि, मिथ्या आशा में पड़ कर इष्ट सिद्धि की प्रतीक्षा करते करते सारे प्रयत्न विफल हो गये। और आशा निराशा में परिणत हो गयी। ("प्राप्तः काणवराटकोपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम्" (भर्तृहरि)। हे तृष्णे! तेरे फेर में पड़ने से तो मुझे फूटी कौड़ी भी नहीं मिली अब तो हे देवि! मेरा पीछा छोड़।) कबीर साहेब कहते हैं कि, अन्त समय में यह जीवन–कथा भी ठण्डी पड़ गयी, अर्थात् जीवन–नाटक का अन्तिम जवनिका–पात हो गया। (जीवन–कथा समाप्त हो गयी)॥ २॥

(१०७) शब्द।

षसम बिनु तेलो को बैल भयो।
बैठत नाहिं साधु की संगति, नाधे जनम गयो॥ १॥
बहि बहि मरहुं पचहु निज स्वारथ, जम को डंड सहौ।
धन दारा सुत राज--काज हित, माथे भार गह्यो॥ २॥
षसमहिं छांड़ि विषय रंग राते, पाप के बीज बयो।
झूठी मुकुति नल आस जिवन की, उन्हि प्रेत का जूठ षयो॥
लष--चौरासी जीव जंतु महं, सायर जात बह्यो।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, उन्हि स्वान कि पूंछ गह्यो।४।

शब्दार्थ–नाधे=क्रि० सं० [हि० नधना] [सं नद्ध=न (प्रत्य.)] रस्सी या तस्मै के द्वारा बैल, घोड़े आदि का उस वस्तु के साथ जुड़ना या बंधना जिसे उन्हें खींच कर ले जाना हो, जुतना, किसी कार्य में लगे रहना। उ० 'बहुत वृषभ बहलन मह नाधे' (रघुराज)। माथे = क्रि० वि० [सं० मस्तक। हि० माथ] मस्तक पर। शायर = शरीर।

[कर्म और कामनाओं का विचार]

टीका–हे अज्ञानी जीव! तू अपने स्वामी, साहब के परिचय के बिना तेली का बैल बन गया। अर्थात् आत्म–विस्मृति के कारण तू देव–पशु बन

गया ! तुम कभी सन्तों की संगति में नहीं बैठते हो; अतएव कामना के कोल्हू में जुते-जुते तुम्हारा जन्म बीत गया। अर्थात् नाना सकाम कर्म रूपी जूए में जुते हुए तुम्हारा जीवन समाप्त हो गया ॥१॥ तुम अपनी इष्ट-सिद्धि के लिये सकाम कर्मों में जुटकर मरते पचते रहते हो, और इसीलिये यमराज का दण्ड भी सहते हो। देखो-धन, स्त्री-पुत्र और राज-काज के लिये तुमने अपने सिर पर प्रपञ्च का भारी बोझा उठा लिया है ॥२॥ अपने स्वामी = साहब को छोड़ कर तुम विषय के रंग में रंग गये। यही तुमने पाप के बीज बो दिये हे नर! स्वर्ग की प्राप्ति मिथ्या मुक्ति है; क्योंकि, वह तो चिर भोगेच्छा का रूपान्तर है। क्यों कि, "अपाम सोमममृता अभूम" हमने सोमरस पिया, और अमर हो गये। यह श्रुत्युक्त देववचनानुवाद है। जो झूठे स्वर्गसुख की आशा करते हैं, वे भूत की लाई हुई जूठी मिठाई (अपवित्र वस्तु) को खाते हैं। भाव यह है कि, स्वर्ग-सुख कोई अभुक्त और अयात-याम वस्तु नहीं है कि, जिसके लिये इस प्रकार घोरातिघोर भगीरथ प्रयत्न किया जाय। हां, मुक्ति-सुख अवश्य अभुक्त-पूर्व और सुसाध्य है ॥३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि, पुण्य-क्षय के कारण अति प्रयत्न से प्राप्त हुये स्वर्ग-रूपी तृणावलम्बन के छूट जाने पर पुनः प्रारब्धानुसार चौरासी-धारा में बहते हुए अज्ञानी लोग कुत्ते की पूंछ पकड़ कर भवसागर से पार होना चाहते हैं। भाव यह है कि, "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" इस श्रुति के अनुसार बिना ज्ञान के केवल सकाम यागादिकों से मुक्त नहीं हो सकते हैं। ठीक ही है, "भादो-नदी और भेड़-पूंछ, कैसे उतरै पार। कहंहिं कबीर सुनो हो संतो, बूड़ि जाय मंझ धार" ॥४॥

(१०८) शब्द।

अब हम भइलिं बाहिरि जल मीना,
पूरब जनम तप का मद कीन्हा ॥ १ ॥

तहिया मैं अछलों मन बैरागी, तजलौं लोग कुटुम राम लागी ॥
तजलौं मैं कासी मति भई भोरी, प्राननाथ कहु का गति मोरी ॥
हमहिं कुसेवक कि तुमहिं अयाना, दुइ महं दोष काहि भगवाना?

हम चलि अइलौं तुहरे सरना, कतहुँ न देखौं हरिजि के चरना ॥
हम चलि अइलौं तुहरे पासा, दास कबीर भल कयल निरासा ॥

शब्दार्थ–अछलौं = था । छलौं माने था । इसीका अपभ्रंश अछलौं है ।

सूचना–इस पद्य में भक्तों की भगवद्दर्शनोत्कण्ठा तथा अधीरता, विरह-कातरता और करुणा का वर्णन है ।

[काशी-काया-वियोग (उपासकों की अन्तिमावस्था)]

टीका–अन्त समय में भी भगवान के दर्शन नहीं होने से अब हम जल से बाहर निकाली हुई मछली के समान हो गये । मालूम होता है कि, पहले जन्म में किये तप का अहंकार हमको हो गया था कि, तप के प्रताप से मुझे दर्शन अवश्य हो जायेंगे ॥१॥ राम-मिलन की साधारण इच्छा होने के समय मेरे मन में वैराग्य हुआ। फल-स्वरूप राम-मिलन की प्रबल इच्छा से कुटुम्बी लोगों का परित्याग करके मैं एकान्त वासी हो गया ॥२॥ हे भगवन् मेरी बुद्धि भोली हो गई, इसलिये मुक्तिदायिनी सुप्रसिद्ध काशी का आपके भरोसे मैने त्याग कर दिया । और अब तो कायारूप काशी को भी छोड़ रहा हूं । "मन मथुरा दिल द्वारिका, काया काशी जान । दसौं द्वारका देहरा, तामें जोति पिछान" ॥ "दोनों दीन से गये पांड़े" इस कहावत के अनुसार इस दशा में हे प्राणनाथ ! मेरी क्या गति होगी, इसको आप ही कहिये ? ॥३॥ हे भगवन ! यह तो बताइये कि, हमही कुसेवक हैं कि, आप ही हमारी सेवा से अनभिज्ञ हैं ? । भला, हम दोनों मे से किसका दोष है ? मेरी बात को देखिये कि, मैं तो सब छोड़छाड़ कर आपकी शरण में आगया, आपका होगया; परन्तु आपके चरण तो मेरी दृष्टि में कही नहीं आ रहे हैं । आपने तो मुझे नहीं अपनाया ? दर्शन नहीं दिया ? ॥४॥ मैं तो अशरण-शरण समझ कर आपके चरणों में चला आया; परन्तु आपने तो अपने भक्त को निराश किया ! यह कार्य आपकी दीन-दयालुता और भक्त-वत्सलता के अनुरूप नहीं था ? ॥ ५ ॥

(१०६) शब्द ।

लोग बोलैं दुरि गये कबीर, या मति कोई जानेगा धीर ॥

दसरथ-सुत तिहु लोकहिं जाना, राम नाम का मरम है आना।
जिहि-जिव जानि परा जस लेषा, रजुका कहै उरग सम पेषा।।
जदपि फल उत्तिम-गुन जाना, हरि छोड़ि मन मुकुती उनमाना[1]।
हरि अधार जस मीनहिं नीरा, अवर जतन किछु कहंहिं कबीरा।।

शब्दार्थ—उरग = सांप।

सूचना—यहां पर 'कबीर' शब्द "काया—वीर कबीर" इस कथन के अनुसार जीवात्मापरक है।

[अवतारोपासना का विचार]

टीका—प्राकृत जन कहते हैं कि, अवतारों के उपासक भक्त दूर पहुँच गये, अर्थात् मुक्त हो गये। इस रहस्य को कोई परीक्षक ही जानेगा। भाव यह है कि, मायिक अवतारों की उपासना से मुक्ति नहीं मिल सकती है। "दस अवतार ईसरी माया, करता कै जिन पूजा। कहंहि कबीर सुनहु हो संतो, उपजै षपै सो दूजा" ।। १ ।। प्रायः सब लोग 'राम' का अर्थ दशरथ-सुत रामचन्द्र जानते हैं; परन्तु राम का रहस्य कुछ और ही है। "रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामः" इस निरुक्ति से राम का मुख्य अर्थ'शुद्ध चेतन है। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"। "हृदया बसे तिहिं राम न जाना"। यह ठीक है कि, भ्रमादि के कारण जो जैसा देखता और जानता है वह वैसा ही कहता है। "जैसी जाकी बुद्धि है, वैसी कहै बनाय। ताहि दोष नहीं दीजिये, लेन कहां को जाय" ।। भ्रम से तो रस्सी को भी सांप समझ लेते हैं; परन्तु वह सर्प नहीं हो सकती है ।।२।। यद्यपि पुरुषोत्तम होने के कारण अवतार (रामचन्द्रादिक) हमारे आदर्श हैं; अतः उन के सत्पथ का अनुसरण और सद्गुणों का धारण करना सर्वोत्तम फलदायक है; तथापि हृदय-निवासी राम (निजपद) से विमुख होकर मुक्ति को चाहना केवल कल्पना मात्र ही है। ज्ञानी भक्तों की तो यही स्थिति है कि, "हरि अधार जस मीनहि नीरा"। परन्तु कबीरा=कर्मी और साधारण उक्त उपासक इस मत

[1] पाठा०—क, नहिं मानी।

से सहमत नहीं हैं। इसलिये वे मुक्ति के साधन कुछ और ही और बतलाया करते हैं। ठीक ही है--"जल परिमानै मांछली, कुल परिमानै शुद्धि। जैसा जाको गुरु मिला, तैसी ताकी बुद्धि" ॥ ३ ॥

(११०) शब्द।

अपनो करम न मेटो जाई।
करमक लिषल मिटै धौं कैसे, जो जुग कोटि सिराई ॥१॥
गुरु बसिष्ठ मिलि लगन सुधायो, सुरज मंत्र एक दीन्हा।
जो सीता रघुनाथ बिआही, पल एक संचु न कीन्हा ॥२॥
तीनि लोक के करता कहिये, बालि वधो बरियाई।
एक समै ऐसी बनि आई, उनहूँ अवसर पाई ॥३॥
नारद मुनि को बदन छिपायो, कीन्हो कपि सो रूपा।
सिसुपालहु की भुजा उपारी, आपु भये हरि ठूंठा ॥४॥
पारबती को बांझ न कहिये, इसर न कहिये भिषारी।
कहहिं कबीर करता की बातें, करमकि बात निनारी ॥५॥

शब्दार्थ--संचु = सुख। बरियाई = क्रि० वि० [सं० बलात्] जबरदस्ती उ०--'मो कहं राज दीन बरियाई'। तु०। उपारी = उखाड़ना। इसर = महादेव। निनारी = अलग, जुदा, भिन्न, न्यारी।

[प्रारब्धफल--विचार]

टीका--अपना किया हुआ कर्म मिटाया नहीं जा सकता है। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि"। "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि" इत्यादि कथन तो प्रारब्धेतर कर्मपरक है। अतः विरोध नहीं है। अनेक कोटि युगों के बीतने पर भी भला, कर्म का लिखा हुआ कैसे मिट सकता है? ॥१॥ देखो, कुल-गुरु वशिष्ठजी ने अन्य ऋषियों से परामर्श करके रामचन्द्रजी के विवाह के लिये शुद्ध लग्न ठहराया। और विघ्न-बाधाओं को दूर करने के लिये रामचन्द्रजी से सूर्य-मन्त्र का जाप भी करवाया। पश्चात् सीताजी के साथ

रघुनाथजी का विवाह भी हुआ; परन्तु सीताजी के साथ रामजी ने यौवराज्य का सुख पल भर भी नहीं उठाया ।।५।। देखो, रामजी तीन लोकों के कर्ता कहलाते थे । उन्होंने छल-पूर्वक बलात्कार से वाली का वध किया । "धरम हेतु अवतरेहु गुसांई । मारेउ मोहि व्याध की नांई" । परन्तु एक समय ऐसा आ गया कि, वाली को भी कृष्णावतार में (जरा नामक व्याधा, भील रूप से) अपना बदला लेने का अवसर मिल गया ।।३।। विष्णु ने परम सौन्दर्याभिलाषी नारद जी का मुख वानर के समान बना दिया । इस कारण उन्होंने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया । परिणाम स्वरूप सीता का अपहरण हुआ । कृष्णचन्द्रजी ने शिशुपाल की भुजाओं को उखाड़ दिया । इस कारण जगन्नाथ पुरी में (बुद्ध रूप से) भगवान को हाथों से ठूंठा होना पड़ा ।।४।। पार्वतीजी को वन्ध्या नहीं कहना चाहिये । और ईश्वर महादेवजी को भी "भीख मांगि भव खाहिं" के अनुसार भीखारी नहीं कहना चाहिये; क्योंकि, यह उनका कर्मदण्ड है । "शम्भुर्येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः । ...तस्मै नमः कर्मणे" । "ईश्वरः शर्व ईशानः शङ्करश्चन्द्रशेखरः" (अमर) । कबीर साहेब कहते हैं कि, मैंने कर्म करने वाले अवतारी कर्ता पुरुषों की बातें बतलाई हैं । सचमुच "गहना कर्मणो गतिः" के अनुसार कर्म की बात विचित्र है (न्यारी है) । भाव यह है कि, कर्ता कर्म करने में स्वतन्त्र है । "स्वतन्त्रः कर्ता" १।४।५४ । (पाणिनीय सूत्र) । इस लिये विमर्श-पूर्वक (विवेक और विचार से) कार्य करना चाहिये । "सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्" (भारवि) । "तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति" इस कथन के अनुसार किये हुये शुभाशुभ कर्मों का यह नियम है कि, वे फल रूप को धारण करके दीवार में मारे हुए पत्थर की तरह कर्ता ही को लग जाते हैं; क्यों कि "यः कर्ता स एव भोक्ता" । यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है ।। ५ ।।

(१११) शब्द ।

है कोई गुरु ग्यानी जगत्र महं, उलटि बेद बूझै ।
पानी महं पावक बरै, अंधहि आंखिन सूझै ।। १ ।।

गाय तो नाहर षायो, हरनै षायो चीता ।
काग लगर फांदिके, बटेर बाज जीता ॥ २ ॥
मूसे तो मंजार षायो, स्यार षायो स्वाना ।
आदि को ऊदेश जाने, तासु बेस बाना ॥ ३ ॥
एक ही दादुल षायो, पांच हूं भुवंगा ।
कहंहिं कबीर पुकारी के, हैं दोऊ एक संगा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—नाहर = सं० पु० [सं नरहरि] सिंह। आ०—जीव। मंजार = बिडाल। दादुल = मेंढक। भुवंगा = सांप।

[जीव पर मन की सेना का आक्रमण]

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, कोई ऐसा ज्ञानी गुरु है कि जो इस उल्टे वेद (ज्ञान, समझ) को समझे। भाव यह है कि अज्ञानियों की समझ उलटी होती है। इस कारण वे हित को अहित और अहित को हित समझ लेते हैं। अतएव उनको समझा बुझा कर सुमार्ग पर लाना चाहिये। "सोई हित बन्धू मोहि भावे, जात कुमारग मारग लावे"। अब अज्ञानियों की मति का उल्लेख करते हैं—

अज्ञानी लोग अपने विवेक दृष्टि को खोकर इतने अन्धे हो गये हैं कि पानी में (उनके हृदय में) पावक (त्रितापाग्नि) सदैव जलती रहती है। फिर भी उन अन्धों को मानो आखों से प्रपंच ही सूझता रहता है। किसी उर्दू कवि ने ठीक ही लिखा है कि-"अन्धे को अन्धेरे में बड़ी दूर की सूझी"। भाव यह है कि, अविवेकी लोग अज्ञानवश अनेक अनर्थ करते हुये उनके सन्ताप कारक फलों को भोगते रहते हैं ॥१॥ यह देखिये, कैसा आश्चर्य है कि, गाय (माया) ने नाहर = सिंह (जीवात्मा) को खा डाला। हिरण (तृष्णा) ने चीता (संतोष) को पछाड़ मारा। (सूचना-अविद्या मलिन सत्व-प्रधान होती है और माया शुद्ध सत्व-प्रधान होती है। इस अभिप्राय से "सिंहो माणवकः" की तरह गौणी लक्षणा के द्वारा माया को गाय कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी गौणी लक्षणा जानना चाहिये। और भी सुनिये कौवे ने अर्थात अविवेकने लगर

(एक शिकारी पक्षी अर्थात् विवेक) को अपने पंजे में फंसा लिया तथा बटेर (अज्ञान) ने बाज (ज्ञान) को जीत लिया ॥ २॥ मूस (भय) ने बिलाव (निर्भयता) को खा लिया और सियार (मन) ने श्वान (अज्ञानी) को खा लिया। कबीर गुरु कहते हैं कि, अज्ञानता के कारण ये सब अनर्थ हो रहे हैं; अतएव "जासे नाता आदिका, विसरि गयो सो ठौर" इस कथन के अनुसार अपने सच्चे बन्धु आदि मित्र "आत्मा" के उपदेश को जो जानता है और मानता है उसी पुरुष का बाना (झण्डा), भेष बनाना "वेस" अच्छा है। भाव यह है कि, ऐसे ही पुरुषों को धर्म का बाना धारण करना शोभा देता है कि, जो "अविभक्तं विभक्तेषु, यः पश्यति स पश्यति" अर्थात् जो देहों की विभिन्नता होने पर भी एक रूप से सब में मिले हुए "आत्म-तत्त्व" को समझ कर सबों के साथ आत्मीय व्यवहार करते हैं; क्यों कि, "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् ज्ञानी लोग सारी ही पृथ्वी को अपना कुटुम्ब समझते हैं। आत्मा का यह उपदेश है कि, "श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुतं चाप्यव-धार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" ॥ अर्थात् ऐसा बर्ताव दूसरों के साथ न करना चाहिये, जिसको तुम स्वयं (अपने लिये) न चाहते हो। अज्ञानियों की तो यह दशा है कि, "बिना ज्ञान का जोगना, फिरै लगाये खेह" ॥३॥ यह भी एक बड़ा अचरज जान पड़ता है कि, एक ही दादुर मेंढक (भ्रम) ने पांच भुजंगों (सर्पों) को अर्थात् ज्ञान, विवेक, वैराग्य, शम और दम को खा लिया। कबीर साहब पुकार कर कहते हैं कि, हे भाइयो! पूर्वोक्त शुभाशुभ गुणों के रहने का स्थान हृदयरूप एक ही घर है। विशेषता यही है कि, इनमें जो प्रबल होता है, वह अपने वैरियों को मार भगाता है। यही शुभाशुभ गुण दैवी-सम्पत्ति तथा आसुरी सम्पत्ति के नाम से भी प्रसिद्ध हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकार से देवासुर-संग्राम सदैव हुआ करता है; अतः मुमुक्षुओं को उचित है कि, उक्त शत्रुओं से सदैव सजग रहें ॥ ४ ॥

११२ (शब्द)

झगरा एक बढ़ो राजाराम, जो निरुवारै सो निरबान।
ब्रह्म बडा की जहां से आया, वेद बडा की जिन्हि उपजाया॥

ई मन बडा कि जेहि मन माना, राम बडा कि रामहिं जाना।
भ्रमि-भ्रमि कबीरा फिरै उदास, तीरथ बडा कि तीरथ के दास॥

शब्दार्थ – निरवान = मोक्ष, मुक्ति ।

[आत्म-दर्शन तथा आत्म-परिचय]

टीका—हे राजाराम ! यह एक बड़ी भारी उल्झन पड़ गयी है । इसको जो ठीक तरह सुरझा लेगा वही मुक्त हो जायगा। भाव यह है कि, कर्ता और कृत्रिम (जड़-चेतन तथा कल्पिताकल्पित) को ठीक-ठीक पहचानना यह एक बड़ी भारी समस्या है। इसको जो हल करता है वही मुक्त होता है । "यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" । (गीता) । प्रयत्न करनेवाले सिद्धों में भी कोई मुझे ठीक तरह जानता है । "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" । जो आत्म-देव सृष्टि की आदि में ब्रह्माजी को उत्पन्न करके उनको वेदों को देता है । उस आत्म-देव की मैं शरण में हूँ। इस श्वेताश्वतर श्रुति के अनुसार धाता (ब्रह्माजी) और वेद बड़े हैं, अथवा उनके भी विधाता (जनक) आत्मदेव बड़े हैं ? ॥ १ ॥ "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम्" अर्थात् जो मन से नहीं जाना जाता है, किन्तु जो मन को जानता है वही परम तत्त्व है । इस कठोपनिषद के अनुसार मन रूपी तरंग बड़ी है ? अथवा उसका भी आश्रयभूत अपार-पारावार चेतन महोदधि बड़ा है ? एवं भक्तों के ज्ञान और ध्यान के विषय-भूत सादि राम (अवतार) बड़े हैं ? अथवा उनको अपने मनो-मन्दिर में प्रतिष्ठित करनेवाले राम-भक्त बड़े हैं ? "नेदं यदिदमुपासते" अर्थात् जिसकी उपासना की जाती है, वह परम तत्व नहीं है । यह श्रुति तो इस प्रश्न का स्पष्ट ही उत्तर दे रही है । "मोरे मन प्रभु अस विस्वासा । राम से अधिक राम कर दासा" । (रामायण) । इत्यादि वचनों के आकलन से भक्ति-दृष्टि से भी रामभक्त राम जी से बड़े हैं ।

सर्वभूत-हृदय निवासी प्रत्यक्ष राम (चेतन देव) को न जाननेवाले कबीरा = अज्ञानी लोग उससे मिलने के लिये अनेक तीर्थों में भ्रमण किया करते हैं । और वहां पर भी न मिलने के कारण सदैव निराश और उदास (खिन्न) रहा करते हैं; क्योंकि उनको यह ज्ञात नहीं है कि, ये स्थावर तीर्थ बड़े हैं ? । अथवा इन्हीं के बनानेवाले जंगम-तीर्थ, सच्चे तीर्थ-दास

सन्त सज्जन बड़े हैं ? । "गङ्गा ब्रूते कदागत्य मामयं तारयिष्यति" । अर्थात् "बालापन से हरि भजे, जग से रहे उदास । तीरथ हूँ आशा करै, कब आवै वह दास" ॥ यह ज्ञात होना चाहिये कि, ये सब तीर्थ महात्माओं के तपोऽनुष्ठान से विनिर्मित हुये हैं । जैसे कि बुद्धगया में बोधी-वृक्ष के नीचे बुद्ध भगवान ने बुद्धत्व का लाभ किया । इस कारण वह तीर्थ बन गया इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये ॥ २ ॥

भावार्थ—आत्म ज्योति सब की प्रकाशक है, अतः उसीका साक्षात्कार करना चाहिये । "तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।" (गीता) ॥२॥

(११३) शब्द ।

झूठे जनि पतियाउ हो, सुनु संत-सुजाना ।
तेरे घट ही में ठग-पूर है, षोवहु अपना ॥ १ ॥
झूठे का मंडान है, धरती असमाना ।
दसहूं दिसा वाकि फंद है, जिव घेरै आना ॥ २ ॥
जोग जाप तप संजमा, तीरथ व्रत दाना ।
नौधा बेद कितेब हैं, झूठे का बाना ॥ ३ ॥
काहू के बचनहिं फुरै, काहू करमाती ।
मान बड़ाई ले रहे, हिंदू तुरुक जाती ॥ ४ ॥
बात ब्योंते असमान की, मुदती नियरानी ।
बहुत षुदी दिल राषते, बूडे बिनु पानी ॥ ५ ॥
कहहिं कबीर कासों कहौं, सकलो जग अंधा ।
सांचा सो भागा फिरै, झूठे का बंदा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—मंडान = पसारा वा रचना । नौधा = नवधा भक्ति । फुरै = वचन सिद्धि । उ०—'तोर कहां फुर जेहि दिन होई' । तु० । मुदती = स० स्त्री० [अ० मुद्दत] अवधि । आ०-आयु । षुदी = सं० पु० [फा०] अहंभाव, अहंकार । बंदा = दास ।

[मन का साम्राज्य]

टीका—हे सन्तो! और हे सज्जनो! आप लोग इस झूठे मन का विश्वास न करिये। "मन लोभी मन लालची, मन चंचल मन चोर। मन के मते न चालिये, पलक पलक मन और" ।। (कबीर साखी)। उस ठग का गांव तेरे हृदय में ही है; अतः सचेत होकर अपने धन (ज्ञानादिक) को मत खोओ ॥ १ ॥ धरती से आसमान तक इस झूठे का ही पसारा या रचना है। भाव यह है कि, सर्वत्र फैली हुई मनोमयी विकल्प–वागुरा नर–पशुओं को फंसाती रहती है। इतना ही नहीं, दशों दिशाओं में उसीका बनाया हुआ कर्मों का जाल फैला हुआ है, जिसमें कि, वह अज्ञानी जीवों को ला-ला कर और घेर–घेर कर फंसाता रहता है ॥ २ ॥ देखिये, योग, जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत, दान, नवधा–भक्ति, वेद और कुरान; इन सब पर भी इस झूठे का झण्डा फहरा रहा है। अर्थात् इस बावन (ओछे) मन ने उक्त योगादि रूप अभ्रंकष अट्टालियों पर भी अपनी विजय–वैजयन्ती फहरा दी। और सब से बड़ा आश्चर्य तो यह है कि, इसने अकेले ही ईश्वरीय और खुदाई ग्रन्थ वेद और कुरान रूपी दुर्गम–दुर्गों को भी बात की बात में हस्तगत कर लिया। भाव यह है कि, धर्म–ध्वजी लोग धर्म और दीन की दुहाई देकर टट्टी के आड़ में शिकार की तरह धर्म की आड़ लेकर अनेक अत्याचार करते रहते हैं। देखो, इन अच्छे कार्यों में भी प्रपञ्चियों ने अपना पंजा फैला दिया है ॥ ३ ॥ ये ऋद्धियां और सिद्धियां भी मनःसंयम के ही खेल हैं। देखिये, किसी को वचन–सिद्धि मिल गयी है, तो किसी को कोई दूसरी करामात मिल गई है। इस प्रकार हिन्दू और तुरुक दोनों जातियों के सिद्ध लोग संसार में मान और बड़ाई को प्राप्त कर रहे हैं ॥ ४ ॥ बातों से तो ये आसमान को भी नाप डालते हैं, परन्तु यह कभी नहीं सोचते कि हमारी मृत्यु तो निकट चली आयी है। ठीक ही है, "ओटत कातत जन्म सिराना" इसके अनुसार पक्के प्रपञ्चियों की उधेड़–बुन और ताना बाना अंत तक नहीं छूटता है। अपने दिल में सिद्धियों का अहंकार रखनेवाले महा अहंकारी लोग भ्रम रूपी भँवर में पड़ कर डूब गये ॥५॥ कबीर साहेब कहते हैं कि, विवेक के नहीं रहने से प्रायः सारा ही जगत तो अन्धा बना हुआ है। देखो, ये लोग घट-घट निवासी सच्चे राम

या खुदा से विमुख होकर केवल पानी और पत्थरों में, तथा सातवें आसमान पर रहनेवाले झूठे राम और खुदा के दास और बन्दे बने रहते हैं। और अनेक अनर्थों से संसार को उत्पीडित करते रहते हैं। "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति" (गीता)। "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्"। "हृदया बसे तेहि राम न जाना" तथा "घट-घट है अविनासी, सुनहु तकी तुम सेष" (बीजक)। भजन—"माया के गुलाम गीदी का जानेंगे बंदगी। साधुन से घूम-घाम चोरन के करते काम। हरामी से हाथ जोडे गरीबो से रंदगी। माया के गुलाम०" ॥५॥

(११४) शब्द।

*सार सब्द से बांचि हो, मानहु इतबारा हो ॥ १ ॥
आदि पुरुष एक ब्रिच्छ है, निरंजन डारा हो।
तिरि—देवा साषा भये, पत्ता संसारा हो ॥ २ ॥
ब्रह्मा बेद सही कियो, सिव जोग पसारा हो।
बिस्नु माया[1] उतपति किया, उरले व्यवहारा हो ॥ ३ ॥
तीन लोक दसहूँ दिसा, जम रोकिन द्वारा हो।
कीर भये सब जीयरा. लिये विष का चारा हो ॥ ४ ॥
जोति—सरूपी हाकिमा, जिन अमल पसारा हो।
करम कि बंशी लाय के, पकर्यो जग-सारा हो ॥ ५ ॥
अमल मिटावौं तासुका, पठवौं भवपारा हो।
कहंहिं कबीर निरभय करौं, परखौं टकसारा हो ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—कीर = सं०पु० (सं०) शुक, सुग्गा, तोता। अमल = सं०पु० [अ०] अधिकार। टकसार = सं०स्त्री० [हि० टकसाल] ऊँची प्रमाणिक वस्तु।

सूचना—"सार शब्द निरनय को नामा, जाते होय जीव को कामा"। इसके अनुसार निर्णायक वचन (तत्त्वोपदेश) को सारशब्द कहते हैं।

---

* ये दोनों उपमान छन्द हैं। लक्षण "तेरह दस उपमान रच, दै अन्तै कर्णा"। अर्थात् १३ और १० मात्राओं के विश्राम से 'उपमान' छन्द सिद्ध होता है। अन्त में 'कर्णा' दो गुरु होते हैं।

१ पाठा०—ल, व, दया। २ ज, क्र, परले।

[तत्त्वोपदेश]

टीका—हे जिज्ञासु जन! आप लोगों की रक्षा सारशब्द में होगी। इसका विश्वास आप सब करिये ॥१॥ निर्विशेष चेतन ही एक वृक्ष रूप से विद्यमान है। जैसा कि, अद्वैत-सिद्धि में लिखा है कि, "आश्रयतत्वविषयत्व-भागिनी निर्विशेषचितिरेव केवला" अर्थात् निर्विशेष चेतन ही सब का आश्रयादिक है और पारिभाषिक निरंजन (शबल ब्रह्म) ही इस संसार-वृक्ष की डाली है और तीनों देवता (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) इसकी शाखाएँ हैं और सारा संसार इसके पत्ते हैं ॥२॥ ब्रह्माजी ने वैदिक कर्मकाण्ड को ठीक किया और शिवजी ने योग-मार्ग का फैलाव किया। विष्णु भगवान ने उपासना-काण्ड को उत्पन्न किया। ये तीनों व्यवहार सृष्टि की उत्पत्ति के पीछे के हैं। यमराज ने तीनों लोक और दशों दिशाओं में कर्म का ऐसा जाल फैला दिया कि उसने मुक्ति के द्वार को ही रोक दिया। और उसी जाल में अज्ञानी लोग विषयों के फैले हुये चारे को देख कर सुग्गों की तरह फंस गये ॥४॥ निरंजन निराकार ज्योतिः-स्वरूप (मन) इस संसार का हाकिम है, जिसने कि सब जगह अपना अधिकार फैलाया है। और उसीने सकाम कर्मों की वंसी डालकर संसार-समुद्र में सारे अज्ञानी-जन रूपी मछलियों को पकड़ लिया है। "मैं सिरजौं मैं मारऊँ, मैं जारौं मैं खाउँ। जल थल मैं ही रमि रहौं, मोर निरंजन नाम"। "एकल निरंजन, सकल सरीरा। तामें भ्रमि भ्रमि रहल कवीरा"। (वीजक)। "दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्प-मस्तु"। (यजुर्वेद)। हे भगवन्! वह मेरा मन कल्याणकारक सङ्कल्पवाला बने जो कि दूर जानेवाला है और इन्द्रियादिक प्रकाशकों का भी प्रकाशक है ॥५॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यदि आप लोग मेरी शिक्षा को मानकर और मन की दासता को छोड़कर 'रामदास' (विश्व-बन्धु) बन जायेंगे तो मैं तुम्हारे ऊपर वर्तमान निरंजन (यमराज) के आधिपत्य को मिटाकर तुमको निर्भय कर दूंगा। और संसार-सागर से भी पार कर दूंगा। ("परतिय मातु समान, परधन धूरि समान। इतने में हरि ना मिले, तुलसीदास जमान"।) "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः"। अर्थात् जिनका मन शान्त हो गया, उसने जीतेजी संसार को जीत लिया। यह मेरा कहा

हुआ सिद्धान्त वाक्य है। इसकी आप लोग खूब परीक्षा कर लीजिये, "वारि मथे वरु होय घृत, सिकता ते वरु तेल। बिनु हरि भजन न भव तरे, यह सिद्धान्त अपेल" ॥ (रामायण) ॥ ६ ॥

[सूचना—'टकसार' या 'टकसाल' उस स्थान का नाम है, जहां पर सरकारी सिक्के (अशर्फी वगैरह) ढाले जाते हैं। टकसार एक प्रमाणिक स्थान होता है; अतः गौणी लक्षणा से "सिंहो माणवकः" की तरह सिद्धान्त वचन सारशब्द आदिक भी टकसार कहे जाते हैं।]

(११५) शब्द।

संतो ऐसी भूल जग मांहीं, जाते जीव मिथ्यामें जाही ॥१॥
पहिले भूले ब्रह्म अषडित, झांई आपहु मानी।
झांई में भूलत इच्छा कीन्ही, इच्छा ते अभिमानी ॥२॥
अभिमानी करता हो बैठे, नाना ग्रन्थ चलाया।
वोाह भूल में सब जग भूला, भूल का मरम न पाया ॥३॥
लष-चौरासी भूल ते कहिये, भूल ते जग बिटमाया।
जो है सनातन सोई भूला, अब सो भूल हि षाया ॥४॥
भूल मिटै गुरु मिलैं पारषी, पारष देहिं लषाई।
कहहिं कबीर भूल की औषध, पारष सब की भाई ॥५॥

शब्दार्थ—झांई = सं० स्त्री० [सं० छाया] परछाईं, प्रतिबिंब, आभा, झलक। उ०- 'कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महं प्रकट भूमि की झांई'। तु०।

[स्वरूप—विस्मृति का वर्णन]

टीका—हे सन्तो ! संसार में ऐसी अविद्या फैली हुई है कि, जिसके कारण जीवात्मा असत्माया और उसके कार्य में फंस जाता है ॥ १ ॥ सबसे पहले शुद्ध ब्रह्म माया-शबल, मायासंयुक्त हुआ। इस कारण उसने अपने में छाया (स्फूरन रूप माया) को स्वीकार किया। "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति"। (ऐतरेयोपनिषद् अध्याय १, खण्ड १ मन्त्र १)। सृष्टि के पहले

यह आत्मा अकेला ही था। और दूसरा कुछ भी नहीं था। उसने अपने में ईक्षण किया कि, मैं लोकों को उत्पन्न करूं। अनन्तर उसने उस स्फुरण में भूल कर इच्छा की और इस इच्छा का अभिमानी बना। "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा, इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च" (तै० अ० २, वल्ली २, मन्त्र ३०) उस शबल-ब्रह्म ने कामना की कि मैं बहुत प्रजारूप में हो जाऊँ। इसके अनन्तर "तस्य ज्ञानमेव तपः" उसका ज्ञान रूप ही तप है, इसके अनुसार उसने तप को धारण किया और तप का धारण करके इस सब को बनाया, जो कि सब कुछ सामने है ॥२॥ अनन्तर सृष्टि का अभिमानी बन कर वह उसका कर्ता बन बैठा, और वेदादिक नाना ग्रन्थों को भी प्रचलित कर दिया। अनन्तर उसको उसी पहली भूल में सारा संसार ऐसा भूल गया कि उस भूल का किसी को पता ही न लगा; क्योंकि माया और तज्जन्य अध्यास अनादि है ॥ ३ ॥ ये चौरासी लाख योनियां भूल ही की तो प्रसादी है और भूल ही के कारण संसार भटके खा रहा है। और की तो बात ही क्या है ? यह जो सनातन अनादि जीवात्मा है, यह भी भूल में पड़ गया है और वह भूल अबतक इसको खा रही है। "ममैवांशो जीवलोके, जीवभूतः सनातनः" ॥ ४ ॥ हां, आत्म-विवेक रूप परीक्षा करनेवाले यदि परीक्षक गुरु मिल जायँ तो यह भूल अवश्य मिट सकती है। क्यों कि वे आत्म-विवेक को बतला देते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि हे भाइयो ! सब के लिये भूल मिटाने की एक मात्र रामबाण औषधि पारख है, परीक्षा (आत्म-विवेक) है। "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतं कृतेनेति"। अनेक सकाम कर्मों में फसे हुए लोगों को मिलनेवाले स्वर्गादिक रूप फलों की असारता की परीक्षा करके ज्ञानी पुरुष ब्राह्मण को चाहिये कि वह उन कर्मों से विरक्त हो जाय। क्यों कि कृत्रिम (बनावटी) यागादिकों से अकृत्रिम (असली) रूप परम तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। परीक्षा का यह लक्षण है-"लक्षितस्य लक्षणं संभवति न वा इति विचारः परीक्षा"। (तर्कसंग्रह-टीका) ॥ ५ ॥

॥ इति शब्द प्रकरण ॥

॥ सत्यनाम ॥

॥ ज्ञान-चौंतीसा ॥

वोओंकार आदि जो जानै, लिषि कै मेटै ताहि सो माने ।
वोओंकार कहैं सभ कोई, जिन्हि यह लषा सो बिरले होई ॥१॥

मङ्गलाचरण ।

चतुस्त्रिंशत्सुवर्णानां वादव्याजेन योऽदिशत् ।
ज्ञानरत्नं परं भास्वत्तं कबीरमहं भजे ॥१॥

इस ज्ञान-चौंतीसा में ओंकार आदिक चौंतीस अक्षरों के परस्पर सम्वाद के वहाने से जिसने परम प्रकाशमान ज्ञान-रत्न का उपदेश दिया है ऐसे कबीर साहेब को मैं भजता हूं ॥१॥

[हठयोग-समीक्षा]

सूचना—इस प्रकरण में हठयोग-खण्डन और ज्ञानयोग-मण्डन तथा अन्य समीक्षा है । ज्ञान-प्रधान होने से इसका नाम ज्ञान-चौंतीसा है । इस ज्ञान-चौंतीसा प्रकरण में ओंकारादिक चौंतीस अक्षरों के परस्पर सम्वाद रूप से तत्त्वोपदेश दिया गया है । स्वर और व्यञ्जनों से पृथक् होते हुये भी अक्षरान्तर्गत होने के कारण ओंकार का प्रथमतः उल्लेख किया गया है । "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" । (गीता) । प्राचीन हिन्दी-लिपि विशेष (कैथी) में ॐ का विन्यास "वोओं" इस रूप से किया जाता था । लिखित बीजक की प्राचीन प्रतियों में सर्वत्र ॐकार उक्त रूप से ही लिखा हुआ मिलता है । उक्त प्रकार के रूप से इस ग्रन्थ के सब छन्द लक्षणानुकूल बन जाते हैं । जैसे, यह चौपाई छन्द अनुलक्षण हो गया है । प्राचीन प्रतियों में "का का" "खा खा" अथवा "कक्का" ऐसा लिखा हुआ है । उक्त लेख छन्दोऽनुरूप है ।

अन्वय–लिपि कै मेटै ताहि वोओंकार आदि जो मानै सो वोओंकार आदि जाने।

टीका–जिसको ॐकार अक्षर के लिख देने और मिटा देने तथा उच्चारण तथा अनुच्चारण में पूर्ण स्वतन्त्रता है। वह (चेतन देव) वेद के आदिभूत ॐकार शब्द का भी आदि है। ऐसा जो जाननेवाला है, वह ॐकार की आदि को जाननेवाला है। "आदि को ऊदेश जाने तासु वेश बाना"। "कहहिं कबीर जन भये विवेकी, जिन जंत्री सों मन लाया"। (बीजक)। अधिकतर लोग ॐकार का जाप किया करते हैं; परन्तु उसके यथार्थ को बतानेवाले तथा इस रहस्य को जाननेवाले विरले हैं। (यह ॐकार का कथन है)। "ॐकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ" ॥ ॐकार और अथ शब्द ये दोनों सब से पहले ब्रह्माजी के कण्ठ से निकले हैं, इसलिये मङ्गल रूप हैं। प्रमाण–"जो ॐकार निश्चय किया, यह करता मति जान। साचा शब्द कबीर का, परदे में पहिचान" ॥ "ॐकार आदि नहीं वेदा ताकर कहहु कवन कुल भेदा"। "जहां बोल तहां अक्षर आया। जहां अक्षर तहां मनहिं दिढाया॥ बोल अबोल एक है सोई। जिन्ह यह लखा सो विरला होई" ॥१॥

सूचना–यहां पर स्वोक्ति (सद्गुरु-वचन) "अपनाइत" और परोक्ति (योगी-वचन) "पराइत" रूप से सिद्धान्त और पूर्व-पक्ष का उल्लेख किया जायगा।

काका कमल किरन महँ पावै, ससि विगसित संपुट नहि आवै।
तहां कुसंभ रंग जो पावै, औगह गहि के गगन रहावै ॥२॥

शब्दार्थ–कुसुंभ = सं० पु० [सं० कुसुंभ] कुसुम, केशर, कुमकुम।

टीका–हठ-योगियों का कथन है कि ललाटस्थ अमृता शक्ति (चन्द्र नाड़ी) से उन्मीलित हुये कमल, जो कि फिर बन्द नहीं होता है, उसके किंजल्क में निजरूप के दर्शन कुसुम्भ रंग के समान होते हैं। अनन्तर गैबी की गगन-गुफा (गगन-मण्डल) में दर्शक स्थिर हो जाते हैं। यह कक्का का कथन है ।२॥

षाषा चाहै षोरि मनावै, षसमहिं छांड़ि दहौं दिसि धावै ।
षसमहिं छांड़ि छिमा हो रहिये, होय न षीन अषय पद लहिये ॥

गुरु-वचन—"ख" अक्षर कहता है कि, अपने मालिक निजरूप को भूल कर उक्त प्रकार से सर्वत्र भटकनेवाले अज्ञानी चाहते हैं कि, हम अपराधी न गिने जायें; तो उनको उचित है कि, "झूठा षसम कबीर न जाना" इसमें कहे हुये झूठे मालिक को छोड़ कर सच्चे की शरण में जावें और मुक्त होवें ॥ ३ ॥

गागा गुरु के बचनहिं मान, दूसर सब्द करो नहिं कान ।
तहां विहंगम कबहुँ न जाई, औगह गहिके गगन रहाई ॥४॥

योगी-वचन—"ग" अक्षर कहता है कि, तुम योगी गुरु के वचन को प्रामाणिक मानो और दूसरों के उपदेश की तरफ तो कान भी मत दो। देखो! गगन-मण्डल में मन रूपी चञ्चल पक्षी कभी नहीं जा सकता है। अतः ज्योतिः-स्वरूप का अवलम्बन करके तुम गगन-मंडल में निवास करो। भजन—"गगन मंडल का बासा सन्तो! देखहु अजब तमासा" ॥ ४ ॥

घा घा घट बिनसै घट होई, घट ही में घट राषु समोई ।
जो घट घटे घटहिं फिरि आवै, घट ही में फिरि घटहि समावै ॥

शब्दार्थ—समोई = मिला लेना ।

गुरु०——"घ" अक्षर कहता है कि, एक शरीर के नष्ट होने पर दूसरा शरीर फिर होता है! इसलिये अपने मन में ही मन को रोक कर रक्खो। यदि मन की चञ्चलता मिट जायगी, तो वह मन ही में लौट कर चला आयगा। और इस प्रकार वह फिर अपने में ही आप लीन हो जायगा ॥ ५ ॥

भावार्थ—उक्त कल्पनाओं के ही कारण बार-बार शरीर धरने पड़ते हैं। अतः मन को (कल्पनारहित करके) लीन करिये। भजन—"मन ही में उलटि समा जा, मन तू मन ही में० ।" यदि तुम "तनु-मानसा" नामक ज्ञान

की तीसरी भूमिका में पहुंच जाओगे, तो वृत्ति-तनुता और वृत्ति-विरलता से मनो-निरोध अवश्य हो जायेगा ।

नाना निरषत निसुदिन जाई, निरषत नयन रहा रतनाई ।
निमिषि एक जो निरषै पावै, ताहि निमिषि में नयन छिपावै ॥६॥

सूचना—प्राचीन लिपि में ङ, ञ, ण इन तीनों की जगह 'न' का ही प्रयोग होता था । अतएव यहां पर "नाना निरषत" और "नाना निग्रह" इत्यादि रूप से वर्ण-मैत्री स्थिर होती है ।

योगी०—"न" अक्षर (पहला नन्ना) कहता है कि, वैसे तो प्रपञ्च के दृश्यों को देखते हुए तुम्हारे रात-दिन जाते हैं । और उनको देखते-देखते श्रम से तुम्हारे नेत्र भी लाल हो जाते हैं । परन्तु किसी समय क्षण-मात्र भी ब्रह्म-ज्योति (ज्योतिः-स्वरूप भगवान) के दर्शन हो जायेंगे तो संसार से तुम्हारी दृष्टि हट जायगी ॥ ६ ॥

चाचा चित्र रचो बड़ भारी, चित्र छांड़ि (तैं) चेतु चित्रकारी।
जिन्हि यह चित्र विचित्र उषेला, चित्र छांड़ि तैं चेतु चितेला ॥

शब्दार्थ—उषेला = क्रि० सं० [सं० उल्लेखन] उरेहना, लिखना, तसबीर बनाना । चितेला = सं० पु० [सं० चित्रकार] चितेरा, चित्र बनानेवाला ।

गुरु०—"च" का कथन है कि, चेतन देव ने ब्रह्माण्ड में और पिण्ड में अनेक दृश्य रूप बडे भारी चित्रों की रचना की है; अतः चित्रों की सुन्दरता के देखने को छोड़कर तुम उस चित्रकार का चिन्तन करो कि, जिसने इन विचित्र चित्रों का आलेखन किया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—भौतिक ज्योति आदिक उक्त झूठे चित्रों में न भूल कर चित्रकार रूप (चेतन-स्वयं ज्योति) का साक्षात् करिये ।

छा छा आहिं छत्रपति पासा, छकि किन रह सिमेटि सभ आसा।
मैं तोहीं छिन छिन समुझावा, षसम छांड़ि कस आपु बंधावा ॥

शब्दार्थ—छकि = तृप्त होना ।

गुरु०—"छ" कहता है कि, छत्रपति = प्रभु-आत्मदेव सदैव तेरे पास ही हैं। अतः सब दुराशाओं को छोड़कर उसके परमानन्द में तृप्त क्यों नहीं रहता है ? । मैंने तो तुझे बार-बार समझाया है कि, सच्चे मालिक को छोड़ कर तूं बन्धन में कैसे पड़ गया है ? ॥ ८ ॥

जा जा ई तन जियतहिं जारो, जोबन जारि जुगुति जो पारो।
जो किछु जानि जानि परजरे, घटहिं जोति उजियारी करे ॥९॥

योगी-वचन—"ज" अक्षर कहता है कि, यदि तुमको योग-युक्ति मिल जाय तो तुम उभड़ी हुई जवानी के जोश को ठंढा करके जीते जी ही इस शरीर को योगाग्नि से जला सकते हो। और इस प्रकार यदि योगी गुरु से कुछ जान समझकर योगाग्नि प्रज्वलित कर दी जाय तो वह ब्रह्माण्ड में ज्योति का प्रकाश कर दे ॥ ९ ॥

भावार्थ—योग-युक्ति जानकर योगाग्नि से जीते जी शरीर को जला डालोगे, तब ब्राह्मण्ड में ज्योति का प्रकाश होगा।

झा झा अरुझि सरुझि कित जान, हींडत ढूंढत जाहि परान।
कोटि सुमेर ढूंढि फिरि आवै, जो गढ़ गढ़े गढ़हिं सो पावै।१०।

शब्दार्थ—हींडत = क्रि० अ०—खोजना, जाना, पहुंचना।

गुरु—"झ" कहता है कि, तुम लोग इस भ्रम में उरझ-पुरझ कर कहां जा रहे हो ? और इस प्रकार भटकते हुए और उस भ्रम-भूत को खोजते हुये तो तुम्हारे प्राण ही चले जायेंगे। देखो, यदि कोई कोटि कोटि सुमेरु पर्वतों तक भी खोज कर फिर अपने घर चला आवे तो भी जिस कच्चे या पक्के किले को वह बनायेगा अर्थात् जैसी भावना को हृदय में धरेगा, उसको ही पावेगा ॥ १० ॥

भावार्थ—उक्त मायिक शैवाल जाल में फंस कर प्राण क्यों देते हो ? "भूतानि यान्ति भूतेज्याः" के अनुसार अनात्म-उपासना करने से अन्त में तुम स्वयं प्रकृति और तत्वरूप भूत हो जाओगे। "अभूतंसंप्रवं तत्र तिष्ठन्त्य-

व्यक्तचिन्तकाः" (सांख्यतत्त्वकौमुदी टीका) अर्थात् प्रकृति की उपासना करनेवाले प्रलय पर्यन्त उसमें निवास करते हैं ।

नाना निगरह सनेहु करु, निरुवारो संदेहु।
नहीं देषि नहिं भाजिये, परम सयानप येहु ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सयानप = चतुरता, बुद्धिमानी ।

गुरु०—दूसरा "नन्ना" कहता है कि, सब संदेहों को छोड़कर प्रपंच से मन को हटा लीजिये। विषयो में न मन दौड़े, न इन्द्रियां; बस, यही महात्मापन है ॥ ११॥

भावार्थ—इस भौतिक ज्योति के चपल प्रकाश को देख कर मत दौड़ो। जिस अनन्त पद में उक्त प्रकाश नहीं पहुंच सकता है वही स्वयं प्रकाश है, और वही तुम्हारा सर्वस्व है; अतः उसको पहचान कर प्राप्त करो ।

नहिं देषिये नहिं आपु भजाऊ, जहां नहीं तहां तन मन लाऊ।
जहां नहीं तहां सभ किछु जानी, जहां नहीं तहं ले पहिचानी ।

न विषयों को अवधान-पूर्वक (गौर से) देखो, न उनकी तरफ दोड़ो। और जिस परम-पद में यह मन, बुद्धि और विषय-प्रपंच नहीं हैं, उसी में तन और मन को लगाओ। देखो—जहां उक्त पसारा नहीं है, उसी को पूर्ण तत्त्व, परम-पुरुष और सत्य-पुरुष सब कुछ जानो। "जहां पुरुष तहवां किछु नाहीं, कहहिं कबीर हम जाना। हमरी सैन लखै जो कोई, पहुंचे मूल ठिकाना" ॥ (बड़ा संतोष बोध)। और जहां प्रपंच की गति नहीं है उसको अपना निज रूप पहचान लो ॥ १२॥

टाटा बिकट बाट मन मांहीं, षोलि कपाट महल मो जांहीं।
रही लटापटि जुटि तेहि मांहीं, होहिं अटल ते कतहूँ न जांहीं ॥

गुरु०—"टट्टा" कहता है कि, वृत्ति-वनिता को रङ्गमहल (निजपद) में पहुंचने में भारी कठिनाई तो यह है कि, मन-रूपी दुर्ग की (कल्पना वासना रूपी) घाटी बड़ी दुर्गम है। उससे पार हो जाने पर तो ज्ञान की कुञ्जी

से आवरण रूपी कपाटों को खोलकर सहज ही आत्म-महल में जा सकती है। अनन्तर वहां पहुंचते ही अभुक्तपूर्व प्रिय-सुख के मिल जाने से वह सब कुछ (संसार को) भूल जाती है। और फिर तो वह ऐसी निश्चल हो जाती है कि, उसको कहीं जाने का मन ही नहीं होता है। "जेहि पांयन भुंइ फिरे, घूमे देश विदेश। पिया मिलन जब होइया, आंगन भया विदेश" ॥ १३ ॥

ठठा ठौर दूरि ठग नियरे, नितके निठुर कीन्ह मन घेरे।
जेठग ठगे सभ लोग सयाना, सो ठग चीन्हि ठौर पहिचाना॥

गुरु०—"ठ" अक्षर कहता है कि, जीवात्मा का निजघर रूपी ठौर तो दूर है। और ठग उसके पास ही हैं। और सदा पास रहने के कारण ढीठ बने हुए ये ठग मन को घेरे हुए रहते हैं। और लूटपाट मचाये रहते हैं। इसलिये जिस ठग ने सब ऋषि, मुनि आदिक चतुरों को ठग लिया है, उस ठग को पहिचान लो ॥ १४ ॥

भावार्थ—भटक जाने से स्थान (निजपद) दूर पड़ गया; अतएव अवसर पाकर ढीठ ठगों ने (कामादिकों ने) मन बनिये को आ घेरा।

डाडा डर उपजे डर होई, डरहीं में डर राखु समोई।
जो डर डरे डरहिं फिरि आवे, डरहीं में फिरि डरहि समावै।१५।

गुरु—"ड" अक्षर कहता है कि, हृदय में डर के उत्पन्न होते ही डर सवार हो जाता है। इसलिये डर ही में डर को मिला कर रख दो, अर्थात् उसे उत्पन्न न होने दो। जो डर से डरता है तो डर लौट कर फिर चला आता है। और पहले डर में दूसरा डर मिल कर उसको बढ़ा देता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—अज्ञानी मिथ्या कल्पनाओं से डर कर अनेक कर्म करते हुए संसार में भटकते रहते हैं, अतः कल्पनाओं के भंवर से दूर रहना चाहिये।

ढाढा ढूंढत ही कित जान, हींडत ढूंढत जाहि परान।
कोटि सुमेर ढूंढि फिरि आवे, जिहिं ढूंढा सो कतहूँ न पावै॥

गुरु०—अज्ञानता के कारण परमात्मा को दूर समझ कर उसे ढूंढते हुये तुम कहां जा रहे हो ? इस प्रकार भटकते हुये और उसको ढूंढते हुये तुम्हारे प्राण ही चले जावेंगे। यदि कोई कोटि-कोटि सुमेरु पर्वतों तक भी उसे खोज कर चला आवे तो भी जिसको वह ढूंढता है, वह उसको कहीं नहीं पाता है। क्यों कि, वह तो उसका स्वरूप ही है॥ १६ ॥

भावार्थ–सुख की आशा से अपने आपको ढूंढने के लिये क्यों बाहर भटकते हो ? भजन–"हेली बाहर ढूंढे कांई, तेरे सब सुख हैं घट मांहीं"। "आप भुलाना आप में, आपा साहिं आप। और हो तो पाइये, ये तो आपहि आप"॥ तथा "दौडत दौडत दौडिया, जब लगि मन की दौड। दौड थकि थिर भया, बस्तू ठौर की ठौर"॥ १६ ॥

नाना दुई बसाये गांऊ, रेना ढूंढे तेरी नाऊ।
मूये एक जांय तजि घना, मरे इत्यादिक तेके गना ॥१७॥

गुरु०—तीसरा "नन्ना" कहता है कि, तुमने हृदय में प्रपञ्च-पुर बसा लिया है; अतएव वह एकान्तवासी योगी गुप्त हो गया। अब गन्ध-मृग की तरह अज्ञानता से उसको दूर समझ कर दूर दूर ढूंढते और भटकते हुये माया-जाल में पड़ गये हो ? इसी तर प्रायः सभी मारे जाते हैं। और बहुतों को छोड कर एक भी चल बसता है। भजन–"मृगा के तन है कस्तूरी, सूंघत फिरै बनघासी। सन्तो पानी में मीन पियासी। मोहि देखि देखि आवे हांसी"॥ १७ ॥

नोट—अमरकोष में मृग का पर्याय 'एण' शब्द है; अतः यह 'रेन' या 'रेना' शब्द उसीका रूपान्तर है।

ताता अति त्रियो नहि जाई, तन त्रिभुवन महं राषु छिपाई।
जो तन त्रिभुवन मांहिं छिपावै, तत्तहिं मिले तत्त सो पावै ।१८।

गुरु०—"त" अक्षर कहता है कि तत्त्व और प्रकृति रूप माया–नदी अति विशाल और भयङ्कर है; अतः तैरने में नहीं आ सकती है। त्रिगुणात्मक तीनों भुवनों में रक्षार्थ छिपनेवाला मन तत्वों का दास बन कर भूत

(पञ्च भूतात्मक) बन जाता है। "मैं जानूं मन मर गया, मर कर हुआ भूत ! मूये पीछे उठ लगा, ऐसा मेरा पूत" ॥ (क. सा.) ॥ १८ ॥

था था अति अथाह थाहि नहिं जाई, ईथिर ऊथिर नाहि रहाई।
थोर थोर थिर होहु रे भाई, बिनु थम्मे जस मंदिल थंभाई ॥१९॥

गुरु०—"थ" अक्षर कहता है कि, मन-महोदधि अथाह है। यह पिण्ड और ब्रह्माण्ड तथा मृत्युलोक और स्वर्ग में भी स्थिर नहीं रहता है, किन्तु "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" । (योग-दर्शन) । इसके अनुसार धीरे-धीरे वश में आ सकता है। जैसे लदाव के मकान बिना खम्भों के ही ठहराये जाते हैं। "शनैः शनैरुपरमेद्, बुद्ध्या धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा, न किञ्चिदपि चिन्तयेत्" ॥ (गीता)। अर्थात् धैर्य से पकड़ी हुई बुद्धि से मन को संसार से धीरे-धीरे हटा लो, इत्यादि ॥ १९ ॥

दा दा देषहु बिनसनिहारा, जस देषहु तस करहु बिचारा।
दसहु दुवारे तारी लावै, तब दयाल के दरसन पावै ॥२०॥

गुरु०—"दद्दा" कहता है कि, प्रत्यक्षतः संसार विनशन-शील है; अतः इसको विनाशी ही समझो।

योगी०—ब्रह्मरन्ध्र में प्राणों के आयाम से समाधिस्थ होने पर निजरूप का साक्षात्कार होता है ॥ २० ॥

धा धा अरध मांहि अंधियारी, अरध[1] छांड़ि ऊरध मन तारी।
अरध छांड़ि ऊरध मन लावै, आपा मेटि के प्रेम बढ़ावै ॥२१॥

शब्दार्थ—अरध = बि० [सं० अर्द्ध] आधा। ऊरध = ऊपर।

योगी०—"ध" अक्षर कहता है कि, पिण्ड-भू-सञ्चारी (शरीर रूपी पृथ्वी में विचरनेवाला) मनरूपी पक्षी को हिंसको का भय रहता है। अतः उचित है कि, यह गगन-मंडल में स्वच्छन्द घूमता हुआ अहंकार के अन्धकार से निकल कर प्रेम के प्रकाश में पहुंच जाय ॥ २१ ॥

---

१ पाठा —ट, ठ, अरधे ऊधे बेहु विचारी।

चौथे वो नाना महं जाई, राम का गदहा हो घर षाई ।।२२।।

गुरु०–चौथा "नन्ना" कहता है कि, जो राम-भक्त कहलाते हुए भी हृदय–निवासी राम को न जान कर नाना प्रपंच-पङ्क में और माया-रूपी खाक में लोटते रहते हैं, वे राम को वहन करनेवाले राम के हाथी नहीं है; किन्तु केवल उनके नाम के भार से लदनेवाले राम के गदहे हैं। अतएव ऊँख के मधुर-रस (राम-रस) से वञ्चित रह कर नीरस विषय-तृणों को चबाया करते हैं "वंचक भक्त कहहिं राम के, किंकर कंचन काहे काम के"। (रामायण)। "भक्त न जानै भक्त कहावै, तजि अमृत विष कैलिन्ह सारा" ।। २२ ।।

पा पा पाप करैं सभ कोई, पाप के करे' धरम नहिं होई।
पा पा कहै सुनहु रे भाई, हमरे से इन किछुवो न पाई ।।२३।।

गुरु०–"प अक्षर" कहता है कि, सब अज्ञानी लोग जीव--हिंसा रूप देवबलि से पाप-कर्म करते हैं; और उससे धर्म प्राप्त करना चाहते हैं; परन्तु पाप के करने से धर्म नहीं हो सकता है। पप्पा कहता है कि, हे भाइयो! सुनो, पाप–कर्म से इनको कुछ भी सुख और धर्म नहीं मिलता है ।। २३ ।।

फा फा फल लागे बड़ दूरी, चाषै सतगुरु देइ न तूरी ।
फा फा कहै सुनहु रे भाई, सरग पताल कि षवरि न पाई ।।२४।।

योगी०—"फ" अक्षर कहता है कि, अपने कर्मों से मुक्ति-फल स्वर्ग में मिलता है। और उसका आस्वाद सतगुरु स्वयं लेते हैं, परन्तु तोड कर वे किसी को नहीं देते।

गुरु०—"मुक्ति नहि आकास है, मुक्ति नहीं पाताल। जब मन की मनसा मिटै, तबही मुक्ति बिशाल" ।। इसके अनुसार स्वर्ग और पाताल में मुक्ति नहीं मिलती है। यह पता तुमने नहीं पाया है ।। २४ ।।

बा बा बर बर कर सभ कोई, बर बर करै काज नहिं होई।
बा बा बात कहै अरथाई, फल का मरम न जानहु भाई ।।२५।।

१ पाठा०-- ड, ढ, घर।

गुरु०—"ब" अक्षर कहता है कि, सब कोई स्वर्ग की मुक्ति की महिमा के विषय में बड़-बड़ करते रहते हैं; परन्तु ऐसे बड़-बड़ करने से मुक्ति नहीं होती है। इस बात को बब्बा समझा कर कहता है कि, हे भाई! स्वर्गादिक फल अनित्य हैं, ये मर्म तुमको ज्ञात नहीं है ॥ २५ ॥

भा भा भभरि रहा भरपूरी, भभरे ते है नियरे दूरी।
भा भा कहै सुनहु रे भाई, भभरे आवै भभरे जाई ॥२६॥

गुरु०—"भ" अक्षर कहता है कि. सारे संसार में भ्रम भरा पड़ा है। और भ्रम ही के कारण अति निकट आत्म-पद दूर हो गया है। भभ्भा कहता है कि, हे भाइयो! सुनो, भ्रम ही के कारण जीवात्मा आता है और जाता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—"भरमक बांधल ई जग, यहि विधि आवै जाय" इसके अनुसार अति निकट अमर-पद भ्रम से दूर हो गया है।

मा मा के सेवै मरम न पाई, हमरे से इन मूल गमाई।
माया[1] मोह रहा जग पूरी, माया मोहहिं लषहु बिसुरी[2] २७॥

शब्दार्थ—बिसुरी = बेसहुर, अज्ञानी।

गुरु०—"म" अक्षर कहता है कि, मन माया के फंदे में रहने से सत्य भेद, रहस्य नहीं मिलता है और जो मन-माया के फंदे में फंसा रहता है वह अपने मूल (निजपद या मानव तन) को गँवा देता है। सारा संसार इन्हीं मन माया के मोह से परिपूर्ण हो रहा है; इसलिये हे अज्ञानी! तुम इस मन-के मोह को परख कर त्याग दो ॥ २७ ॥

भावार्थ—माया और मोह की सेवा में आत्म-गौरव चला जाता है।

जा जा जगत्र रहा भरपूरी, जगत्रहुं ते है जाना दूरी।
जा जा कहै सुनहु रे भाई, हमरे से वै जै जै पाई ॥२८॥

सूचना—प्राचीन हिन्दी में "य" के स्थान में "ज", "श" की

१ पाठा०—फ, ग, माया कहै सुनह रे भाई। मूल छांडि कस डारे जाई। २ द, फ, बिचारी।

जगह "स" और "ष" के स्थान में "ख" लिखते थे और बोलते थे। एवं क्ष, त्र, ज्ञ ये व्यञ्जन नहीं लिखे जाते थे; किन्तु "छ" आदिक लिखे जाते थे;

अतएव इस चौंतीसा में 'क्ष' नहीं है ॐकार अक्षर को लेकर 'ह' तक ३४ अक्षर हैं। यह प्राचीन पाठ है।

गुरु०—दूसरा "जज्जा" कहता है कि, तीनों लोकों में जगत (संसार) भरपूर है। और इस जीवात्मा को तो जगत से भी दूर जाना है। इसलिये जज्जा कहता है कि, हे भाइयो! सुनो, हम से (जगत से, प्रपञ्च से) दूर होने-वाला ही हमको जीत सकता है। "तीन लोक में है जम राजा, चौथे लोक में नाम निशान। लखै कोई विरला पद निरबान" ॥ २८ ॥

रा रा रारि रहा अरुझाई, राम कहै दुष दालिद जाई।
रा रा कहै सुनहु रे भाई, सतगुरु पूछि के सेवहु आई ॥२९॥

गुरु०—नटखट (झगड़ालू) मन का तो दास बना हुआ है, और केवल राम का नाम लेकर सुखी होना चाहता है। ऐसे को ररा उपदेश देता है कि, गुरु से ज्ञान प्राप्त करके राम का सेवन करो "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः" ॥ (गीता) ॥ २९ ॥

ला ला तुतरे बात जनाई, तुतरे पा तुतरे परचाई।
अपने तुतर और को कहई, एकै षेतु दुनौ निरबहई ?॥३०॥

शब्दार्थ—तुतरे = अस्पष्ट वक्ता (वंचक), क्योंकि, "स्पष्टवक्ता न वञ्चकः"।

गुरु—"ल" अक्षर कहता है कि, वंचकों ने यह ऊपर की बात प्रगट की है, और वंचक ही वंचक को पाकर उससे परिचय करता है। आश्चर्य तो यह है कि, स्वयं अज्ञानी होकर ज्ञानोपदेश देता है। क्या ज्ञान और अज्ञान एक समय एक हृदय में रह सकते हैं ? ॥ ३० ॥

वा वा वह वह कह सभ कोई, वह वह कहै काज नहिं होई।
वह तो कहै सुनै जो कोई, सुरग पताल न देषै जोई ॥३१॥

गुरु०--सब कोई निज-पद, परम-पद को दूर बताते हैं; परन्तु दूर-दूर कहने से मुक्ति नहीं होती है। इसके अतिरिक्त जो उसे जानता है, वह उसके लिए स्वर्ग और पाताल में जाना नहीं चाहता है ।। ३१ ।।

सा सा सर नहीं देषै कोई, सर सीतलता एकै होई।
सा सा कहै सुनहु रे भाई, सुन्न[1] समान चला जग जाई ।।३२।।

गुरु०—"स" अक्षर कहता है कि, त्रिविध तापों से संतप्त कोई भी प्राणी अपने समीप ही में वर्तमान सुख-सागर (साहब) को नहीं देखता है। देखो, सर और उसकी शीतलता दोनों एक है। अर्थात् परमात्मा और परम-शान्ति दोनों एक ही रूप है। सस्सा कहता है कि, हे भाइयो ! इस तत्व के नहीं जानने से भ्रम में सारा संसार समाता चला जा रहा है।

रेखता--"सुखसिन्धु को सैर का स्वाद तब पाइये, चाह का चौंतरा भूलि जावै। बीज के मांहि ज्यो वृक्ष विस्तार है, चाह के मांहि सब रोग आवै" ।। ३२ ।।

षा षा षर षर कर सभ कोई, षर षर करै काज नहिं होई।
षा षा कहै सुनहु रे भाई, रामनाम ले जाहु पराई ।।३३।।

शब्दार्थ--पराई = पराना, भागना। उ०-'जच्छ जीव लय गयउ पराई' ।। तु० ।।

गुरु०--दूसरा "खख्खा" कहता है कि, सब कोई नाना सकाम कर्म रूपी खट-खट करते रहते हैं; परन्तु इन खटखटों के करने से मुक्ति नहीं मिलती है। इसलिये "ख" अक्षर कहता है कि, हे भाइयो ! सुनो, राम नाम के तत्त्व को लेकर माया सांपिनी से दूर भग जाओ। देखो, "य पलायति स जीवति" जो भग जाता है, वही जीता है।

रेखता--"भाग रे भाग फकीर के बालका, कनक और कामिनी संग लाया। मारि तोहि लेंगे पड़ा चिल्लायगा, बड़ा बेवकूफ तू न नाहि भागा" ।। ३३ ।।

---

[1] पाठा०—ड, ढ, मुसलमान।

सा सा सरा रचो बरियाई, सर बेधे सब लोग तबाई।
सा सा के घर सुनगुन होई, इतनी बात न जानै कोई ॥३४॥

शब्दार्थ--तबाई = (तबाही) = हैरान होना, खिन्न होना। सुनगुन = गुप्त वार्ता।

गुरु०—दूसरा "स" अक्षर कहता है कि, लोगों के हृदयों में कामना रूपी भारी सर–चिता जल रही है। और मन महारथी कामादिक तीक्ष्ण बाणों से अदान्त और अशान्त (मन इन्द्रियों की चञ्चलतावाले) अज्ञानियों को मार–मार कर उसमें डाल रहा है। और काम-बाणों की मार से सब त्रस्त हो रहे हैं। ठीक ही है–"कन्दर्पदर्प-दलने विरला मनुष्याः"। काम की मस्ती को मारनेवाले बहुत थोडे हैं। और कामनाओं का उद्‌गम मन से है, यह कोई नहीं जानता है ॥ ३४ ॥

हा हा करत जीव सभ जाई, छेव परै तब को समुझाई।
छेव परे केहु अंत न पावा, कहंहिं कबीर अगमन गोहरावा ॥

शब्दार्थ—छेव = सं० पु० [हि०] नाश, मृत्यु। अगमन=क्रि० वि० [सं० अग्रवान] आगे, पहिले, प्रथम। उ०-'तव अगमन होयगो राकहा' जा०।

गुरु०--"ह" अक्षर कहता है कि, अन्त समय हाहाकार करते हुये सब कोई शरीर छोडते हैं। उस समय कोई ज्ञान नहीं दे सकता है। और "मुये गये की काहु न कही" इसके अनुसार मरण का किसी को अन्त भी नहीं मिला है। इस कारण कबीर साहेब पहले से पुकार कर कह रहे हैं कि, "जियत आपु लघु, जियत ठौर करु, मुये कहां घर तेरा। यहि अवसर नहि चेतहु प्रानी, अंत कोई नहिं तेरा" ॥ ३५ ॥

॥ इति ज्ञान-चौंतीसा प्रकरण सम्पूर्ण ॥

॥ सत्यनाम ॥

बिप्रमतीसी ।

सुनहु सभनि मिलि बिप्रमतीसी, हरि बिनु बूड़ि नाव भरीसी।
ब्राह्मन होके ब्रह्म न जानैं, घर महं जग्य प्रतिग्रह आनै ॥१॥

मङ्गलाचरण ।

बोधयामास यो विप्रान् हिंसादिक्रूरकर्मठान् ।
आत्मवत्सर्वभूतानीत्येवं तं सद्गुरुं श्रये ॥ १ ॥

अर्थ—जिन्होंने देवबलि रूप हिंसादि क्रूर कर्मों में कुशल कलियुगी ब्राह्मणों को यह बोध कराया है कि, अपना आत्मा के समान सभी की आत्मा को समझो। ऐसे सद्गुरु की शरण में मैं हूँ ॥ १ ॥

[विप्रकर्म–मीमांसा]

सूचना–इस प्रकरण में मिथ्याभिमानी और हिंसादि क्रूर कर्मों में तत्पर नाम-मात्र के ब्राह्मणों को ब्राह्मणोचित धर्म-उपदेश दिया गया है बिप्रमतीसी = पूर्वोक्त ब्राह्मणों की बुद्धि का वृत्तान्त। वस्तुतः यह शब्द 'बिप्र-मतितीसी' है; क्योंकि, इसमें तीस चौपाइयों से उपदेश दिया गया है।

शब्दार्थ–प्रतिग्रह = सं० पु० [सं० प्रतिग्रह] स्वीकार, ग्रहण, उस दान का लेना, जो ब्राह्मण को विधिपूर्वक दिया जाय।

टीका–हे भाइयो ! आप लोग सब मिल कर कलियुगी ब्राह्मणों की दुर्बुद्धि का वर्णन सुनिये। हरि की भक्ति के बिना इनकी भरी हुई नाव डूब गई। अर्थात् वेदादि विद्या से सम्पन्न इनका जीवन मलिन कर्मों के कारण नष्ट हो गया। ये लोग ब्राह्मण होकर भी विश्वम्भर ब्रह्म को नहीं जानते हैं। और यज्ञ में दिये हुये दान को अपने घर में लाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— प्रतिग्रह–परायणता निषिद्ध है।

जे सिरजा तेहि नहिं पहिचानैं, करम भरम ले बैठि बषानैं।
ग्रहन अमावस अवर दुईजा, सांतीपांति प्रयोजन पूजा ॥२॥

शब्दार्थ–सांती = सं० स्त्री० [सं० शान्ति] अशुभ या अनिष्ट का निवारण ।

टीका–जिस परमात्मा ने उत्पन्न किया उसको तो नहीं पहचानते हैं। और कर्मों के भ्रम का बैठे बैठे व्याख्यान करते रहते हैं। और ग्रहण, अमावस तथा यम–द्वितीया आदिक का निषिद्ध दान लेते हैं। और ग्रह-शान्ति तथा पुण्याहवाचनादिक कराते रहते हैं, और अपने स्वार्थ के लिये तामसी देवताओं की पूजा भी कराते रहते हैं॥ २ ॥

प्रेत–कनक मुष अंतर बासा, आहुति–सहित होम की आसा।
कुल उत्तिम जग मांहि कहावैं, फिरि फिरि मधीम करम करावैं॥

शब्दार्थ–प्रेत-कनक=सं० पु० [सं०] प्रेत के उद्देश्य से सुवर्णादि दानवाली क्रिया। कहते हैं कि, प्राण निकलते समय मुख में सोना डालने पर फिर जीव प्रेत नहीं होता है। आहुति–सहित = पूर्णाहुति–सहित। मधीम = मध्यम ।

टीका–ये लोग निषिद्ध श्राद्धान्न को भी मुख में रखते हैं। और पूर्णाहुति के सहित हवन की आशा रखते हैं। "उत्तम कुल पुलस्त्य कर नाती" (रामायण)। इसके अनुसार ये लोग संसार में उत्तम कुलवाले तो कहलाते हैं; परन्तु बार–बार हिंसारूप मध्यम कार्य ही कराते हैं ॥ ३ ॥

सुतदारा मिलि जूठो षाई, हरि भगतन की छूति कराहीं।
करम असौच उचिस्टा षांहीं, मति भरिष्ट जमलोकहिं जाहीं॥

शब्दार्थ–सुत–दारा=पुत्र और स्त्री। असौच=अपवित्र, मृतकर्मादिक। उचिष्टा=वि० [सं० उच्छिष्ट] जूठा, किसी के खाने से बचा हुआ।

टीका–ये लोग स्त्री और पुत्र के साथ एक थाली में बैठ कर एक दूसरे का जूठा खाते हैं, और हरि-भक्त संत महात्माओं से छूत करते हैं।

ये लोग मृतकर्मादि अशौच कर्म करवाते हैं, और प्रेत का जूठा भी खाते हैं। इस कारण बुद्धि भ्रष्ट होने से यम-लोक को चले जाते हैं ॥ ४ ॥

नहा षोरि उत्तिम होय आवैं, विस्नु भगत देषे दुष पावैं ।
स्वारथ लागि रहै बेकाजा, नाम लेत पावक जिमि डाढा ॥५॥

शब्दार्थ—नहा षोरि = नहा धोकर ।

टीका—ये लोग नहा धोकर पवित्र होकर अपने घर आते हैं और रास्ते में कोई विष्णु-भक्त देखने में आ जाता है, तो ये लोग दुःख पाते हैं। ये लोग व्यर्थ ही अपने स्वार्थ में लगे रहते हैं, और यदि कोई इनको यह सच्ची बात कह देता है, तो वह अग्नि की तरह इनको लग जाती है ॥ ५ ॥

राम क्रिस्न की छोडिन्हि आसा, पढ़ि गुनि भये कीतम के दासा।
करम पढ़ै करमहि को धावैं, जे पूछे तेहि करम दिढावै ॥६॥

टीका—ये लोग मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम और कृष्ण की तो आशा छोड़ बैठे हैं। और पढ़-गुण कर केवल कर्म-काण्ड और जड़ मूर्ति-अर्चन-परायण हो गये हैं। ये लोग कर्म-काण्ड को पढ़ते हैं, और उसीकी तरफ दौड़ते हैं। और जो कोई इनसे पूछता है, उसकी निष्ठा भी कर्म-काण्ड ही में दृढ करा देते हैं ॥ ६ ॥

निहकरमी की निंदा कीजै, करम करै ताही चित दीजै ।
ऐसी भक्ति भगवंत की लावै, हिरनाकुस को पंथ चलावैं ॥७॥

शब्दार्थ—निहकरमी = जो कर्मों में लिप्त न हो, अकर्मी ।

टीका—("निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ?")

त्रिगुणातीत महात्मा विधि-निषेध रूप कर्म-काण्ड से अलग रहते हैं। इसके अनुसार निस्त्रैगुण्य निष्कर्मी महात्मा की ये लोग निन्दा करते हैं। और यागादिक कर्म करनेवालों से प्रेम करते हैं। और ये लोग भगवान की ऐसी भक्ति लगाते हैं कि, हिरण्याक्ष का तामस धर्म (कौल-मार्ग, वाम-मार्ग आदिक) चलाते हैं ॥ ७ ॥

देषहु सुमति केर परगासा, बिनु अभि अंतर भये किरतम दासा।
जाके पूजे पाप न ऊड़ै, नाम सुमिरनी भव महं बूड़ै ॥८।

शब्दार्थ—अभि अंतर = सं० पु० (सं० अभ्यंतर) हृदय, (क्रि० वि०) भीतर।

टीका—इन लोगों का यह सुमति-प्रकाश देखिये कि, विना विवेक-विचार के कृत्रिम (बनावटी) जड मूर्तियों के दास बन गये हैं। जड मूर्तियों की पूजा से पाप दूर नहीं होता है; किन्तु उनके नाम-स्मरण करते-करते संसार-सागर में डूब जाते हैं ॥ ८ ॥

पाप पुन्य के हाथे पासा, मारि जगत्र का कीन्ह विनासा।
ई वहनी कुल बहनि कहावैं, ई ग्रिह जारैं ऊग्रिह मारैं ॥९॥

शब्दार्थ—वहनी=सं० पु० [सं० वह्नि] अग्नि, आग, । उ०—'अमृतमय तजि सुभाऊ, वरषत कत वहनी' सूर।

टीका—किसी भी कार्य को धर्म अथवा अधर्म सिद्ध कर देना ब्राह्मणों का जन्मसिद्ध अधिकार है। यह धर्माधर्म-व्यवस्था रूपी पासा तो इनके हाथ का है, (जैसा चाहे वैसा ढरकावें)। स्वार्थ-परायणता के कारण धर्म-व्यवस्था की दुर्व्यवस्था करके "मारि जगत्र का कीन्ह विनासा"। कुलाङ्गार रूप से ये सब इन्हीं कर्मों से कुल के उद्धारक कहलाते हैं। वस्तुतः ऐसे कर्म करानेवाले इह लोक और परलोक दोनों नष्ट कर देते हैं ॥ ९ ॥

बैठे ते घर साहु कहावैं भितर भेद मन मुसहि लगावैं।
ऐसी बिधि सुर विप्र भनीजे, नाम लेत पंचासन दीजै १०॥

शब्दार्थ—मुसहि = वंचना । भनीजै = कहना । पंचासन = सं० पु० [सं० पीठासन] पीठासन, आसन—विशेष, विशिष्ट आसन। किसी विशेष व्यक्ति या अतिथि के आने पर उसके बैठने के लिए दिया गया एक प्रकार का पीढ़ा।

टीका—ये लोग घर में बैठे हुये श्रेष्ठ कहलाते हैं; परन्तु मन के अन्दर वञ्चना का अवसर देखते रहते हैं। खेद है कि, ऐसे कर्म करानेवाले ब्रह्म-

–बन्धु भी "भूसुर" कहलाते हैं, और अपना परिचय देते ही बैठने के लिए "पञ्चासन" पाते हैं। सूचना–पञ्चासन एक प्रकार का यज्ञीय दर्भासन होता है, जैसा कि, 'संस्कारपद्धति' में लिखा है–"पञ्चविंशतिदर्भाणां वेण्यग्रे ग्रन्थिभूषिता विष्टरं सर्वयज्ञेषु लक्षणं संप्रकीर्तितम्" ॥ १० ॥

बूडि गये नहिं आपु संभारा, ऊंच नीच कहु काहि जोहारा।
ऊंच नीच है मद्धिम बानी, एकै पवन एक है पानी ॥११॥

शब्दार्थ–मद्धिम = अधम, नीच, हलकी।

टीका–ये लोग जातीय अहंकार में ऐसे डूब गये कि, अपने आपको नहीं संभाल सके। और तो क्या! ये लोग महात्मा को प्रणाम करने में भी ऊंच नीच का भाव ले आते हैं। नोट–मिथिला प्रान्त में यह प्रथा है कि, जाति के पूछे विना ब्राह्मण लोग सन्तों को प्रणाम नहीं करते हैं। वस्तुतः ऊंच नीच कहना यह हलकी वाणी है; क्यों कि, सृष्टि-रचना की सामग्री पर दृष्टि दौड़ा कर देखा जाय तो ज्ञात होगा कि, सबों की रचना में एक ही पवन और एक ही पानी का उपयोग हुआ है ॥ ११ ॥

एकै मटिया एक कुंभारा, एक सभन्हि का सिरजनिहारा।
एक चाक सभ चित्र बनाया, नाद बिंद के मध्य समाया ॥१२॥

टीका–और सबों के शरीर को भूत-पञ्चक रूप एक ही मिट्टी से विधाता रूप एक ही कुम्हार ने बनाया है। अतः सबों का सिरजनहार भी एक ही है। और भू-मण्डल रूप एक ही चाक पर उसने शरीररूप नाना चित्रों को बनाया है। और सबों के अन्दर पवन और वीर्य रूप नाद-विन्द समाया हुआ है ॥१२॥

व्यापी एक सकल की जोति, नाम धरे का कहिये भोति।
राछस करनी देव कहावैं, बाद करैं गोपाल न भावैं ॥१३॥

टीका–और सबों के अन्दर एक ही स्वयं-ज्योति आत्मा व्यापकरूप से वर्तमान है; अतः कल्पित अनेक नामों के धरने से क्या वह सचमुच भौतिक (अनित्य और ऊंचनीच) कहा जा सकता है? इन हिंसा करनेवाले ब्राह्मणों का कार्य राक्षसों जैसा है; परन्तु फिर भी ये ब्राह्मण देवता कहलाते हैं। सबोंका परम पिता ईश्वर इस ऊंच-नीच विषयक जाति-विवादसे कदापिप्रसन्न नहीं होता है॥१३॥

हंस देह तजि न्यारा होई, ताकर जाति कहै धौं कोई।
स्याह सपेद कि राता पियरा, अवरन बरन कि ताता सियरा ॥

टीका—जिस समय यह जीवात्मा शरीर को छोड़कर अलग हो जाता है, उस समय भला, इसकी कोई जाति को तो बतलावे ? इसी प्रकार यह भी कहे कि, यह जीवात्मा स्याह (शूद्र), सफेद (ब्राह्मण), लाल (क्षत्री) है ? अथवा पीला (वैश्य) है ? अथवा इसका कोई वर्ण नहीं है ? अथवा कोई वर्ण है ? और यह भी कहे कि, यह गर्म (जिन्दा) है कि ठण्डा (मुर्दा) है ? ॥१४॥

हिंदू तुरुक कि बूढो बारा, नारि पुरुष का करहु बिचारा।
कहिये काहि कहा नहिं मानै, दास कबीर सोई पै जानै ॥१५॥

टीका—इसी प्रकार यह भी कहे कि, यह जीवात्मा हिन्दू है कि तुरुक है ? अथवा बुड्ढा है कि बालक है ? इसी प्रकार यह आत्मा स्त्री है वा पुरुष है ? इसका भी विचार करें। कबीर साहेब कहते हैं कि, उक्त तत्त्व-कथा ध्रुव सत्य है; परन्तु किसको कहा जाये ? कोई कहना तो मानता ही नहीं है। क्यों कि, कर्मों के दास तो केवल अपने स्वामी (कर्म) को ही अपना कल्याणकारक समझते हैं ॥१५॥

बहा है बहि जाता है, कर गहे चहुँ ओर।
समुझाये समुझै नहीं, देहु धका दुइ और ॥१६॥

संसार-नदी में अज्ञानी नर पहले बहा है, और अब भी बहता चला जा रहा है। फिर भी अपने बचाव के लिये चारों ओर मिथ्या आशारूपी तृणों को हाथों से पकड़ता है। "झूठी आस रहा जग लागी"। वह यदि समझाने से नहीं समझता है। अर्थात् मिथ्या आशा और कर्मादिक विकारों को नहीं छोड़ता है तो उसको दो धक्के और मार दो।

भावार्थ—यदि मूर्खों के समझाने में नरम नीति का प्रयोग सफल नहीं होता है, तो दो चार दफे गरम नीति का भी प्रयोग करके देख लेना चाहिये ॥१६॥

* इति बिप्रमतीसी प्रकरण सम्पूर्ण *

कहरा ।

(१) कहरा

*सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के बचन समाई हो ।।१।।
मैली सिस्टि चरा चित राषहु, रहहु दिस्टि लव लाई हो ।
जस दुष देषि रहहु यहि अवसर, अस सुष होई है पाये हो ।।२।।
जो षुटुकार बेगि नहिं लागै, हिदय निवारहु कोहू हो ।
मुकुति कि डोरि गाढि जनि षैंचहु, तब बझि है बड रोहू हो ।।३।।
मनुवहिं कहहु रहहु मन मारे, षिझुवा षीझि न बोलै हो ।
मानू मीत मितैवो न छोड़ै, कमऊ गांठि न षोलै हो ।।४।।
भोगउ भोग भुगुति जनि भूलहू, जोग-जुगुति तन साधहु हो ।
जो यहि भांति करहु मतवाली, तामत के चित बांधहु हो ।।५।।
नहिं तो ठाकुर है अति दारुन, करि है चालि कुचाली हो ।
बांध मारि डंड सभ लै है, छुटि है सभ मतवाली हो ।।६।।
जब ही सावत आनि पहूँचै, पीढि सांट भल टुटि है हो ।
ठाढै लोग कुटुम सभ देषैं, कहे काहु के न छुटि है हो ।।७।।
एक तो निहुरि[1] पांव परि बिनवै, बिनति किये नहिं माने हो ।
अन चिन्ह रहे न कियेहु चिन्हारी, सो कैसे पहिचनिबेउ हो ।।
लीन्ह बुलाय बात नहिं पूछै, केवट गर्ब तन बोलै हो ।
जे करि गांठि संमर किछु नाहीं, से निरधन होय डोलै हो ।।९।।

---

* छन्द "ताटङ्क" । सूचना--प्रत्येक चरण के अन्त्याक्षर 'हो' को बचाकर बोलने से यही "सार" छन्द हो जाता है ।

1 पाठा०—छ, ज, निर्स्टि ।

जिन्हि सभ जुक्ति अगमन कै राषिन,
धरिन मच्छ भरि डेहरि हो।
जे कर हाथ पांव किछु नाहीं, धरन लागु तेहि सोहरि हो॥
पेलना अछत पेलिचलु बौरे, तीर तीर का टोवहु हो।
उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु की षोवहु हो॥
तरके घाम उपर के भुंभरी, छांह कतहुं नहिं पायहु हो।
ऐसनि जान पसीझहु सीझहु, कसन छतुरिया छायहु हो॥१२॥
जे कछु षेल कियहु सो कियहु, बहुरि षेल कस होई हो।
सासु ननंद दोउ देत उलाटन, रहहु लाज मुष गोई हो॥१३॥
गुर भौ ढील गौनि भइ लचपच कहा न मानेहु मोरा हो।
ताजी तुरकी कबहु न साधेहु, चढेहु काठ के घोरा हो॥१४॥
ताल झांझ भल बाजत आवै, कहरा सभ कोई नाचे हो।
जेहिं रंग दुलह बियाहन आये, दुलहिन तेहि रंग राचे हो॥१५॥
नौका अछत षेवै नहिं जानहु कैसे लगबहु तीरा हो।
कहहिं कबीर राम रस माते, जुलहा दास कबीरा हो॥१६॥

मङ्गलाचरण।

गीतिः सुगीता "कहरा"-भिधा या, संसारसंभंगुरताप्रबोधा।
प्राभातिकी लोकविबोधनाय, तं श्रीकबीरं सततं स्मरामि॥१॥

अर्थ—मोह—निद्रा में सोये हुये लोगों को जगाने के लिये संसार की क्षणभङ्गुरता का बोध करानेवाली और प्रभाती की लयवाली "कहरा" नामकी गीति (गायन) को जिसने गाया है, ऐसे सद्गुरु कबीर साहेब का मैं स्मरण करता हूं॥१॥

शब्दार्थ—चरा = क्यों। लव = लक्ष्य। कोहू = क्रोध। बझिहै=फंसना रोहू = एक प्रकार की मछली। षिझुवा = क्रोध करनेवाला।

कमऊ= क्रि० वि० कबहूं, कभी भी। सावत=सुभट, वीर। आ० यमदूत। सांट=छड़ी। संमर=रास्ते का खर्चा। आध्या०—ज्ञान। दृष्टान्त में—डेहरि=मछलियों को रखने की पिटारी। सिद्धान्त में—मन की रुकावट। दृष्टान्त में—सोहरि=मछलियों को छेदने की लकड़ी। सिद्धान्त में—सहज और एकाग्रता। दृष्टान्त में—पेलना=दो बासों के बीच लगाया हुआ जाल। और सिद्धान्त में—योगयुक्ति। उथले=छिछला। पसीझहु=क्रि० स० [प्रा० पसिज्जई] पिघलना। छतुरिया=सं० स्त्री० [स० छत्र] छाता। आध्या०—शान्ति—प्रदर्शन। उलाटन=उलम्मा, उलाहना। मुष गोई=मुख छिपाना। गुर=नाव के बीच का लकड़ा। गौनी=बीच के लक्कड़ को ठहराने के लिये चारों ओर नाव से बंधी हुई डोरी। ताजी=घोड़ा। तुर्की=तुर्किस्थान।

[सहजावस्था का वर्णन]

टीका—हे मुमुक्षुओ! आप सब गुरु के उपदेश को हृदयङ्गम करके सहजावस्था रूप ध्यान में निमग्न रहिये। "उत्तमा सहजावस्था, मध्यमा ध्यान-धारणा। अधमा मूर्तिपूजा च, तीर्थयात्राऽधमाऽधमा"॥ अर्थात् सहजावस्था उत्तम है, और ध्यान-धारणा मध्यम हैं, और मूर्तिपूजा अधम है; परन्तु तीर्थ-यात्रादिक तो अधम से भी अधम हैं ॥१॥ पापों से मैले संसार में चित्त को क्यों रखते हो? किन्तु गुरु के लाये हुए लक्ष्य में दृष्टि लगाये रहो। और सहजावस्था के प्राप्त नहीं होने से इस समय तुम जैसा अधिक दुःख भोग रहे हो, ऐसा ही अधिक सुख उसके पाने पर तुम्हें मिलेगा ॥ २ ॥ यदि सहजावस्था में जल्दी लगन नहीं लगती है, तो तुम्हारे हृदय के क्रोध और कामादिक विकारों को दूर कर दो। और देखो, मुक्ति की डोरी रूप सुरति (मनोवृत्ति) को घबराहट से मत खैंचो; किन्तु शनैः शनैः स्थिर करो। "शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया"। (गीता)। अर्थात् धैर्य से पकड़ी हुई बुद्धि के द्वारा संसार से धीरे-धीरे उपरत होना चाहिये। ऐसा करने से ही बड़ा मत्स्य रूप "मन" फंसेगा, अपने हाथ में आवेगा ॥ ३ ॥ और मन से कहो कि, हे मन! तू मन को मार कर रह और क्रोध करानेवाले मनुष्य से

भी क्रोध करके मत बोल। और माने हुये मित्र से मित्रता को भी मत छोड़। अर्थात् प्रभु का प्रेम बनाये रखो। और अपनी गांठ से कर्त्तव्य कार्य को भी मत छोड़ो। "तन राखो जहां काम है, मन राखो जहां राम" अर्थात् "कर से कर्म करौ विधि नाना; मन राखो जहां कृपानिधाना" ॥४॥ प्रारब्धवश शरीर-यात्रा (शरीर-निर्वाह) के लिये सत्य न्याय से प्राप्त हुये सुख-दुःख रूप भोगों को भी भोगो; परन्तु उनके भोगों में मत भूलो; किन्तु शरीर से योग-युक्ति को साधते रहो। और जो ऐसे प्रकार में मन मतवाला बने तो उस मन को योग-युक्ति से बांध दो ॥ ५ ॥ ठाकुर (हाकिम) बड़ा कड़ा है। वह तुम्हारी इस चाल को कुचाल सिद्ध करेगा। और तुमको बांधकर मारेगा और सब कुछ डण्ड लेगा। उस समय तुम्हारी सब मस्ती निकल जायगी ॥६॥ जब वीर यमदूत आ पहुंचेंगे तो तुम्हारी पीठ पर मारते-मारते उनकी बेंतें टूट जायेंगी। ओर तुम्हारे कुटुम्बी लोग सब खड़े-खड़े देखते रहेंगे; परन्तु किसी की भी सिफारिस से तुम नहीं छुट सकोगे ॥७॥ उन अपराधियों में से एक कोई झुक कर और दण्डदाता के पांवों में पड़कर अपने को छुड़ाने के लिये उससे विनय करता है; परन्तु इस प्रकार प्रार्थना करने पर भी वह नहीं मानता है। क्योंकि, तुमने तो दण्ड-दाता यमराज को नहीं पहिचाना। और उससे भय नहीं माना, तो वह तुमको कैसे पहचानेगा ? ॥ ८ ॥ और इसके पहले ही केवट रूप सद्गुरु ने तुमको अपने पास बुलाया था; परन्तु उनसे तो तुमने कोई बात (सलाह) पूछी नहीं; किन्तु अहंकार की ही बातें करते रहे। इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि, जिसकी गांठ में (हृदय में) श्रद्धा, ज्ञान और मनो-निरोध आदिक सम्बल (रास्ते का खर्चा) कुछ भी नहीं है, वह तो निर्धन होकर ही डोलता है ॥ ९ ॥

(सूचना-केवट, धीमर, मांझी, मछुवा, कहार, कहरा, कीर, भोई और मल्लाह; ये सब नाम केवट जाति के हैं। और "कहरा" कहारों का जातीय गोत है। "केवट गर्व तन चोले हो" इत्यादि पद्य में मछली फंसाना और विवाह में काठ के घोड़े को कुदा कर नचाना इत्यादि केवटों के व्यवहार को बताते हुए केवटों की बोली में अन्योक्ति रूप से हितकारी उपदेश दिया गया है।)

जिन्होंने मनोवृत्ति रूप मछलियों को मनरूपी डेहरी में भर दिया, उन्होंने यह समभाव रूपी संबल-संचय यात्रा से पहिले ही करके रख लिया। यदि पूर्ण आत्मिक-बल हो तो मन रूपी मच्छ को पकड़ लेना और उसको सोहरि (एकाग्रता) में लगा देना तो सहज ही है; क्योंकि, न उसके हाथ है न पैर जिससे कि वह लड़भिड़ सके ॥१०॥ केवटी भाषा अन्योक्ति-हे पागल! तेरे पास पेलना के रहते हुये तू तीर-तीर में मच्छलियों को क्यों टोहता फिरता है? पेलना से पानी को पेलता हुआ आगे क्यों नहीं चला जाता है? सिद्धान्त वचन-योग-युक्ति के रहते हुये तुम उससे मनको क्यों नहीं पकड़ते हो? व्यर्थ ही इधर-उधर के साधनों को क्यों करते हो? केवटी भाषा अन्योक्ति-देखो भाई! उथले पानी में रहकर ही तुम यह काम करो और गहरे पानी में मत पड़ो। नहीं तो तुम्हारे हाथ में आई हुई मछली भी हाथ से निकल जावेगी। सिद्धान्त वचन—हे अभ्यासी भाइयो! आप लोग सहजावस्था और सहज योग से होनेवाली चेतन—समाधि रूप उथले में रहिये और हठ-योग से होनेवाली जड़ समाधि रूप गहरे में मत जाइये; नहीं तो आपका यह निगृहीत मन समाधि के लय दोष से लीन हो जायगा ॥११॥

सूचना—लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद; ये समाधि के दोष हैं।

अज्ञानियों की करुण कथा—अज्ञानी लोग हृदयस्थ मूल ज्ञान—रूपी तरकी घाम से और नाना संताप रूपी ऊपर की संतप्त धूर से दुहरे भुनते रहते हैं; क्योंकि, उनको शान्ति—रूपी छाया तो कहीं मिलती ही नहीं है। हे अज्ञा-नियो! इस प्रकार तुम अपनी जान (जीव) को क्यों जलाते और पकाते हो? आत्मबोध—बोध रूपी अकिंचन सुलभ झोंपड़ी क्यों नहीं डाल लेते हो? ॥१२॥ भजन—"दिन दस रजनी सुख करु सजनी, ऐसन समैया फिर नहिं आवल रे की"। इसके अनुसार मनुष्य शरीर में जो कुछ आनन्द—क्रीडा की सो की। फिर तो चौरासी में चले जाने पर ऐसी आनन्द-क्रीडा कैसी होगी? ऐसे सुरदुर्लभ नरतन के व्यर्थ चले जाने पर माया रूपी सास और कुमति रूप ननंद के मर्मस्पर्शी बचनों से लज्जित होना पड़ेगा, और लाज से मुंह भी छिपाना पड़ेगा ॥१३॥ केवटी भाषा अन्योक्ति—हे भाई! तुमने मेरा कहना नहीं माना। देखो, अब तो तुम्हारे नाव के बीच का मथोला ढीला हो गया।

और डोरियां भी ढीली-सीली हो गई हैं। देखो, तुम तुर्किस्थानी घोड़े पर कभी नहीं चढ़े हो; किन्तु सदैव काठ के घोड़े पर चढ़े हो। सिद्धान्त वचन— "वृद्ध भये तन कांपन लागे लटकन लागे चाम"। इसके अनुसार बुढ़ापा से तुम्हारा मेरु-दण्ड (रीढ की हड्डी) झुक कर ढीली पड़ गई, और नशें भी ढीली हो गई। देखो, तुमने हमारा उपदेश नहीं माना। तुम सदैव विधि-विधानों में लगे रहे; परन्तु अब वार्द्धक्य (बुढापा) से कष्ट-साध्य कर्म नहीं बनते हैं। तुमने कभी भी आत्मावलम्बन नहीं किया। केवल सकाम कर्मोव-लम्बन रूप काठ के घोड़े के भरोसे रह गये ॥१४॥ केवटी व्यवहार का वर्णन कहार लोग कहरा राग गा—गाकर नाचा करते हैं। और उनके विवाह में ताल और झांझ बजते हुये आते हैं। और विवाह करने आया हुआ दुलहा जिस रंग के कपड़े पहिने रहता है, दुलहिन भी उसी रंग के कपड़े पहिनती है। सिद्धान्त-वचन—उपासना—सिद्धि, दशों प्रकार के अनहद शब्द प्रगट हो गये। उनको सुन कर मन रूपी कहार नाचने लगा। अनन्तर अनात्म-उपासकों की उपास्य-रूपता (विष्णु या शिव जिसकी उपासना करते थे, उसका चतुर्भुजादिक) मिल गई ॥ १५ ॥ "नरतन भव—वारिधि कहं बेरा"। (रामायण)। इसके अनुसार नरतन रूपी नौका के रहते हुये उसका सदुपयोग करके संसार-सागर से पार होना तुमने नहीं सीखा। अतः संसार-सागर के किनारे कैसे लग सकते हो ? कबीर साहेब कहते हैं कि, उक्त उपासक लोग प्रपंच का भी ताना तनते रहते हैं। और राम—रस के भी मतवाले बने रहते हैं। ये दोनों बातें विरुद्ध हैं। "कबीर मन तो एक है, भावे तहां लगाव। भावे गुरु की भक्ति कर, भावे विषय कमाव" ॥१६॥

(सूचना – इस ग्रन्थ में "माते" शब्द सर्वत्र खंडनपरक है; अतः यहाँ पर "जोलहा' पद से कबीर साहेबका स्मरण करना ग्रन्थ की परिभाषा के विरुद्ध होने से नितान्त ही अनुचित है।)

(२) कहरा

मत सुनु मानिक मत सुनु मानिक, हिदया बंद निवारहु हो।
अटपट कुंहरा करै कुंभरैया, चमरा गाँव न बांचे हो ॥१॥

निति उठि कोरिया बेट भरतु है, छिपिया आंगन नाचे हो ॥२॥
निति उठि नौवा नाव चढ़तु है, बेरहि बेरा बोरे हो ।
रावरि की किछु षबरि न जानहु, कैसे के झगरा निबेरहु हो ॥३॥
एक गांव में पांच तरुनि बसे, जिहि मंह जेठ जेठानी हो ।
आपन आपन झगरा प्रगासिनि, पियासो प्रीति नसान्हि हो ॥४॥
भैंसिन्हि मांह रहत नित बकुला, तिकुला ताकि न लीन्हा हो ।
गाइन माह बसेउ नहिं कबहूँ, कैसेके पद पहिचनबेउ हो ॥५॥
पंथी पंथ पूछि नहिं लीन्हो, मूढहिं मूढ गंवारा हो ।
घाट छाडि कस औघट रेंगहु, कैसेके लगबहु तीरा हो ॥६॥
जतइतके धन हेरिन ललचिन; कोदइत के मन दौरा हो ।
दुई चकरी जनि दरर पसारहु, तब पैहो ठिक ठौरा हो ॥७॥
प्रेम बान एक सतगुरु दीन्हो, गाढो तीर कमाना हो ।
दास कबीर कीन्ह यह कहरा, महरा मांहि समाना हो ॥८॥

शब्दार्थ – बेट = बेगार । जतइत = जाता, चक्कीवाले । कोदइत = कोदों दलने की मिट्टी की बनी हुई चक्की वाले ।

[विषयासक्ति से आत्म–प्रीति का अभाव]

टीका – हे नररत्न ! तू मेरे उपदेशों को सुनकर हृदय के बन्धनों (विकारों) को दूर फेंक दे ॥ १ ॥ मन रूपी कुम्हार अनेक अटपट रचनायें करता रहता है । और चर्म-दृष्टि (विषयी और पामर) रूपी चमार संसारमें बचने नहीं पाते हैं । और सकाम कर्मों का ताना तननेवाला कर्मीरूप कोली अपनी स्वार्थ–सिद्धि करता रहता है । और छापा छापने वाला (उपासक) छिपिया देवाङ्गन में नाचता रहता है ॥ २ ॥ अज्ञानी नर रूपी नौवा को जब-जब नर तन मिलता है जब-तब वह उसे भवजल में डुबा देता है । "ज्ञाते देवे

सर्वशोक प्रहाणिः" अर्थात् परम तत्त्व के ज्ञात होने पर सारी अशान्ति की निवृत्ति हो जाती है। इसके अनुसार परम तत्त्व का तुमने कुछ परिचय ही नहीं किया; तो मन और इन्द्रियों के झगडे को कैसे हटा सकते हो? ॥३॥ एक शरीर में इन्द्रिय रूप पांच स्त्रियां रहती हैं। और उनके साथ मन रूपी जेठ और मनसा रूपी जेठानी भी रहती है ये सब अपनी अपनी-अपनी भोगासक्ति (विषयासक्ति) रूप झगडे को खडा करते रहते हैं। इस कारण इनके द्वारा आत्मप्रीति नष्ट हो जाती है ॥४॥ दृष्टान्त वचन – गोचर भूमि में चरनेवाली भैसों के पीछे-पीछे बगुला सदा लगे रहते हैं। सिद्धान्त--वचन इन्द्रियाणां हि चरतां, यन्मनोऽनु विधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां, वायुर्नावमिवाम्भसि" ॥ अर्थात् विषयों में लगी हुई इन्द्रियों के पीछे यदि मनको भी लगा दिया जाय तो वह मन उसकी बुद्धि को खींच लेता है। इसके अनुसार अज्ञानियों का मन रूपी बगुला सदैव इन्द्रिय रूपी भैसों के पीछे पड़ा रहता है; अतः वह अज्ञानी जन परम तत्त्व की तरफ तो कभी ताकता ही नहीं है। दृष्टान्त वचन–तुम तो कभी गायों के साथ उनमें रहे ही नहीं। उनके पैरों (खोज) को कैसे पहिचानोगे? सिद्धान्त वचन – 'सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई" । (रामायण)। इसके अनुसार सात्विक वृत्ति रूप गौओं में कभी रहे ही नहीं तो परम (निजपद) का परिचय कैसे कर सकते हो? ॥५॥ तुमने तो कभी सन्मार्ग के यात्री सन्त महात्माओं से सन्मार्ग को पूछा ही नहीं; किन्तु स्वयं मूढ होने के कारण मूढ-गंवारों का संग किया। इसलिये घाट रूपी सत्संग को छोड़ कर कुसङ्ग रूपी औघट घाट की ओर जा रहे हो, तो भला संसार-सागर के किनारे कैसे लगोगे? ॥ ६ ॥ यह जीवरूपी स्त्री सुकर्मी रूप जतइत को ढूंढती है। और उनके सुखों को देखकर ललचाती है। और उसका मन कुकर्मी जनरूपी 'कोदइत की तरफ भी दौड़ता रहता है। भाव यह है कि, अज्ञानियों का मन मक्खी की तरह होता है, जो कि, फूलों पर बैठती है और मलिन वस्तु पर भी बैठ जाती है। इसलिये हे भाई! तुम सुकर्म और कुकर्म रूपी दो चक्कियों के बीच में अपने कर्त्तव्य रूपी पीसने के अन्न को मत फैलाओ; किन्तु सुकर्मी की तरफ मन को लगा दो। ऐसा करने ही से तुम मुक्तिपद को पाओगे ॥ ७ ॥

भावार्थ—अज्ञानियों का मन नाना देवताओं की उपासना और नाना सकाम कर्मों के फलों में लुभाया रहता है; अतः ऐहिक भोग और पारलौकिक भोगों की इच्छा को छोड़ने से ही मुक्ति मिलती है।

सद्गुरु ने गाढ़ी=कसी हुई कमान पर खैंच कर फेंके हुए तीर की तरह तुम्हारे हृदय में प्रेम का बाण मारा है। अर्थात् प्रेमपूर्वक तुमको समझाया है। कबीर साहेब कहते हैं कि, देवोपासक और कर्मी लोगों के संसरणजन्य "कहरा" दुःख का मैंने कथन किया है। देखो, उनके हृदय में तो महरा रूप हलका भाव समाया हुआ है॥ ८॥

(३) कहरा।

राम नाम को सेवहु बीरा, दूरि नाहिं दूरि आसा हो।
और देव का पूजहु बौरे, ई सभ झूठी आसा हो॥१॥
ऊपर उजर कहा भो बौरे भीतर अजहुं कारो हो।
तनके बिरध कहा भो बौरे, मनुवा अजहूं बारो हो॥२॥
मुखके दाँत गये कहा बौरे, भीतर दांत लोहे के हो।
फिरि फिरि चना चबाउ विषयके काम क्रोध मद लोभके हो॥
तन की सकल संग्या घट गयऊ, मनहिं दिलासा दूना हो।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, सकल सयाना पहुना हो॥४॥

[आत्म-पूजा]

टीका—हे धीर वीरो! तुम राम "रमैया" है नाम जिसका अर्थात् चेतन-देव आत्मा की पूजा करो। वह दूर नहीं है; किन्तु तुम्हारी आशायें दूर चली गई हैं। "चलते देव जो पूज ले, का पत्थर से काम"। "जितनी बोलैं आत्मा उतने सालिगराम"। "जीव दया अरू आतम पूजा, इन्ह सम देव अवर नहिं दूजा"। इसके अनुसार देवताओं की पूजा में हे पागल! तुम क्या लगे हो? क्यों कि, ये सब झूठी आशाएँ हैं॥१॥ बुढापे में बालों की सफेदी आ जाने से, ऊपर से सफेद हो जाने से क्या होता है?। क्योंकि

मैलापन होने से वह भीतर से तो अभीतक काला ही है। और हे पागल! इस प्रकार तन के वृद्ध होने से क्या लाभ है? क्यों कि, मन तो तुम्हारा अभी बच्चा (अज्ञानी) ही बना हुआ है ॥ २ ॥ हे अज्ञानी पागल! तेरे मुंह के दांत टूट जाने से क्या लाभ हुआ? क्यों कि, तेरे भीतर भोगों की दृढ वासना रूप तो लोहे के दांत बने हुये हैं। उनसे तुम काम, क्रोध, मद और लोभ रूपी विषयों के चनों को बार-बार चबाया करते हो ॥ ३ ॥ बुढापे से तुम्हारे शरीर की सारी शक्ति मारी गई; परन्तु अब तक भी तुम्हारे दिल में भोगों के भोगने का दूना हौसला बना हुआ है। कबीर साहेब कहते हैं कि, हे सन्तो! सुनो, संसार के ये सब चतुर कहलानेवाले दो दिन के पहुने हैं। भजन – "मन नेकी कर ले, दो दिन का मिजमान रे। बडे बडे तेरे पीर अवलिया देह त्यागी" ॥ ४ ॥

(४) कहरा।

ओढन मोरा रामनाम मैं, रामहिं का बनिजारा हो।
रामनाम का करहूं बनिजिया, हरि मोरा हटवाई हो ॥१॥
सहस नामका करौं पसारा, दिन दिन होत सवाई हो।
जाके[1] देव में नव पंच सेरवा, ताके होत अढ़ाई हो ॥२॥
कानी तराजु सेर तिनि पउवा, डहकन[2] ढोल बजाई हो।
सेर पसेरी पूरा कैले, पासंग कतहुँ न जाई हो ॥३॥
कहंहिं कबीर सुनहु हो संतो, जोर चला जहंडाई हो ॥४॥

[राम-नाम के व्यवसायी]

टीका—राम-नाम के व्यवसायी कहते हैं कि मेरा ओढना (ओढने का वस्त्र) अर्थात् शीत-ऊष्ण द्वन्द्व-निवारक रामनाम ही है। और मैं राम ही का वणिज करनेवाला हूं; अतः मैं राम-नाम का व्यापार करता हूं, और हरि मेरा आढतिया है ॥१॥ मैं प्रतिदिन ही सहस्र नाम का पाठ करता हूं। इसलिये

१ पाठा०—र, फ, जाके देव वेद पछरवा, ताके होत हटवाई हो। २ ब, भ, तुरकिन।

मेरा यह राम-नाम का सौदा दिन-दिन सवाया बढता जाता है; क्यों कि जिस कार्य में मैं आठ पसेरी का एक मन और इन्द्री रूप पांच सेर इनको लगा देता हूं वही अढाई गुने हो जाते हैं ॥ २ ॥ इस प्रकार मुख से राम-नाम के आढतिया और व्यापारी बने हुये लोग बगल में छूरी रख कर ऐसा करते हैं कि, उनकी तराजू पासंगवाली (कानी) होती है। और उनका सेर भी तीन पौवा ही रहता है। इस प्रकार वे ढोल बजा कर (खुले आम) सबको लूटते (ठगते) रहते हैं। "मुष में राम बगल में छुरी, कहैं कबीर यह नियत बूरी"। भाव यह है कि, भोगों की इच्छा से अज्ञानियों की सम अवस्था रूपी तुला विषम हो गई। और मन रूपी सेर भी त्रिगुणात्मक हो गया है; अतः केवल मुख से राम-राम बोलने से कोई लाभ नहीं होता है। "बिनु देषे बिनु अरस परस बिनु, नाम लिये का होई। धन के कहे धनिक जो होवै, निरधन रहै न कोई"॥ "पंडित बाद बदै सो झूठा। राम के कहे जगत गति पावे, खांड कहै मुष मीठा"॥ अब यह बताते हैं कि, मन और इन्द्रियों को वश में करके राम—नाम जपना चाहिये। राम—नाम के गल्ले को तौलने की विधि यह है कि, मन रूपी सेर और पञ्चेंद्रिय-रूपी पसेरी को पूरा बना लो (पूर्णतः वश में कर लो), तब इच्छारूपी पासंग तो कहीं भी न जायगी।

भावार्थ—जिस प्रकार सेर और पसेरी आदिक बांटो के पूरा रहने से पासंग का घाटा तो केवल तराजू के फेरफार से ही निकल आता है। इसी इसी प्रकार मन और इन्द्रियों पर पूर्ण प्रभुत्व रहने से इच्छा का निरोध भी हो जाता है। "विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते"॥ (गीता)॥ अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा विषयों को नहीं भोगने से विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; परन्तु भोगों की इच्छा बनी रहती है, और परम तत्त्व के साक्षात्कार से तो वह इच्छा भी निवृत्त हो जाती है॥ ३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि, हे सन्तो! सुनो, जो दुराग्रही मनुष्य इस तत्त्वोपदेश को धारण नहीं करता है वह भवाटवी में भटकता रहता है॥ ४॥

(५) कहरा।

राम नाम भजु राम नाम भजु, चेति देषु मन मांहीं हो।
लछ करोरि जोरि धन गाडिन्हि, चलत डोलावत बाहीं हो॥ १॥

दादा बाबा औ परपाजा, जिन्ह के ई भुंइ भाडे हो ।
आंधर भये हियहुकी फूटी, तिन्ह काहे सभछांड़े हो ॥२॥
ई संसार असार को धंधा, अंतकाल कोई नाहीं हो ।
उपजत बिनसत बार न लागै, जौं बादर की छांहीं हो ॥३॥
नाता गोता कुल कुटुंभ सभ, इन्ह करि कवन बड़ाई हो ।
कहंहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़ी सभ चतुराई हो ॥४॥

[संसार की असारता का विचार]

टीका – राम ''रमैया'' यह है नाम जिसका अर्थात् राम-नामवाले सर्वभूत हृदय-सञ्चारी आत्मदेव को बार-बार भजो। और सावधान होकर अपने मन में संसार को असारता को देखो। धन के अभिमानी अज्ञानी लोग संचित किये हुये अधिक धन के गर्व से अकड-अकड कर (ऐंठ-ऐंठ कर) चलते हैं ॥ १ ॥ परन्तु ये लोग इस बात का विचार नहीं करते हैं कि, हमारे दादा, बाबा और परबाबा जिनने धन से भरे हुये और जमीन में गाडे हुये बर्तन रखे थे वे लोग उनको छोड-छोड कर क्यों चले गये ? असल बात यह है कि, इनकी ऊपर की आंखें और हृदय की आखें (विवेक-विचार) भी फूट गईं हैं। अर्थात् ये लोग व्यवहार से शून्य और और विचार से भी शून्य हैं ॥२॥ यह संसार माया का रचा हुआ है, इसलिये अंतकाल में को कोई नहीं रहता है। और बादल की छाया की तरह उत्पन्न होते और नष्ट होते हुये भी इसे देरी नहीं लगती है ॥३॥ कुटुम्ब का सम्बन्ध गोत्र, कुल और कुटुम्ब; इन सबकी बडाई से क्या होता है ? कबीर साहेब कहते हैं कि, एक राम के भजे बिना सारी व्यवहार-कुशलता डूब जाती है। ''चतुराई चूल्हे पडो, जो नहिं सब्द समाय। कोटिन गुन सुवा पढे, अंत बिलैया खाय'' ॥ ४ ॥

(६) कहरा।

राम नाम बिनु राम नाम बिनु, मिथ्या जनम गमाई हो ।
सेमर सेइ सुवा जौं जहंडें, ऊन परे पछिताई हो ॥१॥

जैसे मदपी गांठि अरथ दे, घरहु कि अकिल गमाई हो ॥२॥
स्वादे वोद्र भरे धौं कैसे, ओसै प्यास न जाई हो।
दरब-हीन जैसे पुरुषारथ, मनहीं मांहि तबाई हो ॥३॥
गांठी रतन मरम नहिं जानै, पारिषि लीन्हा छोरी हो।
कहंहिं कबीर यह अवसर बीते, रतन न मिलै बहोरी हो ॥४॥

शब्दार्थ — मदपी = मद्यपान करनेवाला, शराबी।

[आत्म-परिचय की आवश्यकता का उल्लेख]

टीका — 'राम' ऐसा है नाम जिसका "रमैया राम" (साहब) के भजन के बिना तुमने अपना जन्म व्यर्थ खो दिया ॥१॥ असार-संसार के सेवन से अज्ञानी लोग अंत समय ऐसे पछताते हैं, जैसे सेमर के निःसार फलों को भ्रम से सुस्वादु समझ कर चोंच मारनेवाला शुक पक्षी रुई के निकल पडने से पछताता है। और जिस प्रकार मद्य पीनेवाले (शराबी) अपने पल्ले के पैसे देकर अपनी गांठ की अकिल भी खो देते हैं ॥ २ ॥ जिस प्रकार ओस के चाटने से प्यास नहीं जा सकती है। इसी प्रकार भोगों के आस्वाद से पेट नहीं भरता है। अर्थात् आत्मा में शान्ति नहीं मिलती है। कोई मनुष्य, जैसे द्रव्य से हीन हो और वैसे ही पुरुषार्थ से भी हीन हो तो उसके मन में सदैव सङ्कट बसा रहता है ॥ ३ ॥ सबों के पल्ले में रत्न बन्धा हुआ है। अर्थात् सबों के हृदय में राम है; परन्तु उसका पता नहीं जानते हैं। "हृदया बसे तेहि राम न जाना"। किन्तु जो विवेकी होते हैं वे उसको खोल कर रख लेते हैं। "लाल लाल सब कोइ कहै, सबके पल्ले लाल। गांठि खोलि परखा नहीं, ताते भया कङ्गाल" ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि, इस नरतन रूपी अवसर के बीतने पर निज पद रूपी वह रत्न फिर नहीं मिलेगा ॥ ४ ॥

(७) कहरा।

रहहु संभारे राम-बिचारे, कहता हौं जो पुकारे हो ॥१॥

मूंड मुंडाये फूलि के बैठे, मुद्रा पहिरि मजूसा हो।
तेहि ऊपर किछु छार लपेटे, भितर भितर घर मूसा हो ॥२॥
गांव बसतु है गरब भारती, माम[1] काम हंकारा हो।
मोहनि जहां तहां ले जैहे, नहिं पत रहहिं तोहारा हो ॥३॥
मांझ मंझरिया बसै जो जानै, जन होइ हैं सो थीरा हो।
निरभै भै तहं गुरुकि नगरिया, (सुष) सोवै दास कबीरा हो ॥४॥

शब्दार्थ – मुद्रा = सं० स्त्री० [सं०] गोरख-पंथी साधुओं के पहनने का एक कर्ण–भूषण, जो प्रायः कांच या स्फटिक का होता है। उ० – 'शृंगी मुद्रा कनक खपर ले करि हौं जोगिन भेस'। सूर०। मजूसा = पिटारी। आध्या०--गुफा।

['जैसा काछ काछे, वैसा नाच नाचै']

टीका—मैं पुकार कर यही बात कहता हूँ कि, अपने मन को माया-प्रपंच से बचाये रहो। और राम का विचार करते रहो। केवल साधु-भेष के अहंकार से काम नहीं चलता है ॥१॥ ये भेषधारी कानों में मुद्रा और गले में सेली पहन कर और मुंड मुंडा कर गुफा में साडम्बर बैठे रहते हैं। और ऊपर से अपने शरीर पर भस्म लगा लेते हैं; किन्तु उनको यह पता नहीं है कि, हमारे हृदयागार से कामादिक चोरों ने सद्गुण रूपी रत्नों को चुरा लिया है ॥ २ ॥ उक्त रूप से नाममात्र के भारतीजी मानों स्त्री, काम और अहंकारा-दिक राजाओं के तो गांव में बसकर उनकी प्रजा ही बसे हुये हैं। देखो, जिस प्रपंच में मोहिनी माया रहती है वह तुमको वहां घसीट कर ले जायगी। तब तुम्हारा मान और प्रतिष्ठा कुछ भी न रहेगी। भजन–'माया मोहिनी मर हरण भोगिया सब पीस डारो जोगिया बसकरण' ॥३॥ जो तत्त्व-वेत्ता होंगे वे ही समुद्र के मध्य में निर्भय विचरनेवाले मांझी की तरह अपार-संसार पारावार के मध्य में निर्भय होकर जीवन-यापन करेंगे। "विकारहेतौ सति विक्रीयन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः"। (कालिदास)। "यौं साधू

1 पाठा–ट, ठ, बाम।

संसार में कमला जल मांहीं, सदा सरबदा संग रहै, जल परसत नांहीं"। जिसमें निवास करने से जीवात्मा सब प्रकार से निर्भय हो जाता है। बस, वही गुरु की नगरी है। उसीमें पहुंच कर ज्ञानी परमानन्द के पर्यङ्क पर अनन्त विश्राम करते हैं। यहां पर "दास कबीरा" यह पद उत्तम अधिकारियों का बोधक है ॥ ४ ॥

(८) कहरा।

छेम कुसल औ सही-सलामत, कहहु कवन को दीन्हा हो।
आवत, जात दोउ बिधि लूटे, सरब तंग हरि लीन्हा हो ॥१॥
सुर नर मुनि जति पीर अवलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो।
कहं लौं गनौं अनंत कोटिलों, सकल पयाना कीन्हा हो ॥२॥
पानी पवन अकाश जायंगे, चंद जायंगे सूरा हो।
येभि जायंगे वोभि जायंगे, परत न काहु के पूरा हो ॥३॥
कुसल कहत कहत जग बिनसै, कुसल काल की फांसी हो।
कहंहि कबीर सारी दुनियां बिनसै, रहैं राम अविनासी हो ॥४॥

[संसार की असारता और विनाशिता]

टीका— हे भाई ! यह तो कहो कि, अपनी क्षेम-कुशलता और स्वस्थता तुमने किसको दे दी है ? क्यों कि, वह तुम्हारे पास नहीं हैं। अतएव तुम जन्मते और मरते ज्ञान से हीन रहे। और अविद्या ने तुम्हारा सर्वस्व ले लिया अतएव तुम्हारे तङ्ग ढीले हो गये हैं ॥ १ ॥ माया ने सुर, नर, मुनि, यति, पीर, अवलिया और प्रधान वीरों को उत्पन्न किया। इतना ही नहीं, कहां तक गिने जायें, अनन्त कोटि सृष्टि को भी उसने उत्पन्न किया; परन्तु अन्त में सबों ने रास्ता नाप लिया, चल बसे। "बडे बड़े तेरे पीर अवलिया चले देह त्यागी" ॥ २ ॥ अंतकाल में पानी, पवन, आकाश, चन्द्रमा और सूर्य; ये सब चले जायेंगे, लीन हो जायेंगे। इस लोक के और उस (स्वर्गादिक) लोक के रहनेवाले भी चले जायेंगे। संसार में किसी का पूरा नहीं पड़ता है।

अर्थात् कोई स्थिर नहीं है ॥ ३ ॥ संसारी लोग परस्पर एक दूसरे से 'कुशल हो, कुशल हो;' इस प्रकार का आनन्द पूछते-पूछते और कहते-कहते सब नष्ट हो गये। वस्ततुः संसार का आनन्द ही तो काल की फांसी है। "आनन्द आनन्द सब कहै, आनन्द जीव का काल" । "कुशल-कुशल ही पूछते, जग में रहा न कोय। जरा मुई ना भय मुवा, कुशल कहां से होय" ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि, सारी दुनियां का नाश हो जाता है। केवल अविनाशी राम, अनादि राम, रमैया राम (चेतन देव) बच जाते हैं ॥ ४ ॥

(६) कहरा।

ऐसनि--देह निरालप[1] बौरे, मुवले छुवै न कोई हो।
डंडवा कि डोरिया तोरि लराइनि, जो कोटिन धन होई हो ॥१॥
उरध निरासा उपजि तरासा, हकराइन्हि परिवारा हो।
जो कोइ आवै बेगि चलावै, पल एक रहन न पाई हो ॥२॥
चंदन चोर चतुर सभ लेपहिं, गर गज-मुकुता हारा हो।
चहुं[2] दिसि गीध मुये तन लूटैं, जंबुक बोद्र बिदारा हो ॥३॥
कहंहिं कबीर सुनहु हो संतो, ग्यान हीन मति हीना हो।
एक एक दिन याही गति सभकी, कहा राव कहा दीना हो ॥

[शरीर की हीनता और अनित्यता]

टीका—हे पागल! तुमको ऐसा शरीर मिला है कि, मरने पर उसको कोई छूता भी नहीं हैं! (सूचना—यहां पर 'निरायन' या 'निरायनि' ऐसा पाठ हो तो उसका अर्थ है कि, हे नव युवको! जिस शरीर से बार-बार संवारने और सजने में तुम लोग जीवन का बहुमूल्य समय बिता रहे हो, उसकी तो यह महिमा है कि, "मुवले छुवै न कोई हो" । चाहे कोटिपति ही क्यों न हो; परन्तु मरने पर तो 'करधन' [कमर में बधी हुई सूत की डोरी] तक तोड़ ली जाती है) ॥ १ ॥ प्राणांत के समय ऊर्ध्व श्वास होने पर मृत्यु का भारी भय हो गया;

१ पाठा --ज, रू, निरायनि। १ पाठा —त, थ, चउसठि।

अतः कुटुम्बियों को पुकारने लगा। इसके बाद मरने पर जो कोई आता है वह जल्दी से मुर्दे को घर से बाहर करने की बात चलाता है। इस प्रकार वह बेचारा मुर्दा एक पल भी अपने घर में रहने नहीं पाता है ॥ २ ॥ इसके अनन्तर सब चतुर लोग मिल कर मृतात्मा के सम्मान में कोई उसके ललाट पर चंदन का लेप करता है, तो कोई उसे नूतन वस्त्र उढ़ाता है। और कोई उसके गले में गजमुक्ता का हार पहनाता है; परंतु अब उसका यह सब श्रृङ्गार व्यर्थ है। अंत में उसके शरीर की यह दशा होती है कि, गीध इकट्ठे होकर चारों ओर से उसके शरीर को नोंच-नोंच कर और लूट-लूट कर खाते हैं। और सियार उसके पेट को फाड डालता है ॥ ३ ॥

[सूचना—यह मुर्दे के पवन दाग का वर्णन है। भजन—'कोई गाडें कोई अग्नि जलावे, कोई पवन कोई नीर। चार दाग से सतगुरु न्यारा, ज्याका अजर अमर शरीर। भजो रे मन केवल नाम कबीर" ॥ इस प्रकार संसार के चार दाग (शव की अन्त्येष्टि क्रिया) प्रसिद्ध हैं।]

कबीर साहेब कहते हैं कि, हे सन्तो! सुनो, ज्ञान से हीन और मति से हीन लोग इस बात का विचार नहीं करते हैं कि, चाहे अमीर हो चाहे गरीब हो, एक न एक दिन सबों की दशा यही होगी ॥ ४ ॥

(१०) कहरा।

हौं सभहिन में हौं न हो मोहि, बिलग बिलग बिलगाई हो।
ओढन मोरा एक पिछोरा, लोग बोलै एकताई हो ॥१॥
एक निरंतर अंतर नाहीं, जौं ससि घट जल-झांई हो।
एक समान कोइ समुझत नाहीं जाते जरा मरन भ्रम जाई हो ॥
रैनि दिवस मैं तहवां नाहीं, नारि पुरुष समताई हो।
ना मैं बालक बूढो नाहीं, ना मोरे चिलकाई हो ॥३॥
तिरिबिधि रहौं सभनिमाँ बरतौं, नाम मोर रमुराई हो।
पठये न जाऊं आने न आउं, सहज रहौं दुनियाई हो ॥४॥

१ पाठा -न, झ, ये।

जोलहा तान-बान नहिं जानै, फांटि बिनै दस ठांई हो ।
गुरु-परताप जिन्हे जस भाषो, जन बिरलै सुधि पाई हो ।।५।।
अनंत--कोटि मन हीरा बेधो, फिटकी मोल न पाई हो ।
सुर नर मुनि जाके षोज परे हैं, किछु किछु कबीरन्हि पाई हो ।।६।।

शब्दार्थ–फिरकी = सूत के छोटे-छोटे कुचरे जो कपड़े की बनावट में निकले रहते हैं ।

[राम-राजा का आत्म-परिचय और राम-कहानी]

[सूचना–इसमें आत्मा की व्यापकता और स्वरूप–स्थिति का उल्लेख है]

टीका–राम-राजा कहता है कि, व्यापक होने से मैं सब में रमा हुआ हूं; परन्तु मैं (चेतन) सब (जड़) रूप नहीं हूँ । विवेकियों ने मुझको उक्त प्रकार से जड़ से अलग करके समझा है । उक्त व्यापकता ही मेरा एक मात्र उत्तरीयाम्बर (ओढ़ना या पिछोरा) है । इस तत्त्व को न जाननेवाले (आधुनिक अद्वैत-वादी) भ्रम से जड़ और चेतन को एकता बतलाते हैं ।।१।। मैं वस्तुतः एक और अव्यवहित हूं; क्यों कि, मेरे स्वरूप में मात्रा का व्यवधान इस तरह नहीं है, जैसे घड़े के जल में पड़े हुये चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब और चन्द्रमा के बीच में जरा भी अंतर-परदा नहीं रहता है ।

ज्ञान के अभाव से प्राकृत जन मुझको एक समान (कूटस्थ, निर्लेप,एकरस ज्यों के त्यों) नहीं समझते हैं; प्रत्युत विपरीत समझते हैं। इसी भ्रम से ये लोग जरा, जन्म और मरण-जन्य दुःखों को भोगते रहते हैं ।।२।। मैं जिस देश में (स्वरूप में) हूं वहां सूर्य नहीं पहुंच सकता । इस कारण वहां न रात है न दिन। "न तद्भासयते सूर्यः" । और वहां पर नारी और पुरुष एक रूप (चेतन रूप से) से रहते हैं। "हंस न नारी पुरुष है" और न मैं बालक और न बुड्ढा हूं, और न मेरे जवानी की चमक-दमक ही है ।।३।। उक्त तीनों अवस्था और ऊँच-नीच कहलाने वाले सब प्राणियों में मैं एक ही रूप से रहता हूं; क्योकि मेरा नाम 'रमुराई' राम-राजा (रमैया राम) है । मैं निरवधिक व्यापक होने के कारण न किसी के विसर्जन से जा सकता हूँ,और न किसी के आवाहन से आ ही सकता हूं;

क्योंकि, मैं तो स्वभावतः सर्वत्र विद्यमान हूं ।।४।। अज्ञानी रूपी जुलाहा ताने-बाने (कर्म-उपासना) का अभिज्ञ नहीं होता है; क्योंकि, वह फांट (थान) को दश जगह से बिनता है । भाव यह है कि, जिस प्रकार एक ही जगह (तरफ) से बिना हुआ थान सुन्दर और सुसाध्य होता है । इसी प्रकार एक ही (निज) देव की उपासना से सर्वाभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है । "और देव का सेवहु बौरे, ई सब झूठी आसा हो" । गुरु की कृपा से किसी विरले ने इस रहस्य को जाना है ।।५।। अनन्त कोटि कामनाओं में तथा अनंत कोटि देवताओं की उपासना में मन को लगाने से हीरा रूपी जीवात्मा बींध गया । अर्थात् अन्तःसार हीन हो गया । इस कारण इसका मूल्य फिटकी के समान भी (नियत) न रहा । "हीरा सोई सराहिये, सहै घनन की चोट । कपटी कुरंगी मानुवा, परिखत निकला खोट" ।। कबीर साहेब कहते हैं कि, उक्त राम-राजा के ढूंढने मे बडे-बडे सुर, नर, मुनिजन लगे हुये हैं; परन्तु मालूम होता है कि, उक्त नाना देवों के उपासक "कबीरन" = अज्ञानियों ने तो उसको कुछ-कुछ जान लिया है । यह काकू वचन है । अर्थात् कटाक्ष वचन है ।।६।।

(११) कहरा ।

ननदी गे तैं विषम सोहागिनी, त निंदले संसारा गे ।
आवत देषि मैं एक संग सूती, तैं औ षसम हमारा गे ।।१।।
मोरे बापके दोइ मेहररुवा, मैं अरु मोर जेठानी गे ।
जब हम ऐलि[1] रसिकके जगमें, तबहिं बात जग जानी गे ।।२।।
माइ मोरि मुवलि पिताके संगे, सरा रचि[2] मुवल संगाती गे ।
अपने मुवली अवर ले मुवली, लोग-कुटुम संग साथी गे ।।३।।
जौं लौं सांस रहै घट भीतर, तौं लौं कुशल परी है गे ।
कहहिं कबीर जब सांस निकरि गौ, मंदिल अनल जरी है गे ।।

शब्दार्थ—सरा = सं० स्त्री० (सं० शर) चिता । उ०—'घर घर कीन्ह सरा रचि ढाढा' । जायसा ।

१ पाठा०-द, ध, रहलि । २ ट, ठ, सचि ।

[ननद और भावज का प्रपञ्च (झगडा) का गाली शब्द]

(सूचना—इस पद में ननद (कुमति) तथा भावज (अविद्या) का झगड़ा बताया गया है। मिथिला प्रान्त में स्त्रियां परस्पर वार्तालाप में "गे" सम्बोधन किया करती हैं)।

टीका—कुमति ने जीवात्मा को अपने वश में कर लिया है। इस कारण अविद्या क्रुद्ध होकर उसको गाली देती है कि, गे ननदी (कुमति) ! तू तो वड़ी विषम (वैढव) सुहागिन (पतिव्रता) है कि, तूने सारे संसार को अपने संग सुला लिया है। भाव यह है कि, सारा संसार कुमति के फांस में पड़ गया है। यहां पर 'सुहागिनी' शब्द व्यङ्ग (आक्षेप) रूप से कहा गया है। इतना ही नहीं, मैंने स्वयं आकर देखा है कि, तूने हमारे खसम (जीवात्मा) को भी दूषित कर दिया है। भाव यह है कि, जीवात्मा अज्ञानवश कुमति का प्रेमी बन गया है ॥१॥ अविद्या कहती है कि, मेरे बाप = पिता के (मूल ज्ञान के) दो मेहररुवा (स्त्रियां) हैं। एक तो मैं और दूसरी मेरी जेठानी माया है ॥२॥

भावार्थ—कुमति अज्ञान से उत्पन्न होती है और उसीके साथ सदैव प्रेम-पूर्वक रहती है। इसी अभिप्राय से यह अज्ञान की स्त्री कही गई है। जब हमने रसिकों (संसारी लोगों) का संग किया तब ही संसार के विषयों को जाना।

रसिकों के संग से तो हमारा कुटुम्ब बढ़ा और फूला फला भी; परन्तु जब से सत्संग हुआ तब से तो हमारे कुटुम्ब का तथा मेरा एक प्रकार से विनाश ही हो गया। देखिये, सत्संग होते ही पहले ही दिन मेरे पिताजी (अज्ञान) ने अपना शरीर छोड़ दिया। अनन्तर मेरी माता (ममता) भी पतिव्रता होने के कारण सरा रचि = चिता बना कर पति के साथ ही जल गई। भाव यह है कि, सत्संग से अज्ञान तथा ममता छूट जाती है। पश्चात् पिताजी के संगी-साथी (कामादिक) भी चल बसे। मेरी माता आप मरी सो तो मरी ही; परन्तु कुटुम्ब के लोग और संगी (आशा-तृष्णादिक) साथियों को भी लेकर मर गई ॥३॥

भावार्थ—ममता दूर होने से आशा और तृष्णा भी दूर हो जाती है।

कबीर साहेब कहते हैं कि, इस प्रकार अज्ञान आदिकों के दूर होने से मनुष्य जीवन्मुक्त होकर कृत-कृत्य हो जाता है। जीवन्मुक्तों का शरीर प्रारब्ध-वश

जबतक प्राणों से सम्बद्ध (बन्धा हुआ) रहता है तबतक तो शरीर की कुशलता ही है, और जब प्राण शरीर से वियुक्त होकर आत्मा में लीन हो जाते हैं; तब मन्दिर (देवालय)=शरीर में अग्नि जलने लगती है। भाव यह है कि, प्रारब्धावसान होने पर ज्ञानियों के प्राण आत्मा में लीन हो जाते हैं; किन्तु लोकान्तर में गमन नहीं करते हैं। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति; इहैव समवलीयन्ते"। यह श्रुति का वचन है। केवल शरीर से प्राणों का वियोग हो जाता है। इसीलिये "सांस निकरिगौ" कहा है। प्राणों के परलोक-गमनाभिप्राय से नहीं। "जीवो नारायणो देवो, देहो देवालयः स्मृतः"। जीव नारायण देव है और देह उसका मंदिर है ॥४॥

(१२) कहरा।

ई माया रघुनाथ की बहूरी, षेलन चली अहेरा हो।
चतुर-चिकनिया चुनि चुनि मारे, काहु न राषै नेरा हो ॥१॥
मौनी बीर दिगंबर मारे, ध्यान धरंते जोगी हो।
जंगल में के जंगम मारे, माया किनहु न भोगी हो ॥२॥
बेद पढंते बेदुवा मारे, पूजा करंते सामी हो।
अरथ बिचारत पंडित मारे, बांधेउ सकल लगामी हो ॥३॥
सिंगी ऋषि बन भीतर मारे, सिर ब्रह्मा का फोरी हो।
नाथ मछंदर चले पीठि दै, सिंघल हू में बोरी हो ॥४॥
साकट के घर करता धरता, हरि-भगतन की चेरी हो।
कहंहिं कबीर सुनहु हो संतो, जौं आवै तौं फेरी हो ॥५॥

शब्दार्थ—लगामी = सं० स्त्री० [फा०] लगाम लगाना।

[माया का आखेट-खेल]

टीका—यह मदमाती राम की दुलहिन माया शिकारी बन कर शिकार खेलने निकली है। इसने चतुर चिकनिया रूप देहदासों (देहात्मवादियों) को चुन-चुन कर मार दिया है। जो इसके पास आया है; वह कोई बचने नहीं

पाया है ॥१॥ इसने मौनी, वीर, दिगम्बर और ध्यान धरनेवाले योगियों को मार गिराया है, पतित बना दिया है। और जंगल में रहनेवाले जंगम को भी नहीं बचाया है। यह सब होने पर भी माया का पूरा उपभोग किसीने नहीं किया ॥२॥ और इस माया ने वेद पढ़नेवाले वेदपाठी श्रोत्रियों को और पूजा करनेवाले स्वामियों को भी गिरा दिया है। और शास्त्रों के अर्थ का विचार करनेवाले पंडितों को भी पतित बना दिया है। इस प्रकार इसने सारे ही लगामियों को (घोड़ों के फेरनेवाले चतुर सवारों को, महा-महोपदेशक और देश के सम्भावित नेताओं को) अपने आधीन करके बांध लिया है॥३॥ इस माया ने श्रृङ्गी ऋषि को वन के भीतर ही मार गिराया, और पुत्रीगामी ब्रह्माजी का भी सिर फोर डाला। मछन्दरनाथजी माया को पीठ देकर और किसी प्रकार अपनी जान बचा कर भगे थे; परन्तु अन्त में उनको भी इसने सिंहलद्वीप में डुबो दिया। उत्कल प्रदेश में गोरखनाथजी के गुरु मछन्दरनाथजी को स्त्रियों ने अपने जाल में फंसा लिया था, यह प्रसिद्ध है ॥४॥ यह माया गुरु-दीक्षा से रहित साकट पुरुषों के घर में तो कर्ता-धर्ता बनी हुई मालकिनी ही है और हरिभक्तों के घर में तो सेवा-परमार्थ करनेवाली दासी बनी हुई है।

[सूचना—'साकट' यह शब्द शाक्त का रूपान्तर मालूम होता है; क्योंकि शाक्त लोग भक्ष्य और पान में स्वतन्त्र होते हैं। इसके विपरीत भक्त वैष्णव होनें के कारण सात्विक वस्तुओं के प्रेमी होते हैं]।

कबीर साहेब कहते हैं कि, हे सन्तो! सुनो, माया से बचने का यह उपाय है कि, सामने आते ही माया को उसी वक्त हटा दे, परमार्थ में लगा दे (ठुकरा दे)। "कबीर माया सन्त को, ऊभी देत असीस। लातों और बातों छरी, सुमरि सुमरि जगदीस" ॥५॥

॥ इति कहरा प्रकरण सम्पूर्ण ॥

॥ सत्यनाम ॥

बसंत ।

(१) बसंत ।

जाके बारह-मास बसंत होय, ताके परमारथ बूझै बिरला कोय ॥
बरिसै अगिनि अषंड धार, हरियर भौ बन अठारह भार ।
पनिया आदर धरिन लोय, पवन गहै कस मलिन धोय ॥२॥
बिनु तरिवर फूले आकास, सिव-बिरंचि तहं लेही बास ।
सनकादिक भूले भँवर बोय, लष-चौरासी जोइनि जोय ॥३॥
जो तोहि सतगुरु सत्त लखाव, ताते न छूटे चरन भाव ।
अमर-लोक फल लावै चाव, कहंहिं कबीर बूझै सो पाव ॥४॥

मङ्गलाचरण ।

संवर्णितौ येन द्विधा वसन्तौ, नित्याध्रुवौ "तत्त्व"–विबोधनाय ।
प्रज्ञाशरीरं गुरुधीरवीरं तं श्रीकबीरं सततं स्मरामि ॥ १ ॥
वसन्तौ वर्णितौ येन, मायिकाऽमायिकावुभौ ।
समीडे संविदे भक्त्या, तं कबीरं सताम्मतम् ॥ २ ॥

अर्थ–जिसने तत्त्व–ज्ञान कराने के लिये नित्य और अनित्य, इस प्रकार दो तरह के बसन्तों का वर्णन किया है । ज्ञान–स्वरूप, धीर और वीर ऐसे सद्गुरु कबीर साहेब का मैं निरन्तर स्मरण करता हूँ ।। १ ।।

मायिक (मायाविरचित) और अमायिक अर्थात् नित्यसिद्ध ऐसे दो वसन्तों का जिसने वर्णन किया है, सन्तों के माननीय ऐसे कबीर साहेब की ज्ञान-प्राप्ति के लिये भक्ति-पूर्वक मैं स्तुति करता हूं ॥ २ ॥

शब्दार्थ–अठारह भार = सं० पु०–सम्पूर्ण वनस्पति जगत । उदा०– 'ज्यूं मांषि मधु, काढि ले, सोधि अठारह भार' । लोय = सं० पु० [सं लोक]

लोग। उदा०-'सो विभावना औरउ कहत सयाने लोय'। भूषण। बोय = सं० स्त्री० [फा० बू] गन्ध, वास, सुगन्ध। उदा०-'कल करील की कुंज ते उठत अतर की बोय'। (पद्माकर)।

[नित्य वसन्त और अनित्य वसंत का वर्णन]

(सूचना-इस वसंत प्रकरण में आत्म-रूप सदा वसंत और मायिक प्रपञ्च रूप (अनित्य) श्री वसंत का वर्णन रूपक और रूपकातिशयोक्ति से किया गया है।)

टीका--षड् विकार रहित अतएव परमानंद-स्वरूप जिस आत्मदेव के स्वरूपोद्यान में निजानंद-सहकार-कलिकोन्मीलन-विधायक ऋतुराज वसंत (मोक्ष) सदैव डेरे डाले पड़ा रहता है। उसको परमार्थतः (अपरोक्ष रूप से) कोई विरला ही जानता है। "सुध बिसराय मुक्ति कहं पावै। परिहरि सांच झूठ निज धावै"। (बीजक)। भाव यह है कि, आत्मैकत्व के साक्षात् ज्ञाता संशय, शोक और मोह से रहित होने के कारण सदा प्रसन्न रहते हैं। "तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः" इति श्रुतेः। "सदा वसंत होत तेहि ठांऊ। संसय रहित अमर पुर गांऊ"। इस प्रसंग में वसंत से वसंत के कार्य विवक्षित हैं ॥ १ ॥

[सूचना--इस प्रकार सूत्ररूप से आत्मिक वसंत का वर्णन करके मायिक वसंत का सविस्तार वर्णन करते हैं।]

"एक मास ऋतु आगे धावै" इस प्रसिद्धि के अनुसार वसंत में गर्मी का प्रभुत्व हो जाता है। इस आशय से 'वरिसै अगिनि' इत्यादिक कहा है। यहां पर ऋतु (मायिक प्रपञ्च) और हठ-योग का साथ-साथ वर्णन है।

वसंत ऋतुपक्ष में कड़ी धूप पड़ने लगती है; अतएव अठारह भार वनस्पति नव पल्लवित (हरे-भरे) हो जाते हैं। अठारह भार वनस्पति की संख्या का श्लोक-"धीकोटि-स्त्रीणि लक्षाणि वस्वशीतिसहस्रकम्। एतानि द्विगुणीकृत्य भारमेकं जगुर्बुधाः" अर्थात् (५०३८८०००) पांच कोटि तीन लाख अट्ठासी हजार के द्विगुणा करने से एक भार कहा जाता है। अठारह भार वनस्पतियां इस प्रकार हैं-चार भार फलवाली, चार भार लताएं और

छः भार फूलोंवाली और चार भार कांटोंवाली । प्रपञ्च पक्ष में यह अर्थ है कि, नाना सन्ताप रूपी अग्नि को धारा सदैव बरसती रहती है, तो भी अज्ञान-वश सब कोई प्रमत्त रहते हैं । बसन्त में पानी का आदर होने लगता है । और अग्नि की तरफ तो कोई जाता भी नहीं है यहां "पनिया अंदर" ऐसा भी पाठ है । उसका अर्थ--तपा हुआ पानी ऐसा मालूम होता है मानो उसमें आग रखी हुई है । दूसरे पक्ष में यह अर्थ है कि--हृदय कामाग्नि से जल रहा है । और गरम-गरम पवन मलिनता को दूर कर रहा है । और दूसरे पक्ष में, प्राणायाम से योगी अन्तः-शुद्धि करते हैं ॥१॥ योगपक्ष में अर्थ--प्राण-निरोध के द्वारा ब्रह्माण्ड में ज्योति का उद्घाटन करने से विना ही वृक्ष के आकाश (ब्रह्माण्ड) फूल जाता है । इसी प्रकार वसन्त में भी चारों ओर वन में फूल ही फूल दिखाई देने से मानो आकाश ही फूल जाता है । योगपक्ष में-ज्योतिरूप तरु में शिव और विरञ्चि निवास करते हैं । उक्त स्वरूप-रूपी पुष्प की सुगन्धी में सनकादिक रूपी भँवरे भी भूल गये । और चौरासी लाख योनियां भी माया-प्रपञ्च में पड़ी हुई हैं । यह देखो, "सप्तविंशतिलक्षास्तु कृमिकीटादयो मताः । पक्षिणो मनुसंख्याका जलजा नवलक्षकाः । उद्भिजास्त्रिंशतो लक्षाश्चतुर्लक्षास्तु मानवाः" ॥ चौरासी लाख योनियां ये हैं--नव लाख जल के जीव, चौदह लाख पक्षी और सत्ताइस लाख कृमि कीटादिक और पशु, तीस लाख उद्भिज और चार लाख मनुष्य जाति ॥३॥ जिन सद्गुरु ने तुमको सत्पद लखाया है उनके चरणों से तुम्हारा प्रेम-भाव कभी छूटने न पावे । और जिस नित्यानन्द रूप नित्य-वसन्त (आत्म-पद) को उन्होंने बताया है उससे भी तुम्हारी प्रीति कभी न हटे । कबीर साहेब कहते हैं कि, "तस्यायमात्माऽयं लोकः" अर्थात् ज्ञानी के लिये वही आत्मा लोक है । इस श्रुति के अनुसार जो अमरलोक, अविनाशी लोक (आत्मा लोक) में मिलनेवाले मुक्ति-फल को चाहते हैं, उनको उचित है कि, पूर्वोक्त मायिक वसन्त की आपातरमणीय शोभा में न भूल कर तत्त्वज्ञान को प्राप्त करें; क्योंकि, जो "बूझै सो पावे, जाने सो पावे" ॥४॥

(२) बसन्त ।

रसना पढ़ि लेहु सिरी-बसंत, पुनि जाइ परि हौ जम के फंद ॥

मेरुडंड पर डंक दीन्ह, अस्ट-कंवल परजारि[1] दीन्ह।
ब्रह्म अगिनि कीयो परगास, अरध-उरध तहं बहै बतास ॥२॥
नव नारी परिमल सो गांव, सषी पांच तहं देषन धाव।
अनहद-बाजा रहल पूरि, पुरुष बहत्तर षेलै धूरि ॥३॥
माया देषि कस[2] रहहु भूलि, जस बनसपति रहि है फूलि।
कहैं कबीर हरी के दास, फगुवा मांगै बैकुण्ठ बास ॥४॥

शब्दार्थ—बतास = वायु, प्राणवायु।

[मायिक वसन्त का वर्णन]

टीका—हठ-योगियों का कथन यह है कि, हे रसना ! हे जिह्वा ! तुम नाना ऐश्वर्य भोगों को देनेवाले लक्ष्मीरूप वसन्त का अर्थात् योग-समृद्धि का पाठ पढ़ लो। यदि नरतन पाकर योग-सिद्धि न करोगे तो फिर यम के फन्दे में पड़ जाओगे। "शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरपि दृश्यते"। (अमरकोष)। शोभा और सम्पत्ति आदिकों में 'लक्ष्मी' और 'श्री' शब्द का प्रयोग होता है ॥१॥ जिन्होंने सम्मुखी मुद्रा से नासिका प्रदेश में दृष्टि को स्थिर कर लिया, उन्होंने अष्ट-कमलों के अन्तर्गत सहस्रार में ब्रह्म-ज्योति को प्राणायाम से प्रज्वलित कर दिया। क्योंकि, साध्य की सिद्धि साधन-सिद्धि के अधीन है। इस प्रकार ब्रह्माग्नि को प्रकाश कर दिया गया। और योग-क्रिया में प्राणायाम के अंगभूत रेचक और पूरक रूप पवन भी बहने लगे ॥२॥ पूर्वोक्त सहस्र-दल कमलपुर नव नाडियों का आश्रय और दिव्य गंध सुरभित है। वहां पर अभ्यास-काल में उक्त नाड़ियों की अभिन्न पांचों प्रिय सखियां (पञ्च प्राण या पंच इन्द्रियां) आमन्त्रित होकर दौड़ पड़ीं। भाव यह है कि, समाधि-काल में नव नाड़ी और पञ्च प्राणों का लय हो जाता है। "समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्" ॥ तथा "श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति"। एवं,

१ पाठा०—ज, क्र, चारि। २ पाठा०—द, ध, जनि।

"अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे। प्राणायाम-गती रुद्ध्वा प्राणायाम-परायणाः" ॥ (गीता)। और अभ्यास-काल में दिव्य अनाहत शब्द रूपी बाजे भी पूरी तरह बजने लगे, और उनके श्रवण होने से योगियों के बहत्तर कोठों में बसंत का धूरी-खेल होने लगा। अर्थात् सर्वाङ्ग में आनन्द की गुलाल उड़ने लगी ॥३॥ गुरु कहते हैं कि, ये सब ऐन्द्र-जालिक खेल हैं; अतः इनमें न भूल कर अपने आपको पहचानो। जैसे वनस्पति के फूलों की थोड़े दिन शोभा रहती है। इसी प्रकार इन माया-प्रपञ्चों की दशा है। "दिन दस फूलै टेसुवा, खर भर भये पलास"। कबीर साहेब कहते हैं कि, अब हरि के दास सकाम भक्तों का बसंत सुनिये-"फगुवा मागै वैकुण्ठ वास" अर्थात् भक्त-जन अपनी सकाम भक्ति रूप वसंत-क्रीड़ा के पुरस्कार में वैकुण्ठवास (सालोक्यमुक्ति चाहते) हैं। "सह-कामी सुमिरण करै, पावै उत्तम धाम। निहकामी सुमिरण करै, पावै अविचल राम" ॥ ४ ॥

(३) बसंत।

मैं आयउँ मेहतर[1] मिलन तोहिं, रितु बसंत पहिरावहु मोहिं ॥१॥
लंबी-पुरिया पाई छीन, सूत पुराना खूंटा तीन।
सर लागे तेहि तिन सौ साठ, कसनि बहत्तरि लागू गांठ ॥२॥
षुर षुर षुर षुर चालै नारि, बैठि जोलाहिनि पलथी मारि।
उपर नचनियां करत कोड, करिगह महं दुइ चलत गोड ॥३॥
पांच-पचीसौ दसहूँ द्वार, सषी पांच तहं रची धमार।
रंग बिरंगी पहिरै चीर, हरि के चरन धै गावैं कबीर ॥४॥

[सूचना-मेहतर और मेस्तर ये दोनों फारसी शब्द संस्कृत महत्तर के रूपान्तर हैं। मेस्तर का रूपान्तर मिष्टर मालूम होता है। फारसी में मालिक या सरदार को मेहतर या मेस्तर कहते हैं।]

[कर्मी और उपासकों की सम्मिलित प्रार्थना]

टीका-राज-दरबार से मिले हुये वसंती या केसरिया जामा पहन-

१ पाठा०—प, फ, मेस्तर।

पहन कर सुसेवक जन वसंत के वसंती-दरबार में हाजिर होते हैं। यह प्राचीन प्रथा है।

उक्त प्रथा के अनुसार अनुरक्त भक्त भी संसार से उपशम होकर हरि-दरबार में उपस्थित होने के लिये प्रार्थना करता है कि, हे मेस्तर! हे भगवान्! मैं आपसे मिलने के लिये इस अंतिम समय में आ गया हूं। इसलिये आप मुझे ऋतु वसंत के वासंती पोषाक के रूप में उपयुक्त दिव्याम्बर और दिव्य रूप बनाइये। अर्थात् चतुर्भुज विग्रह रूप सारूप्य और सायुज्य मुक्ति रूपी कपड़ा पहनाइये। इस प्रकार याञ्चा करते हैं। ठीक ही है, "याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा"। (कालीदास) ॥१॥ हे भगवन्! इस दशा में अभीतक भी मेरी पुरिया (ताना और मुख्य पक्ष में कामना) बहुत लम्बी है। और पाई (ताना साफ करने का कूंचा और दूसरे पक्ष में आयु) तो क्षीण हो चली है। और पुराना सूत (प्राण-श्वास) तीन खूंटों (इडा, पिंगला और सुषुम्णा) से बंधा हुआ है। और सनातन जीव रूप सूत भी त्रिगुणात्मक तीन खूंटों से बंधा है। ताने में सर और कसनी लगाये जाते हैं। तदनुसार शरीर में तीन सौ साठ हड्डियां रूपी सर और बहत्तर कोठे रूपी कसनी (सूत की लच्छियों को अलग-अलग करनेवाली स्थायी बन्धन) लगी हुई हैं ॥२॥

[सूचना—इस पद्य में रूपकातिशयोक्ति से जुलाहे का वर्णन और वसन्तोत्सव के उपलक्ष में होनेवाले धमार (गायन-वादन और नरतन रूप संगीत) का साथ ही साथ उल्लेख किया गया है।]

बेजा बुनते समय बाने में लोहे की नाल दायें से बायें और बायें से दायें चलाई जाती है। और उसमें सूत की नली लगी रहने से वह खुर-खुराती रहती है। और शरीर पक्ष में शरीर की नाड़ी खुर—खुर चलती रहती है। और जुलाहा कपड़ा विनता रहता है। और उसकी स्त्री जुलाहिन पलथी मार कर बैठी रहती है। और आध्यात्मिक पक्ष में जीवात्मा अनेक कर्मों को करता रहता है। और उसके हृदय रूपी घर में अविद्या रूपी जुलाहिन पलथी मार कर, जम कर बैठी रहती है।

जुलाहे के पक्ष में अर्थ—करघा में लगी हुई नचनिया (ऊपर बंधी हुई

चटकनी) नाचती रहती है। और करघा चलाते समय जुलाहे के दोनों पैर करघा में चलते रहते हैं। और बसंत के नृत्य-पक्ष में, नाचनेवाला हाथ उठा कर हाव-भाव दिखाया करता है। और उसके दोनों पैर नाच में चलते रहते हैं ॥३॥ शरीर के दशहुं द्वारों में वर्तमान पांच तत्त्व और पच्चीस उनकी प्रकृतियाँ (कार्य) और पञ्च ज्ञानेन्द्रिय रूप पांच सखियां उस शरीर में पांच तत्त्वों के भिन्न-भिन्न रंग रूपी रंग-विरंगी वस्त्र पहन कर धमार रूप आनन्द-क्रीड़ा रचे हुये हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि, भक्त-जन हरि के दरबार में पहुंच कर प्रेम में मग्न होकर हरि के चरण को धर कर गाते रहते हैं। (यह उपासकों की सामीप्य मुक्ति है) ॥४॥

(४) बसंत।

बुढ़िया हंसि बोले मैं नितहीं बारि।
मोसो तरुनि कहु कवनि नारि ॥ १ ॥
दांत गयल मोरे पान षात, केस गयल मोरे गंग नहात।
नयन गयल मोरे कजरा देत, वयस गयल पर पूरुष लेत ॥२॥
जान पुरुषवा मोर अहार, अनजाने का करौं सिंगार।
कहंहिं कबीर बुढ़िया आनंद गाय, पूत भतारहिं बैठी षाय ॥३॥

[झीनी माया]

दोहा—मोटी माया सब तजै, झीनी तजी न जाय।
पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सबन को खाय ॥

[सूचना—कनक और कामिनी रूप मोटी माया को बहुत से लोग छोड़ देते हैं; परन्तु वासना रूप झीनी माया आत्म-साक्षात्कार के बिना नहीं छूट सकती है। यह भाव इस पद्य में रूपकातिशयोक्ति से बुढिया की आत्म-कथा के द्वारा प्रगट किया है।]

टीका—साधन-हीन वाचक ज्ञानी लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' कहते हुये समझ लेते हैं कि, हमने माया को जीत लिया है। ऐसे लोगों को हंसती हुई बुढिया (माया) कहती है कि, मैं तो सदैव युवती ही रहती हूं। जरा बतलाइये तो सही

कि, मेरे समान ऐसी मद से माती हुई तरुणी दूसरी कौन है ? कि जिसने इस प्रकार से सबों को नचाया हो ? । "चन्द्र वदनि मृग लोचनि माया, बुन्दुका दियो उघार ! जती सती सभ मोहिया, गजगति वाकी चाल । नारद को मुख मांडि के, लीन्हा बसन छिनाय । गरब गहेली गरब ते, उलटि चली मुसुकाय। सिव अरु ब्रह्मा दौरि के, दोनों पकड़े जाय । फगुआ लीन्ह छोड़ाय कै, बहुरि दीन्ह छिटकाय" ।। तथा, "एक ओर सुर नर मुनि ठाढ़े, एक अकेली आप। दृष्टि परे उन काहु न छोड़े, करि लीन्हो यक धाप ! जेते थे तेते लिये, घूंघट मांहि समोय । काजर वाकी रेख है, अदग गया नहिं कोय ।। इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े, लोचन दोउ ललचाय । कहैं कबीर ते ऊबरै, जाहि न मोह समाय" ॥१॥ अब मेरी कथा सुनिये, मुख-शुद्धि करनेवाले पान रूप अष्टांग योग करते-करते मेरे दांत रूप काम और क्रोधादिक दूर हो गये। ये तो मेरे ऊपर के दांत थे; परंतु भीतर के लोहे के तुल्य दांत (भोग-वासनारूप) तो अभी मौजूद ही हैं; अतः "ऊपर दांत कहा गये बौरे, भीतर दांत लोहे के हो। फिर फिर चना चबाये विषय के, काम क्रोध मद लोभ के हो" ।। और सत्सङ्ग रूपी गंगा में नहाते-नहाते मेरे केश (कुमति और अपयश) चले गये, झड़ गये और तमोगुण रूप कजरा के लगाते-लगाते अर्थात् तमोगुण के सम्बन्ध से मेरे नयन चले गये । अर्थात् "सत्वात्संजायते ज्ञानम्" के अनुसार सत्त्वगुण-जन्य ज्ञानशक्ति नष्ट हो गई । और परपुरुष (जीवात्मा) के साथ अनुराग करते-करते मेरे वयस (अवस्था) अर्थात् सत्त्व–शुद्धता चली गई । भाव यह है कि, शुद्ध सत्त्व–प्रधान माया ईश्वर की और मलिन सत्त्वप्रधान अविद्या जीव की उपाधि है । अतः माया जीव से सम्बद्धा (सम्बन्धवाली) होकर अपने वयस रूपी सत्त्व–शुद्धता (पातिव्रत्य) को खो बैठी ॥२॥ "जान पुरुषवा" (साधन रहित ज्ञानाभिमानी) तो मेरा आहार ही है । और अनजाने (अज्ञानियों) पर तो मेरा शृङ्गार ही है । अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को मैं त्रिगुण फांस में लपेट लेती हूं । कबीर साहेब कहते हैं कि, यह बुढ़िया (माया) बैठी-बैठी पूत (जीव) और भतार (ईश्वर) को खा रही है और आनन्द से मंगल गा रही है । भाव यह है कि, "जीवेशावाभासेन करोति" इत्यादि श्रुति के अनुसार माया जीव और ईश्वर को आच्छादित कर देता है ।।३॥

(५) बसंत ।

तुम बुझ बुझ पंडित कवनि नारि, काहु न बियाहलि है कुमारि ॥
सभ—देवन मिलि हरिहीं दीन्ह, चारिउ-जुग हरि संग लीन्ह ।
प्रथमे पदुमिनि रूप आहि, है सांपिनि जग षेदि षाय ॥२॥
इ भरि[1] जुवति वै वर नाह, अति रे तेज तियरै निताह ।
कहंहिं कबीर यह जगत-पियारि, अपन बलकवै रहलि मारि ॥

शब्दार्थ = षेदि षाय = दौड़ा कर खाना । निताह = रोज ।

[माया की प्रवलता का विचार]

टीका—हे पंडितजी ! आप इसका बार बार विचार करिये कि, यह माया किस प्रकार की स्त्री है कि, इसके साथ किसीने विवाह नहीं किया ? अतएव यह अभीतक कुमारी ही है । "अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः" । अर्थात् कल्पित वस्तु के नाश होने पर अधिष्ठान बच जाता है । इस सिद्धान्त के अनुसार अपरोक्षानुभूति के बिना माया आत्मसात् (आत्मा के अधीन अर्थात् अपने अधीन) नहीं हो सकती है । हां, सत्त्व-शुद्धि के कारण उसके आक्रमण से बच सकते हैं । यह भाव इस पद्य में 'प्रहेलिका' के द्वारा (अन-मेल विवाह के कारण माया को 'साधारण' सिद्ध करते हुये) बतलाया गया है । पद्मिनी, हस्तिनी, चित्रिणी और शंखिनी; ये स्त्रियों के लक्षणानुगुण साधारण प्रभेद हैं । और स्वलक्षण पतियों में उक्त स्त्रियों का स्थायी तथा प्रगाढ़ प्रेम रहा करता है । यह दम्पत्ति-शास्त्र का विधान है । उक्त संकेत के अतिरिक्त यह माया कौन ऐसी विलक्षण स्त्री है, जिससे कि इसको स्वानुरूप पति नहीं मिला ? अतएव यह अभीतक कुमारी ही बनी हुई है। भाव यह है कि, माया अनादि है और अनादि काल से स्वतन्त्रा है ॥१॥ सब देवताओं ने मिल कर माया देवी को हरि भगवान को दिया और चारों युगों तक हरि ने उनको संग रक्खा । भाव यह है कि, "सत्वात् सञ्जायते सुखम्" इस कथन के अनुसार सत्त्व-प्रधान विष्णु को माया रूप लक्ष्मी प्राप्त हुई; परन्तु अधिकारी होने के

---

[1] पाठा०—छ, ज, वर ।

कारण उसको वे आत्मसात् न कर सके। इस अभिप्राय से 'संग लीन्ह' कहा है। "अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति पर पदम्" अर्थात् अधिकार समाप्त होने पर विष्णु आदिक अधिकारी पुरुष माया को त्याग करके परम-पद को प्राप्त होते हैं। यह माया रूप लक्ष्मी पहले पद्मिनी के समान सुखदायी होती है। पश्चात् तृष्णा बढ़ जाने के कारण यहां सांपिनी बन कर जगत को दौड़ा कर खा जाती है ॥२॥

भावार्थ—पद्मिनी का मुख पद्मवत् सुरभि हुआ करता है। अतः "आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम्" इसके अनुसार सज्जनों की सम्पत्ति का सौरभ दिग्दिगन्त व्यापी हो जाता है। और दुर्जनों की सम्पत्ति सर्पिणी के समान विनाशकारिणी हो जाती है। एवं माया और मायिक पदार्थ आपात-सरस तथा परिणाम-विरस होते हैं।

माया के चञ्चल होने का मुख्य कारण यह है कि, यह माया तो पूर्ण युवती है; परंतु इसके पति कहलानेवाले विष्णु आदिक अर्भातक (इसके सामने के) बच्चे ही हैं। इस कारण यह उन पर अपना प्रभुत्व सदैव जमाये रखती है। भाव यह है कि, माया अनादि और अति बलवती है। और विष्णु तथा ब्रह्मादिक सोपाधिक होने के कारण सादि हैं। "राज ठगोरी विष्णु पर परी" इससे बारे-भोरे हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि, यह माया 'साधारण' होने के कारण जगत को प्रिय है; पर यह इसका कार्य अनर्थ रूप है कि, यह सर्पिणी का तरह अपने ही बच्चे को खाती रहती है। भाव यह है कि, संसारियों का जन्म-मरण माया ही के अधीन हैं। "यह संसार कुंडाला मांहीं, ताहि सरपिनी धरि धरि खाहीं। कहंहिं कबीर कोइ बाहिर आवे, ताको माया नहीं सतावे" ॥ तथा, "मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।" ॥३॥

(६) बसन्त।

माइ मोर मनुसा अती सुजान, धान कुटि कुटि करत बिहान।१॥
बड़े भोर उठि आंगन बाढु, बड़े षांच ले गोबर काढु।
बासि-भात मनुसे लीहल षाय, बड घैला ले पानि को जाय॥

अपने सैयां को मैं बांधौ पाट, लै बेचौंगी हाटोंहाट।
कहंहिं कबीर ये हरि के काज,
जोइया के डिंगरहिं[1] कवनि लाज ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—जोइया = स्त्री। डिंगर = पशु।

[अविद्या के दास]

टीका—अविद्या माया से कहती है कि, हे माई! मेरा मनुसा (पति) अज्ञानी मेरी बड़ी रक्षा करता है। इसलिये वह बड़ा सुजान (सज्जन) है। जरा उसकी सज्जनता का हाल तो सुनो—मैं तो केवल बैठी-बैठी प्रेरणा किया करती हूं। वह बेचारा अकेला ही धान रूप (नाना सकाम कर्मों) में शिर मारते-मारते विहान (दूसरा जन्म) कर लेता है। भाव यह है कि, जीवात्मा अज्ञानवश नाना प्रपञ्चों में पड़ कर अनेक शरीरों को धरता रहता है। जन्म लेना भोर है और मरण रूपी रात्री है ॥१॥ वह मेरा पति बड़े सबेरे उठकर अर्थात् जन्मते ही आंगन (अपने अंग) को बाढ़ (झाड़ने लगता है)। भाव यह है कि, जीव जन्मते ही अपनी रक्षा में लग जाता है। इसके पश्चात् बड़ी खांच (डलिया, टोकरी) रूपी सकाम कर्मों से गोबर रूपी स्वर्गादिक भोगों को प्राप्त करता है। अर्थात् गोबर की तरह निःसार और तुच्छ स्वर्गादि लोकों के लिये नाना कर्मों को करता है। मेरा मनुसा (पति) बेचारा इतना सन्तोषी है कि, वह बासी भात (नाना विषयों) को खा लेता है। पश्चात् बड़ा घैला (घड़ा) लेकर, तृष्णा बढ़ा कर पानी (विषय-भोगरूप मृगजल) को भरने जाता है। भाव यह है कि, विषय-भोगों से भोग-तृष्णा अधिक बढ़ जाती है, इस कारण अज्ञानी लोग नाना भोगरूपी मृगजल से उसको बुझाने की बार-बार निष्फल चेष्टा किया करते हैं। ये विषय बहुत पुराने हैं, इसलिये इनको 'बासी भात' कहा है। और बासी अन्न को खाने से प्यास अधिक लगती है, यह बात लोक-प्रसिद्ध है ॥२॥ मैंने अपने सैयां (पति) को पाट-कपड़े की मोटरी में बांध लिया है। अर्थात् पूरी तरह से अपने अधीन कर लिया है। इसलिये अब उसको हाटोंहाट (नाना शरीरों में) ले जाकर बेचूंगी। भाव यह

१ पाठा— ल, व, डिंगरहि।

है कि, अज्ञानवश होकर जीवात्मा नाना योनियों में भ्रमण करता है। कबीर साहेब कहते हैं कि, ये सब हरि की लीलाएँ हैं। अर्थात् हरि ही, राम ही सबों को नाच नचाते हैं। "नट मर्कट इव सबहिं नचावत, राम खगेश वेद अस गावत" बेचारे अज्ञानियों का क्या दोष है? ये सब तो जोइया के डींगर हैं अर्थात् अविद्या रूपी स्त्री के पशु हैं। अतः इनको क्या लज्जा है? भाव यह है कि, जिस प्रकार पशु परतन्त्र रहते हैं। इसी प्रकार अज्ञानी भी अविद्या के अधीन होकर नाना कर्मों को करते रहते हैं। ठीक ही है, "नेह नाथ नाथे नहिं छूटे, तिय किसान पिय बैल ही कूटे" ॥ (विचार-सागर) ॥ "नर पशु गुरु पशु वेद पशु, त्रिया पशु संसार। मानुष सोई जानिये, जाहि विवेक विचार" ॥ इस पद्य में सुजान की सिद्धि के लिये "धान कुटि कुटि करत विहान" इत्यादि वाक्यों का उपन्यास किया गया है; अतः वाक्य-हेतुक काव्यलिंग अलङ्कार है। लक्षण और उदाहरण—"काव्यलिंग जब जुगति सों, अर्थ समर्थन होय। तोको जीत्यो मदन जो, मो हिय में सिव सोय" ॥ ३ ॥

(७) बसंत।

घरहिं में बाबू[1] बाढलि रारि, उठि उठि लागै चपल नारि।
एक बड़ी जाके पांच हाथ, पांचौं के पचीस साथ ॥१॥
पचिस बतावैं और और, और बतावै कैयक ठौर।
अंतर मध्ये अंत लेई, झक-झोरि-झोरा जीवहिं देई ॥२॥
आपन आपन चाहैं भोग, कहु कैसे कुशल परी है जोग।
विवेक-विचार न करै कोय, सभ षलक तमाशा देषै लोय ॥३॥
मुष फारि हंसे राव रंक, ताते धरै न पावैं एको अंग।
नियरे न षोजै बतावे दूरि, चहुँ दिसि बागुलि रहलि पूरि। ४॥
लछ अहेरी एक जीव, ताते पुकारै पीव पीव।
अबकी बार जो होय चुकाव, कहहि कबीर ताकी पूरी दाव ॥५॥

शब्दार्थ—बाबू = बबुवा। बागुलि = फांस।

1 पाठा ज, झ, बाबुल।

[माया नारी का गृह–कलह]

टीका—हे बबुवा जीवात्मा ! तेरे हृदय रूप घर में ही अज्ञान–जन्य, भ्रम-जन्य कलह बढ़ा हुआ है। देखो, माया रूपी चंचल नारी बार-बार खड़ी होकर तेरे पीछे पड़ती है। "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां" इस सांख्य-कारिका के अनुसार मूल प्रकृति एक है और वह बड़ी है। और उसके पांच हाथ रूप पञ्च तन्मात्रायें हैं। और उन पांचों के पच्चीस प्रकृतियां साथ में हैं ॥१॥ और पच्चीस प्रकृतियां और को अर्थात् नाना कार्यों को करके दिखलाती हैं। और कैयक ठौर अथोत् स्वर्गादिक स्थानों को भी रच कर बताती हैं। ये सब जीवात्मा के हृदय-मंदिर में पैठ कर उसका अंत ले लेती हैं। अर्थात् उसके सर्वस्व ज्ञान-रत्न को छीन लेती हैं। और धक्के-मुक्के मार-कर उसे चौरासी के गड्ढे में ढकेल देती हैं ॥२॥ सब इन्द्रियां अपने-अपने विषयों के भोगों को चाहती हैं। ऐसी स्थिति में कहिये, कुशलता का योग कैसे पड़ सकता है ? अर्थात् जीवात्मा की कुशलता कैसे रह सकती है ? विषयी और पामरों की यह दशा है। वे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक-विचार नहीं करते हैं। और सारा संसार माया के अनेक दृश्यों को देखता रहता है ॥३॥ माया की रचना से आनन्दित होकर अमीर और गरीब, राजा और प्रजा ठठा कर हंसते रहते हैं। इस कारण माया पर वे अपना प्रभुत्व जरा भी नहीं जमा सकते हैं। "मन माया तो एक है, माया मनहि मिलाय" इसके अनु-सार मन का प्रपञ्च ही माया है, ऐसा समझ कर माया को नजदीक ही नहीं खोजते हैं, किन्तु उसे भगवान के समीप दूर बताते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो चारों तरफ माया की ही बागुलि (बागुरा, मृग-जाल) फैली हुई है। "वागुरा मृगबन्धिनी"। (अमरकोष) ॥ ४ ॥ जीवात्मा रूपी एक हिरन को कामादिक विकार–रूपी लाखों शिकारियों ने घेर रक्खा है; इसलिये यह अपने बचाव के लिये प्रभो ! प्रभो ! की पुकार लगाता रहता है। ऐसी स्थिति में इस नरतन में ही यदि इसका मुक्ति रूप फैसला हो जाय तो कबीर साहेब कहते हैं कि, इसका पूरा दाव लग जाय, पूर्ण सफलता मिल जाय ॥५॥

(८) बसंत ।

कर–पलो के बल षेलै नार, पंडित हो सो लेइ बिचार।
कपडा न पहिरै रहै उघारि, निर–जिव से धन अती पियारि॥
उलटी पलटी बाजू तार, काहू मारे काहु उबार।
कहैं कबीर दासन के दास, काहू सुष दे काहु निरास ॥२॥

शब्दार्थ—कर–पलो = अंगुलियाँ ।

[माया की कठ-पूतली का खेल]

"नाना नाच नचाय के, नाचे नट के भेष।
घट घट अविनाशी अहै, सुनहु तकी तुम सेष" ॥

[सूचना—इस पद्य में माया को कठ-पूतली का रूपक दिया गया है। अतः इसका अर्थ दोनों पक्ष में लगता है। कठ-पूतली को नचानेवाला परदे की आड़ में बैठ कर तारों से बंधी हुई काठ की पुतली को नचाता रहता है। यह बात प्रसिद्ध है।]

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, एक ऐसी नारी (माया और कठपूतली) है कि, जो दूसरे के कर-पलो, कर-पल्लव, (कर-शाखा, अंगुलियों) के इशारे से नाचा करती है। जो पण्डित हों वे उसको पहिचान लें। भाव यह है कि, त्रिगुणात्मिका (सत्व, रज और तम रूपी तीन डोरियों से बंधी हुई) माया ईश्वर की प्रेरणा से कठ-पूतली की तरह नाना खेल दिखाया करती है। "उमा दारु योषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं" ॥ (रामायण)।

प्रसिद्ध कठ-पूतली की अपेक्षा माया में यह विशेषता है कि, माया रूपी कठपूतली कपड़ा नहीं पहनती है। भाव यह है कि, माया सबों को ढांप लेती है; परन्तु बिना ज्ञान के माया को कोई नहीं ढांप सकता है। और धन= स्त्री (माया और कठ-पूतली) निर्जीव (जड-प्रपञ्च) तथा दूसरी कठपूतली से अत्यन्त प्रेम करती है। अर्थात् माया जड-प्रपञ्च में अनुरक्त रहती है, और चेतन से पराङ्मुख होती है ॥१॥ जिस तरह कठपूतली अपने बाजू (बगल) में लगे हुये तारों से उलट–पलट कर किसी (वैरी) को मारती है,

और किसी मित्र को बचाती है। इसी तरह माया भी त्रिगुणात्मक तारों के बल से उलट-पलट कर अर्थात् नाना अवतारों को धरती हुई अभक्तों का संहार करती है। और भक्तों की रक्षा करती है। "दस अवतार ईसरी माया, करता कै जिन पूजा। कहैं कबीर सुनो हो संतो, उपजै खपै सो दूजा"॥

अपनी अधीनता बताते हुये कबीर साहेब कहते हैं कि, हम तो दासों के भी दास हैं। देखिये, यह माया किसी को सुख देती है, और किसी को निराश बना देती है॥ २॥

[सूचना—इस पद्य में प्रहेलिका और सावयव रूपकालंकार है।]

(९) बसंत।

ऐसो दुरलभ जात सरीर, रामनाम भजि लागु तीर॥१॥
गये बेनु बलि गये कंस, दुरजोधन[1] गये बूड़े बंस।
पिरथु गये पीथी के राव, तिरिविक्रम गये रहे न काव॥२॥
छौ चकवे मंडली के झारि, अजहूँ हो नल देषु बिचारि।
हनुमत कस्यप जनक बालि, ई सभ छेकल जमके द्वारि[2]॥३॥
गोपीचन्द भल कीन्ह जोग, जस रावन मारेउ करत भोग।
ऐसी जात देषि सभन्हि की जान,
कहंहिं कबीर भजु रामनाम॥ ४॥

शब्दार्थ—मंडली = छोटे छोटे।

[माया का विद्युद्विलास—"अस्थिरता"]

टीका—हे भाइयो! आप लोगों का सुर—दुर्लभ नर-तन जा रहा है; अतः राम यह है नाम जिसका ऐसे 'रमैया राम' सर्वभूत-निवासी राम का साक्षात्कार करके संसार-समुद्र से पार हो जाओ॥१॥ मायिक ऐश्वर्य अनित्य है। इस बात को बताते हैं कि, बेनु राजा, बलि राजा, कंस राजा और दुर्योधन राजा चले गये। और उनका वंश भी डूब गया। और पृथ्वी के राजा पृथु और

---

१ पाठा -- थ, द, दुरजोधन को बूड़ो बंस। २—प, फ, घार।

त्रिविक्रम राजा भी चले गये। इनमें से कोई नहीं रहा ॥२॥ ऊपर बताये हुये छै चक्रवर्ती राजा और इनके अतिरिक्त अनेक मांडलिक (छोटे-छोटे) राजा लोग सब के सब चले गये। हे अज्ञानी नर! अब भी तुम विचार करके देखो हनुमान, कश्यप, जनक और वालि; इन सबोंने यमराज के द्वार को रोक लिया ॥३॥ गोपीचन्द राजा ने अच्छा योग किया, जिससे उनकी रक्षा हो गई; परन्तु और लोग तो ऐसे मारे गये। जैसे कि, भोगों को भोगता हुआ रावण मारा गया। कबीर साहेब कहते हैं कि, इसी प्रकार सबों की जान (जीव) जाते हुये देखा गया है; अतः मिथ्या भोगों में न भूल कर पूर्वोक्त रमैया को भजिये। (आत्म-परिचय करिये)। "जीव दया अरु आतम-पूजा, इस सम देव अवर नहिं दूजा" ॥ ४ ॥

(१०) बसंत।

सबहीं मदमाते कोइ न जाग, संगहि चोर घर मूसन लाग ॥ १॥
जोगी माते जोग ध्यान, पंडित माते पढी पुरान।
तपसी माते तपके भेव, संन्यासी माते करि हमेव ॥२॥
मोलाना माते पढि मोसाफ, काजी माते दै नीसाफ।
संसारी माते मायाके धार, राजा माते करि हंकार ॥३॥
माते सुकदेव ऊधो अंकूर, हनुमत माते ले लंगूर।
सिव माते हरिचरन सेव, कलि माते नामा जयदेव ॥४॥
सत्त सत्त कहै सुम्रिति बेद, जस रावन मारेउ घरके भेद।
चंचल मनके अधम काम, कहहिं कबीर भजु रामनाम ॥५॥

शब्दार्थ—भेव = भेद, मर्म। मोसाफ = सं० पु० [अ०–मुसहफ] वह किताब जिसमें रसाले और सहीफे जमा हों। कुरान–शरीफ। नीसाफ= सं० पु० [अ०-इनसाफ], न्याय। लंगूर = पूंछ।

[अहंकार की प्रबलता का विचार]

(प्राक्कथन)

"अहंकार सो दुखद डहरुवा, दम्भ कपट मद मान नहरुवा"।

(रामायण)। इस कथन के अनुसार सात्विक, राजस और तामस एवं "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि सम्वादि-भ्रम रूप अहंग्रहोपासना के अवसर में तथा श्रौत-स्मार्त कर्मानुष्ठान के लिये अत्यावश्यक वर्णाश्रमादिकों का आरोपित अहंकार और अनारोपित सब ही प्रकार के अहंकार आत्म-तत्त्व के विस्मारक होने के कारण हेय हैं।

भाव यह है कि, परमार्थ तत्त्व "अहं ब्रह्मास्मि" इस सम्वादि-भ्रम से भी परे है। अतः इस परम सात्विक अहंकार को भी "तद्दूरादयमञ्जलिः" कर देना चाहिये। यह इस पद्य का परम रहस्य है। "त्यज धर्ममधर्मञ्च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्यज"॥ 'तर्क दुनियां तर्क मौला तर्क उक्बा तर्क तर्क'। यह निर्विशेष आत्मा के निरूपण की परम सीमा है। इसके अनन्तर निरूपण का प्रकार तो "मौनमेवोत्तरं ददौ"। 'अवचनेनाह' हो जाता है। निर्विशेष आत्म-तत्त्व के निरूपण में कबीर साहेब की यही प्रक्रिया है। और उपदेश में प्रक्रिया का भेद होना सनातन है। जैसा कि, ब्रह्म-विद्या में वार्तिककार का वचन है कि, "यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि। सा सैव प्रक्रियेह स्यात् सा साध्वी सा चानवस्थिता"॥ तथा "उपेयप्रतिपत्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः"॥ (भर्तृहरिकारिका)॥ "अहं ब्रह्मास्मि' यह सम्वादि-भ्रम रूप अहंग्रहोपासना तो उक्त तत्त्व के अनधिकारी मन्दाधिकारियों के लिये है। क्योंकि, "निर्गुणं हि परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः। ये मन्दास्तेऽनुकम्प्येते सविशेषनिरूपणैः"॥ इसी अस्वारस्य से "तत्वमसी इनके उपदेसा" इस आठवीं रमैनी में पुनः-पुनः दिये हुये इनके-इनके पद तन्त्रोक्त उपदेश और निश्चय को पराभिमत सिद्ध करते हैं, स्वाभिमत नहीं। यह इस ग्रन्थका निगूढ रहस्य है। (इत्यलं रहस्योद्घाटनेन)।

टीका—सब ही प्रकार के अहंकारी, अहंकार-मद-मत्त होकर गहरी नींद में सो गये, और आत्म-प्रबुद्ध नहीं हुये। अतः सुअवसर पाकर साथ में लगे हुये मन रूपी चोर ने उनके हृदय-सागर से तत्त्व को चुरा लिया॥१॥ योगी-जन योग के अंगभूत ध्यान और धारणा आदिक के अवलम्ब के अहंकार से मतवाले हो गये। और पण्डित-जन पुराणों के पाठ मात्र से मतवाले बन गये। और तपसी लोग तप के मर्म को जान कर मतवाले बन गये, और

संन्यासी गण "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसे कथन मात्र से मतवाले बन गये ॥२॥ और मौलवी लोग कुरान-शरीफ के पठन मात्र से मतवाले हो गये, और काजीजी फैसला सुनाने के मद में ही मतवाले हो गये। और संसारी लोग माया की धारा में बह कर मतवाले बन गये। और राजा लोग राज्य-प्राप्ति के अहंकार में मतवाले बन गये ॥३॥ और शुकदेवजी, उद्धवजी, अक्रूर; ये सब ज्ञान के मद में मस्त हुये। और हनुमानजी अपनी पूंछ के बल से मतवाले हुये। और शिवजी हरि-चरणों की सेवा में मस्त हुये। और कलियुग में नामदेव और जयदेव भक्त, भक्ति-रस में मतवाले बने ॥४॥ स्मृति और वेद ने सत्य-सत्य कहा है। सबही अहंकारी ऐसे मारे जाते हैं कि, जैसे अत्यन्त अहंकारी रावण भ्रातृ-तिरस्कार के कारण घर के भेद खुलने से मारा गया। ठीक ही है—"अति रूपेण वै सीता अति गर्वेण रावणः। अति दानाद् बलिर्बद्धो ह्यति सर्वत्र वर्जयेत्" ॥

कबीर साहेब कहते हैं कि, चंचल मनवालों के सभी कार्य अधम कोटि के होते हैं। इसलिये मन का निग्रह और शान्त करने के लिये रमैया राम को भजिये ॥५॥

(११) बसंत।

सिव कासी कैसी भई तुहारि, अजहूँ हो सिव देखु विचारि ॥१॥
चोवा चंदन अगर पान, घर घर सुम्रिति बेद पुरान।
बहुविधि भवनहिं लागू भोग, ऐसो नगर कोलाहल करत लोग।
बहुविधि परजा लोग[1] तोर, तेहि कारन चित ढीठ मोर।
हमरे बलकवाके इहै ग्यान, तोहरा को समुझावे आन ॥३॥
जो जाहि मन से रहत आय, जिवका मरन कहु कहां समाय।
ताकर जो किछु होय अकाज, ताहिं दोष नहिं साहब लाज ॥४॥
हर हरषित सों कहल भेव, जहां हम तहां दूसरो[2] न केव।
दिना चार मन धरहू धीर, जस देखै तस कहैं कबीर ॥५॥

शब्दार्थ—केव = कोई।

---

१ पाठा०—च, छ, निरभय तोर। २ पाठा०— त, थ, दूसर केव।

[काशी–सेवन–विधि]

(प्राक्कथन)

"काश्यां मरणान्मुक्तिः" इस शिष्टाचारानुमित आर्थवादिक श्रुति की प्रमाणता से 'काशी में केवल शरीर–परित्याग मात्र से मुक्ति-लाभ हो जाता है, ऐसा विश्वास रखनेवाले अधिकतर साधारण बुद्धि के लोग मुक्ति के लिये काशीवास करते हुये मुक्तिको सुलभ समझ कर मुक्ति के साधनों का (विवेक-विचारादिक का) तिरस्कार करके यथेच्छाचारी हो जाते हैं। इस प्रकार उक्त श्रुति के दुरुपयोग-कारियों के अत्याचारों को देखकर व्यथित हृदय होते हुये कबीर साहेब शिव महाराज को सम्बोधित करके कहते हैं कि, 'आप अपनी पूजा का नियन्त्रण करिये, और उक्त श्रुति के रहस्य को समझाइये। जिससे की, लोग अन्ध विश्वास के कारण अनर्थकारी न बनें'। इसी भाव का उनका यह वचन है--"काशी गति संसार की, ज्यों गाडर का ठाठ। एक पड़ी जो गाड में सभी देगाड में जात" ॥ इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी काशी की दुर्दशा खकर उसके राजा शिवजी से (कवितावली में) इस प्रकार प्रार्थना की है–

"गौरी नाथ भोलानाथ भवत भवानी नाथ,
विश्वनाथ-पुर फिरी आन कलिकाल की।
संकर से नर गिरिजा सी नारी कासी बासी,
बेद कही सही ससि सेखर कृपाल की॥
छ मुख गनेस ते महेस के पियारे लोग,
विकल विलोकियत नगरी बिहाल की।
पुरी सुर–बेलि केलि काटत किरात कलि,
निठुर निहारिये उघारी डीठि भाल की" ॥ १६६ ॥

अर्थ–हे शिवजी ! आपकी काशीपुरी कैसी हो गई, अब भी आप इसको विचार कर देखिये और संभालिये ॥ १ ॥ वैसे तो आपकी काशी–पुरी में चोवा, चंदन, अगर और पान में सब पूजा की सामग्री सर्वत्र प्रस्तुत रहती है और प्रत्येक घर में स्मृति, वेद और पुराणों का पाठ भी होता रहता है। और मंदिरों में बहुत प्रकार का भोग लगता है। ऐसा कोलाहल नगर के लोग करते रहते हैं ॥२॥ परन्तु आपकी नगरी में तो शुभऔर अशुभ कर्मों को करने वाली बहुत प्रकार की प्रजा बसती है। इसलिये आप से कुछ निवेदन करने के

लिये मेरा चित्त ढीठ बन गया है। मुझ बालक का तो यही ज्ञान है, जैसाकि, मैं निवेदन कर रहा हूं और आप तो स्वयं ज्ञानी हैं। आपको दूसरा कौन समझा सकता है। यहां पर "बहु विधि परजा निरभय तोर" ऐसा पाठान्तर है। उसका अर्थ है कि, सब ही प्रकार के काशीवासी यह समझ कर निर्भय हो रहे हैं कि, हमारी मुक्ति अवश्य हो जायगी। उनकी यह मिथ्या धारणा देख कर सत्य वार्ता को बार-बार कहने के लिये मेरा चित्त ढीठ हो गया है। अतएव आप से निवेदन करने को मैं यह ढीठाई कर रहा हूं ॥३ काशी में जो जिस भावना से आकर रहता है, शरीर छूटने पर उसको वैसो ही सुगति वा कुगति मिलती है। अन्यथा, जीव के शरीर छूटने पर कहो, वह कहां जाकर समाता है ?

यदि उसकी कुगति हो जाती है तो इसमें उसीका दोष है, भगवान प्रभु को कोई लज्जा नहीं। विशेष यह है कि–शरीर की पञ्चत्व-प्राप्ति के अनन्तर जीवात्मा कहां जाकर रहता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सभी महात्माओं ने एक रूप से यही कहा है कि–"सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत"। "श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः"। "अन्ते मतिः सा गतिः"। भाव यह है कि, काशी-वास करते हुये भी अपने शुभाशुभ संस्कारों के अनुसार जो मनुष्य जैसे कर्म करते हैं, अन्त में उनकी वैसी ही गति होती है; क्योंकि, "कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा"॥ यह सनातन घोषणा है। इस कारण "ताकर जो कुछ होय अकाज, ताहि दोष नहिं साहब लाज"।

विशेष वक्तव्य–वस्तुतस्तु "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" इस श्रुति के अनुरोध से "काश्यांमरणान्मुक्तिः" इस श्रुति गत पञ्चमी का प्रयोजकत्व अर्थ ही सर्वसम्मत है। अर्थात् पुण्यधाम होने के कारण चित्त–शुद्धि, सुलभ–सतसंग और श्रवणादिक से कासीवास ज्ञानद्वारा मुक्ति में सहायक है; केवल मरण से मुक्ति का दाता नहीं। इस विषय पर दिनकर भट्टाचार्य ने भी 'दिनकरी' के मंगलवाद में अच्छा प्रकाश डाला है–"अथ तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति श्रुत्वा तत्वज्ञानस्य मुक्तिसामान्यं प्रति हेतुत्वं प्रतिपादितं तच्च काशीमरणस्य मुक्तिहेतुत्वे न सम्भवति, काशी-

मरणजन्यमुक्तौ तत्त्वज्ञानस्य व्यभिचारप्रसंगादतः काशीमरणस्य न मुक्तिजनकत्वमपि तु तत्त्वज्ञानद्वारा मुक्तिप्रयोजकत्वमेवेति"। किञ्च—"अतएव काशीमरणस्य तत्त्वज्ञानेन मुक्तावन्यथासिद्धत्वात्प्रयोजकत्वपरतया श्रुतिसमर्थनं संगच्छते"। ठीक ही है—"का काशी का मगहर ऊसर, हृदय राम बस मोरा। जो कासी तन तजै कबीरा, रामहि कवन निहोरा"॥ ज्ञानियों का तो ऐसा ही निश्चय है ॥४॥ महादेवजी ने प्रसन्न होकर स्वयं इस भेद को कहा है कि, जिस काशी में हम रहते हैं वहां दुर्भावनावाला कोई दूसरा न रहे। हे भाइयो! आप लोग चार दिनों तक (थोड़े दिनों तक) मन में धीरज धरिये, अन्त समय में तो आप लोगों को भी यह बात अवगत हो जायगी। कबीर साहेब कहते हैं कि, मैं तो जैसी वस्तु—स्थिति है वैसा ही कह रहा हूं, जैसा देख रहा हूं, वैसा ही कह रहा हूँ ॥५॥

(१२) वसंत।

हमरे कहल के नहिं पातयार, आपु बूड़े नल सलिल धार ॥१॥
अंध कहै अंधा पतियाय, जस बिसुवा के लगन धराय[1]।
सो तो कहिये ऐसो अबूझ, षसम ठाढ ढिग नाहीं सूझ ॥२॥
आपन आपन चाहैं मान, झूठ परपंच सांच करि मान।
झूठा कबहु न करि है काज, हौं बरजौं तोहि सुनु नीलाज ॥३॥
छांडहु पाषंड मानहु बात, नहि तो परबहु जमके हाथ।
कहंहिं कबीर नल कियहु न षोज,
भटकि मुवल जस बनके रोझ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पतियार = विश्वास। विसुवा = वेश्या। नीलाज = लज्जाहीन, वेशर्म। मुवल = मर गया। रोझ = जंगली जानवर।

[प्रबोधन]

टीका—हे आत्मोपासक नर! तुमने हमारे सदुपदेश का विश्वास नहीं किया, इसलिये तुम माया की प्रबल जल-धारा में स्वयं डूब गये ॥१॥ अविवेकी

[1] पाठा०—द, ठ, जाय।

जन असम्भव बात का उपदेश करते हैं, और उस पर अविवेकी ही विश्वास करते हैं। जैसा कि, वेश्या का विवाह हो रहा है, यह वचन व्याहत (विरुद्ध) है। इसी प्रकार के असम्भव उपदेश अज्ञानियों के होते हैं। इस प्रकार के अज्ञानियों के उपदेश को सुन कर साधारण जन ऐसा अज्ञानी बन जाता है कि, स्वामी (साहब) के पास खड़े रहने पर अर्थात् हृदय में वर्तमान रहने पर भी उसको नहीं सूझता है, नहीं जानता है। "पास खड़ा तेरा नजर न आवै, महबूब पियारा वै" ॥२॥ वञ्चक गुरु झूठे प्रपञ्च को सत्य करके मानते हैं और अपनी-अपनी प्रतिष्ठा और मान-बड़ाई को चाहते हैं। "घर-घर मंतर देत फिरतु हैं, महिमा के अभिमाना"। हे अज्ञानी नर! मैं तुझको बार-बार मना करता हूं और समझाता हूं कि, झूठे वञ्चक गुरु तुमको कभी मुक्ति-प्रदान नहीं करेंगे। सच्चे का तो यह लक्षण है कि, "जैसी कहै करै पुनि तैसो, राग द्वेष निरुवारे। तामें घटे बढ़े रतियो नहि, येहि विधि आपु संभारे" ॥ कहंहिं कबीर जेहि चलत न दीसै, तासु बचन का लीजै" ॥३॥ इसलिये पाखण्ड को छोड़ो और मेरे उपदेश को मानों; नहीं तो तुम यम के हाथ में पड़ जाओगे। कबीर साहेब कहते हैं कि, हे अज्ञानी नर! तुमने सत्य-पद का खोज नहीं किया, और जंगली नील गाय को तरह पानी और पत्थरों में भटक-भटक कर मर गया। ४॥

॥ इति बसंत प्रकरण सम्पूर्ण ॥

॥ सत्यनाम ॥

चाचर।

(१) चाचर।

*षेलति माया मोहनि जिन्ह, जेर कियो संसार ॥ १ ॥
रचेउ रंगते चूनरी कोइ, सुंदरि पहिरे आय।
सोभा अद्‌बुद् रूपकी, महिमा बरनि न जाय ॥ २ ॥
चंद्‌बदनि म्रिग लोचनि माया, बुंदका दियो उघार।
जती सती सभ मोहिया, गजगति ऐसी वाकी चाल ॥ ३ ॥
नारद के मुष माँडके, लीन्हौ बदन[1] छिनाय।
गरब गहेली गरबते, उलटि चली मुसुकाय ॥ ४ ॥
सिव सन ब्रह्मा दौरिके, दूनौ पकरे जाय।
फगुवा लीन्ह छुड़ायके, बहुरि दियो छिटकाय ॥ ५ ॥
अनहद धुनि बाजा बजै, स्रवन सुनत भौ चाव।
षेलनिहारा षेलि है, जैसी वाकी दाव ॥ ६ ॥
ग्यान[2]–ढाल आगे दियो, टारे टरै न पांव।
षेलनिहारा षेलि है, बहुरि न ऐसी दाव ॥ ७ ॥
सुर नर मुनि औ देवता, गोरष दत्ता व्यास।
सनक सनंदन हारिया, औरकि केतिक बात ॥ ८ ॥
छिलकत थोथे प्रेम सों, धरि पिचकारी गात।
कै जीन्हौ बसि आपने, फिरि फिरि चितवत जात ॥ ९ ॥

---

* छन्द हरिपद और दोहा आदिक। १ पाठा०--भ, म, बसन। २ ढ, ग, अज्ञान।

ग्यान डांग[1] ले रोपिया, तिरगुन दियो है साथ।
सिव सन ब्रह्मा लेन कहो है, औरकि केतिक बात॥ १० ॥
एक ओर सुर नर मुनि ठाढे, एक अकेली आप।
दिष्टि परे उन काहु न छांड़े, कै लीन्हो एक धाप॥ ११ ॥
जेते थे तेते लिये, घूंघट माँहि समोय।
काजरवाकी रेष है, अदग गया नहिं कोय॥ १२ ॥
इंद्र क्रिस्न द्वारे खड़े, लोचन ललचिन चाथ।
कहंहिं कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय॥ १३ ॥

मंगलाचरण।

संवर्णिते 'चाचर-' संज्ञके द्वे, पद्ये प्रबोधाब्धिनिभानवद्ये॥
आनन्दशीतांशुजनौ निदाने, तस्मात्कबीशाद्धि परं न जाने॥ १॥

अर्थ—जो कि परमानन्द के चन्द्रमा की उत्पत्ति में कारण-रूप हैं, ऐसे निर्मल ज्ञान-समुद्र के समान "चाचर" नामवाले दो पद्यों का जिसने वर्णन किया है, ऐसे कबीर साहेब के अतिरिक्त मैं दूसरे को अपना इष्ट नहीं जानता हूँ॥१।

शब्दार्थ—जेर = वि० [फा० जेर] परास्त, पराजित, अधीन। बुंदका = सं० पु० [सं० बिंदु+का (प्रत्य०)] बिंदी, गोल टीका, टिकुली। धाप = सं० पु० [देश०] दौड़। अदग = निष्कलंक, अछूता, बेदाग।

[माया का फगुवा-खेल]

[सूचना-'चाचर' एक प्रकार का फगुवा या फाग (होली) का खेल होता है। उक्त खेल में स्त्री और पुरुष दो दलों में विभक्त होकर

१ पाठा०--त, थ, गाड।

जय और पराजय की अभिलाषा से पिचकारी और डोलचियों से परस्पर प्रतियोगिता से समधिक जल-क्रीडा करते हैं इस पद्य में उक्त खेल का सांगोपांग वर्णन किया गया है। माया ने सारे संसार को अपने अधीन कर लिया' इस भाव-पट पर यह कैसा विचित्र चित्र खींचा गया है ! रूपक का आकार यह है कि, एक ओर तो विश्व-विजयिनी मोहनी माया संनद्ध होकर खड़ी हुई है, और दूसरी ओर ब्रह्मादिक प्रमुख देवताओं को आगे करके सारा ही संसार आनन्द-क्रीडा के लिये आगे बढ़ता चला जा रहा है।]

टीका—जिसने सारे संसार को अपने अधीन कर लिया है, ऐसी मोहनी माया सबों के साथ जगदानन्द का फगुवा (फाग) खेल रही है ॥१॥ माया ने विषय-सौंदर्य रूपी चटकीली और भड़कीली ऐसी चुनरी ओढ़ रक्खी है कि, जिसको संसार में आकर कोई महान से महान सुन्दरी भी भाग्य से ही पहन सकती है ! उस माया की अद्भुत रूप की शोभा और महिमा वर्णन करने में नहीं आ सकती है। ॥२॥ और पूर्ण चन्द्रमा के समान मुखवाली और मृग लोचन के समान लोचन (आंख) वाली उस माया ने विषयानुराग रूपी बिन्दी (टिकुली) से सुशोभित मुख-मण्डल को उघार रक्खा है। उसको देख कर यती और सती सब के सब मोहित हो गये। और हाथी के समान उसकी मन्द गति है। भाव यह है कि, माया धीरे धीरे सबोंको अपने अधीन कर लेती है ॥३॥ इसी गरबीली माया ने शीलनिधि राजा की कन्या बन कर नारदजी का मुख वानर का बनवा दिया था। और इस प्रकार उनकी मर्यादा-रूपी वस्त्र को छीन लिया। इस प्रकार का भारी खेल करके अत्यन्त गर्व से भरी हुई और मुसकाती हुई यह गर्विली माया जहां से आयी थी वहीं फिर उलट कर चली गई ॥४॥ और इस माया ने शिव जैसे योगी और ब्रह्मा दोनों को दौड़ कर जा पकड़ा। और उनसे भी अपना फगुवा छुड़ा लिया। अर्थात् अपनी मनमानी बात करा ली और उनको फिर कुछ दिनों के लिये छोड़ दिया ॥५॥ इस मायिक चाचर में अनहद धुनिरूप बाजे बजते हैं, अर्थात् साधक अभ्यासियों के गगन-मण्डल में जो अनहद ध्वनि होती है वह माया के ही बाजे हैं। "सुनते हैं गुरु ज्ञानी गगन में आवाज हो रही

झीनी" । जिसको सुन सुन कर योगियों का चित्त अधिक अभ्यास के लिये ललचाता है । इसके खेलनेवाले इसी खेल को खेलते हैं । और इसमें जैसा दांव लग जाता है वैसी चीज पा जाते हैं । अर्थात् कोई साधक ज्योति-दर्शन कर लेते हैं, तो कोई अनहद ध्वनि सुन कर ही रह जाते हैं । शब्द—लाभ से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥६॥ इस चाचर में ज्ञानीजन ज्ञान की ढाल को आगे कर देते हैं । और ज्ञान के अखाड़े में ऐसे डट जाते हैं कि, वादियों के वाद करने पर भी अपने पक्ष रूपी पैर को जरा भी नहीं हटाते हैं । ऐसा खेल भी खेलनेवाले ही खेलते हैं; क्योंकि, मनुष्य शरीर के अतिरिक्त ऐसा मौका फिर नहीं मिलता है ॥७॥ इस माया से सुर, नर, मुनि, देवता, गोरख, दत्तात्रेय, व्यास, सनक और सनन्दन भी हार गये । अन्य साधारण लोगों की तो बात ही क्या है ? 'जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं । कहहु तूल केहि लेखे मांहीं'। (रामायण) ॥८॥ माया का बनावटी (दिखाऊ) प्रेम—सागर सदैव उछलता रहता है । और यह कटाक्ष-वीक्षण के साथ-साथ धीरे-धीरे प्रेम की पिचकारी चलाती हुई सबों को वश में कर लेती है ॥९॥

[सूचना—फगुवा खेल में स्त्रियां घुले हुये रंग से भरे हुये हौज में पुरुषों को खड़े करके फूल-मालाओं से हाथ बांध देती हैं । यह भाव यहां पर दिखाया गया है ।]

त्रिगुणात्मक माला से माया ने ब्रह्मादिकों को भी बांध दिया, औरों की तो कथा ही क्या है ? १०। माया के फगुवा-खेल में एक तरफ सुर, नर और मुनिजन खड़े हुये हैं । और दूसरी तरफ खुद आपही (माया) खड़ी हुई है । तिस पर भी उसकी दृष्टि में आने पर उसने किसी को अछूता नहीं छोड़ा, विशेष क्या, उसने तो एक दौड़ में, एक ही आक्रमण से सबों को परास्त कर दिया ॥११॥ पहले कहे हुये जितने थे उन सबों को मानों उसने अपने घूंघट में ही रख लिया भाव यह है कि, सबों के मनों को आकर्षित कर के माया स्वयं अन्तर्हित हो जाती है । यह भाव घूंघट-पट के गिराने के वर्णन से दिखाया गया है ।

वह माया तो सचमुच कज्जल की रेख है; अतः इसके सामने से कोई बेदाग बच कर नहीं गया । ठीक ही है—"काजर की कोठरी में लाखहु

सयाने जाय, काजर की एक रेख लागि है पै लागि है" । चाचर में स्त्रियां पुरुषों के मुख पर काजल लगाती हैं । भाव यह है कि, माया ने सबों को कलंकित किया है ॥१२॥ माया-मन्दिर के द्वार पर खड़े हुये इन्द्रादिकों के लोचन दर्शनों के लिये तरस रहे हैं । कबीर साहेब कहते हैं कि, इस त्रिलोकी-विजयिनी माया को वही जीत सकता है, जो कि मोहावरण (बन्धन) से रहित है ॥३॥

(२) चाचर ।

जारहु जगका नेहरा, मन बौरा हो ।
जामें सोग संताप, समुझु मन बौरा हो ॥ १ ॥
तन धन सों का गर्वसी, मन बौरा हो ।
भसम किरिमि जाकि साज, समुझु मन बौरा हो ॥ २ ॥
बिना नेवका देवघरा, मन बौरा हो ।
बिनु कहगिल की ईंट, समुझु मन बौरा हो ॥ ३ ॥
कालबूत की हस्तिनी, मन बौरा हो ।
चित्र रचो जगदीस, समुझु मन बौरा हो ॥ ४ ॥
काम अंध गज बसि परे, मन बौरा हो ।
अंकुस सहियो सीस, समुझु मन बौरा हो ॥ ५ ॥
मरकट मूठी स्वाद की, मन बौरा हो ।
लीन्हो भुजा पसारि, समुझु मन बौरा हो ॥ ६ ॥
छूटन की संसय परी, मन बौरा हो ।
घर घर नाचेउ द्वार, समुझु मन बौरा हो ॥ ७ ॥

ऊँच नीच जानेउ नहीं, मन बौरा हो।
घर घर षायउ डांग, समुझु मन बौरा हो ॥ ८ ॥
जौं सुवना ललनी गह्यो, मन बौरा हो।
ऐसो भरम बिचारु, समुझु मन बौरा हो ॥ ६ ॥
पढे गुने का कीजिये, मन बौरा हो।
अंत बिलैया षाय, समुझु मन बौरा हो ॥ १० ॥
सूने घर का पाहुना, मन बौरा हो।
जौं आवै तौं जाय, समुझु मन बौरा हो ॥ ११ ॥
नहाने को तीरथ घना, मन बौरा हो।
पूजन को बहु देव, समुझु मन बौरा हो। १२ ॥
बिनु पानी नल बूड़ि हो, मन बौरा हो।
तुम टेकहु रामजहाज, समुझु मन बौरा हो ॥ १३ ॥
कहहिं कबीर जग भरमिया, मन बौरा हो।
तुम छांड़ेहु हरिकी सेव, समुझु मन बौरा हो ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—नेहरा = स्नेह । गर्वसी = गर्व करना । कहगिल = सं० स्त्री० [फा० काह = घास+गिल+मिट्टी] दीवाल जोड़ने का मिट्टी का पतला गारा, गिलावा । कालबूत = वि० [सं० कृत्रिम] नकली, बनावटी। उ०—'कालबूत दूती विना जुरै न और उपाय' । वि० आ०—नाशमान। डांग = सं० पु० [संटंक = पहाड़] बन, जंगल। उ०—'चित्रविचित्र विविध मृग, डोलत डांगर डांग' । तु० । आ०—शरीर। (हिं० डागा) मोटे बांस का डंडा, लट्ठ। ललनी = बांस की फोफी। सुवना = सुग्गा।

[धोखे की टट्टी]

टीका—हे पागल मन ! संसार के ऐसे प्रेम को चूल्हे में जला दो, जिसमें कि शोक और सन्ताप सदैव लगे रहते हैं। हे पागल मन ! तू इस बात को समझ ॥१॥ और हे पागल मन ! तन और धन का क्या गर्व करता है ? क्यों कि इसका ठाठ अन्त में भस्म और क्रिमी रूप हो जानेवाला है। हे पागल मन ! तू इस बात को समझ ॥२॥ और हे पागल मन ! यह शरीर विना नीव का देव-मन्दिर है। अर्थात् आशु-विनाशी है, गिर जानेवाला है। "जीवो नारायणो देवो देहो देवालयः स्मृतः"। और माया विना कहगिल (गिलावा) की ईंटें हैं। अर्थात् अचिर-स्थायिनी है, टिकाऊ नहीं है। हे पागल मन ! तू इस बात को समझ ॥३॥ और हे पागल मन ! जगदीश ने जो इस संसार-चित्र को रचा है। यह विषय-रचना मन की है सो कालबूत की हस्तिनी (नकली हथिनी) के समान है। हे पागल मन ! तू इस बात को समझ ॥४॥ और हे पागल मन ! उस नकली हथिनी को देख कर जंगली हाथी कामान्ध होकर टूट पड़ता है, जिसके फल-स्वरूप दूसरे के वश में होकर अपने शिर पर अंकुश की मार सहता है। हे पागल मन ! तू इस बात को समझ ॥५॥ और हे पागल मन ! लालची बन्दर स्वाद के कारण अपना हाथ फैलाकर तंग मुंह के बर्तन में मुट्ठी बांध लेता है ! हे पागल मन ! तू इस बात को समझ ॥६॥ और हे पागल मन ! इसके पश्चात् उसकी मुट्ठी उस बर्तन में से नहीं निकलती है। और वह पकड़ा जाता है। परिणाम-स्वरूप वह प्रत्येक घर के दरवाजे पर नाचता है। हे पागल मन ! तू इस बात को समझ ॥७॥ और हे पागल मन ! वह बन्दर बड़े घर को और छोटे घर को नहीं जानता है और सब जगह अपना खेल दिखाता है। और मदारी की आज्ञा भंग करने पर वह प्रत्येक घर में डंडे की मार भी खाता है। हे पागल मन ! तू इस बात को समझ ॥८॥ और हे पागल मन ! जिस प्रकार सुग्गा बाँस की नली को पकड़ कर बन्धन में आ जाता है। इसी प्रकार का यह संसार का भ्रम-जाल है। इसका विचार करो। हे पागल मन ! तू इस बात को समझ ॥९॥ और हे पागल मन ! सुग्गे के बहुत पढ़ने और गुनने से क्या लाभ है ? क्योंकि, उसके बहुत पढ जाने से बिल्ली

नहीं डरती है। और अंत में उसको खा जाती है। इसी प्रकार धारणा के बिना बहुत पढ़ने-गुनने से (केवल शुकपाठ से) क्या लाभ है ? क्यों कि, माया उनको फंसा ही लेती है। हे पागल मन ! तू इस बात को समझ ॥१०॥ और हे पागल मन ! असार संसार से प्रेम करनेवाला, सूने घर में आये हुये मेहमान के समान है; जो कि प्यासा आता है और प्यासा ही चला जाता है। हे पागल मन ! तू इस बात को समझ ॥११॥ और हे पागल मन ! अज्ञानियों की दृष्टि में मुक्ति के निमित्त नहाने और पूजने के लिये अनेक तीर्थ और अनेक देवता हैं। अतः "राम-जहाज" (आत्म-परिचय) का तुम आरोहण करो; अन्यथा इससे वञ्चित रह कर तुम बिना पानी के डूब जाओगे। अर्थात् उक्त मिथ्या समुद्र (अध्यास-भ्रम) में डूब जाओगे। हे पागल मन ! तू इस बात को समझ ॥१२–१३॥ कबीर साहेब कहते हैं कि, हे अज्ञानियों ! तुम्हारा मन बौरा गया (पागल हो गया) है। अतएव तुम लोग हरि (आत्मदेव) की सेवा को छोड़ कर भूतों (आत्म-प्रपञ्च) की सेवा करने लग गये। हे पागल मन ! तू इस बात को समझ ॥१४॥

॥ इति चाचर प्रकरण सम्पूर्ण ॥

॥ सत्यनाम ॥

बेली ।

(१) बेली ।

+हंसा सरवर सरीर में, हो रमैया राम ।
जागत चोर घर मूसै, हो रमैया राम ॥ १ ॥
जो जागल सो भागल, हो रमैया राम ।
सोवत गैल बिगोय, हो रमैया राम ॥ २ ॥
आजु बसेरा नियरे, हो रमैया राम ।
काल बसेरा बडि दूरि, हो रमैया राम ॥ ३ ॥
जैंहौ बिराने देस, हो रमैया राम ।
नैन भरहुगे धूरि, हो रमैया राम ॥ ४ ॥
त्रास-मथन दधि-मथन कियो, हो रमैया राम ।
भवन मथेउ भरिपूरि, हो रमैया राम ॥ ५ ॥
फिरिके हंसा पाहुन भयो, हो रमैया राम ।
बेधिन पद निरबान, हो रमैया राम ॥ ६ ॥
तुम हंसा मन मानिक, हो रमैया राम ।
हटलो न मानहु मोर, हो रमैया राम ॥ ७ ॥
जसरे कियहु तस पायहु, हो रमैया राम ।
हमरे दोष जनि देहु, हो रमैया राम ॥ ८ ॥
अगम काटि गम कियहु, हो रमैया राम ।
सहज कियहु बैपार, हो रमैया राम ॥ ९ ॥

+ छन्द 'उपमान'

राम-नाम धन बनिज कियहु, हो रमैया राम।
लादेहु वस्तु अमोल, हो रमैया राम ॥ १० ॥
पांच लदुनवां लादी चले, हो रमैया राम ।
नौ बहिया दस गोनि, हो रमैया राम ॥ ११ ॥
पांच लदुनवां षागी परे, हो रमैया राम।
षाषरि डारिनि फोरि, हो रमैया राम ॥ १२ ॥
सिर धुनि हंसा उड़ी चली, हो रमैया राम ।
सरवर मात जोहारि, हो रमैया राम ॥ १३ ।
आगि जो लागि सरवर में, हो रमैया राम।
सरवर जरि भौ धूरि, हो रमैया राम ॥ १४ ॥
कहंहिं कबीर सुनु संतो, हो रमैया राम।
परषि लेहु षरा षोट, हो रमैया राम ॥ १५ ॥

मंगलाचरण ।

त्रिलोकशोकदायिनी ह्यचिन्त्यरूपमायिनी,
प्रपञ्चवीचि – 'वल्लरी' सुविश्ववृक्षझल्लरी ।
सुवर्णिता हिताहिता मितामिता रतारता
कबीर–धीर–माश्रये गुरुं वरं चितात्मकम् ॥ १ ॥

अर्थ–जो कि त्रिलोकी को शोक देनेवाली, अचिन्त्य रूपवाली माया स्वरूप है। और जो हितकारी–अहितकारी, मित–अमित, अनुरक्त तथा विरक्त है, विश्ववृक्ष पर चढ़ो हुई ऐसी प्रपञ्च–लता का जिनने वर्णन किया है, धीर, वीर और चैतन्य–स्वरूप ऐसे कबीर गुरु की शरण में हूं ॥१॥

शब्दार्थ–बहिया = सं० पु० (सं० वाहक) वाहक, बैल लादनेवाले व्यापारी । अथवा भाड़ के लादनेवाले बैला वगैरह । गोनि = सं० स्त्री० (सं० गोणी) टाट, कंबल या चमड़े आदि की बनी खुरजी, जिसमें दोनों ओर

अनाज भरने का स्थान रहता है, जो भर कर बैल आदि की पीठ पर रखी जाती है। उ०–'जैसे गोनि भरि राखी वासना अनेक भांति, पाप पुनि बीजरूप वर्धमान और हैं'। (बालकराम)। षागो = क्रि० अ० (सं० खंज) चलने में असमर्थ होना। षाषरि = वि० (हि० खांखर) जिसमें बहुत छेद हो, खोपड़ी। जोहारि = क्रि० अ० (हि० जोहारना) प्रणाम या नमस्कार आदि करना।

[हंसोद्बोधन, चेतावनी]

टीका–हे रमैया राम! अर्थात् सब शरीरों में रमण करनेवाले जीवात्मा! तू इस नरतन रूपी सरोवर का हंस है। (विवेकी है)। हे रमैया राम! तेरे जगते हुये और देखते हुये यह पश्यतोहर (देखते-देखते चुरानेवाले) मनरूपी तस्कर ने तेरे हृदय रूपी घर में से तेरे जीवनदायक ज्ञान और विवेकादि महर्घ मोतियों को चुरा लिया है। और तेरे ऊपर भी संशय रूपी छूरी चला रहा है। (हंसा संशय छुरी कुहिया); अतः तू सचेत हो जा ॥१॥ और हे रमैया राम! जो जग जाता है, अर्थात् प्रबुद्ध बन जाता है, वह भग जाता है। अर्थात् प्रपञ्च से अलग हो जाता है। और हे रमैया राम! जो सोता रहता है, अर्थात् अज्ञानी बना रहता है वह चौरासी में चला जाता है ॥२॥ हे रमैया राम! नरतन में तुम्हारा निवास-स्थान रूप मुक्ति-पद नजदीक है। और चौरासी में पड़ जाने से तो वह तुम्हारा विश्राम का स्थान बहुत दूर हो जायगा। क्योंकि, नरतन में ही मुक्ति मिलती है ॥३॥ और हे रमैया राम! चौरासी के चले जाने से तुम दूसरे के देश में चले जाओगे। अर्थात् पराधीन हो जाओगे। और हे रमैया राम! तुम अपनी आंखों को भी धूर से भर लोगे। अर्थात् विवेक दृष्टि से हीन हो जाओगे ॥४॥ और हे रमैया राम! तुम्हारे हृदय में दधि के मन्थन की तरह त्रास से मंथन (भय-विकलता) सदैव होता रहता है। और हे रमैया राम! तुमने नाना भोगों की इच्छा से बार-बार जाकर स्वर्गादिक भवनों को भी पूरी तरह मथ डाला है ॥५॥ और हे रमैया राम! हे हंसा! इस नरतन में फिर से आने के लिये तुम पहुना हो गये। अर्थात् हे रमैया राम! तुम्हारा हंसा (जीवात्मा) इस नरतन में फिरसे आने के लिये बहुत समय में आनेवाला पहुना बन भया। खेद है कि, हे रमैया राम! इस नरतन को

पाकर भी तुमने मुक्ति–पद रूपी लक्ष्य (निशाना) को नहीं बेधा। इसी भाव को मुण्डकोपनिषद् द्वितीय मुण्डक के दूसरे और तीसरे मन्त्रों में कहा गया है– 'तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सौम्य विद्धि' तथा 'आयायतद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि'॥ ६ ॥ और हे रमैया राम ! तुम तो हंस हो, और तुम्हारा मनरूपी माणिक मोती है। इसलिये तुम उसको चुग जाते। अर्थात् अपने में लीन कर लेते। अथवा उसका विग्रह कर लेते तो बहुत अच्छा हो जाता; तुम मुक्त हो जाते। परंतु हे रमैया राम ! तुम तो हमारे मना करने से नहीं माने और विषयों के मैदान में तुमने अपना घोडा दौडा दिया। ७॥ इसलिये हे रमैया राम ! जैसा पाप कर्म तुमने किये वैसे ही फल तुमने पाया है। इसलिये हे रमैया राम ! अब इसमें हमको दोष मत दो। "सो परंच दुख पावई, शिर धुनि–धुनि पछताय।" कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्यहिं दोष लगाय" ॥ (रामायण) ॥ ८ ॥ ज्ञानहीन उपासकों का वर्णन–और हे रमैया राम ! तुमने गम को काट कर अगम की स्थापना की है। अर्थात् सर्वहृदय–निवासी प्रत्यक्ष राम को छोड कर साकेत–बिहारी अगम राम की प्राप्ति के लिये बडी श्रद्धा और भक्ति से राम-नाम की उपासना आदिक किया। और हे रमैया राम ! यह सौदा–व्यापार तुमने बहुत सहलाई से कर लिया ॥९॥ और हे रमैया राम ! तुमने राम–नाम रूपी धन का बनिज–व्यापार किया है। और अनमोल वस्तु को लादा है, भरा है। भाव यह है कि, यह सौदा बहुत अच्छा है; परंतु बिना समझे किया है, यही भारी न्यूनता है ॥१०॥ और हे रमैया राम ! उस रामनाम के गल्लें को पांच लद्दू बैल रूप पञ्च तत्त्व (शरीर) लाद कर चले हैं। और हे रमैया राम ! नौ नाडी रूप नौ बहिया (सहारा देनेवाले) उसके साथ हैं। और दश इन्द्रिय रूप दश गोनों (अन्नादिक भरने का बोरा) में वह भरा गया है ॥११॥ और हे रमैया राम ! इस प्रकार कीमती सौदा को लादे हुये पञ्च तत्वात्मक पांच लद्दू बैल (शरीर) अन्त समय में खड्ढे में जा गिरे, अर्थात् शरीरपात हो गया। और हे रमैया राम ! उस मृत शरीर की खोपडी को भी तोड-फोड दिया ॥१२॥ और हे रमैया राम ! ऐसा करने पर भी अन्त समय कुछ पल्ले न पड़ने से पश्चात्ताप से बहुत ही शिर धुन कर और नरतन रूपी सरवर मित्र को अन्तिम प्रणाम करके यह हंस उड गया।

भजन—'चल दिये प्रान, काया रहि रोई । मैं जानूं काया संग चलेगी, यही कारन काया मल-मल धोई' ॥१३॥ और हे रमैया राम ! इसके पश्चात् इस नरतन रूपी सरोवर में अग्नि लग गयी, अर्थात् इसको जला दिया गया और हे रमैया राम ! उस अग्नि से जल कर यह सरोवर खाक हो गया ॥१४॥ कबीर साहेब कहते हैं कि, आप लोग उक्त नाम और नामी के व्यापार में होने वाली हानि और लाभ को खूब समझ लीजिसे । भाव यह है कि, बिना ज्ञान के किया हुआ नामोपासना का सौदा उक्त गोणी (नर-तन) के साथ ही चला जाता है । "ढोला फूटा बोला गया" । और नामी का सौदा नामी के साथ रह जाता है । 'कहंहिं कबीर जन भये विवेकी, जिन जन्त्री से मन लाया' ।

साखी—'नाम न लिया तो का हुआ जो अन्तर है हेत । पतिवरता पति को भजे, कबहुं नाम नहिं लेत' ॥ १५ ॥

(२) बेली ।

भल सुम्रिति जहंडायहु, हो रमैया राम ।
धोषे किये बिसवास, हो रमैया राम ॥ १ ॥
सो तों है बन-सीकसी, हो रमैया राम ।
सैर[1] कियहु बिसवास हो रमैया राम । २ ॥
ई तो बेद भागवत, हो रमैया राम ।
गुरु दीहल मोहि थापि, हो रमैया राम ॥ ३ ॥
गोबर-कोट उठायहु, हो रमैया राम ।
परि-हरि जैबहु षेत हो रमैया राम ॥ ४ ॥
बुधिबल[2] जहां न पहुँचे हो रमैया राम ।
तहां षोज कस होय, हो रमैया राम ॥ ५ ॥
से सुनि मन धीरज भयल हो रमैया राम ।
मन बढ़ि रहल लजाय; हो रमैया राम ॥ ६ ॥

१ पाठा--प, फ, सोरै ।
२--य, र मन बुधि ।

फिरि पाछे जनि हेरहु, हो रमैया राम।
कालबूत[1] सब आहि, हो रमैया राम ॥ ७ ॥
कहहिं कबीर सुनो संतो, हो रमैया राम।
मन बुधि[2] ढिग फैलावहु, हो रमैया राम ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—सीकसी = ऊषर।

[जीवोद्बोधन (चेतावनी)]

टीका—हे रमैया राम ! स्वार्थ-साधक वञ्चकों के प्रक्षिप्त—'न मांस-भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने'। अर्थात् मांस के खाने में दोष नहीं है और न मद्य के पीने में और निषिद्ध मैथुन करने ही में दोष है, इत्यादि अनर्थकारी स्मृति-वचनों तथा नूतन कल्पित नाना स्मृतियों के जंगल में तुम अच्छे भटक गये, ! हे रमैया राम ! तुमने धोखे का विश्वास कर लिया ।१॥ हे रमैया राम ! ये कौल—कूल—विनिर्मित 'वामतन्त्रादि' स्मृतियां सन्मार्ग—रहित निर्जन और भयंकर बन के सीकस (ऊषर) प्रदेश हैं। "सीकस बोये न धाना" (बीजक)। यदि 'बंसी कसी' ऐसा पाठ हो तो यह अर्थ है कि, उक्त स्मृतियाँ दृढ और तीक्ष्ण वंशी के समान हैं; जो कि, अज्ञानी मछलियों के प्राण की गाहक हैं। और हे रमैया राम ! तुमने 'से' अर्थात् उन मिथ्या स्मृतियों का ही विश्वास किया है। 'र' यह नीच संबोधन है ॥ २ ॥ हे रमैया राम ! ये वेद और भागवत तो जगन्मान्य हैं; परन्तु हे रमैया राम ! "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! " अर्थात् हे अर्जुन ! वेद त्रिगुणात्मक है, इसलिये तू त्रिगुण से परे हो जा। इस कथन के अनुसार सद्गुरु ने मुझको त्रिगुण मत और पथ से हटा कर त्रिगुणातीत (निज-पद) पर स्थापित कर दिया है ॥३॥ हे देहात्म-वादियो ! तुमने जिस शरीर को सर्वस्व तत्त्व समझ रक्खा है, वह तो शरीर में रहनेवाले मल आदिक गोबर का कोट (रक्षा के लिये लगाई हुई दीवार वगैरह) है। हे रमैया राम ! एक दिन ऐसा होगा कि, वह (तुम) खेत (श्मशान) में फेंक दिया जायगा। यहां पर 'खेत' शब्द श्लिष्ट है, जिसके

१ पाठा०—ल, कालभूत। २—ब, श, मति ढिग।

दो अर्थ हैं ॥ ४ ॥ नाना कल्पित लोक आदिक पदार्थों में धारणा, ध्यान और समाधि रूप संयम करनेवालों को यह उपदेश है कि, हे रमैया राम ! जहां मन और बुद्धि नहीं पहुंच सकती है, उसकी खोज कैसे हो सकती है ? ॥ ५ ॥ हे रमैया राम ! ऐसा सुन कर विवेकी जिज्ञासुओं के मन में धीरज हुआ, और अलख, अगम तथा अनामी लोक में जाने के लिये बढ़ा हुआ उनका मन लजा कर रह गया ॥६॥ हे रमैया राम ! तुम गुरु-पद से विचलित हो कर और संसार की तरफ फिर पीछे हट कर विषयों को मत खोजो। क्यों कि, हे रमैया राम ! ये सब संसारी दृश्य तो कालबूत (कला-बूत्तू) नकली राम हैं ॥७॥ कबीर साहेब कहते हैं कि, हे सन्तो ! सुनो, यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो अपने मन और बुद्धि को नजदीक ही फैलावो। अर्थात् अपने हृदय ही में 'साहब' को खोजो। "दिलमहं खोजु दिलहि में खोजो, यहै करीमा रामा" ॥८॥

॥ इति बेली प्रकरण सम्पूर्ण ॥

॥ सत्यनाम ॥

बिरहुली।

आदि अंत नहि होत बिरहुली, नहिं जरि पलौं पेड़ बिरहुली।
निसु बासर नहिं होत बिरहुली, पवन पानि नहिं मूल बिरहुली।
ब्रह्मादिक सनकादिक बि०, कथि गेल जोग अपार बि० ॥२॥
मास असाहे सितलि बिरहुलि, बोइन्हि सातों बीज बिरहुलि।
नित कोड़ै नित छिंचै बिरहुली, नित नव पलौं पेड़ बिरहुली॥
छिछिलि बिरहुली छिछिलि बि०, छिछिलि रहल तिहुँ लोक बि०
फूल एक भल फुलल बिरहुली, फूली रहल संसार बिरहुली॥
से फुल लोरै संत जना बिरहुली, बंदिक राउर जाहिं बिरहुली।
से फुल बंदहिं भक्त जना बि०, डसि गैल बैतल सांप बि०। ५॥

विषहर मंत्र न मानै बिरहुली, गारुड बोलै अपार बिरहुली।
विषकि कियारी बोयहु बिरहुली, लोढत का पछताहु बिरहुली॥
जनम जनम जम अंतर बि०, फल एक कनयर डार बि०।
कहंहिं कबीर सचु पावहु बि०, जो फल चाषहु मोर बि० ॥७॥

मंगलाचरण।

'बिरहुली'—रतिचण्डा गारुडी मन्त्रविद्या, विषमविषविमोके भोगिनः कालशत्रोः
निजजनपरिरक्षाकारिणी येन सृष्टा, गुरुवरविषवैद्यं तं कबीरं स्मरामि ॥१॥

अर्थ—भक्त जनों की सब प्रकार से रक्षा करनेवाली और कालशत्रु रूप सर्प के अति कठिन विष को दूर करने में अत्यन्त ही तीक्ष्णतावाली ऐसी बिरहुली शब्द-रूपी गारुडी मन्त्रविद्या को जिनने बनाया है, ऐसे विषवैद्य (गारुडिया) रूप गुरुवर कबीर साहेब का मैं स्मरण करता हूँ ॥१॥

शब्दार्थ—लोंरै = लोटना, तोड़ना। उ०—'फूल लोंढे चललौं वारो सारी मोरा अंटकल डारी, की आहो रामां गुरु विना कौन छुड़ावे रे की'। (कबीर साहब का निरगुन)।

[तत्त्वोपदेश—गारुडमन्त्र]

(प्राक्कथन)

उक्त रूप से मन आदिक असत्य पुरुषों की उपासना करनेवाले अज्ञानी लोग निज-देव (सत्यपुरुष, आत्मदेव) के विरही बन गये। इससे उनको 'बिरहुली' कहा है, और 'बिरहुली' यह गारुड मन्त्र का प्राकृत नामान्तर भी है। 'विषय वाटिका में लगी हुई काम-केतकी के प्रेमियों को मन-रूपी भुजंगम डस लेता है। उक्त विषधर का विष ऐसा विकराल है कि, वह गुरु-गारुडी के मन्त्र के बिना अनेक प्रयत्न करने पर भी कदापि नहीं उतर सकता है; यह भाव इस पद्य में रूपकातिशयोक्ति अलंकार के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। मन-रूपी सर्प के डस लेने पर जिज्ञासुजन विकल होकर इस प्रकार सद्गुरु को पुकारते हैं—'मन-भुजंग डस्यो मेरी काया, एक दुख व्यापे दुजी दारुण माया।'

'गुरु मेरे गारुडी मैं विषय के हो माता, अबके उबारो गुरु समर्थ दाता' ॥

हृदय-तल से निकली हुई इस करुणा-पूर्ण वाणी को सुनते ही परम दयालु सद्गुरु गारुडी विकल जिज्ञासु के विष को दूर करने के लिये अपना तत्त्वोपदेश रूपी गारुड-मन्त्र इस प्रकार सुनाने लगते हैं—'आदि अंत नहिं होत बिरहुली' इत्यादि ।

टीका—हे बिरहुलि ! तुम इस मेरे मन्त्र को हृदय में धर लो कि, अनादि अनन्त और अखण्ड होने के कारण निज-पद, गुरु-पद या आत्म-पद (रमैया राम) न आदि है, न अंत । निरवयव होने के कारण न उसकी जड़ है, न शाखा और न पत्ते ॥१॥ स्वयं-प्रकाश होने के कारण आत्म-देश में न दिन है, न रात । और अभौतिक होने के कारण न उसमें पवन है, न पानी। और न उसका कोई मूल कारण है। और उक्त पद की प्राप्ति के लिये ब्रह्मा-दिकों ने क्रमशः कर्म और उपासनादिकों का विधान किया है॥२॥ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चनमिषत् । स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति' । इस ऐतरीय श्रुति के अनुसार सृष्टि के आरंभ काल रूप आषाढ मास में यह जीवात्मा तथा प्रकृति स्थूल प्रपञ्च रूप विकार के ताप से रहित होने के कारण शीतल सी थी । अनन्तर कर्मों के भोगोन्मुख होने के कारण "गुण-क्षोभे जायमाने महान् प्रादुर्बभूव ह' इत्यादि श्रुति के अनुसार बुद्धितत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्रा रूपी सातों बीज प्रकृति-क्षेत्र में (जीवात्मा रूपी किसान ने) बोये ॥३॥

[सूचना—आदि मंगल में बतायी हुई साम्प्रदायिक सृष्टि-प्रक्रिया के अनुसार यह अर्थ है कि, पहले आदि-पुरुष (चेतन धनी) को स्फुरण हुआ, पश्चात् 'मूल सुरति' और 'इच्छा सुरति' आदिक सात सुरतियाँ उत्पन्न हुईं; अनन्तर कारणीभूत सात सात सुरतियों से भूत-भौतिक क्रम से सृष्टि का निर्माण हुआ । यह सन्तमत की प्रक्रिया है । इस स्थल पर योग और उपा-सना की प्रक्रियाओं के अनुसार अनेक अर्थ हो सकते हैं । उक्त बीज बोने के अनन्तर सदैव नाना मतों की कल्पना और अहंकार रूपी कोडने (खोदने) और सींचने से प्रपञ्च-वल्ली दिनों-दिन लहलहाती हुई बढ़ती ही चली गई ।]

हे बिरहुलि ! इस प्रपञ्च—लता ने तो बढ़ने में वामन भगवान के चरण को भी परास्त कर दिया ! । यह तो फैलते फैलते तीनों लोकों में फैल गई। "तीन लोक में है जमराजा, चौथे लोक में नाम निशान । लखै कोई विरला पद निरवान" । और हे बिरहुलि ! बीजाङ्कुर-न्याय से उक्त प्रपञ्च-लता में मन रूपी एक अनोखा फूल लगा हुआ है । वह फूल इतना विराट है कि, उसने सारे संसार-सागर को ढांप लिया है । "जल थल मैं ही रमि रह्यो, मोर निरंजन नाउँ" । समष्टि—मनोऽभिमानी चेतन का नाम निरंजन है ।·४।। हे बिरहुलि ! संत जन उस (मन रूपी) फूल को प्रपञ्च रूपी लता से तोड़ कर (लोर कर) आत्म—पद पर चढ़ा देते हैं । इस कारण वे मुक्त हो जाते हैं। और सकामी भक्त उसकी वन्दना करके, सन्मान करके उस फूल को अपने माथे पर रख लेते हैं । इस कारण उसमें छिपा हुआ काम (कामना) रूपी बावरा सर्प उनको काट लेता है ।।५।। हे बिरहुलि ! "कुसुमशरनिपात-जर्जरितहृदयं हि गलत्युपदिष्टम्" । (कादम्बरी) । इस बाणभट्ट के कथनानुसार काम के विष को धारण करनेवाला यह मन रूपी विषहर (सर्प) सद्गुरु के तत्वोपदेश रूपी गारुड—मंत्र को नहीं मानता है । अर्थात् मन्त्र का असर नहीं होता है; अतः उसका विष कैसे दूर हो सकता है ? ।

(नोट—प्राकृत भाषा में "धोहः" (प्राकृते प्रकाश) इस सूत्र से 'ध' को 'ह' होने पर संस्कृत 'विषधर' शब्द का 'विषहर' बन जाता है ।

सद्गुरु कहते हैं कि, हे बिरहुली ! तुमने तो जहर की क्यारी बो दी । अब उसको काटते हुये हे बिरहुलि ! तुम क्यों पछताते हो ? । "मन को मारु पटक के, टूक टूक हो जाय' । ' विष की क्यारी बोय के, लुनते क्यों पछताय" ।।६।। हे बिरहुलि ! "अब तोर होय नरक महँ बासा, निसदिन रहेहु लबार के पासा" । अब जन्म जन्म तुम यम के अधिकार में रहोगे । तुम्हारी प्राण—रक्षा का एक ही उपाय है कि, "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मा-नमवसादयेत् " । (गीता) । इसके अनुसार मेरे उपदेश को मान कर तुम अपने आप अपने को बचा लो ।

कबीर साहेब कहते हैं कि, मेरे लगाये हुये कनयल (कनेर) की

डाली में एक सुन्दर फल लगा हुआ है यदि तुम उसको खा लोगे तो परम सुख पाओगे। भाव यह है कि, रोचक वाणी से जीवात्मा भव–चक्र में घूमता है और यथार्थ वाणी को सुन कर ज्ञानोदय से मुक्त हो जाता है। रोचक वाणी फूल की माला की तरह प्रिय होती है। और यथार्थ वाणी जहर कनेर की डाली की तरह कडवी होती हैं। जिस प्रकार सफेद कनेर के फूल आर उसकी जड़ को घोंट कर पिलाने से सर्प का विष दूर हो जाता है (यह प्रसिद्ध है)। इसी प्रकार कड़वी किन्तु यथार्थ वाणी के सुनने से मन के विकार रूपी विष भी दूर हो जाते हैं। यही यथार्थ वाणी 'बिरहुली' मन्त्र है। "मता हमारा मन्त्र है, हमसा होय सो लेय। शब्द हमारा कल्प–तरु, जो चाहै सो देय' ॥ ७ ॥

सूचना—जिन यथार्थ (कडवी) वाणियों के द्वारा पाखण्ड–विखण्डन किया गया है, उनका उल्लेख, "वेद कितेब दोउ फन्द पसारा, तेहि फन्दे परु आप विचारा"। 'जिन दुनियां में रची मसीद, झूठे रोजा झूठी ईद'। इत्यादि पद्यों से विस्तारपूर्वक (पहले) कर चुके हैं।]

॥ इति बिरहुली प्रकरण सम्पूर्ण ॥

॥ सत्यनाम ॥

हिंडोला।

(१) हिंडोला।

भरम–हिंडोलाना, झूलै सभ--जग आय ॥ १ ॥
*पाप पुन्न के षम्भा दोऊ, मेरु माया मोह।
लोभ मरुवा विषै भंवरा, कामकीला[1] ठानि ॥ २ ॥
सुभ असुभ बनाय डांडी, गहे दोनों पानि।
करम पटरिया बैठि के, को को न झूलै आनि ॥ ३ ॥

* हरिपद और रूपमाला आदिक।

१ पाठा–छ, ज, कीन्हा।

भूलै तो गन गंधर्प मुनिवर भूलै सुरपति इंद ।
भूलै तो नारद सारदा, भूलै व्यास फनींद ॥४॥
भूलै बिरंचि महेस सुक मुनि, भूलैं सूरज चंद ।
आपु निरगुन सगुन होय के. भूलिया गोविंद ॥५॥
छव चारि चौदह सात इकइस, तीनि लोक बनाय ।
षानि बानी षोजि देषहु, थिर न कोउ रहाय ॥६॥
षंड ब्रह्ममंड षट दरसना, छूटत कतहों नाहिं ।
साधु संत विचारि देखहु, जिव निस्तर कहं जाहिं ॥७॥
ससि सुर रयनी सारदी, तहां तत्त--पलौ नाहिं ।
काल अकाल परलै नहीं, तहां संत बिरलै जाहिं ॥८॥
तहं के बिछुरे बहु कल्प बीते, भूमि परे भूलाय ।
साधु संगति षोजि देषहु, बहुरि उलटि समाय ॥९॥
यहि भूलबे की भय नहीं, जो होंहि संत सुजान ।
कहंहि कबीर सतसुक्रित मिले, तो बहुरि न भूलै आय ॥१०॥

मंगलाचरण ।

भ्रमात्मिका भूतमनोगता या, देवाधिविभ्रान्तकरी निगूढा ।
आन्दोलिका येन ततो विमुक्त्या, उक्ता गुरुं तं सततं स्मरामि ॥१॥

अर्थ—जो प्राणियों के मन में वर्तमान है तथा देवादिकों के मन को भी घुमा देने वाला और अत्यन्त छिपा हुआ भ्रम का हिंडोला है । ऐसे हिंडोला का जिनने उससे छुटकारा पा जाने के लिये वर्णन किया है, ऐसे सद्गुरु कबीर साहेब का मैं स्मरण करता हूँ ॥ १ ॥

[भ्रम का झूला]

[सूचना—इस प्रकरण में भ्रम-रूपी झूले का रूपक दिखाया गया है ।

"अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम्" इस सिद्धान्त-वाक्य के अनुसार ब्रह्मादिक सम्भावित-देवता और रामादिक अवतार बाधितानुवृत्त्या अथवा तत्त्वतः स्वाधिकार-परिरक्षण के लिये भोगप्रद कर्मों को किया करते हैं। और यह भी नियम है कि, कर्मोद्यान अध्यास-कुल्या-प्रवाह के बिना कदापि सरस नहीं रह सकता है। इसी तत्त्वाधार-शिला पर ये तीनों पद्य-मन्दिर सुस्थिर हैं।]

टीका—भ्रम के हिंडोले में चढ़ कर सारा जगत झूलता है ॥ १ ॥ खुले मैदान में डाले हुये झूले के लिये दो खम्भे गाड़े जाते हैं। तदनुसार इस प्रकृत भ्रम-हिंडोले के भी अंगभूत धर्म और अधर्म रूपी दो स्तम्भ हैं। भाव यह है कि, प्राक्तन अध्यास-परतन्त्र मनुष्य धर्माधर्मानुष्ठान किया करते हैं। और धर्म तथा अधर्म के अनुष्ठान से अध्यास की परम्परा टिकी रहती है; अतएव पाप और पुण्य भ्रम-हिंडोला के खम्भे बताये गये हैं। अधर्म की तरह धर्म भी शुभ फलों के द्वारा बन्धनकारक ही है। "कहैं कबीर ये दोनों बैरी, कोई लोहा कोई सोना केरी"। पूर्वोक्त दोनों खम्भों के बीच में माया रूपी मेरु (बीच की लकड़ी) लगा हुआ है। भाव यह है कि, दृष्टान्तानुसार भ्रम का झूला केवल माया पर अवलम्बित है। अर्थात् वह मायामात्र है। "मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः"। और उक्त झूले में लोभ रूपी दो मरुये (लकडी के भारी भारी लट्टू) लगे हुए हैं। भाव यह है कि, फल-तृष्णा से सकाम कर्म किये जाते हैं। और उक्त झूले को स्वच्छन्द घुमानेवाले विषय-रूपी भँवरे (लोहे की भँवर-कड़ी) लगे हुये हैं। और उसमें काम (कल्पना) रूपी कीलें (लोहे की कीलें) लगे हुये हैं। भाव यह है कि, जिस प्रकार बिना भँवर, मरुवे और कीले के झूला नहीं ठहर सकता है। इसी प्रकार अध्यास रूपी प्रकृत झूला भी भोग-तृष्णा और अनंतानंत कल्पनाओं पर ही निर्भर है। "काम-काम सब कोई कहैं, काम न चीन्है कोय। जेती मन की कल्पना, काम कहावै सोय" ॥ (कबीर-साखी) ॥ २ ॥ और हाथों से पकड़ने के लिये शुभ कर्म और अशुभ कर्म रूपी दोनों तरफ की डांडी बनायी गई हैं, जिनको कि झूलनेवाले दोनों हाथों से पकड़े रहते हैं। भाव यह है कि, आवा-गमन शुभाशुभ कर्मों के अधीन है। इस संसार में आकर और कर्मों की पटरी

पर बैठ कर कौन कौन नहीं झूले ? भाव यह है कि, नाना कर्मानुष्ठान रूपी पटरी पर बैठनेवाला ही उक्त झूले की बहार ले सकता है। 'जो जो बैठा सो सो झूला' ॥३॥ सुरगण, गंधर्व, मुनिवर और सुरपति इन्द्र भी उस झूले में झूले हैं। और नारद, सरस्वती, व्यासजी और शेषजी भी उस झूले में झूले हैं ॥४॥ और ब्रह्मा, महादेव, शुकदेव मुनि, सूर्य और चंद्रमा भी इस झूले में झूल चूके हैं। विशेष क्या ? स्वयं गोविन्द विष्णु भगवान भी निर्गुण से सगुण और सगुण से निर्गुण होकर इस झूले में झूले हैं। क्योंकि निर्गुण और सगुण; ये दोनों स्वरूप निरंजन (मन) के हैं। और तत्व-पद तो इन दोनों से परे है। जैसा कि यह कबीर साहेब का वचन है—"संतो यह मन है बड़ जालम। जाको काम पड़े या मन से,वाही को है मालम। मन कारण कारण की छाया, ता छाया में अटके। निरगुन सरगुन मन की बाजी, खरे सयाने भटके"। निर्गुण और सगुण अवतार माया-विरचित हैं। इस बात को श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध के दशम अध्याय में कहा है—"अमुनी भगवद्रूपे मया ते अनुवर्णिते। उभे अपि न गृह्णन्ति माया सृष्टे विपश्चितः" अर्थात् माया-विरचित (नकली) होने के कारण ज्ञानी पुरुष इन दोनों रूपों को पसंद नहीं करते हैं। कर्म के इसी झूले का वर्णन भर्तृहरिजी ने भी क्या ही अच्छा किया है ?—

"ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो, ब्रह्माण्डभाण्डोदरे।
विष्णुर्येन दशावतारगहने, क्षिप्तो महा-संकटे ॥
शम्भुर्येन कपालपाणिपुटके, भिक्षाटनं कारितः।
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने,तस्मै नमः कर्मणे" ॥ ५ ॥

और छैः (शास्त्र), चार (वेद), चौदह (विद्यायें), सात (द्वीप) और इक्कीस (भुवन-लोक) तथा तीनों लोकों की बनी हुई रचनायें सब झूले पर झूल रहे हैं अर्थात् अस्थिर हैं। "सर्वे भावा विपरिणामिन ऋते चितिशक्तेः" (सांख्यशास्त्र)। अर्थात् एक चेतन को छोड़कर माया की सारी ही रचना परिवर्तनशील है। विशेष क्या ? चार खानी की चौरासी लाख योनियाँ और वाणी अर्थात् समस्त वाङ्मय वेद-पुराणादिक को खोज कर, विचार कर देख लो; कोई स्थिर नहीं रहता है। कहहिं कबीर सारी दुनियां विनसै, रहै राम

अविनाशी हो" ॥६॥ और ब्रह्माण्ड तथा उसके अंग रूप (पिण्ड, शरीरादिक) खण्ड तथा षड्-दर्शन अर्थात्-"जोगी, जंगम, सेवडा; संन्यासी दरवेस। छठये कहिये ब्राह्मण, छत्र धर छत्र उपदेश"। ये सब उस झूले के झूलने से कहीं भी नहीं छूटते हैं; अतः हे साधु सन्तो ! आप सब विचार कर देखिये, और इस बात का पता लगाइये कि, किस पद पर पहुंच जाने से इस जीव का निस्तार होगा, मुक्ति होगी ? ॥७॥ अमर-पद (अमर-लोक) का वर्णन— उस अमर-पद में चन्द्रमा, सूर्य, अंधेरी रात और शरद काल की चांदनी रात नहीं है। और तत्त्व-पत्तौ भी वहाँ नहीं है अर्थात् भूत और भौतिक प्रपञ्च रूपी पल्लव उस तत्त्व रूपी कबीर तरू में नहीं है और वह अमर-पद रूप अमर-लोक अकाल है, इसलिये उसका कोई काल नहीं है। और वह प्रलय की सीमा से भी परे हैं; अतः उस अमर-देश में कोई विरले ही संत जाते हैं॥८॥ माया के सादि पक्ष से स्वरूप-स्थिति का विचार-हे हंसा ! उस अमर-लोक रूप अमर-पद से बिछुडे हुये तुमको सृष्टि-प्रलय रूप कई कल्प बीत गये। और भूल में पड़ कर तुम अमर-लोक से हट कर मृत्यु-लोक में आकर पड़ गये। अर्थात् जन्म-मरण में पड़ गये। अब संतों की संगति में जाकर उस अमर-देश की खोज करो और ऐसा प्रयत्न करो कि, जिससे उलट कर फिर उसी देश में पहुंच जाओ। "उलटा चले सो हंस हमारा"। भजन-"जहंवां से आयो, अमर वही देशवा। साहेब कबीर एक लाये हैं संदेशवा। गहो निज नाम चलो वही देशवा"। तथा वा घर की सुधि कोई न बतावे, जा घर से जीव आया हो" ॥९॥ कहंहिं कबीर भूल की औषध, पारख सब की माई"। इसके अनुसार यदि सुजान सन्त हों अर्थात् विवेकी संत हों तो इस झूले का डर उनके सामने ही नहीं आवे; क्यों कि, वे इस पर चढ़े ही नहीं। कबीर साहेब कहते हैं कि, यदि सत्य सुकृत मिल जांये अर्थात् सत्य पुरुष (आत्म-देव, निजदेव) का साक्षात्कार हो जाय तो यह जीवात्मा यहां आकर फिर कभी भी इस झूले पर नहीं झूले। अर्थात् मुक्त हो जाय। "भिद्यते हृदयग्रन्थि-श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।" (उपनिषद्) अर्थात् परात्पर आत्मदेव के साक्षात्कार हो जाने से हृदय की सूक्ष्म शरीर रूपी ग्रन्थि (बन्धन) खुल जाती है। और सर्व

संशयों का नाश हो जाता है। और कर्मों का जाल भी जल कर खाक हो जाता है ॥१०॥

[सूचना—सत्य पुरुष, कबीर साहेब और धर्मदासजी साहेब के स्व-सम्प्रदाय-प्रसिद्ध क्रमशः ये नाम हैं—सत्यनाम, सत्य-सुकृत, आदि, अदली, अजर और अचिन्त्य पुरुष। मुनीद्र, करुणामय कबीर, सुरतियोग संतायन और ज्ञानीजी। धनी—धर्मदास, धर्म और धर्मनि। कबीर—पन्थी ग्रन्थों में सर्वत्र उक्त व्यक्तियों को कहने के लिये इन्हीं नामों का प्रयोग किया गया है।]

(२) हिंडोला।

बहु विधि चित्र बनाय के हरि, रच्यो क्रीड़ा—रास।
जाहिन इच्छा झूलवे की, ऐसी बुधि केहि पास ॥१॥
झुलत—झुलत बहु कलप बीते, मन नहि छोड़े आस।
रच्यो हिंडोला अहोनिसि, चारि जुग चौमास ॥२॥
कबहुँ के ऊंच से नीच कबहू, सरग भूमि ले जाय।
अति भ्रमत भरम हिंडोलवा हो, नेकु नहि ठहराय ॥३॥
डरपत हौं यह झूलवे को, राषु जादव राय।
कहैं कबीर गोपाल बिनती, सरन हरि तुम पास ॥४॥

शब्दार्थ—अहोनिसि = क्रि० वि० [सं० अहर्निश] आठ पहर, रातदिन।

[लोक—लोकान्तरों का झूला; मन—मोहन झूले की रसीली पैंगे]

टीका—हरि ने इस संसार में अनेक प्रकार के दृश्य रूप चित्रों को बना कर इसमें यह झूला रूप लीला-खेल रचा है। "लीलावत्तु कैवल्यम्"। अर्थात् यह संसार भगवान का खेल है। अतः संसार रूप इस क्रीडोद्यान में आकर जिसको रिरंसा से इस झूले पर झूलने की इच्छा न हो, ऐसी विरक्त बुद्धि किसके पास है ?। 'धरी न काहू धीर'। 'सबके मन मनसिज हरे,

जेहि राखे रघुवीर' ते उबरे तेहिं काल मँह" । (रामायण) ॥१॥ जीवात्मा को इस भ्रम के हिंडोले पर झूलते झूलते सृष्टि के प्रलय रूप कई कल्प बीत गये; परंतु इसका मन अब भी झूलने की आशा को नहीं छोड़ता है। "संवर्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्तमित्यपि"। (अमरकोष)। और जीवात्मा के हृदय में जो लोकान्तर गमनेच्छा रूप हिंढोला रचा हुआ है, वह चार युग रूप चौमासा में रात-दिन चलता रहता है, अर्थात् जीवों का संसरण बराबर होता रहता है। भाव यह है कि, चातुर्मास्य में झूला डाला जाता है। तदनुसार चारों युगों में रात-दिन उक्त कर्म और भ्रम रूपी झूला झूला जाता है ॥२॥ जिस प्रकार झूले पर बैठे हुए लोग नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे जायां-आया करते हैं। इसी प्रकार झूले पर बैठे हुये कर्मी और उपासक भी अधोलोक से ऊर्ध्व लोक और ऊर्ध्व लोक से अधोलोक को जाते-आते रहते हैं। "ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुण वृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः" ॥ (गीता) ॥ अर्थात् सत्त्व-गुणवाले स्वर्गादिक ऊपर के लोकों में चढ़ जाते हैं। और राजसी प्रकृतिवाले बीच के लोकों में रह जाते हैं। और तामसी प्रकृतिवाले नीचे के लोकों में गिर जाते हैं। यह कर्म और भ्रम का हिंडोला बहुत ही घूमता है। यहां तक कि जरा भी नहीं ठहरता है। "नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। क्रियते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः" ॥ (गीता)॥ अर्थात् कोई भी प्राणी विना कर्म किये हुये क्षणमात्र भी नहीं रह सकता है ॥३॥ उक्त झूले पर झूलने से संत्रस्त हुये कर्मी और उपासक जन कहते हैं कि, हे यादवराय ! इस झूले पर झूलने से मैं डरता हूँ। इसलिये मेरी रक्षा करिये !। कबीर साहेब कहते हैं कि, हे गोपाल ! हे हरि ! यह प्रार्थना तुम्हारे पास है। भक्तों को अपने पास रखिये॥४॥

(३) हिंडोला ।

लोभ मोह के षंभा दोऊ, मनसे रच्यो हिंडोल ।
झूलहिं जीव जहान जहां लगि, कितहुँ न देषौं थित ठौर ॥१॥
चतुर झूलहिं चतुराइया, झूलहिं राजा सेस ।
चांद-सूरज दोउ झूलहिं, उनहुं न आग्या भेल ॥२॥

लष चौरासी जीव झूलहिं, रवि सुत धरिया ध्यान ।
कोटि कल्प जग बीतल, अजहु न माने हारि ॥३॥
धरति अकास दोउ झूलहिं, झूलहिं पवना नीर ।
देह धरे हरि झूलहिं ठाढे, देषहिं हंस कबीर ॥४॥

शब्दार्थ—रविसुत = यमराज ।

[मानसिक संकल्पों का झूला और उक्त झूले को लोकप्रियता का विचार]

[सूचना—इस पद्यमें प्रातिस्त्रिक (प्रति व्यक्ति भिन्न) मानसिक झूलों का वर्णन है ।]

टीका—मानसिक संकल्प रूप हिंडोला बनाया गया है; जिसमें कि, लोभ और मोह के दो खम्भे लगे हुये हैं । अर्थात् लोभ और मोह से मन का संकल्प और विकल्प चलता है । जहां तक संसार है वहां तक के जीव सब इस झूले में झूलते रहते हैं । और इस झूले पर बैठनेवालों की स्थिरता की जगह मैं कहीं नहीं देखता हूं ॥१॥ चतुर लोग अपनी चतुराई के चक्कर में पड़ कर झूल रहे हैं । और शेषनाग राजा भी झूल रहे हैं । तथा चन्द्रमा और सूर्य भी दोनों गमनाऽगमन के चक्र में पड़े हैं । क्यों कि, "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः" (ऋग्वेद) अर्थात् पूर्व सृष्टि के अनुसार विधाता ने सूर्य और चन्द्रमा आदि को गमनशील बनाया है । उन दोनों के लिये विधाताजी की वैसी ही आज्ञा हुई है ॥३॥ और चौरासी लाख योनियों के जीव इसी झूले में झूल रहे हैं । अर्थात् संसार-चक्र में घूम रहे हैं; क्योंकि, वे रविसुत-यमराज (वैवस्वत, काल निरंजन, शबल ब्रह्म) के ध्यान-उपासना में लगे हुये हैं । "यमो वैवस्वतोऽन्तकः" (इत्यमरः) "मूलं यच्छबलं ब्रह्म तन्नामोंकार एव हि" । (ब्रह्मनिरूपण ग्रन्थ) । अर्थात् शबल-ब्रह्म (काल निरंजन) का नाम ही ॐकार है । "मैं सिरजों मैं मारऊं, मैं जारौं मैं खाउं । जल थल मैं ही रमि रह्यौं; मोर निरंजन नाउं" ॥ "अलख निरंजन लखै न कोई । जेहि बन्धे बन्धा सभ लोई" । "एकल

निरंजन सकल सरीरा, तामें भ्रमि–भ्रमि रहल कबीरा"। इत्यादि (बीजक)। "मन ही निरंजन आहि"। भाव यह है कि, निरंजन (मन) के उपासक सबके सब मन की धार में बह गये। और जीवात्मा को झूलते झूलते कई कोटि कल्प और युग बीत गये; परन्तु यह अब भी झूलने से हार नहीं मानता है ॥३॥ तथा धरती और आकाश दोनों झूल रहे हैं तथा पवन और पानी भी झूल रहे हैं। भाव यह है कि, ये सब माया के चक्र में पड़े हैं। विशेष क्या? "सम्भवामि युगे युगे"। (गीता) के अनुसार विष्णु भगवान भी देह धर कर अर्थात् राम-कृष्णादि अवतार लेकर इस झूले पर आ विराजते हैं। "पलना झुलावति जसुमति माई"। केवल हंस कबीर (मुक्त पुरुष) ही इस झूले से बचे हैं; क्यों कि, वे इस पर नहीं चढ़ते हैं, किन्तु साक्षी रूप से खड़े-खड़े इसको देखते रहते हैं ॥४॥

भावार्थ–जो सर्वथा मुक्त हैं वे इस (झूले) से भी मुक्त हैं।

॥ इति हिंडोला प्रकरण सम्पूर्ण ॥

॥ सत्यनाम ॥

साखी।

*जहिया जन्म मुक्ता होता[1], तहिया होता न कोय।
छठी तुम्हारी[2] हौं जगा, तू कहां चला बिगोय ॥१॥

मंगलाचरण।

साक्षी सुचेताश्चितिमात्ररूपः, संवर्णितो येन निजात्मदेवः।
अन्वर्थसंज्ञा गुणतस्ततोऽभूत्, 'साखी' ति विज्ञानिगुरुं भजे तम् ॥१॥

अर्थ–इस प्रकरण में जिनने चेतन रूप निजात्मदेव का साक्षी रूप से वर्णन किया है; अतएव इस प्रकरण को "यथा नाम तथा गुणः" इसके अनुसार "साखी" यह सार्थक संज्ञा हो गयी है। ऐसे विज्ञानी गुरु कबीर साहेब को मैं भजता हूँ ॥१॥

* छन्द 'दोहा'। [1] पाठा०–ज, क, हता। [2] ठ, ड, तिहारी।

शब्दार्थ—जहिया = क्रि० वि० [सं यद् + हिया] जब, जिस समय। उदा०—'भुजबल विश्व जितब तुव जहिया। धरि हैं विष्णु मनुज तन तहिया'। (तुलसी)। तहिया = क्रि० वि० [सं तदाहि] तब, उस समय। विगोय = क्रि० सं [सं० विगोपन] विगोना, नष्ट होना, विनाश करना, विगाड़ना। उदा०—'जिन्ह एहि वारि न मानस धोये। ते कायर कलि-काल विगोये'। (तुलसी)।

[सूचना—ये साखियां 'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः" ॥ इस लक्षण के अनुसार कवीर साहेव की शिक्षा के सूत्ररूप हैं; अतः अन्यान्य भजनादिक (पद्य) इन्हीं के विस्तृत विवरण रूप हैं। यह कथन अत्युक्तिपूर्ण न होगा उदाहरणार्थ—"जहिया जन्म मुक्ता होता" इस प्रथम साखी की भाष्यभूत (व्याख्यान) "तहिया गुपुत थूल नहिं काया, ताके न सोग ताकि पै माया" यह ७४ वीं रमैनी है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। यह धारणा नितान्त ही निष्प्रमाण है कि, इस स्वल्पकाय "बीजक" ग्रन्थ में (अथवा अपने अपने बीजकों में) जिन जिन पद्यों का उल्लेख है, केवल वे ही कवीर साहेव के वनाये हुये हैं। वस्तुतः ये सब (उपलब्ध बीजक) संग्रह ग्रन्थ हैं; अतएव पद्य-संख्या-भेद, पाठ-क्रम-भेद, और पाठ-भेद आदिकों का होना स्वाभाविक है। क्यों कि, वहुत महात्माओं ने इनका बहुत रूप से संग्रह किया था। ऐसी स्थिति में अपने अपने स्थानों के पाठों एवं अर्थ-प्रकारों (वैचित्र्य) को सनातन या पुरातन सिद्ध करने की चेष्टा करना कहांतक उचित है? इसको विवेकी जन स्वयं विचार लें।]

टीका—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ऐक्षत लोकान्नुसृजा इति" (ऋग्वेदीयैतरेयोपनिषद् अ० १ ख० १ मं० १)। सृष्टि के पूर्व में केवल अकेला आत्मा ही था। और दूसरा कुछ भी नहीं था। अनन्तर उसने ईक्षण किया कि, मैं सृष्टि को उत्पन्न करूँ!"। "सोऽकामायत वहुस्यां प्रजायेयेति"। (यजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद् अ० २ वल्ली २ मं० ३०)। अर्थात् उस आत्मा ने इच्छा की कि, 'मैं बहुत प्रजारूप से उत्पन्न हो जाऊँ'। इस कथन के अनुसार हे आत्मा! तुम [जहिया] सृष्टि के पूर्व

स्थूल शरीर के न होने से शरीराद्य प्राण—सम्बन्ध रूप जन्म से मुक्त थे। (तहिया) उस समय 'होता न कोय' यह कोई भी स्थूल प्रपञ्च नहीं था। अनन्तर कर्मों के भोगोन्मुख होने पर तुम्हारी छठीं इन्द्रिय मन में 'हौं' "एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय"। इस प्रकार अनेक रूप होकर प्रगट होने का कर्तृत्वाहंकार जगा। उक्त इच्छानुसार अब तू अध्यास-वश नाना रूप होकर और नाना कल्पना तथा पाखण्डों में पड़कर अपने रूप को तथा आनन्द को भूला कर (नष्ट करके) मुक्ति के लिये कहां चला जा रहा है? सुनो, 'जहां जाहुँ तहँ काडु कसाई'। तथा, 'जहँ जहँ गयेउ अपन पौ खोयहु'। भाव यह है कि, "स ऐक्षत लोकान्नु सृजा" इति। यह श्रुत्युक्त ईक्षण और कामना विना उपाधि के (शुद्ध में) नहीं हो सकती है। इससे सिद्ध होता है कि, यह जीवात्मा कारणी—भूत माया के अनादि होने के कारण अनादि-काल से सोपाधिक (भूला हुआ) है। यह वार्ता इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर कही गयी है। "है विगडायल और को, बिगडो नाहिं बिगाडो'। 'जो है सनातन सोई भूला'। इत्यादि एवं "तहिया गुपुत थूल नहिं काया, ताके न सोग ताकि पै माया"। इत्यादि कथन से माया भी अनादि ही मानी गयी है। फलतः सृष्टि से पूर्व अशरीरी होने के कारण जीवात्मा जन्मादिक द्वन्द्व से मुक्त था, अत्यन्त मुक्त नहीं। यहां पर यह विचारणीय है कि, कामना और अहंकार रूप अध्यास ही के कारण जीवात्मा एक से अनेक और अनेक से एक रूप होकर पुनः-पुनः संसरण किया करता है। सापेक्ष होने के कारण एकता का अध्यावसाय ही अनेकता का उद्गम है। "प्रथम एक जो हौं किया, भया सो बारह बान। कसत कसौटी ना टिका, पीतल भया निदान"॥ जब तक पूर्ण परिचय रूप वारि से आत्मोद्यान आप्लावित नहीं होता है तबतक यह एकता और अनेकता का अरहट बराबर चलता रहता है। "भरमक बांधल ई जग, यहि विधि आवे जाय"। "अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः"। स्व-संवेद्य स्वरूप के परिचय का अभिज्ञान-भूत कबीर साहेब का कथन इस प्रकार है कि, "जाके मुनिवर तप करै, बेद थके गुन गाय। सोई देउं सिखापना, कोई नहिं पतियाय"॥ "एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गार। है जैसा तैसा रहै, कहैं कबीर विचार"॥१॥

[सूचना—"जहिया जन्म०" इस साखी का दूसरा अर्थ माया के सादि पक्ष में है; परन्तु वह एकदेशी होने के कारण अमान्य है ।]

सब्द हमार तू सब्दका, सुनि मति जाहु सरकि ।
जो चाहे निज तत्व को, सब्दहि लेहु परषि ।। २ ।।

[सूचना—'एक शब्द गुरुदेवका, ताका अनंत विचार' । तथा, 'आदिको उपदेश जाने, तासु बेस बाना;' । इत्यादि कथनानुसार यहां पर शब्द पद से सत्य शब्द विवक्षित है ।]

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, हमारा सत्य शब्द है । और तू उस शब्दका (अधिकारी) है । इसलिये उसको सुन कर प्रपञ्च की तरफ मत जा । और यदि तुम परम-तत्व को प्राप्त करना चाहते हो तो परीक्षा करके उसी शब्द को ग्रहण करो ।।२।।

सब्द हमारा आदिका, सब्दै पैठा जीव ।
फूल रहनि की टोकरी, घोरे षाया घीव ।। ३ ।।

टीका—हमारा सत्य शब्द सदा का है । और "शब्द स्वरूपी साहिबा सब मांहि समाना" । इसके अनुसार वही सत्य शब्द चेतन रूप से जीव के हृदय में बैठा हुआ है; परन्तु आश्चर्य है कि, फूलों की रखने की टोकरी के समान जीव के शुद्ध स्वरूप को जिस प्रकार घोर (मट्ठा) घी को खा जाता है, उसी प्रकार (अज्ञानता के कारण) माया ने खा डाला है, आच्छादित कर दिया है ।।३।।

सब्द बिना सुति आंधरी, कहो कहां को जाय ।
द्वार ना पावै सब्दका, फिरि-फिरि भटका षाय ।। ४ ।।

टीका—मार्ग-दर्शक और प्रकाशक सत्य शब्द (सार-शब्द) की प्राप्ति के बिना सुरति अन्धी बनी बैठी है । ऐसी स्थिति में कहो भला, वह कहां जा सकती है; क्यों कि वह तो सारशब्द के द्वार (पांजी-मार्ग) को पाती ही नहीं है । इसलिये शब्दाकार न होकर संसाराकार हो जाती है । और संसार-प्रपञ्च में ही बार-बार भटकती रहती है । "सारशब्द है

शिखर पर, मूल ठीकाना सोय। बिनु सद्गुरु पावै नहीं, लाख कथे जो कोय" ॥ ४ ॥

सब्द सब्द बहु अंतरा, सार सब्द मति लीजे।
कहहिं कबीर जेहि सार सब्द नहि, धिग जीवन सो जीवे ॥५॥

टीका—वैसे तो शब्दों के बहुत से प्रभेद हैं; परन्तु उनमें से सार शब्द के मत को ग्रहण करना चाहिये। कबीर साहेब कहते हैं कि, जिसको सारशब्द की प्राप्ति नहीं हुई है, वह अधम जीवन से जीता है। "सार शब्द निर्णय को नामा" इसके अनुसार निर्णय वचन को भी "सार शब्द" कहते हैं ॥ ५ ॥

सब्दै मारा गिर परा; सब्दहि छोडा राज।
जिन जिन सब्द बिबेकिया, तिनका सरिगो काज ॥६॥

टीका—अनुरक्त-शब्द (काम-शब्द और काम-कथा) को सुन कर मनुष्य पतित बन जाता है। और विरक्त-शब्द (वीतरागों के उपदेश) को सुन कर राज-पाट छोड़कर मनुष्य विरक्त बन जाता है। और जिन-जिन विवेकियों ने सत्य शब्द का विवेक किया है, उनको मुक्ति की प्राप्ति हो गयी है। "काम कथा नहिं सुनिये, सुनकर उपजे काम। कहहिं कबीर पुकारि के, बिसरि जात है नाम" ॥ ६ ॥

सब्द हमारा आदिका, पल-पल करहु याद।
अंत फलेगी मांहली, ऊपर की सभ बाद ॥ ७ ॥

शब्दर्थ—मांहली = सं० स्त्री [हि० मनल] अंतर में रहने वाली, हृदय में रहनेवाली।

टीका—हमारा सत्य शब्द सदा का है, इसलिये तुम प्रतिक्षण उसका स्मरण करो; और देखो। "अन्ते मतिः सा गतिः"। इसके अनुसार तुम्हारी अंतर्वासना ही तुमको अन्त समय में फल देगी। और धारणहीन ऊपर का कहना-सुनना और क्रिया-कर्म व्यर्थ चले जायेंगे ॥ ७ ॥

जिन जिन संबल ना कियो, अस पुर पाटन पाय ।
झालि परे दिन अथये, संबल कियो न जाय ॥ ८ ॥

टीका—साधनों का धाम, और मोक्ष का द्वार ऐसे नरतन रूपी बड़े शहर को पाकर भी मुक्ति के उपयोगी ज्ञान और विवेकादिरूप सम्बल (रास्ते के भोजन) का जिनने संचय नहीं किया है, वे अंत समय में भारी पश्चात्ताप करते हैं, । क्योंकि, जरा–अवस्था रूप झालि (अन्धेरा,अज्ञान) के आ पड़ने पर और शरीरान्त रूप दिन के अस्त हो जाने पर फिर यह रास्ते का खर्चा प्राप्त नहीं किया जा सकता है ॥ ८ ॥

इहां ई संबल करि ले, आगे विषयी बाट ।
सुरग बिसाहन सभ चले, जहं बनियां ना हाट ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—बिसाहन = मोल लेना । उदा०– 'कोई करै बिसाहनी, काहू केर बिकाय' । जा० ।

टीका–इसलिये हे भाई ! इसी नरतन में उस सम्बल को प्राप्त कर लो; क्योंकि आगे का रास्ता तो विषय–भोग–प्रधान है । भाव यह है कि, नरतन कर्म–भूमि है, इसलिये इसमें सब साधन रूप कर्म बन सकते हैं । और इसके अतिरिक्त दूसरे शरीर तो भोग–भूमि हैं । अर्थात् उन शरीरों में केवल कर्मों का भोग ही होता है, कर्म नहीं । सब कोई मुक्ति का सौदा खरीदने के लिये स्वर्ग में जाते हैं; परन्तु वहां तो सद्गुरुरूप बनियां और सत्संग रूप हाट (दूकान) ही नहीं है । भाव यह है कि, मुक्ति के अधिकारी मनुष्य ही हैं ॥ ९ ॥

जो जानहु जिव आपना, करहु जीव को सार ।
जियरा ऐसा पाहुना, मिले न दूजी बार ॥ १० ॥

शब्दार्थ—सार=खातिर ।

टीका–यदि तुम अपने जीव को सबों से बढ़ कर जानते हो तो समझो कि, यह आत्मा तुम्हारा प्यारा पहुना है । अतः इसकी (मुक्ति रूप इच्छित भोजनादि द्वारा) सार='खातिरदारी' (मेहमानी) करिये ।

क्योंकि जीवात्मा ऐसा प्यारा पहुना फिर न मिलेगा। (यह पहुना इसी घर में फिर न आयेगा), फिर न मनुष्य अवतार होगा ॥१०॥

जो जानहु जग जीवना, जो जानहु सो जीव।
पानिप चाहहु आपना, पानी मांगि न पीव ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—पानिप = सं० पु० [हि० पानी+प (प्रत्य०)] मर्यादा, इज्जत।

टीका—यदि तुम संसार में सत्पुरुषों का जीवन जीना जानते हो तो समझो कि, जिसको तुम अपना सर्वस्व समझते हो वह यही जीवात्मा है। अतः यदि अपनी पानिप (मर्यादा) चाहते हो तो स्वावलम्बी बनो। और पीने के लिये दूसरों से पानी भी नहीं मांगो। भावार्थ—स्वयं विवेकी बनो। और हरेक से मुक्ति की इच्छा न करो ॥११॥

पानी पियावत का फिरो, घर घर सायर बारि।
त्रिषावंत जो होयगा, पीवेगा झष मारि ॥ १२ ॥

टीका—उपदेश और गुरु–मंत्र के दाता हे सज्जनो! आप लोग तालाब के पानी की तरह सस्ता बना कर उपदेश और गुरु–मन्त्र के पानी को घर-घर पिलाते क्या फिरते हैं? देखिये, जो उसकी लगनवाला प्यासा होगा वह तो अनन्य-गतिक होकर आपके पास आकर और झख मार कर पीयेगा। "घर घर मंतर देत फिरतु हैं, महिमा के अभिमाना"। भावार्थ—अनधिकारियों को उपदेश नहीं देना चाहिये ॥१२॥

हंसा मोती बिकानिया, कंचन थार भराय।
जो जाको मरम न जानइ, सो ताको काह कराय ॥ १३ ॥

टीका—सोने के थाल में भरे हुये मोतियों की प्राप्ति के लिये हंस बिक गया। अर्थात् सद्गुरु के विवेक-वचनों को सुनकर विवेकी जिज्ञासु ने उनके चरणों में सर्वस्व अर्पण कर दिया। "शिष्य को ऐसा चाहिये, गुरु को सरबस देय। गुरु को ऐसा चाहिये, शिष्य का कछु न लेय"॥ इसके विपरीत जो

जिसके स्वरूप को नहीं जानता है वह उसकी प्राप्ति से क्या लाभ उठा सकता है ? "लक्ष कोस भँवरा बसे, लेय पुहुप की बास। दादुर बच्चा क्या करे, रहे कमल के पास" ॥ भावार्थ—विवेकी हंस तत्त्वोपदेश रूपी मोती को चुन लेता है ॥१३॥

हंसा ! तू सुबरन बरन, का बरनौं मैं तोहि।
तरिवर पाय पहेलिहो, तबै सराहौं तोहि ॥ १२ ॥

टीका—हे हंस ! (जीवात्मा) तू असली सोने के समान निर्मल वर्ण का है। और उसीके समान तपा-तपाया और कसा-कसाया है, इसलिये तेरी महिमा का मैं क्या वर्णन करूँ ? परंतु तेरी परीक्षा का यह अवसर फिर आ गया है कि, तू इस नरतन रूप श्रेष्ठ वृक्ष पर आ बैठा है; अतः इस पर से यदि तू निष्कलंक रूप से और सही-सलामती से उड़ जायगा, तभी मैं तेरी प्रशंसा करूँगा। भावार्थ—हे हंस ! यदि तू उड़कर इस समुन्नत विश्व-वृक्ष से पार हो जायेगा तब तेरी प्रशंसा करूँगा। वृक्ष पर बैठे हुये पक्षी को व्याधा के लासा लगने का बहुत भय रहता है ॥१४॥

हंसा ! तू तो सबल था, हलुकी अपनी चाल।
रंग कुरंग रंगिया, तैं किया अवर लगवार ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—लगवार = स्त्री का उपपति, यार।

टीका—हे हंस ! नरतन के पाने पर तू उड़कर मुक्तिरूप मानसरोवर में पहुंच जाने के लिये सब प्रकार से सबल था, शक्ति-शाली था; परंतु तेरी चाल हलकी हो गयी। अर्थात् तू असद् व्यवहारवाला हो गया। वह यह है कि, तू अविद्या के काले रंग में रंग गया; क्योंकि तूने दुष्ट मन को अपना प्रेमी बना लिया ॥१५॥

हंसा सरवर तजि चले, देही परिगौ सून।
कहहिं कबीर पुकारिके, तेहि दर तेही थून ॥ १६ ॥

टीका—जीव रूप हंस शरीर रूप सरोवर को छोड़ कर चला गया; अतः शरीर मुर्दा बन गया। कबीर साहेब पुकार कर कहते हैं कि,

उसने उसी दरवाजे पर उसी थूनी को फिर से जा गाडा। अर्थात् इसी संसार में उसने फिर से शरीर धर लिया। भावार्थ–'जहां आसा तहं बासा कोई' ॥ १६ ॥

हंस बगु देषा एक रंग, चरे हरियरे ताल।
हंस छीर ते जानिये, बगु उघरे ततकाल ॥ १७ ॥

टीका–अन्योक्ति-हंस और बगुला दोनों ही एक सफेद रंग के देखे जाते हैं। और दोनों के दोनों हरेभरे एक तालाब में चरते रहते हैं। उनमें से हंस की परीक्षा तो दूध से होती है। और बगुला तो मच्छली के पकड़ते ही तत्काल पहचान लिया जाता है। भावार्थ-संसार में रहने वाले संत और असंतों की परीक्षा उनके आचरणों से होती है ॥ १७ ॥

काहे हरनी दूबरी, यही हरियरे ताल।
लच्छ अहेरी एक म्रिग, केतिक टारै भाल ॥ १८ ॥

शब्दार्थ–भाल = सं० पु० (सं० फाल) तीर की नोंक, बरछा।

टीका—अन्योक्ति-प्रश्न-इस हरेभरे तालाब में चरने वाली यह हरणी दुबली क्यों है ? उत्तर-लाखों शिकारियों से घिरा हुआ बेचारा एक मृग उनके भालों को कहां तक बचा सकता है ? भावार्थ-जीवात्मा को अनेक विकार घेरे रहते हैं; अतः ये उनसे कहां तक बच सकते हैं ! ॥१८॥

तीनि लोक भौ पिंजरा, पाप पुन्न भौ जाल।
सकल जीव सावज भये, एक अहेरी काल ॥ १९ ॥

टीका–"एकल निरंजन सकल सरीरा" इसके अनुसार पारिभाषिक निरंजन काल एक शिकारी है, और सब जीवात्मा उसके शिकार हैं। उनको वह पाप और पुण्य के जाल में फंसा कर तीनों लोकों के पिंजरे में डाल देता है ॥ १९ ॥

लोभें जान गंवाइया, पापे षाया पुन्न।
साधी सों आधी[1] कहै, तापर मेरा षुन्न ॥ २० ॥

---

[1] पाठा –ग, घ, जनम।

टीका—लोभ में पड़कर प्राणी अपनी जान खो देता है। और पाप-कर्म पुण्य-कर्म के प्रभाव को नष्ट कर देता है। विष्णु की अर्धाङ्गिनी होने के कारण माया को सब आधी (अधूरी) कहते हैं; परन्तु विचार कर देखा जाय तो सबला होने के कारण माया साधी (पूरी, समूची, सारी) है ॥२०॥

नोट—यहां पर "आधी से आधी कहै" ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ यह है कि, उक्त प्रकार से यद्यपि माया आधी है, फिर भी इस आधी को जो आधी कहता है, उस पर मेरी नाराजगी है; क्योंकि यह यहाँ पर प्रबला है।

आधी साषी सिर षरी[1], जो निरुवारी जाय।
का पंडित की पोथियां, रात-दिवस मिलि गाय॥ २१ ॥

शब्दार्थ—साषी=गवाह।

टीका—माया केवल अज्ञानियों की गवाह है; क्योंकि उनके सब काम इसके सामने होते हैं। मूलार्थ-माया गवाह शिर पर सवार है; अतः यह निवृत्त कर दी जाय तो परमानन्द हो जाये। यदि ऐसा न हो सका तो रात-दिन गायी जानेवाली पण्डितों की पुस्तकों से क्या लाभ है? अर्थात् सुग्गे की तरह केवल पुस्तकों के पढ़ लेने से क्या लाभ हैं? - "पढ़े गुने से क्या कीजिये, मन बौरा हो। अंत बिलैया षाय, समुझु मन बौरा हो" ॥ २१ ॥

नोट—यहा पर "आधी साषी सिर षंडे" ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ यह है कि, यदि विचार किया जाय तो, "आधी साषी कबीर की, चार वेद का जीव"। इसके अनुसार कबीर साहेब की आधी साखी काल के शिर को खण्डित कर सकती है। उसको न विचार कर पण्डितों की पुस्तकों से क्या लाभ है? जो कि, रात-दिन गायी जाती हैं।

पांच तत्त का पूतरा, जुगुति रची मैं कीव[2]।
मैं तोहि पूछौं पंडिता, सब्द बड़ा की जीव॥ २२ ॥

शब्दार्थ—कीव=सं० पु० [सं० कृतम्] किया, करना।

[1] पाठा० ङ, च, सिर षंडे। [2] छ, ज, कीन्ह।

टीका—पांच तत्व के बने हुये मिट्टी के पुतले रूप इस जड़ शरीर में 'मैं' शब्द से कहे जानेवाले चेतन जीवात्मा ने चेतनता की युक्ति-रचना की है, अर्थात् जड़ देह में जीव ने जीवन डाल रखा है। ऐसी स्थिति में हे पण्डितजी! मैं आप से पूछता हूं कि, शब्द बड़ा है कि उसका उच्चारण करनेवाला जीव शब्दी (शब्द करनेवाला) बड़ा है? बाजा बड़ा है कि बजानेवाला बड़ा है? ॥२२॥

पांच तत्त का पूतरा, मानुष धरिया नांव।
एक कलाके बीछुरे, विकल होत[1] सब ठांव ॥ २३

टीका—इस पांच तत्व के पुतले का मनुष्य नाम रखा गया है। और प्राण रूप इसकी एक कला के बिछुड़ते ही इसके सारे ही अंग और प्रत्यङ्ग निष्प्राण (मुर्दा) बन जाते हैं। भावार्थ—जीवात्मा की षोडश कलाओं में मुख्य कला प्राण है ॥२३॥

रंगहि ते रंग ऊपजे, सभ रंग देषा एक।
कवन रंग है जीवका, ताका करहु विवेक ॥ २४ ॥

टीका—भजन—"माया रंग बादली जामें चन्दा दरसे नांहि"। इसके अनुसार माया रूप रंग (पदार्थ) ही से सब कार्यरूप रंग उत्पन्न होते हैं। और कार्य-कारण के तादात्म्य (एकता) से सब रंग (कार्य) एक माया रूप ही देखे गये हैं। अर्थात् सब माया से उत्पन्न होते हैं, और सब पदार्थ माया रूप जड़ हैं; परंतु जीव का कौन रूप है? चेतन है या जड़ है? इसका विचार करो? यह प्रश्न है ॥२४॥

जाग्रत रूपी जीव है, सब्द सोहागा सेत।
जरद बुंद जल-कूकुही, कहंहिं कबीर कोई देष ॥ २५ ।

शब्दार्थ—जरद = पीला (रज)। बुंद = वीर्य, जल। कूकुही = जल-मूर्गी (शरीर)।

---

[1] पाठा०—रू, ज, भया।

टीका—उत्तर-जीव का रूप जागृत और चेतन है। और वह असली सोने की तरह निर्मल है; क्योंकि, सफेद सोहागा की तरह गुरु का शब्द उसको निर्मल बनानेवाला है; परन्तु रज और वीर्य से उत्पन्न हुये जल-कूकुही के समान इस शरीर के विद्यमान रहते हुये कबीर साहेब कहते हैं कि, जीव के स्वरूप के साक्षात् करनेवाला "कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः"। (गीता)। इसके अनुसार जाननेवाला कोई बिरला पुरुष है। भाव यह है कि, माया (प्रकृति) और माया के कार्य जड़ हैं और अन्धकार रूप हैं। जैसा कि, मनुस्मृति का यह वचन है—"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः"॥ अर्थात् सृष्टि के पहले सर्वत्र अन्धकार था, और सर्वत्र ही सोये हुये की तरह सन्नाटा छाया हुआ था। इसके विपरीत जीवात्मा जागृत, प्रकाश और चेतन स्वरूप है ॥२५॥

पांच तत्त लै या तन कीन्हा, सो तन लै काहि लै दीन्हा।
कर्महि के बस जीव कहत हैं, कर्महि को जिव दीन्हा ॥२६॥

टीका—पांच तत्त्व से शरीर की रचना होती है। ऐसे शरीर को तुमने किसके अधीन कर दिया? यह प्रश्न है। कर्मों के अधीन होने ही के कारण यह आत्मा जीव कहा जाता है; परंतु नरतन को पाकर फिर भी सकाम कर्मों के अधीन ही जीवात्मा को कर दिया गया है। अर्थात् कर्मों के अधीन होने से जीव का जीवभाव (देहभाव) नहीं छूट सकता है। "तुम्हरो देह-भाव नहिं छूटै, ताते जमरा धरि धरि लूटैं"। भावार्थ—जो कर्म-परतन्त्र है वह जीव। और जो स्वतन्त्र है वह शिव (मुक्त) है ॥२६॥

पांच तत्त के भीतरे, गुप्त बस्तु अस्थान।
बिरले मरम कोई पाइ है, गुरु के सब्द प्रमान ॥ २७ ॥

टीका—पांच तत्त्वों से बने हुये शरीर के अन्दर गुप्त स्थान (हृदय) में गुप्त वस्तु चेतन आत्मा रक्खी हुई है; परंतु गुरु के शब्द को प्रमाण मानने वाले कोई बिरले ही उसको प्राप्त करते हैं। "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्"। (उपनिषद्)। भावार्थ—जीव का विशेष निवास हृदय में है ॥२७॥

असुन तषत अडि आसना, पिंड झरोषे नूर।
ताके दिल में हौं बसौं, सेना लिये हजूर ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—असुन = चेतन (भरा हुआ)। तषत = सिंहासन। पिंड = शरीर। नूर = प्रकाश। हजूर = पास।

टीका—जो चेतन सिंहासन पर आसन जमा कर बैठे हैं। अर्थात् चेतन पद पर दृढ़ता से आरूढ हैं; अतएव जिनके शरीर के झरोखे रूप हृदय में चेतन का प्रकाश झलक रहा है। स्वयं साहब (परमात्मा) कहते हैं कि, ऐसे महात्माओं के हृदय में ज्ञान, वैराग्यादिक अपनी सेना को लेकर मैं सदैव निवास करता हूं, पास रहता हूँ ॥२८॥

हृदया भीतर आरसी, मुष देषा नहिं जाय।
मुष तो तबही देषिहो, जब दिल की दुविधा जाय ॥ २९ ॥

टीका—हृदय के भीतर ही आरसी (दर्पण) है। अर्थात् अन्तर हृदय, निज मन है; परन्तु उसमें अपना मुख देखा नहीं जाता है, अर्थात् अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता है। उस स्वरूप का साक्षात्कार तो तभी होगा जब कि हृदय से द्वैतभाव चला जायगा। भावार्थ—हृदय-शुद्धि के बिना साहब के दर्शन नहीं होते हैं। "दर्शन करना चाहिये तो दर्पन मांजत रहिये। दर्पन में लागी काई तो दरस कहां ते पाई" ॥२९॥

गांव ऊंचे पहाड पर, औ मोटे की बांह।
कबीर ऐसा ठाकुर सेइये, उबरिये जाकी छांह ॥ ३० ॥

टीका—ऊँचे पहाड़ पर बसा हुआ गांव नदियों के प्रबल प्रवाह से बचा रहता है। और बड़े की बांह पकड़नेवाला अर्थात् बड़े की शरण में रहनेवाला भी सब प्रकार की आपत्तियों से बचा रहता है। कबीर साहेब कहते हैं कि, ऐसे स्वामी प्रभु की सेवा करना चाहिये कि, जिसकी छाया में उबार हो अर्थात् त्राण हो। "पूरा साहब सेइये, सब विधि पूरा होय" ॥३०॥

जेहि मारग गये पंडिता, तेई गई बहीर ।
ऊंची घाटी रामकी, तहँ चढ़ि रहे कबीर ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—बहीर = अज्ञानी । घाटी = पहाड़ी, ऊँचा रास्ता ।

टीका—"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" । (गीता) । अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जिस कार्य को करते हैं उसको साधारण लोग बिना बिचारे ही कर डालते हैं । इसके अनुसार जिस रास्ते से पण्डित लोग जाते हैं, उसी रास्ते से अज्ञानी लोग भी चलते हैं । अर्थात् पण्डितों की देखा-देखी अज्ञानी लोग भी देवबलि के रूप में पशु-हिंसा करते हैं । परंतु कबीर तो राम की जो सर्वोच्च घाटी है अर्थात् सर्वोच्च पद है, , उस पर चढ़े हुये हैं । भाव यह है कि, ज्ञानी पुरुष गतानुगतिक (देखा-देखी) में न पड़ कर आत्मानुभव रूप हृदय-तत्त्व से सब कार्यों को करते हैं । "सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाण-मन्तःकरणस्य वृत्तयः" । (कालीदास)। अर्थात् संदेह स्थल में अन्तःकरण की वृत्ति सज्जनों के प्रमाण रूप होती है ॥३१॥

ऐ कबीर तैं उतरि रहु, संबल परो न साथ ।
संबल घटे औ पशु थके; जीव बिराने हाथ ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—बिराने = वि० [फा० बेगाना] बिराना, पराया, दूसरे का ।

टीका—साधन-हीन मुमुक्षु को उपदेश—हे कबीर ! तू राम की ऊँची घाटी पर चढ़ने का साहस मत कर । वहां से नीचे उतर आओ । क्योंकि तेरे पल्ले में वैराग्य और श्रद्धा रूप सम्बल नहीं है । और न तेरे संत का ही संग है । इसलिये उक्त साधनों के नहीं रहने से केवल मुक्ति की इच्छा रखने से कोई लाभ नहीं है । क्यों कि यह निश्चितों बात है कि, विदेश में जाने पर सम्वल के घट जाने से और पैरों के (शरीर) के थक जाने पर दूसरों के हाथ में पड़ कर जीवात्मा विवश हो जाता है । भाव यह है कि, साधन-हीन को राम नहीं मिलते हैं; अतः वैराग्य ढीला पड़ जाने पर और कालान्तर में मुक्त होने के उत्साह के भी भंग होने पर वैराग्यादिक साधनों से हीन केवल साधु-वेषधारी मन के हाथ में पड़ कर पतित हो जाते हैं ।

"जे श्रद्धा संबल रहित, नहि सन्तन कर साथ।
तिनकहँ मानस अगम अति,जिनहिं न प्रिय रघुनाथ" ॥ (रामायण) ॥३२॥

कबीरका घर सिषर पर, जहां सिलहली गैल।
पांव न टिकै पिपीलिका, तहां षलकन लादे बैल॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—सिलहली = रपटीली। गैल = रास्ता॥ पिपिलिका = चिउंटि, शास्त्रज्ञों की सुक्ष्म बुद्धि।

टीका—कबीर का घर शिखर पर है; अर्थात् माया-मन्दिर के शिखर पर (प्रपञ्च से परे) शुद्ध चेतन परात्पर है। और उसका रास्ता बहुत रपटीला हैं; यहां तक कि उसमें चिउंटि के भी पैर नहीं टिक सकते हैं। ऐसी स्थिति में संसारी लोग वहां बैल लाद कर जाना चाहते हैं। भाव यह है कि, "तर्को-प्रतिष्ठानात्"। (वेदान्त-दर्शन)। बुद्धि से उत्थापित तर्क की कोइ स्थिति नहीं है,इसके अनुसार परात्पर पद अगम्य हैं। और उसके रास्ते में माया का चिकना किचड़ है, जिसमें जाने से बडे बड़े ऋषि और मुनियों के पैर फिसल गये हैं, तो भला, वहां नाना अहंकारों के धारण करनेवाले साधारण लोग कैसे पहुंच सकते हैं ? । "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति"। (उपनिषद्)॥ ३३ ॥

[सूचना—इस साखी पर कबीर साहेब की शिष्या "कमाली" की यह कथा प्रसिद्ध है कि, दिग्विजय करनेवाला महा अहंकारी सर्वाजित नाम का पण्डित बैलों पर पुस्तकें लादे हुये काशीजी में आया। और शास्त्रार्थ करने की इच्छा से उसने कबीर साहेब का घर कमाली से पूछा। इसके उत्तर में उसने कबीर साहेब से सुनी हुई इस साखी को कह सुनाया था।]

बिनु देषे वह देसकी, बात कहे सो कूर।
आपुहि षारि षात है, बेचत फिरै कपूर॥ ३४ ॥

टीका—अनुभव-हीन गुरु और धारणा-हीन उपदेशकों के व्यबहार का कथन-स्वयं बिना साक्षात्कार किये हुये उस परोक्ष अलख और अगम लोक की बातें जो सुनाते हैं वे दुष्ट हैं; क्योंकि वे स्वयं तो खारी खाते हैं, और

दूसरों के लिये कपूर बेचते फिरते हैं। अर्थात् वे स्वयं बिषयानन्द में पड़े हुये दूसरों को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का मार्ग दिखाते हैं। यह तो वही बात हुई कि, "तुलसी किरवा नीमका, चाखन चाहत खाँड"। भावार्थ-जो स्वयं आचरण नहीं करते हैं उनकी बातें मत मानो ॥ ३५ ॥

सब्द सब्द सब कोइ कहैं, वो तो सब्द बिदेह।
जिभ्या पर आवे नहीं, निरषि परषि करि लेह ॥ ३५ ॥

टीका—"सब्द स्वरूपी साहिबा, सब मांहि समाना"। इसके अनुसार सब कोई 'साहब' को शब्द रूपी कहते हैं; परन्तु माया की रचना से परे होने के कारण वह विदेह शब्द है। अर्थात् शब्दी (चेतन) है। क्योंकि, "बावन अच्छर जिम्या धारा, आदि अच्छर जिभ्या से न्यारा"। इसके अनुसार वह निरक्षर सारशब्द जिव्हा पर नहीं आ सकता है। केवल पारख ज्ञान से इसकी प्राप्ति होती है। ॥ ३५ ॥

परवत ऊपर हर बहे, घोरा चढ़ि बस गांव।
बिना फूल भंवरा रस चहे, कहु बिरवा को नांव ॥ ३६ ॥

[सूचना—यह मन-बिटप की पहेली है। हठ-योगी प्राणायाम से ब्रह्माण्ड में ज्योतिः—प्रकाश करके आनन्दित होते हैं—]

टीका—योगियों के ब्रह्माण्डरूप पर्वत पर प्राणरूप हर चलता है। और मन रूपी घोड़े पर चढ़नेवाले वे गगन-मण्डल रूप उस गांव में बसते हैं, और उनका जीवात्मारूप भंवरा बिना ही फूल के (मिथ्या ही) आनन्द-रूप रस को चाहता है। उस वृक्ष का नाम बताओ ? यह प्रश्न है। उत्तर-वह मन रूप वृक्ष है। "गगन-मण्डल करु वासा अवधू"! तथा "गगन-मडंल में फूल एक फूला" ॥ ३६ ॥

चंदन* बास निबारहू, तुझ कारन बन काटिया।
जियत जीव जनि मारहू, मूये सभै निपातिया ॥ ३७ ॥

* छन्द 'श्याम उल्लास'।

टीका—अन्योक्ति–हे चन्दन ! तू अपनी वासना (सुगन्धि) को हटा ले; क्यों कि तेरी सुगन्धि के लगाने ही के कारण बन काटा गया है । अर्थात् हे जीव ! तू अपनी वासना को दूर कर; क्यों कि, वासना ही के कारण संसार का विनाश होता है । मांस-भक्षण की वासना [इच्छा] वाले को उपदेश–हे भाइयो ! आप लोग जीतेजी किसी जीव, प्राणी को मत मारो । और मरने पर तो सबोंका नाश हो ही जाता है ॥३७॥

चंदन सरप लपेटिया, चंदन काह कराय ।
रोम रोम बिस भीनिया, अमृत कहां समाय ॥ ३८ ॥

टीका—अन्योक्ति–चन्दन पर लिपटे हुए सर्प को चन्दन क्या लाभ पहुंचा सकता है ? क्यों कि उसके तो प्रत्येक रोम में जहर भरा पड़ा है; तो भला, अमृत कहां समा सकता है ? । "जैसे भरी सराय ते, पन्थी फिरि-फिरि जांहि" [रहीम] । भावार्थ–भोगाभिलाषी दुराग्रही लोग चंदन पर लिपटे हुये सांपों की तरह हैं । अतः वे सत्संग से भी नहीं सुधरते हैं ॥३८॥

जौं मोदाद समसान सिल, सबै रूप समाहिं[१] ।
कहंहिं कबीर वहि सावजकी गति, तबकी देषि भुकाहिं ॥३९॥*

शब्दार्थ—मोदाद = स्फटिक । सावज = पशु ।

टीका—जिस तरह स्फटिक शिला उपाधि-वश अनेक रंगों के समान देख पड़ती है । इसीलिये उसको समसान शिला भी कहते हैं; क्यों कि वह सभी रंगों के समान देख पड़ती है । इसी तरह माया के कारण नाना विकार और शत्रुमित्र-भाव जीव में भासते हैं । और उन्हीं के भ्रम में पड़ कर यह जीव भय आदिक विकारों को प्राप्त होता है । कबीर साहेब कहते हैं कि, उस कुत्ते की दशा को देखो कि, जो दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देख कर व्यर्थ ही भूंकता है ॥३९॥

गही टेक ना छोड़े जो, जीभ चोंच जरि जाय ।
ऐसो तपत अंगार है, ताहि चकोर चबाय ॥ ४० ॥

* छन्द 'हरिपद' ।

१ पाठा०–च, ज, समसान ।

[सूचना—चकोर पक्षी के विषय में ऐसी प्रसिद्धि है कि, चन्द्र दर्शन होने पर वह उसके ध्यान में ऐसा प्रमत्त हो जाता है कि, सामने आयी हुई अग्नि को भी चुग जाता है ।]

टीका—अन्योक्ति—चकोर पक्षी अपने पकड़े हुये प्रण को नहीं छोड़ता है । और प्रज्वलित अग्नि को चबा जाता है । चाहे फिर उससे उसकी जीभ और चोंच ही क्यों न जल जाय । भावार्थ—संकट सहते हुये भी दृढ़ चित्तवाले निश्चित मार्ग से नहीं हटते हैं । भजन—"लागी लगन ना छूटे हो, चाहे जियरा जाय" ॥४०॥

चकोर भरोसे चंदके, निगले तपत अंगार ।
कहे कबीर डाहे नहीं, ऐसी बस्तु लगार ॥ ४१ ॥

टीका—चकोर चन्द्रमा की भक्ति के बल से जलते हुये अंगारे को निगल जाता है; परंतु वह जलता नहीं है । कबीर साहेब कहते हैं कि, लगन एक ऐसी ही वस्तु है । भावार्थ—सचा विश्वास फलदायक होता है ॥४१॥

झिलिमिलि झगरा झूलते, बाकी छुटी न काहु ।
गोरष अटके कालपुर, कवन कहावे साहू ॥ ४२ ॥

[सूचना—हठ-योगी प्राणायाम के द्वारा और त्राटक के द्वारा ब्रह्माण्ड में झिलि-मिलि ज्योति को देखते हैं । वह ज्योति अग्नि-तत्त्व का प्रकाश है; अतः अनात्मोपासक होने के कारण वे सब चौरासी में चले जाते हैं । यह भाव इस साखी में बताया गया है ।]

टीका—झिलि-मिलि ज्योति के झगड़ेरूप झमेले में पड़े हुये सब हठ-योगी नष्ट हो गये । उनको कोई भी दशा बाकी नही रही । जब कि गोरखनाथजी यमपुर में पकड़ लिये गये तो फिर कौन योगी ऐसा साहुकार कहलाता है कि, जो यमराज के आगे से सीना तान कर चला जाय ? ॥ ४२ ॥

---

१ पाठा०—ठ, ड, रहो ।

गोरष रसिया जोकके, मूये न जारी देह ।
मांस गली माटी मिली, कोरो मांजी देह ॥ ४३ ॥

टीका—गोरखनाथजी हठ-योग के बड़े रसिक (प्रेमी) हुये । अतः मरने पर उनका शरीर नहीं जलाया गया; किन्तु जीतेजी साधना के बल से उनका मांस गल कर मिट्टी में मिल गया । और शरीर को भी उनने नाड़ी-शुद्धि के द्वारा धोया-धोवाया और मांजा-पौछा करके कोरा का कोरा [अत्यन्त ही शुद्ध] बना दिया । अर्थात् गोरखनाथजी ने जीतेजी योगाग्नि से शरीर के मलों को जला डाला, और काया को कोरी-मांजी कर दी । केवल काया-मंजन में इतने प्रयत्न की आवश्यकता है, परन्तु बिना ज्ञान के केवल मंजी हुई काया, बिना बीज का जोता हुआ खेत है ॥ ४३ ॥

बनते भागा बिहरे परा, करहा अपनी बान ।
बेदन करहा कासों कहै, को करहा को जान ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—बिहरे = विकट जंगल । करहा = खरहा [खरगोश] ।

टीका—अन्योक्ति-दौड़ते रहने के अपने स्वभाव के कारण जंगल से भगा हुआ खरगोश (बेतों के) जटिल जंगलरूप जाल में जा फँसा । ऐसी स्थिति में वह खरगोश अपनी वेदना [दुःख] किससे कहे ? और उसके दुःख को कौन जाने, समझे ? भावार्थ-वासना-रहित न होने के कारण बिरक्तों के श्रेणी में नाम लिखवा कर फिर व्यवहार-प्रपञ्च में पड़ गये । और महान कष्ट को उठा लिया । जिसको कि, उनका अन्तरात्मा ही जानता है ॥ ४४ ॥

बहुत दिवस ते हींडिया, सुन्न समाधि लगाय ।
करहा पड़ा गाड में, दूरि परा पछिताय ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—सुन्न = गगन-मण्डल ।

टीका—हठ-योगी बहुत दिनों से शून्य गगन-मण्डल में जड़ समाधि लगा कर भटक रहे हैं; परंतु निजानन्द की प्राप्ति नहीं होती है । और अंत में खाली हाथ रह जाने के कारण वे इस तरह पछताते हैं कि, जिस तरह गहरे

गढे में दूर जाकर पडा हुआ खरगोश पछताता है। भावार्थ-हठ- योगी साक्षात् राम को नहीं भजते है। अतएव [शून्य में समाधि लगाते हुये] अन्त में पछताते हैं। "गगन-मण्डल में डारि दुलैया, योगी तारी लावै। सो सुमेर की खाख उडैगो, कच्चा योग कमावै" ॥ ४५ ॥

कबीर भरम नहिं भाजिया, बहु विधि धरिया भेष।
सांई के परचे बिना, अंतर रहि गई रेष ॥ ४६ ॥

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, विविध प्रकार के साधु-भेषों के धारण करने पर भी ज्ञान के बिना भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है। और आत्म-साक्षात्कार के बिना हृदय में खींची हुई अविद्या की लकीर नहीं मिटती है; किन्तु वह रह ही जाती है। भावार्थ-केवल वेष बनाने से मुक्ति नहीं मिलती है। 'भेष बनायो जग ठग्यो, मन परबोध्यो नाहिं। कहंहिं कबीर मन ले गया, लष चौरासी मांहि" ॥ ५६ ॥

बिनु डांड़े जग डांडिया, सोरठ परिया डांड।
बाटनिहारे लोभिया, गुर ते मीठी षांड ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—सोरठ = सोरठ सरकार। गुर = गुड [गुरु, राम, संत]।

टीका—किसीके दिये हुये दण्ड के बिना ही जगत दण्डित हो गया है। और दण्ड का हल्ला सब जगह मच गया है। (मालूम होता है कि, सोरठ सरकार का पहले बड़ा कड़ा दण्ड था, इसलिये सोरठ दण्ड प्रसिद्ध हो गया है)। बात यह हुई कि,बाँटनेवाला अर्थात् माया का वितरण करनेवाला जीवात्मा लोभी है और गुड से मीठी खाँड [शक्कर, चीनी] होती है अतः वह गुड़ के संचय करने को छोड़ कर खांड़ के सञ्चय करने में लग गया। भाव यह है कि, लोगों का प्रेम राम और संत गुरुओं की अपेक्षा माया में अधिक रहता है। अतएव वे राम-भक्ति और संत गुरुओं की भक्ति की अपेक्षा माया की भक्ति में अधिक रुचि रखते हैं। और रामादि की भक्ति से विमुख होने ही के कारण वे अनेक कष्टों को उठाते हैं ॥ ४७ ॥

मल्यागिर की बास में, ब्रिछ रहे सब गोय।
कहबे को चंदन भये, मल्यागिर ना होय ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—गोय = मिल जाना, एकरूप हो जाना, छिपना।

टीका—मलयगिरि में उत्पन्न हुये बबूर आदिक सब वृक्ष उसकी सुगन्धि से सुगन्धित होकर छिप गये। अर्थात् उनका नाम-रूप मिट कर चन्दन रूप हो गये। कहने के लिये तो वे चन्दन बन गये; परंतु मलयगिरि नहीं हुये। भावार्थ—मुक्त महा-पुरुषों के मत और पथ में आ जानेवाले साधारण व्यक्ति भी "भेष प्रताप पूजियत सोउ" (रामायण) के अनुसार पूजनीय और वन्दनीय हो जाते हैं; परंतु बिना ज्ञान के वे मुक्त नहीं हो सकते हैं। जिस प्रकार मलयगिरि ही वृक्षों को चन्दन बना सकता है; किन्तु चन्दन के वृक्ष अन्य वृक्षों को चन्दन नहीं बना सकते हैं। इसी प्रकार जो स्वयं मुक्त होते हैं वे ही दूसरों को मुक्त कर सकते हैं ॥४८॥

मल्यागिर की बास में, बेधे ढाक पलास।
बेना कबहु न बेधिया, जा जुग जुग रहते पास ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—बैना = [सं० वेणु] बांस।

टीका—मलयगिरि की सुगन्धि से सब ढाक और पलास बींध गये। अर्थात् उनके अन्दर मलयगिरि की सुगंधि घुस गयी। इससे वे चंदन बन गये। परंतु मलयगिरि के युग—युग पास रहनेवाला बांस भीतर से सार-हीन होने के कारण उसकी सुगन्धि से कभी नहीं बेधा गया। इस कारण वह बाँस का बांस ही रह गया। "अन्तःसारविहीनानामुपदेशो न जायते। मलयाचल-निवासान्न वेणुश्च चन्दनायते"। (चाणक्यनीति)॥ "गुरु बिचारा क्या करे, शिष्यहि मांहै चूक। भावे त्यों परबोधिये, बांस बजायो फूंक"॥ भावार्थ—शून्य हृदयवाले को उपदेश नहीं लग सकता है ॥४९॥

चलते चलते पगु थका, नगर रहा नौ कोस।
बीचहि में डेरा परा, कहहु कवन का दोस ॥ ५० ॥

टीका–चलते चलते पैर थक गये, अर्थात् कर्म और उपासनाओं को करते हुये मन थक गया; परंतु नगर (आत्म-पद) तो नौ कोशों से परे ही रह गया और बीच ही में डेरा पड़ गया। अर्थात् शरीर छूटने पर शरीरान्त की प्राप्ति हो गयी। भला, इसमें किसका दोष है? भाव यह है कि, अमर-पद (मुक्ति-पद) मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार तथा पञ्च-प्राण; इन नौ कोशों से परे हो जाने से ही मिल सकता है। क्यों कि, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' अर्थात् आत्मा प्राण और मन से रहित है, ऐसा कहा गया है ॥५०॥

झालि परे दिन आथये, अंतर पर गई सांझ।
बहुत रसिकके लागते, बेस्वा रहि गइ बांझ ॥ ५१ ॥

टीका–अंधेरा पड़ गया और दिन भी अथ गया (अस्त हो गया) और बीच ही में सांझ हो गयी। अर्थात् नाना देवों की उपासना और अनात्मोपासना में लगे रहने से मुक्ति की प्राप्ति नहीं हुई। और जरा तथा मृत्यु हो गयी। यह बात तो सिद्ध ही है कि, बहुत से रसिक व्यसनियों के प्रेम में फंसी हुई वेश्या उनके प्रीत्यर्थ अंत में बांझ ही रह जाती है। भावार्थ–अनात्मोपासना विफल हो गयी ॥५१॥

मन कहे कब जाइये, चित्त कहे कब जाव।
छौं मासके हींडते, आध कोस बसे[1] गांव ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ–हींडते = भटकना, चलना।

टीका–मुमुक्षु का मन और चित्त कहता है कि, मैं मोक्ष के गांव में अर्थात् मुक्ति-पद में कब पहूंच जाऊँ? और उसकी खोज में वह छः महिनों तक इधर-उधर भटका भी; परंतु अंत में विचार कर देखा गया तो वह गाँव आध ही कोश पर निकला। अर्थात् पूर्वोक्त रीति से 'आधी' माया ही आधा कोश है और उससे परे जाने पर ही मुक्ति-पद मिल सकता है। भावार्थ–जिस मुक्ति-पद के लिये व्यग्रता से षट् शास्त्रों का मन्थन किया जाता है और षट्-दर्शन भेषधारियों में भी ढूंढा जाता है, वह माया से परे है ॥५२॥

---

१ पाठा०–त, थ, कोस पर।

ग्रिह तजि भये उदासी, बन षंड तपको जाय।
चोली थाकी मारिया, बेरइ[1] चुनि चुनि षाय ॥ ५६ ॥

टीका—मन के वश में पड़े हुये कितने ही लोग घर छोड़ कर साधु हो जाते हैं, और तप करने के लिये वन-प्रदेश में भी चले जाते हैं; परंतु उनका शरीररूप चोला जब थक जाता है तो वे बेरों को ही चुन-चुन कर खाने लगते हैं। अर्थात् कच्चे मनवालों का वैराग्य जवानी के जोश के साथ ही उतर जाता है। और बुढ़ापे में जरा से प्रलोभन के सामने आते ही वे उसमें फंस जाते हैं। भावार्थ—कच्चा वैराग्य नष्ट हो जाता है ॥५३॥

राम नाम जिन चीन्हिया, झीना पंजर तासु।
नैन न आवे नींदरी, अंग न जामैं मांसु ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ—पंजर = पिंजर (शरीर)।

टीका—साधक अवस्था का वर्णन—जिन भक्तों ने राम-नाम को मुक्ति-दाता के रूप में पहचाना है और उसके जप-योग में पूर्ण परिश्रम करते हैं, उनका शरीर साधना के श्रम से जर्जर हो जाता है। और इष्ट-प्राप्ति की चिन्ता से उनकी आँखों में नींद भी नहीं आती है। और साधना के आगे भोजनादि की उपेक्षा होने से उनके शरीर में मांस भी नहीं बढ़ता है ॥५४॥

जो जन भींजे राम रस, बिगसित कबहुँ न रूप।
अनभौ भाव न दरसे, ते नल सुख न दुख ॥ ५४ ॥

टीका—सिद्धावस्था का वर्णन—जो ज्ञानी-जन राम-नाम में भींज गये हैं, अर्थात् निजानन्द को प्राप्त कर चुके हैं, वे सदा प्रसन्न-चित्त और स्मेर-बदन रहते हैं। उनमें रूखापन कभी नहीं देखा जाता है। ठीक ही है, जिनको आत्म-भावना का साक्षात्कार हो गया है उनको सांसारिक सुख और दुःख नहीं व्यापते हैं। किन्तु सुखों और दुःख की खाड़ी से पार होकर वे निजानंद के समुद्र में पहूंच जाते हैं। भावार्थ-आत्माराम सदा प्रसन्न रहते हैं। एवं

---

[1] पाठा०—द, ध, बरई। [2] च, ज, ताको।

संकल्प-रहित होने से द्वन्द्व-रहित रहते हैं। "मनः-प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते" ॥ (गीता)। अर्थात् मानसिक तप करनेवालों का मन सदा प्रसन्न रहता है, इत्यादि ॥५५॥

काटे आम न मौलसो, फाटे जुटे न कान।
गोरष पारस परस बिना, कवने[1] को नुकसान ॥ ५६ ॥

टीका—जिस प्रकार ज्ञान-खड्ग से कामनारूपी आम को काटने पर वह नहीं फलता है और मनरूपी कान को विवेक द्वारा फाड़ देने से (अलग कर देने से) फिर वह संसार से नहीं जुटता है। इसी प्रकार हे गोरखनाथजी! आत्म-तत्त्व रूप पारस (स्पर्श-मणि) के स्पर्श हो जाने से जीवात्मारूपी लोहा सोना (मुक्त) बन जाता है, और वह फिर कदापि लोहा (बद्ध) नहीं हो सकता है। भला, कहिये तो सही ऐसे पारस के परसे बिना किसका नुकसान है? अर्थात् जीवात्मा की ही हानि है ॥५६॥

पारस रूपी जीव है, लोहा रूप संसार।
पारस ते परसी भया, परसि भया टकसार ॥ ५७ ॥

टीका—चेतन जीवात्मारूप पारस है, और देहादिक संघातरूप संसार लोहा है अर्थात् जड़ है। और हलकी कीमत का है; परंतु जब उसका चेतन जीवात्मारूप पारस से स्पर्श होता है अर्थात् सम्बन्ध होता है तो स्पर्श होते ही अर्थात् चेतन का सम्बन्ध होते ही वह जड़ शरीरादिक टकसाली सोना बन जाता है अर्थात् चेतनरूप हो जाता है। भावार्थ—चेतन आत्मा के सम्बन्ध से शरीर चेतनवत् हो जाता है। और सद्गुरु के उपदेशों को धारण करने से जीव निर्विकार हो जाता है ॥५७॥

प्रेम पाटका चोलना, पहिरि कबीरा नाच।
पानिप दीन्हो तासु को, जो तन मन बोलै सांच ॥५८॥

टीका—हे कबीरा, जीवात्मा! तू प्रेमरूप रेशम के जामा को पहन कर संसार के प्राङ्गण में खूब नाच, अर्थात् निःस्वार्थ भाव से प्रेमी जीवन बना

[1] पाठा०—क, न, काहेको।

कर संसार के सारे आनन्द को ले ले। और जो सत्य बोलता है तथा तन और मन से भी सत्य का पालन करता है, अर्थात् सत्य का पक्का पुजारी है, उसीका तुम मान-सन्मान, मर्यादा और प्रतिष्ठा करो। भावार्थ—प्रेम और सत्यता को धारण करो तथा निःस्वार्थ प्रेमी बन कर सच्चे पुरुषों का संग करो ।।५८।।

दरपन के[1] गुफा में, सुनहा पैठा धाय।
देषि प्रतिमा आपनी, भूंकि भूंकि मरि जाय।। ५६ ।।

टीका—अन्योक्ति-शीश महल में (कांच महल में) डरा हुआ कुत्ता दौड़ कर घुस जाता है और वहां जाकर वह चारों ओर अपने प्रतिबिम्बों को देख-देख कर भूंकने लगता है। और भूंकते-भूंकते मर जाता है। भाव यह है कि, अज्ञानी पुरुष भ्रम-वश दूसरों को शत्रु समझ कर उनसे वैर-विरोध करके दुःख उठाता है ।।५६।।

दरपन प्रतिबिंब देषिये ज्यों, आपु दुहुंन मा सोय।
या तत वा तत से आया, वाही हैं पुनि सोय।। ६० ।।

टीका—दर्पण में मुख का प्रतिबिंब देखा जाता है; परंतु विचार करने पर आप (वह मुख) ही दोनों तरफ है; क्यों कि, इस मुखरूप बिंब से ही वह तत्त्व अर्थात् प्रतिबिंब होता है। और फिर दर्पण के हट जाने पर "वाही है सोय" अर्थात् मुख ही रह जाता है। इसी प्रकार शरीरों की अनेकता से चेतन जीवात्मा की अनेकता है। उनके नहीं रहने से नहीं है ।।६०।।

जोबन-सायर मूझते, रसिया-लाल कराहिं।
अब कबीर पांजी परी, पंथी आवहिं जांहिं ।। ६१ ।।

शब्दार्थ—पांजी = रास्ता।

टीका—यौवन-सागर के उछलने से अर्थात् युवावस्था के आने से अज्ञानी नर स्त्री में मोहित हो जाता है, और अनुरक्त रसिक बन कर उसके

१ पाठा०-द, ठ, केरी।

वियोग में कराहता रहता है। क्योंकि, प्रेम की नयी पीर असह्य होती है। कबीर साहेब कहते हैं कि, इस प्रकार प्रेम का रास्ता अब खुला हो जाता है। अर्थात् स्त्री की आसक्ति से काम के संस्कार दृढ़ हो जाते हैं और इसी कारण वह संसार का पथिक बन कर बार-बार आता है और जाता है। अर्थात् जन्म और मरण में पड़ा रहता है ॥६१॥

दोहरा तो नूतन भया, पदहिं[1] न चीन्है कोय।
जिन यह सब्द विवेकिया, छत्रधनी है सोय ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ—छत्रधनी = छत्रपति (सम्राट्)।

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, मेरे ये दोहरे अर्थात् साखीशब्द तो नये हैं; परंतु इनमें परम तत्त्व रूप सनातन सार भरा पड़ा है। उस परम पद को कोई नहीं पहचानता है। जो इन मेरे शब्दों का विचार करता है वही छत्रधनी (छत्रपति) अर्थात् आत्म-राज्य का सम्राट् है ॥६२॥

कबीर जात पुकारिया, चढ़ि चंदन की डार।
बाट लगाये ना लगे, पुनि का लेत हमार ॥ ६३ ॥

टीका—नरतन रूप चन्दन की डाली पर चढ़े हुये कबीर साहेब सबों को सत्योपदेश की पुकार लगा कर जा रहे हैं और वे कह रहे हैं कि, हमारे बताये हुये सत्य मार्ग पर जो नहीं चलेगा वह हमारा क्या ले लेगा? इससे तो उसकी ही हानि होगी। भावार्थ—नरतन धर कर कबीर गुरु उपदेश दिये जाते हैं ॥६३॥

सब ते सांचा भला, जो दिल सांचा होय।
सांच बिना सुष नाहिना, कोटि करे जो कोय ॥ ६४ ॥

टीका—यदि सच्चा हृदय हो तो सच्चा पुरुष सबों से अच्छा होता है; क्यों कि करोड़ों उपायों के करने पर भी सत्य की प्राप्ति के बिना सुख नहीं मिल सकता है। भावार्थ—सत्य ही साहब का रूप है, और सत्य ही से वे मिलते हैं ॥ ६४ ॥

---

१ पाठा०—भ, म, पदहिं।

सांचा सौदा कीजिये, अपने दिलमें जानि।
सांचे हीरा पाइये, झूठे मूलहु हानि ॥ ६५ ॥

टीका–अपने मन में पूरा निश्चय करके सत्य का व्यवहार करना चाहिये; क्यों कि, सच्चा मनुष्य विश्वास के कारण हीरे को भी प्राप्त कर लेता है। और झूठे को तो मूल में भी हानि उठानी पड़ती है। [सूचना—यहां हीरे से 'साहब' लिये गये हैं और मूल से 'नर–तन' लिया गया है]। भावार्थ–सत्यरूप साहब को हृदय में धरनेवाला गुरु-पद (मुक्ति) रूप हीरे को प्राप्त कर लेता है। और असत्य का प्रेमी चौरासी में चला जाता है ॥६५॥

सुक्रित ! बचन मानैं नहीं, आपु न करैं बिचार।
कहहिं कबीर पुकारिके, सपने गया संसार ॥६६॥

टीका–कबीर साहेब कहते हैं कि, हे सुकृत ! संसारी लोग मेरे उपदेश को नहीं मानते हैं और स्वयं भी विचार नहीं करते हैं। देखो, संसार सपने की तरह चला गया ॥६६॥

आगि जो लागि समुद्र में, धुंवा न परगट होय।
सो जाने जो जरि मुवा, जाकी लाई होय ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ–लाई = अग्नि।

टीका–संसारी लोगों के हृदयरूप समुद्र में कामना की अग्नि लगी हुई है। परंतु बाह्य चिन्हरूप उसका धुँआ प्रगट नहीं होता है। उस अग्नि को तो वही जानता है जो भुक्त-भोगी उसमें जल मरा है। अथवा जिस मन ने उस अग्नि को जलाया है वही जानता है। भावार्थ–संसार में कामना की अग्नि जल रही है ॥६७॥

लाई लावनहारकी, जाकी लाई परजरे।
बलिहारी लावनहारकी, छप्पर बांचे घर जरे ॥ ६८ ॥

टीका–हृदय में जलती हुई कामाग्नि जीव की लगाई हुई है; क्यों कि जीव स्वयं कामाग्नि को प्रज्वलित करता है। और उसीकी लगाई हुई

यह अग्नि उसके हृदय में जलती रहती है; परंतु उस अग्नि के लगानेवाले की यह बलिहारी है कि, उस अग्नि से छप्पररूप रक्षक आत्मा बच जाता है और घररूप शरीरादिक संघात नष्ट हो जाता है। भावार्थ—कामना के कारण शरीरों के बदलते रहने पर भी जीवात्मा वही बना रहता है ॥६८॥

बुंद जो परी समुँद में, सो जानत सब कोय।
समुँद समाना बुंद में, बूझै बिरला कोय ॥ ६९ ॥

टीका-जीवरूपी बुन्द कामना के समुद्र में पड़ी हुई है। इस बात को तो सब कोई जानते हैं; परंतु कल्पना का सारा का सारा समुद्र बुन्दरूपी जीवात्मा में समाया हुआ है। अर्थात् जीव से ही कामना उठती है। इस बात को कोई बिरले ही जानते हैं। भावार्थ--जीव के हृदय में कल्पनारूप से संसार समाया हुआ है ॥६९॥

जहर जिमीं दै रोपिया, अमी सींचे सौ बार।
कबीर षलक ना तजे, जामें जौन बिचार ॥ ७० ॥

टीका--यदि जमीन में जहरीला वृक्ष लगा दिया जाय और उसको एक दिन में सौ-सौ दफे अमृत से सींचा भी जाय, तो भी उसमें विष के फल ही फलेंगे, अमृत-फल नहीं फल सकते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि, जिसके हृदय में जो बुरा विचार होता है, उसको वे संसारी लोग नहीं छोड़ते हैं। भावार्थ--अज्ञों के हृदयों में विषय-कामना भरी हुई है, इससे वे तत्त्वोपदेश को नहीं मानते हैं ॥७०॥

धौंकीं डाही लाकडी, ऊभी करे पुकार।
मति बसि परो लुहारके, डाहे दूजी बार ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ-ऊभी = खड़ी हुई।

टीका-जंगल की आग से जली हुई लकड़ी खड़ी खड़ी पुकार कर रही है, और मन में सोच रही है कि, मैं कहीं लुहार के हाथ में न पड़ जाऊँ; नहीं तो वह मुझे दूसरी बार फिर जलायेगा। भावार्थ--गर्भवास से

पीड़ित प्राणी प्रार्थना करता है कि, मुझे फिर से गर्भवास न हो और विवेकी लोग वञ्चक गुरुओं से डरते हैं कि, ये कहीं हमें फिर गर्भवास में न डाल दें ।।७१।।

बिरह की ओदी लाकड़ी, सपचे औ धुँधुवाय ।
दुषते तबही बांचि हो, जब सकलो जरि जाय ।।७२।।

शब्दार्थ—ओदी = गीली । सपचे = जल उठना ।

टीका—विरहाग्नि से जली हुई गीली लकड़ी कभी तो जल उठती है, और कभी धुँआं देने लगती है ! ऐसी ही परिस्थिति में वह पड़ी रहती है । इस दुःख से तो वह तभी बच सकती है कि, जब वह सबकी सब जल जाती है । भावार्थ—बिरह की अग्नि शरीर को जीतेजी जला देती है; अतः शरीर के छुट जाने पर ही राम-वियोगी (बिरही जन) बिरह के सन्ताप से बच सकता है ।।७२।।

बिरह बान जेहि लागिया, औषध लगे न ताहि ।
सुसुकि-सुसुकि मरि-मरि जिवे, उठे कराहि कराहि ।।७३।।

टीका—जिसके हृदय में विरह का बान लग गया है, उसको कोई औषध नहीं लग सकती है । अर्थात् गुरु का वचनोपदेश उसको नहीं लग सकता है । वह तो अपने अभीष्ट की स्मृति करके उसकी प्राप्ति के लिये बार-बार सिसकता है । और मर-मर कर जिंदा होता है । और सन्ताप से घायल की तरह कराहता हुआ ही उठ कर ख़ड़ा होता है ।।७३।।

सांचा सब्द कबीर का, हिदया देषु विचार ।
चित्त दे समुझे नहीं, मोहि कहत भयल जुग चार ।।७४।।

टीका—कबीर का यह सच्चा शब्द है । इसको हृदय में विचार कर देख लो । खेद है कि, मेरे सत्योपदेश को अज्ञानी-जन चित्त देकर समझते ही नहीं हैं ! मुझे तो इसी प्रकार संत स्वरूप से उपदेश देते हुये चार युग बीत गये । भावार्थ—कबीर गुरु भिन्न—भिन्न रूप से चारों युगों में प्रगट हुये हैं, और तत्त्वोपदेश दिया है ।।७४।।

जो तू सांचा बानियां, सांची हाट लगाव।
अंदर झारू देइ के, कूरा दूरि बहाव ॥७५॥

टीका—अन्योक्ति—यदि तू सच्चा बनिया है तो सच्ची दूकान लगाओ। अर्थात् सांसारिक व्यवहार में यदि तुम अपनी सफलता चाहते हो तो सत्य का व्यवहार करो। और दूकान के अन्दर झाड़ू देकर और कूड़े कचरे को निकाल कर दूर फेंक दो। अर्थात् ज्ञान के द्वारा हृदय के सब विकारों को दूर कर दो ॥७५॥

कोठी तो है काठ की, ढिग-ढिग दीन्ही आग।
पंडित जरि[1] झोली भये, साकट उबरे भाग ॥७६॥

टीका—यह संसार काठ की कोठी (मकान या बंगला) है और इसके चारों तरफ अग्नि लगा दी गई है, सो जल रही है। ऐसी स्थिति में पण्डित लोग तो जल कर झूर हो गये, सूख गये और साकट जन भाग कर बच गये। भावार्थ—सब तरफ फैली हुई माया की अग्नि में ज्ञान के अभिमानी जल गये; किन्तु अपठित श्रद्धालु जन भाग कर बच गये ॥७६॥

सावन केरा सेहरा, बुंद परी असमान।
सारी[2] दुनिया बैस्नव भइ, गुरु नहि लागा कान ॥७७॥

टीका—जिस प्रकार सावन महिने में वर्षा की झड़ लग जाती है ओर आकाश से बहुतसी बुन्दें पड़ने लगती हैं। इसी प्रकार असद्गुरुओं (वञ्चक गुरुओं) ने संसार में गुरु-मन्त्र की झड़ ही लगा दी है, जिससे सब दुनियां वैष्णव हो गयी है; परंतु सच्चा गुरु तो किसीके कान में लगा ही नहीं। अर्थात् पूरा गुरु मिला ही नहीं। भावार्थ—असद्गुरुओं ने गुरु-मन्त्र को सस्ता बना दिया है; परंतु उससे किसीका कल्याण नहीं हो सकता है ॥७७॥

ढिग बूडा उछरा[3] नहीं, याहि अंदेसा मोहिं।
सलिल मोहकी धार में, नींदरि आई तोहिं ॥७८॥

शब्दार्थ—उछरा = ऊपर आना। ढिग = पास में।

---

१ पाठा०—ज, झ, पढि गुनि। २,—च, छ, सब। ३—ज, न, उछले।

टीका—अज्ञानी अपने हृदय में वर्तमान संशय-सागर में पास ही डूब गया। और ऐसा डूबा कि, फिर ऊपर नहीं आया। अर्थात् संशय और कल्पनाओं से निवृत्त नहीं हुआ। मुझको तो इसी बात का सोच है। हे अज्ञानी! तू मोह-नदी की जल धारा में पड़ कर ऐसा बेसुध हो गया है कि, उसमें तुझको नीन्द ही आ गयी है। अर्थात् तू मोह में पूरा मग्न हो गया है। भावार्थ--तू अपनी कल्पनाओं में आप ही डूब गया है ॥७८॥

साषी कहै गहै नहीं, चाल चली नहिं जाय।
सलिल मोह नदिया बहै, पांव कहां ठहराय।७६॥

शब्दार्थ—साषी=वाणी-वचन।

टीका—अज्ञानी लोग संतों के वाणी-वचनो को गाते और कहते रहते हैं; परंतु उनके अनुसार अपना जीवन नहीं बनाते हैं, उनको ग्रहण नहीं करते हैं। क्यों कि, उनसे संतों की चाल नहीं चला जाती है। अर्थात् उनके पदों का वे अनुसरण नहीं कर सकते हैं। क्यों कि, उनके हृदय में मोह-नदी की जलधारा बहती रहती है। इसलिये उनके पैर नहीं ठहरते हैं। अर्थात् मोह के कारण उनका विवेक-विचार जमने नहीं पाता है। भावार्थ-"कथनी तजि करनी करे, बिष से अमृत होय" ॥७६॥

कहता तो बहुते मिला, गहता मिला न कोय।
सो कहता बहि जान दे, जो न गहंता होय ॥८०॥

टीका—सत्योपदेश के कहनेवाले, सुनानेवाले तो बहुत मिले; परंतु उसको धारण करनेवाला कोई नहीं मिला। उन कहनेवालों को संसार-सागर में बहने दो, जो कि स्वयं ग्रहण नहीं करते हैं। भावार्थ--जो स्वयं सत्य मार्ग पर नहीं है उसकी बातें मत मानो। "पर उपदेश कुसल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे"। (रामायण) ॥८०॥

एक एक निरुवारिये, जो निरुवारी जाय।
दुइ[1] दुइ मुषका बोलना, घना तमाचा षाय ॥८१॥

१ पाठा०—प, दो दो।

टीका—यदि निर्णय कर सकते हो तो क्रमशः एक-एक बात का निर्णय करो, अर्थात् प्रत्येक विषय को खूब सोचो, समझो; क्योंकि, जो दो-दो मुंह से बोलता है, कभी कुछ और कभी कुछ कहता है अर्थात असत्यभाषी है, और अनिश्चित सिद्धान्त का है, वह बहुत से तमाचे खाता है। अर्थात् वह संसार में बहुत ही हानि उठाता है। भावार्थ—पहले स्वयं धारण करके तब औरों को उपदेश दो ॥८१॥

जिभ्या को तो बंद दे, बहु बोलन निरुवार।
सो सारथी[1] से संग करु, गुरुमुष सब्द बिचार ॥८२॥

शब्दार्थ—सारथी = सच्चा नेता। गुरुमुष-सब्द = यथार्थ वचन।

टीका—हे साधक! तेरा सर्व-प्रथम यह कर्त्तव्य है कि, तू अपनी जिव्हा पर बन्धन लगा दे। अर्थात् वाणी का संयम कर। और बहुत से बोलने को छोड़ दे। भाव यह है कि, वैखरी वाणी का संयम करने से अनहद-शब्द प्रगट होता है। और सच्चे नेता सद्गुरु का संग करो और उनके यथार्थ वचनों का भी विचार करो ॥८२॥

[नोट—यदि यहां 'पारखी' ऐसा पाठ हो तो उसका अर्थ विवेकी पुरुष करना चाहिये।]

जाके जिभ्या बंध नहिं, हिदया नाहीं सांच।
ताके संग न लागिये, छांडे[2] बटिया मांझ ॥८३॥

शब्दार्थ—बटिया = रास्ता। मांझ = बीच।

टीका—जिसके जीभ पर बन्धन नहीं है, अर्थात् जो सत्य-वक्ता नहीं है। और जिसके हृदय में भी सत्य का निवास नहीं है, उसका संग-साथ मत करो; क्योंकि वह तुमको बीच रास्ते में कष्ट देगा। भावार्थ—जो दृढ़ प्रतिज्ञा-वाला नहीं है वह तुमको बीच रास्ते में छोड़ देगा, दुःख देगा ॥८३॥

प्रानी तो जिभ्या डिगो, छिन छिन बोले कुबोल।
मनके घाले भरमत फिरे, कालहिं देत हिंडोल ॥८४॥

---

१ पाठा०—ट, ठ, सारखी। ड, स्वारथी। ज, पारखी। २—च, छ, घाले।

टीका—जो मनुष्य जीभ से डिगा हुआ है, अर्थात् असत्य भाषण करता है, वह क्षण—क्षण में झूठ बोलता है। और वह मन की प्रेरणा से ही इधर-उधर भटकता फिरता है। ऐसा मनुष्य मानो काल के ही झूले में बैठा हुआ है। और उसको स्वयं काल (मन) ही झुला रहा है। भावार्थ—जिसके वचन और कार्य निश्चित नहीं हैं वह काल का खिलौना है ॥८४॥

हिलगी भाल सरीर में, तीर रहा है टूटि।
चुंबक बिना न निकरै, नहि कोटि पाहन गे छूटि[1] ॥८५॥

शब्दार्थ—हिलगी = घुस गई।

[सूचना—पहले समय में युद्ध में जिन लोगों के शरीर में वाणों के भाल घुस जाते थे, चुम्लक लोहा लगा कर उन घुसे हुये वाणों को निकाल लिया जाता था।]

टीका—अज्ञानी लोगों के हृदय में वञ्चक गुरुओं के वचन के भाल घुस गये हैं। और ऐसे घुसे हैं कि, तीर भी टूट गया है। अर्थात् उनके हृदय में उक्त वचन पूरी तरह बैठ गये हैं। अब वे चुम्बक के बिना नहीं निकलते हैं। अर्थात् सद्गुरु के सत्योपदेश के बिना उस भ्रान्ति को निवृत्ति नहीं होती है; क्यों कि उस भाल को निकालने के लिये छुआये हुये कोटि—कोटि दूसरे पत्थर छूट—छूट गये हैं। अर्थात् दूसरे वचनों से भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है। भावार्थ—सत्योपदेश के बिना भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती है ॥८५॥

आगे सीढी सांकरी, पाछे चकना चूर।
परदा तरकी सुंदरी, रही धका से दूर ॥८६॥

टीका—मुमुक्षु को चढ़ने के लिये आगे मुक्ति-मन्दिर की सीढ़ी बहुत सांकरी है, तंग है। यहां तक कि, उस पर एकाकी असंग ही चढ़ सकता है। और पीछे गिर जाने से तो वह चौरासी के खड्डे में गिर कर चकना-चूर हो जाता है। माया परदे में रहनेवाली स्त्री है; क्यों कि वह मायावी (भगवान्) की माया है। अतः जबतक वह परदे में रहती है तभी तक

1 पाठा०—घ, ङ, छुई।

उसकी प्रबलता बनी रहती है। और वह राम की दुलहिन है। अतः दुलहिन होने के कारण भी वह ज्ञानी पुरुषों (बड़े पुरुषों) के सामने नहीं आती है। यदि किसी समय सामने आ जाय तो ज्ञानियों की दृष्टि के पड़ते ही वह सदा के लिये छिप जाती है, लुप्त हो जाती है। "सकृदात्मानं प्रदर्श्य पुनर्न दर्शयति सा"। (सांख्य-दर्शन)। अर्थात् वह प्रकृति (माया) विवेकियों को एक बेर अपने आपको दिखा कर फिर कभी नहीं दिखाती है। क्यों कि, फिर तो उसकी सत्ता ही हट जाती है। अर्थात् वह राज से बेराज हो जाती है। "नट-वट बाजा पेखनि पेखे, बाजीगर की बाजी। कहैं कबीर सुनो हो संतो, भई सो राज बिराजी"। यह ध्वनि "पर्दै तरकी सुन्दरी" से निकलती है और "रही धका से दूर" इसका भाव यह है कि, ज्ञानियों को अपने फन्दा में फंसाने के लिये माया सिर तोड़ परिश्रम करती है; परंतु बहुत ही झक-झोरने पर भी वे जब टस से मस नहीं होते हैं, तो ऊनको वह भारी धक्का (किसी भी प्रकार का) देकर दूर हो जाती है। क्यों कि सांकरी सीढ़ी पर उनके साथ वह नहीं रह सकती है। "ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महा-माया प्रयच्छति"॥ (दुर्गासप्तशती)। अर्थात् वह देवी भगवती माया-मोह में डालने के लिये ज्ञानियों के चित्त को भी बलपूर्वक खेंचती है। भजन—"माँझ धार झकोर डारे, देती नाहीं तरण। माया मोहनी मन हरण, भोगिया सब पीस डारे, जोगिया बस करण"। भावार्थ--मुक्ति-मंदिर में बिरला ही पैठता है तथा ज्ञानी पुरुषों से माया दूर रहती है ॥८६॥

संसारी समय बिचारी, का[1] गिरही का जोग।
अवसर मारे जातु हैं, तैं चेतु बिराने लोग ॥८७॥

टीका—गृहस्थ हो या त्यागी; संसार में रहनेवालों को अपने जीवन-समय का अवश्य विचार करना चाहिये; क्यों कि, व्यर्थ के कामों में नरतन का अमूल्य समय नष्ट हो रहा है। इसलिये मन और माया के प्रेमी हे लोगो! तुम चेतो। भजन--"अवसर तेरा पल पल जावे, सोता तोहि नीन्द क्यों आवे?"। "कबीर नरतन जात है, सके तो ठौर लगाय" ॥८७॥

पाठा०--[1] ज, झ, कोई गिरही कोई जोग।

संसय सब जग षंधिया, संसय षंधे न कोय ।
संसय षंधे सो जना, सब्द विवेकी होय ॥८८॥

शब्दार्थ–षंधिया = खा जाना । उ०–'डाइन-डिंभ सकल जग षंडा' ।

टीका–संशय ने सब जगत को खा डाला; परंतु संशय को कोई नहीं खाता है । संशय को वही जन खा सकता है जो सार-शब्द का विवेकी हो । भावार्थ–विवेक और विचार से सब संशय दूर हो जाते हैं ॥८८॥

बोलना है बहु भांतिका, नैनन किछउ न सूझ ।
कहंहि कबीर पुकारिके, तैं घट घट बानी बूझ ॥८९॥

टीका–संसार में वंचकों के वचन अनेक प्रकार के हैं; परंतु तुमको तो आंखों से सूझता ही नहीं है । अर्थात् तुम उन वचनों पर विचार नहीं करते हो । कबीर साहब पुकार कर कहते हैं कि, तुम हर-एक की वाणी को समझो-बूझो । भावार्थ–लोगों के वचनों को विचार कर ग्रहण करो ॥८९॥

मूल गहंते काम है, तैं मति भरम भुलाव ।
मन सायर मनसा लहर, बहि कतहूं मति जाव ॥९०॥

शब्दार्थ–सायर = सागर ।

टीका–हे मुमुक्षु ! तुमको तो मूल-तत्त्व के ग्रहण करने से कार्य है प्रयोजन है । इसलिये तुम भ्रम में न भूलो । देखो, मन समुद्र है और मन की इच्छायें ही लहरें हैं; इसलिये उनमें पड़ कर और बह कर तुम कहीं के कहीं मत चले जाओ । भावार्थ–तत्त्व को पकड़ो और विकल्प नदी में मत बहो ॥९०॥

भंवर विलंबे बाग में बहु, फूलन की वास ।
वैसे जीव विलंबे विषय में, अंतहु चले निरास ॥९१॥

टीका—जिस प्रकार बाग में लगे हुये बहुत से फूलों की सुगन्धि के प्रेमी बन कर भंवरे वहां ही रह जाते हैं और मारे जाते हैं। इसी प्रकार अज्ञानी जीव संसार के विषयों में फंस कर परमार्थ से च्युत हो जाते हैं। अतः अन्त समय में निराश होकर उनको चौरासी में चले जाना पड़ता हैं। भावार्थ—भोगों से तृप्ति नहीं होती है। ६१॥

भंवर जाल बगु जाल है, बूड़े बहुत अचेत।
कहंहिं कबीर ते बांचि हैं, जाके हिृदय विवेक ॥६२॥

शब्दार्थ—भंवर = नदी आदि के पानी के घूमने से पड़ा हुआ भंवर। बगुजाल = बगुलों को फंसाने का फन्दा।

टीका—संसार में भ्रमरूपी भंवर-जाल और बगु-जाल फैला हुआ है। इसमें बहुत से अज्ञानी नर पड़ जाते हैं और डूब जाते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि, इससे वे ही बचने पाते हैं कि, जिनके हृदय में विवेक और विचार है। भावार्थ—मायाजाल से विवेकी और धारणाशील ही बचते हैं ॥६२॥

तीनि लोक टीडी भये, उडे जो मन के साथ।
हरि जाने बिनु भटके, परे काल के हाथ ॥६३॥

टीका—तीन लोक के प्राणी मानों टीड्डी बन कर मन की आन्धी के साथ उड़ चले। अर्थात् मन की प्रेरणा में पड़ गये और हरि के साक्षात्कार के बिना इधर-उधर भटकते हुये अन्त में मनरूपी काल के हाथ में पड़ गये और नष्ट हो गये। भावार्थ जिस प्रकार उड़ी हुई और आन्धी के झकोरे में पड़ी हुई टिड्डियाँ विवश होकर कहीं की कहीं जा गिरती हैं। इसी प्रकार अज्ञानी लोग मन के परतन्त्र होकर काल के गाल में चले जा रहे हैं ॥६३॥

नाना रंग तरंग है, मन मकरंद असूझ।
कहंहिं कबीर पुकारिके, तैं अकिल कला ले बूझ ॥६४॥

शब्दार्थ—मकरंद = उस हाथी का नाम है कि जो मस्त होकर बन में अकेला घूमता है।

टीका—मनरूप मस्त हाथी मस्ती के कारण अन्धा बना हुआ है और नाना प्रकार की तरंगों के रंग में रंगा रहता है। कबीर साहेब कहते हैं कि, इसके फन्दा से बचने के लिये तुम बुद्धि की कला को लेकर समझो। भावार्थ अन्धे मन के पीछे न पड़ कर आंखोंवाली बुद्धि से काम लो ॥९४॥

बाजीगरका बांदरा, ऐसे जोउ मनके साथ।
नाना नाच नचायके, राषे अपने हाथ ॥९५॥

टीका—जिस प्रकार बाजीगर के हाथ में पड़े हुये बन्दर को वह नाना प्रकार के नाच नचा कर भी नहीं छोड़ता है; किन्तु अपने अधीन ही रखता है। इसी प्रकार मन के परतन्त्र हुये जीवात्मा से मन भी अनेक कुकर्म कराता है, फिर भी उसका साथ नहीं छोड़ता है। भावार्थ—अज्ञानी लोग पूरी तरह मन के अधीन रहते हैं ॥९५॥

ई मन चंचल ई चोर, ई मन सुध ठगहार।
मन मन करते सुर नर मुनि जँहडे, मनके लच्छ दुवार ॥९६॥

टीका—यह मन चञ्चल है, चोर है, शुद्ध है और ठग भी है। इसके अनेक रूप हैं, और निकल भागने के लिये इसके लाखों दरवाजे हैं। इसलिये मन से सुर और मुनिजन भी ठगा जाते हैं। भावार्थ—मन पूरा डाकू है, इससे सदैव सचेत रहो; क्यों कि इसको अनेक रूप बनाना आता है ॥९६॥

विरह भुवंगम तन डसे, मंत्र न मानै कोय।
राम बियोगी ना जिये, जिये तो बाउर होय ॥९७॥

टीका—घट-घट वासी प्रत्यक्ष राम को छोड़ कर लोकविशेष-निवासी राम की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करनेवाले और नहीं मिलने पर सदैव दुःखी रहनेवाले उपासकों के तन को राम-विरह के सर्प ने काट लिया है। और वह सर्प सद्गुरु के उपदेश को नहीं मानता है। ऐसी स्थिति में पड़े हुये राम-वियोगी नहीं जीते हैं। और यदि जीते हैं तो असावधान होकर जीते हैं। भावार्थ—सन्त जगत से उदास रहते हैं ॥९७॥

राम-बियोगी बिकल तन, इन दुषवो मति कोय ।
छूवत ही मरि जायेंगे, ताला-बेली होय ॥६८॥

शब्दार्थ—तालाबेली=छटपटाहट, छटपटी ।

टीका—राम-वियोगियों का शरीर बेचैन रहता हैं, इसलिये व्यवहार का भार देकर उन्हें दुःखी मत बनाओ । क्योंकि व्यवहार को छूते ही उधर लक्ष्य जाते ही ये मरणासन्न हो जायेंगे; क्यों कि उनको रामवियोग की छटपटी लगी हुई है । भावार्थ सन्तों से व्यवहारिक आशा न रक्खो ॥६८॥

बिरह भुवंगम पैठिके, कीन्ह करेजे घाव ।
साधू अंग न मोरहीं, जौं भावे तौं षाव ॥६९॥

टीका—राम-वियोगियों के हृदय में मानों विरह का सर्प घुस गया है, और वहां घुस कर उसने घाव कर दिया है; फिर भी सन्त-जन अपनी लगन से नहीं हटते हैं । वियोग का सर्प जैसा चाहे वैसा खावै, चाहे जितना दुःख दे । भावार्थ—अनेक कष्ट आने पर भी सन्त-जन रामद्वार से नहीं हटते हैं ॥६९॥

करक करेजे गडि रही, बचन ब्रिच्छ की फांस ।
निकसाये निकसे नहीं, रही सो काहू गांस ॥१००॥

टीका—अज्ञानियों के हृदयों में मानों असद् गुरुओं के वचन-वृक्ष की फांस की करक गड़ गई है । वह सद् गुरुओं के द्वारा निकालने पर भी नहीं निकलती है । और उसकी कुछ-कुछ गांस (कुछ-कुछ लेश) रह ही जाती है । भावार्थ—वञ्चकों के वचन-तरु अज्ञानियों के हृदय-तल में बद्धमूल हो गये हैं । अतः उनका निर्मूल करना दुष्कर है ॥१००॥

काला सरप सरीर में, षाइनि सब जग झारि ।
बिरले ते जन बांचि हैं, जो रामहि भजे विचारि ॥१०१॥

टीका—अज्ञानियों के हृदयों में अहंकाररूप काला सर्प घुसा हुआ है । उसने सारे जगत को खा डाला है । इससे तो वे ही विरले-जन बचेंगे,

जो कि विचार-पूर्वक राम को भजेंगे। भावार्थ—अहंकार ने सबों को नष्ट किया है और कर रहा है ॥१०१॥

काल षडा सिर ऊपरे, तैं जागु बिराने मीत।
जाका घर है गैल में, सो कस सोय निचिंत ॥१०२॥

शब्दार्थ—बिराना = दूसरा। गैल = रास्ता।

टीका—तेरे शिर पर काल (मृत्यु) खड़ा हुआ है। इसलिये मन और माया के हे मित्र! तू जग जा। जिसका घर रास्ते में है, अर्थात् जो यात्रा में निवास कर रहा है, चौरासी में पड़ा हुआ है, वह निश्चिन्त होकर कैसे सोता है? भावार्थ—हे संसार के प्रेमी! तू मोह की मीठी-मीठी नीन्द को छोड़ कर अपने सूने घर की फिक्र कर! ॥१०२॥

काली काठी कालो घुन, जतन जतन घुन षाय।
काया मध्ये काल बसे, मरम कोइ नहि पाय ॥१०३॥

शब्दार्थ—काठी = लकड़ी। घुन = लकड़ी को खानेवाला कीडा।

टीका—जिस प्रकार काली लकड़ी में लगा हुआ काला घुन उसे प्रयत्न-पूर्वक खाता रहता है। और उसमें रहता हुआ भी काले रंग का होने के कारण ऐसा नहीं जाना जाता है कि, यही इसका नाश करनेवाला है। इसी प्रकार शरीर-संघात में ही संशयरूप काल का निवास है; परंतु उसके भेद को कोई नहीं जानते हैं। भावार्थ—घुन की तरह संशयरूपी काल कायारूप काठी को धीरे-धीरे खाता रहता है। इस बात को अज्ञानी नहीं जानते हैं ॥१०३॥

मन माया की कोठरी, तन संसै का कोट।
विषहर मंत्र न मानै, काल सरप की चोट ॥१०४॥

टीका—कार्य-कारण की एकता होने से तथा जल-तरंग के न्याय से मन माया के रहने की कोठरी है। अर्थात् मन में माया समाई हुई है। और शरीर संशय का कोट है, अर्थात् शरीर में संशय का खजाना है। संशयरूप

काले सर्प ने ऐसी चोट मारी है कि, वह विषधर सर्प गुरु के उपदेशरूप मन्त्र को नहीं मानता है। भावार्थ-अज्ञानियों को संशयरूप नाग और भ्रान्ति नागिन ने डंस लिया है। और वह सर्प तत्त्वोपदेशरूपी गारुड मन्त्र को भी नहीं सुनता है ॥ १०४ ॥

[सूचना-गन्दी कोठरी या कोट के सहारे प्रायः सर्प रहा करते हैं।]

मन माया तो एक है, माया मनहि समाय।
तीन लोक संशय परा, काहि कहूँ समुझाय ॥१०५॥

टीका-मन और माया दोनों एक हैं; क्यों कि मन की कल्पना ही माया है। अतः मन ही में माया समायी हुई है। इस बात की समझ के बिना तीनों लोकों में संशय पडा हुआ है। मैं किसको समझा कर कहूं। भावार्थ-कल्पनाओं से रहित होना ही माया से रहित होना है ॥ १०५ ॥

बेढ़ा दीन्हो षेत को, बेढ़ा षेतहिं षाय।
तीन लोक संसय परी, मैं काहि कहौं समुझाय ॥१०६॥

शब्दार्थ-बेढ़ा = खेत को बचाने के लिये चारों तरफ लगाया हुआ घेरा।

टीका-पहेली:-खेत की रक्षा के लिये घेरा लगाया गया है; परन्तु आश्चर्य है कि, वह घेरा खेत ही को खा रहा है। इस बात का संशय तीनों लोकों में पडा हुआ है। मैं किस-किस को समझा कर कहूं। भावार्थ-अज्ञानी लोग माया को रक्षक समझते हैं, वस्तुतः वह भक्षक है ॥ १०६ ॥

मन सायर मनसा लहरि, बूड़े बहुत अचेत।
कहहिं कबीर ते बांचि हैं, जिनके हिदय विवेक ॥१०७॥

टीका-मनरूपी समुद्र है, और मन की इच्छायें ही लहरे हैं। उनमें पड़ कर बहुत से अज्ञानी डूब जाते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि, इनसे वे ही बचते हैं कि, जिनके हृदय में विवेक-विचार है। भावार्थ-विवेकी जन मन की तरंगो में नही पड़ते हैं ॥ १०७ ॥

सायर बुद्धि बनायके, बाय बिचच्छन चोर।
सारी दुनिया जहंडिगे, कोई न लागा ठौर ॥१०८॥

सब्दार्थ—बिचच्छन = चतुर, पारदर्शी। उदा०—'परम साधु सब बात विचक्षण' रघुराज।

टीका—मन बड़ा विचक्षण चोर है। वह अपने को बुद्धि का सागर बना कर दिखाता है (और कई नये-नये सब्ज बाग बना कर दिखलाता है) इसलिये सारी दुनियाँ ठगा जाती है। और कोई मुक्ति-पद को नहीं पहुंच सकता है। भावार्थ-मन बड़ा चतुर चोर है। इसने सारी दुनियां को धोखा दिया है॥ १०८ ॥

मानुष होय के ना मुवा, मुवा सो डांगर ढोर।
एकौ जीव ठौर नहि लागा, भया सो हाथी घोर ॥१०९॥

टीका—'जाको समुझ पड़े सो मानुष, नहीं तो माटी का ढेला है'। इसके अनुसार जिसको आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है वही मनुष्य है। अतः मनुष्य होकर फिर वह नहीं मरता है, किन्तु मुक्त हो जाता है। और "ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः" इसके अनुसार जो अज्ञानी मरते हैं वे पशुरूप हैं। और उनमें से एक भी मुक्ति-पद को प्राप्त नहीं करता है; किन्तु मर कर वे पशु पक्षी आदिक योनियों में चले जाते हैं। भावार्थ-स्वरूप-परिचय से कृत-कृत्य होकर शरीर को नहीं त्यागा। अतः चौरासी योनियों में चले गये॥१०९॥

मानुष तैं बड पापिया, अच्छर-गुरुहिं न मान।
बार बार बन कूकुही, गरभ धरतु है ध्यान ॥११०॥

शब्दार्थ—अच्छर--गुरु = विद्या-गुरु, और अविनासी--पद को बताने-वाले गुरु।

टीका—वह मनुष्य बड़ा भारी पापी है; जो कि, विद्या-गुरु और आत्मपद को बतानेवाले गुरु का सन्मान नहीं करता है। वह बार-बार नीच योनियों में इसी प्रकार जन्म धारण करेगा; जिस प्रकार जंगल की मुर्गी

बार-बार बहुत से अण्डे देती है। भावार्थ-सत्योपदेश को नहीं माननेवाले भव-चक्र में घूमा करते हैं। "एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिमन्यते। श्वानयोनिशतं गत्वा चाण्डालेष्वभिजायते" ॥ ११० ॥

मानुष बिचारा का करे, जाके कहे न षुले कपाट।
सोनहा चौक बैठायके, फिरि फिरि ऐपन चाट ॥१११॥

शब्दार्थ–ऐपन = सं० पु० [सं० प्रलेप], एक मांगलिक द्रव्य, जो चावल और हल्दी को एक साथ गीला पीसने से बनता है। देवताओं की पूजा में इससे थापा लगाते हैं और घड़े पर चिन्ह करते हैं। आध्या०–विषय।

टीका–बेचारे अज्ञानी मनुष्य का क्या दोष है? जिसके कि, गुरु के उपदेश से हृदय के किंवाड़ नहीं खुलते हैं। इसलिये वह गुरु का तिरस्कार इस प्रकार करता है कि, जिस प्रकार आटे से पूरे हुए चौक में उबटन लगा कर बैठाया हुआ कुत्ता उस आटे को और उबटन को ही चाटने लगता है। भावार्थ–जिस प्रकार पूरे हुए चौक में बैठाया हुआ कुत्ता आटे को चाटता है; इसी तरह मूर्ख लोग उपदेशक का तिरस्कार करते हैं ॥ १११ ॥

मानुष बिचारा का करे, जाके सुन्न सरीर।
जो जिव झांकि ना ऊपजे, तो काह पुकार कबीर ॥११२

टीका–वह बिचारा मनुष्य क्या करे! जिसका कि, हृदय ही शून्य है। उसके हृदय में तो ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं होती है, तो कबीर पुकार कर क्या करे! भावार्थ–इसमें उपदेशक का क्या दोष है? क्योंकि, "मूरख हृदय न चेत, जौं गुरु मिलहिं विरंचि सम" ॥ ११२ ॥

मानुष जन्म पायके, नल चूके अबकी घाट।
जाय परे भव चक्र में, सहे घनेरी लात ॥११३॥

टीका–सुर-दुर्लभ नर तन को पाकर जो यह अबका दाव चूक जाता है, वह जन्म-मरण के चक्र में जा पड़ता है और वहां बहुत सी लातें खाता है। अर्थात् बहुत कष्ट उठाता है। भावार्थ–नरतन मुक्ति का द्वार है ॥ ११३ ॥

रतन का जतन करु, माटी का सिंगार।
आया कबीरा फिर गया, फीका[1] है संसार ॥११४॥

टीका—ज्ञान रूप रत्न की प्राप्ति के लिये यत्न करो। और वीर्यरूप रत्न की रक्षा में भी प्रयत्नशील बनो। देखो, अनेक प्रकार के साधु-वेष बनाने में और शरीर की सजावट में क्या लगे रहते हो? यह जीवात्मा ज्ञान की प्राप्ति न होने से बार-बार संसार में आता है और फिर चला जाता है। इस कारण जाति और विद्या आदि का अहंकार मिथ्या ही है; क्यों कि संसार रसहीन है। भावार्थ—वेष बनाने में न भूल कर आत्म-परिचय करना चाहिये ॥११४॥

मानुष जन्म दुरलभ है, होय न दूजी बार।
पक्का फल जो गिर परा, बहुरि न लागै डार ॥११५।

टीका—मनुष्य-जन्म बड़ी कठिनाई से मिलता है। अतः वह फिर दूसरी बार जल्दी से नहीं मिलता है। देखो, जो पका हुआ फल डारी से गिर पड़ा है वह फिर उसमें नहीं लगता है। भावार्थ-त्यागे हुये शरीर में जीवात्मा फिर नहीं आता है॥ ११५ ॥

बांह मरोरे जात हो, मोहि सोवत लिये जगाय।
कहंहिं कबीर पुकारिके ई पिंडे ऽहै कि जाय ॥११६॥

टीका—मुमुक्षु का दृढ़ निश्चय—हे सद्गुरो! आपने मुझे सोते से जगा लिया है; और आपका हाथ पकडने पर आप मेरी बांह मरोर कर और हाथ छुड़ा कर जा रहे हो; परन्तु मैंने तो "कार्यं वा साधयिष्यामि देहं वा पातयिष्यामि" अपने कार्य को सिद्ध करूंगा या शरीर ही को गिरा दूंगा। इस कथन के अनुसार दृढ निश्चय कर लिया है कि, इसी शरीर में मुझे आपका दर्शन (आत्म-साक्षात्कार) हो जायगा, या शरीर चला जायगा। इस बात को कबीर साहेब पुकार कर कह रहे हैं कि, "बांह मरोरे जात हो, निबल जानिके मोहि। हृदया में से जाहुगे, मरद बखांनू तोहि"॥ पंजाबी भजन- "सद्गुरु ने मेनू आन जगाया, की जानों रमु जातरियां" ॥ ११६ ॥

---

[1] पाठा —त, थ, फूठा।

साषि पुलिंदर ढहि परे, बिबि अच्छर जुग चार ।
कबीर रसना रंभन होत है, कोइ कै न सके निरुबार ॥११७॥

शब्दार्थ—पुलिंदर = कागज का बंडल (बहुतसी पुस्तकें) । बिबि अच्छर = दो अक्षर या दो बातें ।

टीका—असद्गुरुओं की वाणी और वचनों का साम्राज्य नष्ट हो गया; क्यों कि, इनमें चारों युगों से "अनहद-शब्द जोति अनुमाना" के अनुसार अनहद-शब्द और ज्योति का ही विचार चला आता है । कबीर साहेब कहते हैं कि, वस्तुतः विचार किया जाय तो ये दोनों विकाररूप होने के कारण इन दोनों का रसना से कथनमात्र ही होता है; परन्तु कोई इनका सार रूप से निर्णय नहीं कर सकता है । "वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (उपनिषद्) । विकार और नाम वाणी का कथन मात्र है; और मिट्टी के सब पात्रों में मिट्टी ही सच्ची है । भावार्थ—'वाणी और पाणी याका नाहीं अन्त' ॥ ११७ ॥

बेडा बांधिन सरपका, भवसागर के मांहि ।
जो छांडै[1] तो बूडे, गहे तो डसै बांहि ॥११८॥

शब्दार्थ—बेड़ा = नदी में बहाने के लिये लकड़ियों का बनाया हुआ बेड़ा ।

टीका—मुमुक्षुओं ने संसार-सागर में सर्प का बेड़ा बांधा है । अर्थात् संसार-सागर में पार होने के लिये मन का अवलम्बन किया है; ऐसी स्थिति में यदि उसे छोड़ देते हैं; अर्थात् मन का अवलम्बन नहीं लेते हैं. तो श्रवणादिक के बिना परोक्ष ज्ञान नहीं होता है, और परोक्ष ज्ञान के बिना अपरोक्षज्ञान के नहीं होने से संसार-सागर में डूब जाते हैं । और यदि उसे पकड़े रहते हैं; तो उसकी अशुद्धता के कारण वह काट भी लेता है । भाव यह है कि, स्वरूप-ज्ञान की प्राप्ति के लिये वृत्ति-ज्ञान आवश्यक है । और वह वृत्ति-ज्ञान मन के अवलम्बन के बिना नहीं हो सकता है । इसलिये ये मन का सहारा

१ पाठा—ज, झ, छोड़ो तो बूड़े नाहिं ।

लेना आवश्यक है। मन को बिलकुल छोड़ देने से काम नहीं चल सकता है; परन्तु यदि वह मन शुद्ध हो तो बेड़ा पार हो जाता है। और यदि अशुद्ध हो तो पकड़नेवाला डूब जाता है। अतः मन को शुद्ध करके परमार्थ-पथ पर चलाना चाहिये। ठीक ही है—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः"॥ अर्थात् बन्धन और मुक्ति का कारण मन ही है। विषय में आसक्त मन बन्धन का कारण है, और विषयों से रहित मन मुक्ति का कारण है॥ ११८॥

हाथ कटोरा षोवा भरा, मग जोहित दिन जाय।
कबीरा उतरा चित्त सों, छांछ दियो नहिं जाय॥११६॥

शब्दार्थ—जोहत = देखते हुये।

टीका—अपने प्रेमी के लिये मनुष्य खोवा से भरा हुआ कटोरा हाथ में लेकर खड़ा रहता है। और रास्ता देखते हुये उसका दिन बीतता है; परन्तु जो अज्ञानी चित्त से उतर जाता है उसको तो छांछ देने का भी मन नहीं होता है। भावार्थ—अधिकारी को बार-बार समझाया जाता है, अनधिकारी को नहीं। 'गूढ तत्त्व नहिं सन्त दुरावहिं, आरत-अधिकारी जो पावहिं'। (रामायण)॥ ११६॥

एक[१] कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि।
है जैसा रहै तैसा, कहंहिं कबीर बिचारि॥१२०॥

टीका—यदि मैं परम तत्त्व के विषय में ऐसा कहूँ कि, वह एक है तो ऐसा कहना नहीं बन सकता है; क्यों कि, एक शब्द सापेक्ष है। अर्थात् अनेकों की अपेक्षा से एक शब्द प्रवृत्त होता है; अतः अद्वैत शब्द उसके विषय में नहीं लग सकता है। और यदि मैं ऐसा कहूं कि, वह दो है तो यह उसके लिये गाली हो जायगी; क्यों कि, अद्वितीय पदार्थ के सदृश दूसरे को बताना उसका अपमान करना है। इसलिये कबीर साहेब विचार कर कहते हैं कि, परम-तत्त्व के विषय में हम द्वैत या अद्वैत कुछ भी नहीं कह सकते हैं। वह

[१] पाठा०—घ, ङ, एक कहौं कहते न बनै।

जैसा अकथ (अकह्वा) है वैसा ही वह बना रहे। भाव यह है कि, परम-तत्त्व का निर्वचन अद्वैत या द्वैत शब्द से नहीं कर सकते हैं; क्यों कि वह स्वसंवेद्य है, और ये दोनों सापेक्ष हैं। अतः वह जैसा है वैसा ही रहे। अर्थात् अकथ ही रहे। हम उसके विषय में कुछ नहीं कह सकते हैं। बात यह है कि, जो मन का विषय होता है उसी को वाणी कह सकती है। और तत्त्व की तो यह महिमा है कि, "यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह"। अर्थात् मन के सहित वाणी उसके कहने से हट जाती है ॥ १२० ॥

अम्रित केरी पूरिया, बहु बिधि दीन्ही छोरि।
आप सरीषा जो मिलै, ताहिं पियाऊं घोरि ॥१२१॥

टीका—सद्गुरु का कथन है कि, मैंने ज्ञानामृत की पुडिया को सब प्रकार से खोल कर रख दिया है। अर्थात् मेरा ज्ञान संशय और विपर्यय के आवरण से रहित है; परन्तु मेरे समान जो शुद्ध हृदय का होगा उसीको मैं उसे घोल कर पिलाऊंगा। भावार्थ-तत्वामृत दैवी संपत्तिवाले को ही पिलाया जाता है। 'गूढ़ तत्व नहिं सन्त दुरावहिं, आरत अधिकारी जो पावहिं' (रामायण) ॥ १२१ ॥

अम्रित केरी मोटरी, सिरसे धरी उतार।
जाहिं कहौं मैं एक है, सो मोहि कहै दुइचार ॥१२२॥

टीका—अज्ञानी लोगों ने ज्ञानरूपी अमृत की गठरी को शिर से उतार कर धर दिया है। अर्थात् वे बेसमझ बन गये हैं। देखो, जिसको मैं यह कहता हूँ कि, सबों का स्वामी 'साहब' (परमात्मा) एक है, वह मेरे सामने दो-चार देवी-देवताओं के नाम कहने लगता है और दो-चार खरी-खोटी भी कह देता है। भावार्थ-लोग विचार नहीं करते हैं। मैं एक आत्मा की उपासना का उपदेश देता हूं तो वे नाना देवताओं की सिद्धि करने लग जाते हैं। इस साखी में एकेश्वर-वाद और एकात्म-वाद का कथन है ॥१२२॥

जाके मुनिवर तप करैं, वेद थके गुन गाय।
सोई देउं सिषापना, कोई नहिं पतियाय ॥१२३॥

टीका—जिस आत्म-तत्त्व की प्राप्ति के लिये मुनिवर तप करते हैं; और जिसके गुणों का गाते हुये वेद थक गये हैं; उसकी प्राप्ति के लिये मैं सबों को उपदेश कर रहा हूं; परन्तु कोई विश्वास नहीं करता है। भावार्थ—मैं हृदय-निवासी राम का उपदेश देता हूँ; परन्तु लोग नहीं मानते हैं ॥१२३॥

एक ते अनंत भौ, अनंत एक व्है आया।
परचे भई जब एक ते, अनंतौ एके माहिं समाया ॥१२४॥

टीका—यह जीवात्मा उपाधिवश एक से अनेक, और अनेक से एक होता रहता है। जब अपने स्वरूप का बोध हो जाता हे, तब केवल यही रह जाता है। और अनन्त एक में समा जाते हैं; और अनेकता-एकता का बखेड़ा दूर हो जाता है ॥ १२४ ॥

एक सब्द गुरुदेवका, तामहं अनंत बिचार।
थाके ग्यानी मुनिवर, बेद न पावै पार ॥१२५॥

टीका—गुरुदेव का वताया हुआ एक ही सत्य शब्द है। और उसकी प्राप्ति में अनन्त विचार चलते रहते हैं। और उसकी खोज में ज्ञानी और मुनिजन भी हार गये हैं। और वेद भी उसका पार नहीं पाते है। भावार्थ-सद्गुरु ने जिस एक तत्व का उपदेश दिया है, उसी के विचार में सब थक गये हैं। 'नेति नेति' ऐसा उनका कथन है ॥ १२६ ॥

राउर के पिछुवारे, गाहिं चारिउ सैन।
जीव परा बहु लूटि में, ना किछु लेन ना देन ॥१२६॥

शब्दार्थ—राउर = साहव (आत्म-तत्व)। पिछुवार = पीठ देकर। सैन= ईशारा।

टीका—चारों वेद संकेत रूप से आत्म-तत्व का परोक्ष रूप से कथन करते हैं। क्यों कि, विधिमुख से उसके कथन करने में वे असमर्थ हैं। अतः अतद्व्यावृत्ति रूप से उसका वर्णन करते हैं। यही भाव सैन और पिछुवार शब्द का है। और संकेत रूप से (छिपे छिपाये रूप से) कथन करने के ही

कारण जीवात्मा नाना मत-वादियों के फन्दे में आकर भारी लूट में पड़ कर लुटा गया है। और यदि विचार कर देखा जाय तो वह तो इसका स्वरूप ही है। इस लिये न कुछ लेना है, और न कुछ देना है; सब ठीक ही है। भावार्थ-चारो वेद परोक्ष रूप से तत्व का निरूपण करते हैं। इसी बात को पुष्पदंताचार्य ने लिखा है-"अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते-श्रुतिरपि" ॥ १२६ ॥

चौगोडा* के देषते, व्याधा भागा जाय।
अचरज[1] एक देषो हो संतो, मूवा कालहिं षाय ॥१२७॥

चौगोड़ा = चार पैरवाला पशु (खरगोश)।

टीका—पहेली—चार पैरवाले पशु को देखते ही पारधी भगा चला जाता है। और हे सन्तो! यह भी एक अचरज देखो कि, मरा हुआ मनुष्य काल को खा जाता है। भावार्थ-साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी मन को जीत लेता है। और जीवन्मृतक (मुक्त) काल को जीत लेता है। "को वा मृतो यस्य पुनर्न मृत्युः" ॥ १२७ ॥

तीन लोक चोरी भई, सबका सरबस लीन्ह।
बिना मूंडका चोरवा, परा न काहू चीन्ह ॥१२८॥

टीका—पहेली-तीनों लोकों में चोरी हो गई। और चोर ने सबोंका सर्वस्व (ज्ञानादिक) चुरा लिया; परन्तु वह चोर बिना शिर का है। इसलिये किसी के पहिचानने में नहीं आया। भावार्थ-मन एक रूप से नहीं रहता है; अतः यह बिना शिर का चोर है ॥ १२८ ॥

चक्की चलती देषिके नैनन आया रोय।
दुई पट भीतर आयके, साबुत गया न कोय ॥१३०॥

टीका—अन्योक्ति-चक्की को चलती हुई देख कर मेरी आंखों में तो रोना आ गया; क्यों कि, इसमें दोनों पाटो के बीच में जो आ गया,

* छन्द "हरिपद"। 1 पाठां०—च, फ, एक अचंभो हों देषा मरा काठ के षाय।

वह कोई भी साबित नहीं गया, अर्थात् पूरी तरह पिस गया। भावार्थ-जन्म और मरण में आनेवाला मुक्त नहीं है ॥ १२६ ॥

चार चोर चोरी चले, पगु पनही ऊतार।
चारो दर थूनी हनी, पंडित करहु विचार ॥१३०॥

टीका–पहेली-चार चोर चोरी करने के लिये चले और उनने अपने पैरों के जूते (समझ-विचार) उतार दिये। और चारों दरवाजों पर थूनी गाड़ दी है। हे पण्डित जी! इसका विचार करो। भावार्थ-विचार हीन नर को काम, क्रोध, लोभ और मोह; ये चारों चोर चारों योनियों में भटकाते हैं ॥ १३० ॥

बलिहारी वहि दूध की, जामे निकरे घीव।
आधी साषि कबीर की, चारि वेद का जीव ॥१३१॥

टीका–उस दूध की प्रशंसा करनी चाहिये कि, जिसमें से घी निकलता है। कबीर साहेब की आधी साखी अर्थात् दोहे की अर्धावलि चारों वेदों का जीव है। "ब्रह्मरूप अहि ब्रह्मवित्, ताकि वाणी वेद। भाषा अथवा संस्कृत, करत भेद भ्रम छेद"। (विचार-सागर)। भावार्थ-"आपा तजो औ हरि भजो, नखसिख तजो विकार"। यह आधी साखी सबों की सार है॥१३१॥

बलिहारी तेहि पुरुषकी, जो परचित परषनिहार।
साई दीन्हीं षांडकी, षारी बोझे गंवार ॥१३२॥

शब्दार्थ–साई = बयाना। बोझे = बोझ लादना।

टीका–उस पुरुष को धन्यवाद है, जो दूसरे के चित को परख लेता है, और परख कर उसके जाल से बच जाता है। अधिकतर तो ऐसे ही मूर्ख देखे जाते हैं कि, जो खांड (शक्कर) को लेने के लिये बयाना देते हैं; परन्तु विवेक न होने से ठग बनिये की दी हुई खारी कों ही लाद कर चलते बनते हैं। भावार्थ-परख कर गुरु करनेवाले धन्य हैं। अविवेकी मुक्ति के लिये वञ्चकों की शरण में जाकर उलटे बन्धन में पड़ जाते हैं ॥ १३२ ॥

बिषके बिरवे घर किया, रहा सरप लपटाय ।
ताते जियरहिं डर भया, जागत रैनि बिहाय ॥१३३॥

टीका—अज्ञानी लोगों ने जहर के पेड़ में घर कर रक्खा है। अर्थात् वे सदैव देह-बुद्धि किये रहते हैं। जिसमें कि, "तन के भीतर मन उनहुं न पेखा" के अनुसार मन रूप सर्प का सदा निवास है। और इसी कारण उनके हृदय में भ्रम घुस गया है; जिसके कारण वे जागते हुये रात बिताते हैं। भावार्थ-देहात्म-भाव रखनेवाले जगत के प्रेमी कभी भयरहित नहीं होते हैं॥ १३३ ॥

जो घर हैगा सरपका, सो[1] घर साधु न होय ।
सकल संपदा ले गया, विषहर लागा सोय ॥१३४॥

टीका—"ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न न संशयः"। सांपवाले घर में रहनेवाले की मौत ही समझिये। इसके अनुसार जो घर सर्प का निवास हो गया है; उसमें विवेकी पुरुष नहीं रहते हैं। अर्थात् सन्तों की आत्माकार वृत्ति होती है, देहाकार नहीं। मन ही सर्प है, उसका साम्राज्य अज्ञानियों के हृदय में सदैव रहता है। और वह मन रूपी सर्प जिसको लग जाता है, अर्थात् काट लेता है उसकी चेतना और ज्ञान-शक्ति रूप सब सम्पत्ति को वह हर लेता है। अर्थात् मन-परतन्त्र मनुष्य ज्ञान-शक्ति से हीन हो जाता है। अतः सन्तजन जगत से उपराम रहते हैं॥ १३४ ॥

घूंघूंचि भरके बोये, उपजैं पसेरी आठ ।
डेरा परा कालका, सांझ सकारे जात ॥१३५॥

शब्दार्थ—घूंघूचि=सं० स्त्री [सं० गुंजा] गुंजा। एक प्रकार की लता जिसके छोटे-छोटे फल लाल या सफेद होते हैं; केवल मुंह काला होता है। करजिनी।

[सूचना—आठ पसेरी का एक मन होता है। घूंघूचि भर के' (एक रत्ती) बोने से आठ पसेरी उत्पन्न होता है।]

टीका—भाव यह है कि, सूक्ष्म वासना से संकल्पात्मक मन की सृष्टि

१ पाठा०—ज, झ, ञ, तेहि घर भक्ति न होय।

होती है। इस प्रकार जब अज्ञानी के मन में काल का डेरा पड़ जाता है। अर्थात् अज्ञानी जन जब मन का परतन्त्र हो जाता है; तब वह सांझ या सबेरे चला जाता है। अर्थात् शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १३५ ॥

मन भरके बोये कबौ, घुंघुची भरि नहि होय।
कहा हमार माने नहीं, अंतहु चला बिगोय ॥१३६॥

टीका—कभी मन भर के बोने से रत्ती-भर भी नहीं होता है। अर्थात् कामना से मन को रहित करके कर्मों में लगाने से वासना की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। कबीर साहेब कहते हैं कि, अज्ञानी लोग मेरा कहना नहीं मानते हैं। अर्थात् फलासक्ति रहित कर्म करने के मेरे उपदेश को नहीं मानते हैं। इसलिये अन्त में भी वे ज्ञान को नष्ट करके चले जाते हैं। इन दोनों साखियों का यह भाव है कि, कामनापूर्वक थोड़ा भी कर्म करने से फल प्राप्ति की भारी कल्पना खड़ी जो जाती है। और निष्काम रूप से भारी कर्मों के करने पर भी जरा भी फलेच्छा नहीं उत्पन्न होती है। इसलिये फलेच्छा और वासना को छोड़ कर अपना कर्त्तव्य करना चाहिये। ऐसा करने से हृदय शुद्ध होता है और मुक्ति मिलती है ॥ १३६ ॥

आपा तजै औ हरि भजै, नष सिष तजै बिकार।
सभ जीवन ते निरबैर रहै, साधु मता है सार ॥१३७॥

टीका—सब प्रकार के अहङ्कारों को त्याग दे और सर्व-भूत निवासी हरि का भजन करे। अर्थात् विश्व-बन्धु बन जाय। और नख से शिखा तक जो देह और इन्द्रियों के विकार हों उनको त्याग दे। तथा सब प्राणियों से निर्वैर हो जाय। यह सन्तों का सार मत है ॥ १३७ ॥

पछा—पछी के कारने, सभ जग[1] रहा भुलान।
निरपछ होयके हरि[2] भजे, सोई संत सुजान ॥१३८॥

टीका—अपने अपने मत-मजहब के पक्षपात के कारण सारा जगत भूला हुआ है। किन्तु जो इनके पक्षपात से रहित होकर सर्वहृदय निवासी हरि का

१ पाठा ०-च, छ, ज, झ, जगन्नो भुलान। २-त, थ, जो भजे।

भजन करते हैं। अर्थात् सर्वोपकारी बनते हैं वे ही सुजान सन्त हैं। अर्थात् मत और मजहब के दल-दल से निकले हुए, सुलझे हुए सन्त हैं॥ १३८॥

बड़े गये बडापने, रोम रोम हंकार।
सत-गुरुके परचे बिना चारौं बरन चमार॥१३९॥

टीका—बड़ी जातिवाले अपनी जाति के बड़प्पन में नष्ट हो गये; क्यों कि, उनके प्रत्येक रोम रोम में अहंकार भरा पड़ा था। सर्वभूतहृदय-निवासी सद्गुरु साहब के साक्षात् परिचय के बिना अर्थात् आत्म-दृष्टि के बिना चारों वर्णवाले चमार हैं। भावार्थ—"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं नच वयः" इसके अनुसार सज्जन गुणियों का आदर सत्कार होना चाहिये। चाहे वे किसी भी जाति के हों॥ १३९॥

माया तेजे का भया, मान तजा नहिं जाय।
जेहि माने मुनिवर ठगे, मान सभनि को षाय॥१४०॥

शब्दार्थ—मान = मान बड़ाई और जाति आदि का अहंकार।

टीका—केवल माया के त्यागने से क्या होता है? । क्यों कि, मान बड़ाई और जाति आदि का अहंकार तो छूटता ही नहीं है। जिस मान ने मुनिवरों को ठग लिया है, वह मान अब भी सब को खा रहा है। "मोटी माया सभ तजे, झीनी तजी न जाय। पीर पैगम्बर अवलिया, झीनी सभ को खाय"॥ १४०॥

माया की झक जग जरै, कनक कामिनी लागि।
कहहिं कबीर कस बांचि हो, रुई लपेटी आगि॥१४१॥

शब्दार्थ—झक = सं० स्त्री० ज्वाला, लहर।

टीका—माया की ज्वाला से संसार जल रहा है; क्यों कि, वह कनक और कामिनी की प्राप्ति में लगा हुआ है। कबीर साहेब कहते हैं कि, रुई से लिपटी हुई अग्नि कैसे बच सकती है? वह तो रुई को जला देती है। भावार्थ—कनक और कामिनी माया के दो रूप बड़े ही प्रबल हैं। अतः

धन और नारी की कामनारूपी आग से रुई की तरह अन्दर-अन्दर (अपने-अपने दिलों में) सबके सब जल रहे हैं। भजन—"जोरा जोरी जनावै, यह माया परपंचनियां। दोय रूप बनावै, एक कनक दूजी कामिनियां"॥ "वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे, कान्तासु कनकेषु च। तासु तेष्वप्यनासक्तः साक्षाद् भर्गो नराकृतिः" विधाता ने स्त्री और कांचन रूप दो भ्रम उत्पन्न कर दिये हैं। इन दोनों में जो आसक्त नहीं है वह नरतन धारी साक्षात् भगवान हैं॥ १४१॥

माया जग सांपिनि भई, विष ले बैठी बाट[1]।
सभ जग फंदे फंदिया, चले कबीरउ काछ[2]॥१४२॥

शब्दार्थ—काछ = हटाना।

टीका—संसार में माया सर्पिणी बनी हुई है। जो कि, जहर को ले कर बीच रास्ते में बैठी है। सब जगत उसके फंदे में फंस गया; परन्तु कबीर साहेब तो (ज्ञानी पुरुष तो) उसे हटा कर आगे चले गये। भावार्थ—ज्ञानी जन माया से रहित हो जाते हैं॥ १४२॥

सांप बीछिका मंत्र, है माहुर झारे जांय।
विकट नारि के पाले परे, काढि कलेजा षाय॥१४३॥

शब्दार्थ—माहुर = विष। उदा०—'अमिय सजीवन माहुर मीचू'। (तुलसो)।

टीका—संसार में सर्प और बिच्छू के जहर को उतारने के मन्त्र हैं। और दूसरे दूसरे जहर भी झाडने से उतर जाते हैं; परन्तु यदि भोगाऽऽसक्त विकट स्त्री पाले पड़ जाती है, तो वह कलेजा ही निकाल कर खा जाती है। अर्थात् सब प्रकार से मनुष्य को चूस लेती है। भावार्थ—स्थावर और जंगम सब प्रकार के विष दूर हो सकते हैं। परन्तु विषयरूपी विष के खा जाने से कदापि नहीं बच सकते हैं॥ १४३॥

तामस केरे तीनि गुन, भंवर लेहि तहं बास।
एकै डारी तीनि फल, भांटा ऊष कपास॥१४४॥

---

१ पाठा०—पताल। च, आय। द, पास। २—उदास।

टीका-ये सब स्रक्, चन्दन और वनिता रूपी कुसुमोद्यान तमः प्रधान पञ्च तत्त्वों की रचना होने के कारण त्रिगुणात्मक हैं। जिनके गन्धमात्र से मन मिलिन्द (भँवरा) और जीवात्मा सदैव मतवाला बना रहता है। और मायारूपी डाली ऐसी विचित्र है कि, उसमें परस्पर विरुद्ध सुख, दुःख और मोह स्वभाववाले सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण रूपी कपास, ऊख और भंटे ये तीन फल सदैव लगे रहते हैं। "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"। (सांख्य) ॥ १४४ ॥

मन-मतंग[1] गइयर हने, मनसा भई सचान।
जंत्र मंत्र माने नहीं, लागि उड़ि उड़ि षान ॥१४५॥

शब्दार्थ—सचान = बाज। उदा०-'जिमि सचान बन झपटेउ लावा'। तु०।

टीका-मन ऐसा मस्त हाथी है कि, वह इन्द्रिय रूप नील गाय को मार डालता है। अर्थात् मन के विकृत होने से इन्द्रियां विचलित हो जाती हैं। और कामी पुरुषों की मन की इच्छा बाज बनी हुई है। वह किसी भी प्रकार के यन्त्र और मन्त्र को नहीं मानती है; किन्तु उड़ उड़ कर नयी नयी चिड़ियांओं को खाने लगती है। अर्थात् गुरु के उपदेश को नहीं मान कर विषय-भोगों में प्रवृत्त रहती है। भावार्थ-अनेक प्रयत्न करने पर भी मन वश में नहीं होता है ॥ १४५ ॥

मन-गयंद माने नहीं, चले सुरति के साथ।
महावत बिचारा का करे, जो अंकुस नाहीं हाथ ॥१४६॥

शब्दार्थ—सुरति = मनोवृत्ति।

टीका-अज्ञानियों का मनरूपी हाथी रोकने से भी नहीं रुकता है। और वह मनोवृत्ति रूप हाथिनी के पीछे चलता है। ऐसी स्थिति में जीवात्मा रूपी बेचारा महावत क्या प्रयत्न करे? क्यों कि, उसके हाथ में ज्ञान-अंकुश नहीं है। भावार्थ—ज्ञानांकुश के बिना मन-गजेन्द्र अधीन नहीं हो सकता है ॥१४६॥

[1] पाठा०—मसनंद।

ई माया है चूहड़ी, और चुहड़ों की जोय।
बाप पूत अरुभाय के, संग न काहुके होय ॥१४७॥

शब्दार्थ—चूहड़ी = भंगी या मेहतर, चांडाल। जोय = स्त्री।

टीका—यह माया स्वयं चांडालिनी है, और चांडालों की ही स्त्री है। क्यों कि, इसके ऐसे ही निर्दयी कार्य हैं। देखो, यह पिता और पुत्र (ईश्वर और जीव) को भी फँदे में फसा देती है (लडा मारती है)। और अंत में यह किसीके साथ नहीं रहती है ॥ १४७ ॥

कनक कामिनी देषिके, तू मत भूल सुरंग।
मिलन बिछुरन दुहेलरा, जौं केंचुली भुवंग ॥१४८॥

शब्दार्थ—सुरंग = अच्छे रंगवाला। दुहेलरा = दुःखदायी।

टीका—अच्छे रंगवाले हे सत्संगी! तू कनक और कामिनी रूप माया को देख कर अपने आपको न भूल। देखो, जिस प्रकार कैंचुली का संयोग और वियोग सर्प के लिये दुःखदायी होता है। इसी प्रकार माया का मिलना और बिछुड़ना दोनो ही दुःखकारक हैं। ज्ञात हो कि, कैंचुली के आने से सांप अंधा हो जाता है। और निकल जाने से भी कष्ट पाता है। इसी प्रकार माया के संयोग और वियोग से मनुष्य की दुर्दशा होती है। भावार्थ—कनक और कामिनी का संयोग और वियोग दोनों ही क्षोभ तथा दुःख को उत्पन्न करते जैसे कैंचुल का संयोग-वियोग सर्प को कष्ट देता है ॥ १४८ ॥

माया के बसि सभ परे, ब्रह्मा बिस्नु महेस।
नारद सारद सनक सनंदन, गौरी पूत गनेस ॥१४९॥

टीका—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद, शारदा, सनक, सनन्दन और पार्वती के पुत्र गणेशजी; ये सबके सब माया के वश में पड़े हुये हैं ॥१४९॥

पिपरि* एक जो महागभानी, ताकर मरम कोई नहि जानी।
+डार लंभाये कोइ न षाय, षसम अछत बहु पिपरे जाय ॥

शब्दार्थ—महागभानी = फैली हुई।

* छन्द "चौपाई"। + चोपाई।

टीका—अन्योक्ति-एक पीपली बहुत ही फैली हुई और फली हुई हैं। उसके भेद को कोई नहीं जानते हैं। उसकी डाली को सब कोई झुकाते हैं; परन्तु फलों को कोई नहीं खाते हैं। और वह ऐसी है कि, स्वामी के रहते हुये ही बहुत से पीपलों (अन्य पुरुषों) के पास चली जाती है। भाव यह है कि, मायारूपी पीपली (पेड़) फैली हुई है। उसकी डाली को किसी प्रकार झुकाने पर भी कोई फल नहीं खाने पाते हैं। क्यों कि, उसको शीघ्र ही दूसरे लोग छीन लेते हैं ॥ १५० ॥

साहू[1] सेती चोरिया, चोरों सेती सूध।
तब जानहुगे जीयरा, जब मार परेगी तूझ ॥१५१॥

टीका—हे अज्ञानी नर ! तू सन्तों के सामने तो चोर बना रहता है। अर्थात् मुंह छिपाता है, उनके सामने नहीं जाता है। और दुष्टों के सामने सीधा बना रहता हैं' अर्थात् उनका प्रेमी बना रहता है। परन्तु हे जीवात्मा ! तुझको तो तब मालूम पड़ेगी जब कि, कुसंग के फल-स्वरूप तुझ पर मार पड़ेगी। अर्थात् धोबी के हेरायल (खोये हुये) गदहे की तरह खूब ही पीटा जायगा। "याकर फल तुम पैहु आगे। बानर भालु चपेटन लागे" (रामायण)। भावार्थ-सन्तों से दुष्टता और असन्तों से भिन्नता करनेवाले कठिन कठिन यम यातनाओं को भोगते हैं ॥ १५१ ॥

ताकी पूरी क्यों परे, जाके गुरु न लषाई बाट।
ताको बेडा बूडि है, फिरि फिरि औघट घाट ॥१५२॥

टीका—जिसको गुरु ने सन्मार्ग नही दिखाया है उसकी पूरी कैसे पड़ सकती है ? । अर्थात् वह संसार सागर से कैसे पार हो सकता है। उसका तो जीवन बेड़ा जड़ाध्यास और जड़ प्रपञ्च रूप औघट घाटों में बार बार इधर से उधर टकरा कर अन्त में डूब जाएगा। भावार्थ सद्गुरुरूपी कर्णधार के विना नरतन रूपी नौका पार नहीं लग सकती है। भजन "गुरु बिनु पन्थ दुहेलरा, कैसे उतरब पार। सत की नैया सिरजावल हो, सुकृत करुआर। गुरु की शब्द कडिहरिया हो, खेइ उतरब पार" ॥ १५२ ॥

[1] पाठा ब, ङ, साहु से भौ चोरी।

जाना नहिं बूझा नहीं, समुझि किया नहिं गौन।
अंधे को अंधा मिला, राह बतावै कौन ॥१५३॥

टीका—सद्गुरु से सन्मार्ग को नहीं जाना-बूझा, और समझ कर उस पर गमन भी नहीं किया। बात यह हुई कि, अज्ञानी शिष्य को अज्ञानी ही गुरु मिल गया। इस प्रकार अंधे को अन्धा ही मिल गया तो रास्ता कौन बतलावे ? (सत्योपदेश कौन दे ?)। भावार्थ—पूरे गुरु के बिना पूरा बोध नहीं होता है ॥१५३॥

जाका गुरु है आंधरा, चेला काह कराय।
अंधे अंधा पेलिया, दोऊ कूप पराय ॥१५४॥

टीका—जिसका गुरु अन्धा है अर्थात् अज्ञानी है, तो बेचारा चेला क्या करे ?। क्यों कि, जो अन्धा दूसरे अन्धे को आगे चलाता है, तो अन्त में वे दोनों ही अन्धे कूएं में गिर जाते हैं। भाव यह है कि, अज्ञानी गुरु शिष्य के अज्ञान का निवृत्ति नहीं कर सकता है ॥१५४॥

लोगों[1] केरि अथाइया, मति कोइ पैठो धाय।
एकहिं षेते चरतु हैं, बाघ गधेरा गाय ॥१५५॥

शब्दार्थ—अथाइया = पंचायती चबूतरा या बैठका।

टीका—अज्ञानी लोगों की बैठक में कोई दौड़ कर मत घुसो; क्यों कि, उनके यहां तो बाघ, गदहा और गाय; ये सब एक ही खेत में चरते हैं। [सूचना—यह आधी साखी कहावत है। जैसे कि, 'सब घान बाईस पसेरी' हैं।] भावार्थ—'अरतिर्जनसंसदि'। (गीता)। अर्थात् ज्ञानी जन प्राकृत लोगों की सभा से प्रेम न करें। इसके अनुसार दुर्जनों की संगति न करो; क्यों कि, उनको गुणावगुण का विवेक नहीं होता है ॥१५५॥

१ पाठा०—ट, ठ, मानुषकी।

चारि मास घन बरसिया, अति अपूर्व जल नीर ।
पहिरे जड-तर बषतरी, चुभै न एको तीर ॥१५६॥

शब्दार्थ—वषतर = कवच ।

टीका—जिस प्रकार वर्षा ऋतु के चार महिनों में मेघ खूब ही पानी बरसाता है । इसी प्रकार अपूर्व वचन-बाणों की गुरु ने अत्यन्त ही वर्षा की; परन्तु शिष्य के हृदय में एक भी वचन-बाण नहीं लगा । क्यों कि, वह मूर्खता का कवच पहने हुए है । भावार्थ—वर्षा ऋतु को तरह निरंतर वचन-बाणों की वर्षा करते रहने पर भी मूर्खों के हृदयों में एक भी बात नहीं गड़ती है; क्यों कि, वे जड़ता का मजबूत बखतर (कवच) पहने रहते हैं ॥१५६॥

गुरु की भेली जिउ डरे, [1]काया सींचनहार ।
कुमति कमाई मन बसे, लागि जु वाकी लार ॥१५७॥

शब्दार्थ—भेली = साथ, संग ।

टीका—अपने शरीर को ही सींचनेवाला जीव अर्थात् अपनी ही देह का दास बना हुआ शिष्य गुरु के साथ रहने से डरता है । अर्थात् गुरु की सेवा से जी चुराता है । क्यों कि, कुमति की कमाई (प्रयत्न) उसके मन में बसी हुई है और वही उसके साथ लगी हुई है । भावार्थ—देह के दास गुरु की सेवा से (कुमतिवश) भागते रहते हैं ॥१५७॥

तन संसय मन सोनहा, काल अहेरी नित्त ।
एकै डांग बसेरवा, कुसल पूछौ का मित्त ॥१५८॥

शब्दार्थ—डांग = जंगल ।

टीका—शरीर रूपी खरगोस है और उसके पीछे दुष्ट मनरूपी कुत्ता और मृत्युरूपी शिकारी सदैव लगा हुआ है । और इन सबों का संसाररूपी एक ही जंगल में निवास है । ऐसी स्थिति में हे मित्र! क्या कुशलता पूछते हो ? ।

१ पाठा०—ग, क, छीजन ।

भावार्थ—अज्ञानी नररूपी खरगोश को मनरूपी कुत्ता और मृत्युरूपी शिकारी घेरे रहते हैं ।। १५८ ।।

साहु चोर चीन्है नहीं, अंधा मति का हीन ।
पारष बिना बिनास है, करु विचार होहु भीन ।।१५६।।

शब्दार्थ—होहु = हो जाओ । भीन = अलग ।

टीका—बुद्धि से हीन मनुष्य एक प्रकार का अन्धा होता हैं, जो कि साहु और चोर को नहीं पहिचानता है । अर्थात् संत और असंत, सार और असार का विवेक नहीं रखता है । अतएव विवेक के बिना विनाश हो जाता है । इसलिये सार और असार का विचार करो; और असार से अलग हो आओ ।। १५६ ।।

गुरु सिकलीगर कीजिये, मनहि मस्कला देय ।
सब्द-छोलना छोलि के, चित दरपन करि लेय ।।१६०।।

शब्दार्थ—मस्कला = सिकलीगर का वह औजार, जो कि घोड़े के नाल की तरह होता है । छोलना=वह औजार जिससे कि, सिकलीगर तलवार आदि के जंग (काठ) को छीलता है ।

टीका—ऐसे गुरु को धारण करना चाहिये, जो कि सिकलीगर के समान हो । क्यों कि वह शिष्य के मनरूपी तलवार पर लगे हुये मैल को मस्कला देकर दूर कर देता है । और उस पर लगे हुये विकाररूपी जंग को सद्‌पदेश के छोलने से छोल देता है । इस प्रकार शिष्य के चित्त को वह दर्पण के समान बना देता है भावार्थ-सिकलीगररूपी गुरु सदुपदेश से विकारों को दूर करके शिष्य के चित्त को दर्पण (निर्मल) बना देते हैं । " शिष्य खांडा गुरु मसकला, चढ़े शब्द खरसान । शब्द सहे सनमुख रहे, निपजे शिष्य सुजान" ।। १६० ।।

मूरष के समुझावते, ग्यान गांठि का जाय ।
कोइला न होय न ऊजरा, सौ मन साबुन लाय ।।१६१।।

टीका—मूर्ख को उपदेश देने से तो अपनी गांठ का (पल्ले का)

ज्ञान भी चला जाता है। अर्थात् ज्ञान देना व्यर्थ हो जाता है। क्यों कि, सौ मन साबुन के लगा देने पर भी कोयला उजला नहीं होता है। भावार्थ दुराग्रही (हठी) को ज्ञान नहीं हो सकता है। "फूलै फलै न बेत यद्यपि सुधा बरसहिं जलद ! मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलैं विरंचि सम" ॥ (रामायण) ॥ १६१ ॥

मूढ़ करमिया मानवा, नष-सिष पाषर आहि ।
बाहनहारा का करे, जो बान न लागे ताहि ॥१६२॥

शब्दार्थ–पाषर = लोहे का कवच ।

टीका–मूर्खता के कर्म करनेवाला उक्त मूढ़ नर नख से शिखा तक मानों लोहे का कवच पहने हुये है। अतः उपदेशरूपी बाण उसको छूने भी नहीं पाते हैं। इसमें बाण चलानेवाले (गुरू) का क्या दोष है ? ॥१६२॥

सेमर केरा सूगना, छिवलै बैठा जाय ।
चोंच संवारे सिर धुने, या वाही को भाय ॥१६३॥

टीका–अन्योक्ति सेमर के पेड़ से ठगाया हुआ सुग्गा पलास के पेड़ पर जा बैठा। वहां बैठ कर वह चोंच को संवारता है। और शिर को धुनता है कि, यह भी उसी का (सेमर का) भाई है। अर्थात एक वञ्चक के फन्दे से निकल कर दूसरे वञ्चक के फन्दे में फँस कर अज्ञानी पश्चाताप करता है कि, यह भी वैसा ही है। भावार्थ-घर छोड़ा और मठ बनाया; एक प्रपञ्च से निकले और दूसरे प्रपञ्च में पड़ गये ॥ १६३ ॥

सेमर सुगना बेगि तजु, तेरी घनो बिगुरची पांष ।
ऐसा सेमर सो सेव, जाके हिृदया नाहीं आंष ॥१६४॥

टीका–अन्योक्ति -हे सुग्गे ! इस सेमर को जल्दी से छोड़ दें; क्यों कि, इसकी रुई के लग जाने से तेरे पांखों में भारी खराबी आ जायेगी। ऐसे सेमर की तो वही सेवा करता है, जिसके हृदय में आंख (विवेक) नहीं है। भावार्थ–असार माया-प्रपञ्च को जल्दी छोड़ो ॥ १६४ ॥

सेमर सुगना सेइया, दुई ढेंढी की आस ।
ढेंढी फूटि चटाक दे, सुगना चला निरास ॥१६५॥

शब्दार्थ—ढेंढी = सेमर के पक्के फल । सुगना = सुग्गा (जीवात्मा) ।

टीका—अन्योक्ति—सिर्फ एक दो फलों के खाने की इच्छा से, अर्थात् थोड़े से सुख की इच्छा से अज्ञानी सुग्गा संसाररूप सेमर की सेवा करता है । परंतु वृद्धावस्था के आने पर जब अंत में उस सेमर की ढेंढी चट करके फूट जाती है । अर्थात् स्वार्थी संगी-साथियों का स्वार्थ प्रगट हो जाता है तो अज्ञानी सुग्गा निराश हो जाता है । और निराशा में ही सदा के लिये चल बसता है ॥१६५॥

लोग भरोसे कवन के बैठि रहे अरगाय ।
जियरहिं लूटत जम फिरे, जस मेंढेहि लूटे कसाय॥१६६॥

शब्दार्थ—मेंढा = भेड़ा ।

टीका—अज्ञानी लोग किस (ईश्वर-परमात्मा) के भरोसे अलग होकर हाथ पर हाथ धर कर बैठ गये हैं ? अर्थात् प्रयत्न से शून्य हो गये हैं ? ऐसे आलसी जीवों को तो यमराज ऐसे लूटता है कि, जैसे मरे हुए भेड़े को कसाई लूट खाते हैं । भावार्थ—'उद्धरेदात्मनात्मानम्' । (गीता) । इसके अनुसार अपना कल्याण अपने ही आचरणों पर निर्भर है ॥१६६॥

जानि बूझि जड हो रहे, बल तजि निरबल होय ।
कहैं कबीर ता संत का, पला न पकरे कोय ॥१६७॥

टीका—जो समझ-बूझ कर जड़वत् हो जाता है । अर्थात् बिना पूछे बक-बक नहीं करता है, और बल को छोड़ कर निर्बल बन जाता है । अर्थात् शक्ति का दुरुपयोग नहीं करता है । कबीर साहेब कहते हैं कि, जो ऐसे संत होते हैं उनका पल्ला कोई नहीं पकड़ता है । (मुहावरा) अर्थात् उनको कोई किसी कार्य में दोषी नहीं बना सकता है । भावार्थ—'जडवल्लोकमाचरेत्' । अर्थात् संसारी लोगों के सामने संतों को जडवत् ही रहना चाहिये । इसके अनुसार सर्वथा अहंकार-रहित और परम उदास रहना संतों के लक्षण हैं ॥१६७॥

हीरा सोइ सराहिये, जो सहै घनन की चोट।
कपट कुरंगी मानवा, परिषत निकरा षोट ॥१६८॥

[सूचना—ऐसी प्रसिद्धि है कि, असली हीरा घन की चोट खाने पर भी नहीं टूटता है।]

टीका—अन्योक्ति—वही हीरा प्रशंसा के योग्य है; जो कि, लोहे के घनों की चोटों को सहता है और टूटता नहीं है। देखो, कपटी और झूठा प्रेमी वह मनुष्य है, जो कि परीक्षा करने पर खोटा (झूठा) निकल जाता है। भावार्थ—अनेक यातनाओं के उपस्थित होने पर भी जो अपने निश्चय से विचलित नहीं होते हैं, वे ही नर 'रत्न' हैं ॥१६८॥

हरि हीरा जन जौहरी, सभन पसारी हाट।
जब आवे जन जौहरी, तब हीरों की साट ॥१६९॥

शब्दार्थ—साट = लेन-देन और कीमत।

टीका—हरि हीरा है और भक्त-जन जौहरी हैं। और सबोंने उसका बाजार फैला रक्खा है। अर्थात् हरि-हाट खोल रखी है, और मुक्ति का सौदा बेच रहे हैं। परन्तु जब विवेकी जनरूपी जौहरी आवेंगे तभी हीरों का मोल-तोल और कीमत लगेगी कि, कौन हीरा सच्चा है और कौन झूठा है? भावार्थ—विवेकी ही हरि-पद की खोज करते हैं ॥१६९॥

हीरा तहां न षोलिये, जहं कुंजरों की हाट।
सहजे गांठि बांधि के, लगिये अपनी बाट ॥१७०॥

टीका अन्योक्ति—जहां साग बेचनेवालों का बाजार हो, वहां हीरे को नहीं खोलना चाहिये। किन्तु वहां तो उसे अपनी गठरी में बांध कर धीरे से अपने रास्ते लग जाना चाहिये। भावार्थ—अविवेकियों को गूढ तत्त्व का उपदेश देना व्यर्थ है ॥१७०॥

हीरा परा बजार में, रहा छार लपटाय।
मूरष था सो बहि गया, कोइ पाराष लिया उठाय ॥१७१॥

---

१ पाठा०—ट, ठ, जब जनआवे पारषू। २—ड, ढ, ग, देषिये षाटी हाट।

टीका—अन्योक्ति—हीरा बाजार में पड़ा हुआ है और धूर में लिपटा हुआ है। जो मूर्ख था वह तो उसे ठुकरा कर आगे बढ़ गया; किन्तु जो पारखी (विवेकी) था उसने उसे उठा लिया। भावार्थ—प्रपञ्च-पङ्क में सने हुए आत्म-रत्न को विवेकी लोग विचार-वारि से धोकर सुरक्षित कर लेते हैं ॥१७१॥

हीरों की ओवरी नहीं, मल्यागिर नहिं पांति।
सिंहोंके लहँड़ा नहीं, साधु न चले जमाति ॥१७२॥

शब्दार्थ—ओवरी = कोठी और तहखाना। लहँड़ा = झुण्ड।

टीका—हीरों की कोठी और तहखाना नहीं होता है; और मलयागिर चन्दन की कतार (जंगल) भी नहीं होती है। और सिंहों का झुण्ड नहीं होता है। इसी प्रकार सन्त-जन जमात के जमात नहीं चलते हैं। अर्थात् इनका भी झुण्ड नहीं होता है। भावार्थ—सच्चे साधु विरले हैं। "शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे। साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने वने" ॥१७२॥

अपने अपने सिरोंका, सभनि लीन्ह है मान।
हरि की बात दुरंतरी, परी न काहू जान ॥१७३॥

शब्दार्थ—दुरंतरी = बहुत दूर रहनेवाली।

टीका—सबों ने अपने भिन्न-भिन्न इष्ट मान लिये हैं। किन्तु सर्वेश और सर्वान्तर्यामी हरि की बात (भेद) तो बहुत ही दूर रह गई। वह किसी को समझ में नहीं आई। भावार्थ—सब अपने अपने मतों को पुष्ट करते हैं। परंतु तत्त्व-मत को कोई नहीं बताता है ॥१७०॥

हाड़ जरैं जस लाकड़ी, केस जरैं जस घास।
कबीरा ज॰ राम-रस, जैसे कोठी जरै कपास ॥१७४॥

टीका—मृत शरीर की हड्डियाँ लकड़ी की तरह जलती हैं। और उसके केस घास की तरह जलते हैं। किन्तु राम के रस से भींजे हुये कबीरा = राम-वियोगी जन तो जीतेजी भीतर ही भीतर ऐसे जलते रहते हैं, जैसे कि, कोठी में रखा हुआ कपास धीरे धीरे जलता है। भावार्थ—राम-वियोगी (प्रेमी) प्रेमाग्नि से कपास की तरह धीरे धीरे जलते रहते हैं ॥१७४॥

घाट भुलाना बाट बिनु, भेष भुलाना कान।
जाकी मांडी जगत्र में, सो न परा पहिचान ॥१७५॥

शब्दार्थ—कान = मर्यादा और बड़ाई।

टीका—रास्ते के नहीं मिलने से घाट भूला गया, और भेख—धारी संत लोग अपने अपने भेष की बड़ाई और मान—मर्यादा में भूल गये। किन्तु जिसकी मांडी (मांड) जगत में फैली हुई है वह पहिचानने में नहीं आया। भावार्थ—सत्य मार्ग के न जानने से निजपद को भूल गये। और भेषधारी अपने अपने भेष की मर्यादा में भूल गये। अतः जिसकी यह तुच्छ माया फैली हुई है उसको न पहचान सके ॥१७५॥

मूरष से का बोलिये, सठ से काह बसाय।
पाहन में का[1] मारिये, चोषा तीर नसाय ॥१७६॥

टीका—मूर्ख से क्या बोलना चाहिये? और शठ के आगे क्या वश चलता है?। और पत्थर में तीर क्या मारना चाहिये?। क्यों कि, उसमें मारने से तो तीखा तीर भीं नष्ट हो जाता है ॥१७६॥

जैसे गोली गुमुज की, नीच परी ठहराय।
तैसा ह्रिदया मूरषका, सब्द नहीं ठहराय ॥१७७॥

शब्दार्थ—गुमुज = मंदिर का गोलाकार गुम्मज।

टीका—जैसे गुम्मज पर रक्खी हुई गोली (खेलने की गोली) लुढ़क कर नीचे गिर जाती है; मूर्ख का हृदय भी वैसा ही है, जिसमें कि सत्य शब्द नहीं ठहर सकता है। भाव यह है कि, जैसे मंदिर आदिकों के शिखर पर (खेलने की) गोली नहीं टिक सकती है। ठीक, इसी प्रकार अभिमानोन्नत मूर्खों के हृदयों में ज्ञान-रत्न नहीं ठहर सकता है ॥१७७॥

ऊपर की दोऊ गईं, हियहुकी गईं हिराय।
कहहिं कबीर जाकी चारिउ गईं, ताको काह उपाय ॥१७८॥

---

१ पाठा०--ज, भ, के मारते।

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, जिस मूर्ख की ऊपर की अर्थात् बाहर की दोनों आंखे चली गई हैं। अर्थात् जो व्यवहार दृष्टि से अच्छे पुरुषों की देखा-देखी भी किसी शुभ कार्य को नहीं करता है और जिसके हृदय की दोनों आंखें (विवेक और विचार) भी चली गई हैं। अर्थात् अपने विचार से भी शुभ कार्य को नहीं करता है। इस प्रकार जिसकी चारों ही आंखें चली गई हैं; उसके आगे किसका वश चल सकता है ? भावार्थ—अच्छे पुरुषों की देखा देखी भी शुभ कार्य को करना अच्छा है। और अपने विचार से करे तो और भी अच्छा है। परन्तु अज्ञानी नर तो व्यवहार-दृष्टि और विवेक—दृष्टि से शून्य होते हैं ॥ १७८ ॥

केतिक दिन ऐहूं गये, अनरूचे का नेह।
ऊसर बोय न ऊपजे जो घन बरसे मेह ॥१७६॥

टीका—मन मुटाववाले के साथ प्रेम करने से कितने ही दिन यों ही चले जाते हैं। अर्थात् बहुत सा समय व्यर्थ चला जाता है। क्यों कि, ऊसर भूमि में अन्न के बोने से वह नहीं उत्पन्न होता है। चाहे भारी से भारी घटा कितना ही पानी बरसाये ॥ १७६ ॥

में रोवौं एहि जगत्र को, मोको रोवै ना कोये।
मोको रोवै सो जना, जो सब्द विवेकी होये ॥१८०॥

शब्दार्थ—रोवै = प्रेम करना।

टीका—मुहावरा—कबीर साहेब कहते हैं कि, मैं इस जगत के लिये रोता हूं। अर्थात् दुःखी होकर बार बार उपदेश करता हूं। परंतु मुझको कोई नहीं रोते हैं। मुझको तो वही प्रेमी जन रोवेगा; जो कि, मेरे शब्द (उपदेश) का विवेकी होगा ॥ १८० ॥

साहब साहब सभ कहै, मोहि अंदेसा और।
साहब सों परिचै नहीं, बैठोगे केहि ठौर ॥१८१॥

टीका—सब कोई 'साहब-साहब' और 'भगवान-भगवान' की रट लगाते

हैं; परंतु मेरे हृदय में तो और ही बात का खटका है। हे भाइयो ! आप लोगों का तों 'साहब' से (सर्वभूत हृदय-निवासी परमात्मा से) परिचय ही नहीं है, तो फिर आप लोग किस जगह जाकर बैठोगे ? अर्थात् कहां पहुंचोगे ? भावार्थ–"बिन देखे बिन अरस परस बिनु, नाम लिये का होई।

धन के कहे धनिक जो होवै, निर्धन रहे न कोई" ॥ १८१ ॥

जाव[1] बिना जीव ना जीव, जीवका जीव अधार।
जीव दया करि पालिये, पंडित करहु बिचार ॥१८२॥

टीका–दूसरे प्राणी की सहायता के बिना जीवों का जीवन नहीं हो सकता है; क्यों कि, एक जीव का दूसरा जीव सहारा है। इसलिये हे पण्डितजी ! आप विचार करिये; और दया करके जीवों का पालन कीजिये। भाव यह है कि,-"परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा"। इसके अनुसार किसी भी प्राणी को नहीं मारना चाहिये ॥ १८२ ॥

हौं तो सभकी कही, मोको कोउ न जान।
तब भी अच्छा अब भी अच्छा, जुग जुग होउँ न आन ॥१८३॥

टीका–कबीर साहेब कहते हैं कि, मैंने सबों के हित की वार्ता को कहा है। परंतु हितोपदेशक के रूप में मुझको किसी ने नहीं पहचाना। पहले युगों में भी मैंने अच्छा उपदेश किया था, इसलिये उस समय भी अच्छा था। और इस समय भी अच्छा उपदेश कर रहा हूं, इसलिए अब भी अच्छा हूं। क्यों कि, प्रत्येक युगों में मैं दूसरा नहीं होता हूँ। किन्तु आत्म-दृष्टि से (ज्ञान रूप से) एक ही रूप का बना रहता हूं। अर्थात् आत्मा और आत्म- दृष्टि-वालों का ज्ञान सदा एक रूप ही रहता है। भावार्थ-मुक्त पुरुष सदा एकरस रहा करते हैं ॥ १८३ ॥

प्रगट कहौं तो मारिया, परदे लषै न कोय।
सहना छिपा पयार तर, को कहि बैरी होय ॥१८४॥

शब्दार्थ–सहना = खेत का रक्षक। पयार = पैरा, पोआर, पोरा।

---

[1] पाठा०--च, जीव बिना जीव बांचे नांही। छ, जीव बिना जीव जीवै नाहीं।

टीका—यदि मैं सच्ची बात को खुले रूप में कहता हूं तो सब लोग मारने दौड़ते हैं; अर्थात् अप्रसन्न होते हैं। और संकेत रूप में कहने से तो कोई जानता ही नहीं है। बात यह है कि, सर्वसाक्षी और सर्वान्तरात्मा रूप चौकीदार, पयार रूप माया और शरीर में छिपा हुआ है; इसलिये कुकर्मों से बचो। क्यों कि, वह सब कुछ देख रहा है। परंतु इस बात को कह कर कौन सबों का शत्रु बने ? क्यों कि, सच्ची बात कह देनेवाला शत्रु बन जाता है। भावार्थ—मायारूपी परदे के पीछे साक्षी पुरुष (आत्मा) खड़ा है ॥१८४॥

देस विदेस हौं फिरा, [1]मनहिं भरा सुकाल।
जाको ढूंढत हौं फिरौं, ताका परा दुकाल ॥१८५॥

शब्दार्थ—दुकाल = अकाल पर पड़ा हुआ अकाल अर्थात् दुगुना अकाल।

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, मैंने देश में और विदेश में भ्रमण किया है। परंतु सब जगह मन-मति अविवेकी लोगों का ही सुकाल है; अर्थात् वे ही सब जगह सुलभ हैं। परंतु जिस विवेकी को मैं खोजता फिरता हूं उसका तो सब जगह दुकाल ही पड़ा हुआ है, अर्थात् दुर्लभ है। (यह मुहावरा है)। भावार्थ—परम पारखी तत्त्व के वेत्ता विरले हैं ॥१८५॥

कलि षोटा जग आंधरा, सब्द न मानै कोय।
जाहि कहौं हित आपुना, सो उठि बैरी होय ॥१८६॥

टीका—'कलि' खराब युग है। और संसारी लोग अविवेकी अंधे हैं। इसलिये मेरे सत्योपदेश को कोई नहीं मानता है। देखो, जिसको मैं अपना समझ कर हितकारी उपदेश देता हूं; वही शत्रु बन कर खड़ा हो जाता है। यह कलियुग का प्रभाव है ॥१८६॥

मसि कागज छुयो नहीं, कलम धरो नहिं हात।
चारिउ जुग को महातम, कबीर मुषहि जनाई बात ॥१८७॥

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, मैंने स्याही और कागज को नहीं

१ पाठा०—त, थ, मने महं।

छुवा। और कलम को भी हाथ में नहीं पकड़ा; किन्तु चारों युगों में काम आनेवाली जो महत्व-पूर्ण वार्तायें हैं, उनका उपदेश मैंने मौखिक ही कर दिया है। भाव यह है कि, कबीर साहेब ने अपने शिक्षाप्रद वाक्यों को स्वयं लिपि-बद्ध नहीं किया है। वे तो सदैव मौखिक शिक्षा दिया करते थे ॥१८७॥

*फहम आगे फहम पीछे, फहम बायें डेरी।
फहम पर जो फहम करे, सो फहम है मेरी ॥१८८॥

शब्दार्थ—फहम = विचार।

टीका—आगे किये जानेवाले कार्यों के परिणाम का विचार करे। और पीछे किये गये कर्मों के फलों का भी स्मरण करे। और कार्यों की प्रति-कूलता और अनुकूलता तथा कार्यों के बाधक शत्रु और सहायक मित्रों का भी विचार करे। ये सब विचार लौकिक कल्याण के साधक हैं। परंतु इन सब विचारों के परे जो जीव के कल्याण (मुक्ति) का विचार है वह विचार मेरा अभिमत है। अर्थात् वह सद्गुरु का बताया हुआ विचार है। भावार्थ--लौकिक कार्यों के लिये भी विचार की बड़ी ही आवश्यकता है। और जो इसके ऊपर (पारमार्थिक) विचार है, वह सच्चा विचार है। "कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ। को वाऽहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः" ॥१८८॥

हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध।
हद-बेहद दोऊ तजे, ताकर मता अगाध ॥१८९॥

शब्दार्थ–हद = सीमा।

टीका–चातुवर्ण्य के कर्मों को ग्रहण करके उनको करनेवाले मनुष्य हैं। और उनको त्याग कर और विरक्त भेष को धारण कर किसी मत और पथ के अनुयायी हो जानेवाले साधु कहलाते हैं। और जो इन दोनों बातों से परे हो गये हैं; अर्थात् जिनका साम्प्रदायिक पक्ष और संस्कार भी छूट गये हैं उनका विचार अपार है। अर्थात् वे मत और मजहब की सीमा से पार हो गये

* छन्द 'सार'।

हैं। ऐसे महापुरुषों को ही त्रिगुणातीत कहते हैं। भावार्थ—विशेष विहित कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य कहलाते हैं। और काम्य-कर्मों के त्यागी साधु (संन्यासी) कहलाते हैं। और जो संग्रह और त्याग दोनों से रहित हैं उनका मत अगम है। "पलटू मता है सन्त का, नहि संग्रह नहि त्याग। प्रारब्ध पर छोड़ दे, लगे न ताको दाग" ॥ "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः"। अर्थात् त्रिगुणातीत महापुरुषों के लिये विधि और निषेध नहीं रहता है ॥१८९॥

समुझे की मति एक है, जिन देषा[1] सभ ठौर।
कहहिं कबीर ये बीचके, बलकहिं और कि और ॥१९०॥

शब्दार्थ—बलकहिं = क्रि० अ० बलकना, उबलना, उमड़ना, आवेश में आकर और का और बकना। उदा०—'वेद बुद्धि विद्या जाय विवस बल कही'। (तुलसी)।

टीका—सब ज्ञानियों का एक ही ज्ञान रहता है जिनने कि, सर्वत्र वर्तमान साहब को समझा है। कबीर साहेब कहते हैं कि, जो बीच के हैं अर्थात् अध-कच्चे ज्ञानी हैं वे बिना समझे कुछ और का और ही कहते हैं। उसे लोक-विशेष निवासी कहते हैं। भावार्थ—'सौ सयाने एक मत'। "अनाथ सुज्ञानी कोटिका, निश्चय निज मति एक। एक अज्ञानी के हिये, नरतत मता अनेक" ॥१९०॥

राह बिचारी का करे, जो पंथी ना चले विचारि[2]।
आपन मारग छांड़िके, फिरै उजारि उजारि ॥१९१॥

टीका—रास्ता बिचारा क्या करे! जब कि, रास्ता चलनेवाला विचार कर नहीं चले। वह तो अपने रास्ते को छोड़ कर जंगल की तरफ फिरता है। अर्थात् निज-पद को छोड़ कर अनेक देवी-देवताओं की आराधना में लग जाता है। भावार्थ—यदि मतानुयायी पूरी तरह निज-धर्मों का पालन नहीं करते हैं तो इसमें मतों और पन्थों का क्या दोष है? ॥१९१॥

---

1 पाठा०—ज, समुझा। 2 भ्र, ज, सुधारि।

मूवा है मरि जाहुगे, मुये कि बाजी ढोल।
सपन सनेही जग भया, सहिदानी रहिगौ बोल ॥१६२॥

टीका—हे अज्ञानी नर! तू पहले मर चुका है, और अब भी मर जायेगा। क्योंकि, मरने का ढोल (डङ्का) बज रहा है। अर्थात् प्रतिक्षण श्वासा क्षीण हो रही है। देखो, संसार स्वप्न का प्रेमी हो गया; अर्थात् स्वप्न की तरह चला गया। केवल सबों की बोली (वचन) की निसानी रह गई है। भावार्थ—स्वप्न की तरह सब चले गये। केवल उनकी कृतियाँ रह गई हैं। "सब चलि जैहैं ऊधो, बातें रहि जैहैं" ॥१६२॥

मूवा है मरि जाहुगे, बिन सर थोथी-भाल।
परेहु कराहल ब्रिच्छ तर, आजु मरै की काल ॥१६३॥

शब्दार्थ—कराहल = आह करना।

टीका—हे अज्ञानी नर! तू वंचकों के मिथ्या वचनरूपी बिना भाल के थोथे तीरों की मार से पहले भी मरा है। और अब भी मर जायगा। और उसी मार से संसाररूपी वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ कराह रहा है। इसलिये तू आज मर जायगा या कल मर जायगा। भावार्थ—वंचकों के निस्सार मिथ्या वचनरूपी बाणों से पराहत होकर तुम संसार-तरु के नीचे पड़े हुये क्यों कराहते हो? अब तुम नहीं बच सकते। "अब तोर होय नरक महं बासा। निसुदिन बसेउ लबारे पासा" ॥१६३॥

बोली हमरी पूरबकी, हमैं लषै नहिं कोय।
हमको तो सोई[1] लषै, जो धुर पूरबका होय ॥१६४॥

शब्दार्थ—धुर = बिल्कुल, ठीक।

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, हमारी भाषा पूरब देश की है। अर्थात् हमारा कथन सबों से पूर्व में वर्तमान आत्म-तत्त्व का है। इसलिये हमको कोई नहीं जानता है। अर्थात् हमारी भाषा को और उपदेश को कोई

[1] पाठा०--त, थ, धुर पुरबिया होय।

नहीं जानता है। हमको तो वही जानेगा जो ठेठ पूरब का होगा। भावार्थ-हमारे आत्मिक उपदेश को आत्मीय ही समझ सकता है॥ १९४ ॥

जाके चलते षंदे परा, धरती होत बेहाल।
सो सांवत घामे जरै, पंडित करहु बिचार ॥१९५॥

शब्दार्थ–षंदे=गढ्ढे। सांवत = वीर।

टीका–काल की प्रबलता का वर्णन-जिस महाबीर के चलने से पृथ्वी में गड्ढा पड़ जाता था, और धरती भी डोलने लगती थी, वह वीर मर कर धूप में जल रहा है! हे पण्डितजी! आप इसका विचार करिये। भावार्थ–जिन महावीरों के चलने से भूकम्प हो जाता था वे भी पराहत होकर धूप में पडे हुये हैं॥ १९५ ॥

पांयन पुहुमी नापते, दरिया करते फाल।
हाथन परबत तौलते, तेहि धरि षायो काल।१९६॥

शब्दार्थ—फाल = छलांग, छाल।

टीका–जो अपने पैरों से पृथ्वी को नाप डालते थे। जैसे कि, वामन भगवान। और समुद्र को भी छलांग मारकर पार हो जाते थे। जैसे कि, हनुमानजी। और पर्वतों को हाथ से उठा कर तौलते थे। जैसे कि, रावण ऐसे महावीरों को भी काल ने धर कर खा लिया; तो साधारण लोगों की क्या गिनती है? भावार्थ-शरीर के बल का अहंकार करना व्यर्थ है

नौ मन दूध बटोरिके, टिपके किया बिनास।
दूध फाटि कांजी भया, भया घृत का नास ॥१९७॥

शब्दार्थ—टिपका = बुंद, टपका।

टीका—अन्योक्ति-इकट्ठे किये हुए नौ मन दूध को एक बूंद नष्ट कर देती है। इसलिये दूध फट कर कांजी हो जाता है और घी का नाश हो जाता है। भावार्थ—जैसे तेज सिरके की एक बून्द नौ मन दूध को भी

नष्ट कर (फाड़) देती है। इसी तरह दुष्ट मन नवधा भक्ति के प्रेम को बिगाड़ देता है। अर्थात् जरा से कुसंग से सर्वनाश हो जाता है। "निमिषो एक कुसंग का, करै सिद्ध को नाश। मच्छ क्रोड़ा देखि के, सभरी बरी पचास" ॥ १९७ ॥

कितनु मनाऊं पांव परि, कितनु मनाऊं रोय।
हिंदू पूजैं देवता, तुरुक न काहू होय ॥१९८॥

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, मैं पैरों में पड़ कर कितना ही मनाऊँ; और रो-रो कर भी कितना ही मनाऊँ अर्थात् समझाऊँ; परंतु हिन्दू लोग देवताओं को पूजते रहते हैं। अर्थात् जड़ पूजा में लगे हुये हैं। और तुरुक तो किसी के सगे नहीं होते हैं। भावार्थ—हिन्दू लोग अनेक देवों की उपासना में और मुसलमान झूठे आसमानी खुदा की इबादत में भूले रहते हैं ॥ १९८ ॥

मानुष के गुन बड़ा, मांसु न आवै काज।
हाड़ न होते आभरन, तुचा न बाजन बाज ॥१९९॥

शब्दार्थ—आभरन = गहना।

टीका—मनुष्य के सद्गुण ही श्रेष्ठ हैं। उसका मांस खाने आदि के कार्य में नहीं आता है। और उसकी हड्डियों के भी गहने नहीं बनते हैं। और उसका चमड़ा बाजा बजाने के काम में नहीं आता है। भावार्थ मनुष्य के सद्गुण ही सर्वोपयोगी हैं, शरीर नहीं ॥ १९९ ॥

जो मोहिं जानै ताहि मैं जानौं, लोक बेद का कहा न मानौं ॥

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, जो मुझको जानता है; अर्थात् जो मेरा प्रेमी भक्त है, मैं भी उसी को जानता हूँ। अर्थात् दया करके उसे अपनाता हूं। इस शरणागति के कार्य में मैं लोक मर्यादा और वेद मर्यादा को नहीं मानता हूँ। और न उनके कहने पर ही ध्यान देता हूं। भावार्थ—"हरि को भजै सो हरि का होय। जाति पांति पूछै नहिं कोय"॥ "ये यथा मां प्रपद्यन्ते

तांस्तथैव भजाम्यहम् । मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः" ॥ (गीता) ॥ २०० ॥

सबकी उतपति धरती, सभ जीवन के प्रतिपाल ।
धरति न जाने आप गुन, ऐसो गुरु बिचार ॥२०१॥

टीका—सबों की उत्पत्ति धरती से है, और वही सब जीवों का पालन भी करती है । परन्तु वह धरती अपने क्षमा-गुण को नहीं जानती है । अर्थात् क्षमा को अमल में नहीं लाती है । ऐसा क्षमा-गुण तो गुरु का विचार है । अर्थात् गुरु क्षमा-शील होते हैं । भावार्थ—ऐसे गुरु बनना चाहिये, जो पृथ्वी से भी अधिक क्षमा-शील और स्थिर-चित्त हों ॥२०१॥

❀धरती जो जानति आप गुन, कधी न होती डोल ।
तिल तिल गरुई हो रहती, होती [1]हीरोकी मोल ॥२०२॥

टीका—यदि धरती अपने क्षमा-गुण को जानती और उसे व्यवहार में लाती तो वह कभी नहीं हिलती । अर्थात् भूकम्प कभी नहीं होता; क्यों कि, वह तो तिल-तिल भर बढ़ कर भारी हुई होती इसलिये उसकी ठीक-ठीक हीरों की पूरी कीमत होती । भावार्थ—पृथ्वी यदि पूरी तरह अपने धर्मों का पालन करती तो वह मुक्तात्माओं की तरह सदा अविचल बनी रहती ॥२०२॥

जहिया किरतम ना हता, धरती हतीं न नीर ।
उतपति परलय ना हता, तबकी कहैं कबीर ॥२०३॥

टीका—जिस समय संसार की रचना नहीं थी, न धरती थी, और न पानी ही था । और उत्पत्ति तथा प्रलय भी नहीं था । कबीर साहेब उस समय में भी वर्तमान आत्म-तत्त्व का कथन करते हैं । भावार्थ कबीर साहेब ने आदि धर्म का (आत्म-धर्म का) उपदेश दिया है ॥२०३॥

जहां बोल तहां अच्छर आया, जहां अच्छर तहां मनहिं दिढाया ।
बोल अबोल एक है सोई, जिन यह लषा सो बिरला होई ॥

❀ छन्द 'दोही'

[1] पाठा०—च, म, ठीकों ।

टीका-जहां कथन है वहां अक्षरों की प्रतीति होती है। और जहां अक्षर हैं वहां मन दृढ होता है, अर्थात् संकल्प होता है। किन्तु जो बोलने की स्थिति में अर्थात् अक्षर में और नहीं बोलने की स्थिति में अर्थात् निरक्षर में भी समान रूप से वर्तमान है, वही आत्म-तत्त्व है। जिसने इसको जाना है वह कोई विरला होता है। भावार्थ–क्षर, अक्षर और निरक्षर; इन तीनों के तत्त्व को खुब समझ लेना चाहिये। भूतों को और उनकी रचना को क्षर और जीवात्मा को अक्षर कहते हैं (अक्षर के दो अर्थ हैं, वर्ण और जीवात्मा)। इन दोनों से परे "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" इसके अनुसार (सर्जन, पालनादि करनेवाला) निरक्षर 'ईश्वर' है। जिस प्रकार बोलने और नहीं बोलने से वर्णों के अक्षर और निरक्षर व्यपदेश होते हैं। इसी प्रकार एक ही चेतन की जीवता और ईशता भी सोपाधिक है। फलतः निरुपाधिक 'तत्त्व' (केवल शुद्ध चेतन) उक्त तीनों से परे है। अतः उसके साक्षात् होने पर अर्थात् तीनों को जानने-वाला तीनों से परे है। ऐसा बोध हो जाता है। "बोल अबोल एक है सोई" इस प्रकार दृढ़ निश्चय हो जाता है। "क्षर अक्षर निहअक्षर सारा, ताके आगे वस्तु अपारा"। (बड़ा सन्तोषबोध)। "अलख लखौं अलखे लखौं, लखौं निरंजन तोहि। मैं कबीर सबको लखौं, मो को लखै न कोय" ॥२०४॥

तौं लगि तारा जगमगैं, जौं लगि उगै न सूर।
तौं लगि जीव करम बस डोलै, जौं लगि ग्यान न पूर ॥२०५॥

टीका—तभी तक तारे जगमगाते हैं, चमकते हैं जबतक सूर्य नहीं उगता है। और तभी तक जीवात्मा कर्मों के वशीभूत होकर संसार में भट-कता है; जबतक कि उसे पूरा आत्म-ज्ञान नहीं हो जाता है। भावार्थ–"जीवो वै प्राणधारणात्" इसके अनुसार कर्म-परतंत्र सोपाधिक चेतन की जीव संज्ञा है ॥२०५॥

नाम न जाने गाँवका, भूला मारग जाय।
काल गड़ेगा कांटवा, अगमन कसन धुराय ॥२०६॥

शब्दार्थ—धुराय = सावधान, सतर्क, पैर बचाकर चलना।

टीका—जो गांव का नाम नहीं जानता है, वह उसके रास्ते को जरूर भूल जायेगा। और रास्ते को भूल जाने से उसके पैरों में कल कांटे गड़ेंगे। इसलिये वह पहले से ही पैर बचा कर क्यों नहीं चलता है? अर्थात् पहले से ही सावधानी क्यों नहीं रखता है? दूर-दूर लोकों में ले जानेवालों से सावधान रहो ॥२०६॥

संगति कीजै साधुकी, हरै अवर की बियाधि।
ओछी संगति कूर की, आठौ पहर उपाधि ॥२०७॥

टीका—संतों की संगति करनी चाहिये, जोकि दूसरे की व्याधि (कष्ट) को दूर करते हैं। और दुष्ट की संगति खराब होती है। जिसमें कि, आठों पहर (सदैव) उपाधि (बखेड़ा) लगी रहती है। भावार्थ–संतों की संगति सुखदायी और दुष्टों की दुःखदायी होती है ॥२०७॥

संगति से सुष ऊपजे, कुसंगति ते दुष होय।
कहंहि कबीर तहां जाइये, जहां अपनी संगति होय ॥२०८॥

टीका—संगति से सुख उत्पन्न होता है, और कुसंगति से दुःख होता है। कबीर साहेब कहते हैं कि, वहां जाना चाहिये, जहां कि अपनी संगति मिले। अर्थात् आत्मीय तत्त्व के वेत्ता महात्मा मिलें ॥२०८॥

जैसी लागी ओर की, वैसे निबहे छोर।
कौड़ी कौड़ी जोरिके, जोरै लच्छ करोर ॥२०६॥

टीका—साधु-संगति में जैसे आदि से प्रीति लगी है, यदि अंत तक वैसे ही निभ जाय तो उसका जीवन सफल हो जाता है। क्यों कि, जो एक-एक कौड़ी को जोड़ता है, संग्रह करता है, वह लाखों, करोड़ों रुपयों को जोड़ लेता है। भावार्थ–प्रतिदिन ही कुछ न कुछ धर्म का संचय अवश्य करना चाहिये। "क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्" अर्थात् विद्या के अर्जन में एक-एक क्षण का सदुपयोग करो और द्रव्य के सञ्चय के लिये एक भी कण को व्यर्थ न खोओ। "कौड़ी कौड़ी जोरि के, निधन होत धनवान।
अक्षर अक्षर के पढ़े, मूरख होत सुजान" ॥२०६॥

आजु काल दिन कैक में, अस्थिर नाहिं सरीर।
[1]केतिक दिन नल राषिहो, कांचे बासन नीर ॥२१०॥

टीका—किसी का शरीर सदा के लिये स्थिर नहीं रह सकता है। चाहे वह आज चला जाय या कल चला जाय। चाहे कितने दिनों में चला जाय; परंतु वह रहेगा नहीं। कबीर साहेब कहते हैं कि, कच्चे बर्तन में पानी भर कर कैसे रक्खोगे? वह तो उसे तोड़ कर बह जायगा। इसी प्रकार जीवात्मा भी शरीर को छोड़ कर चला जायगा। "काचे बासन टिकै न पानी, उडि-गौ हंस काया कुम्हिलानी" ॥२१०॥

बहु बंधन ते बांधिया, एक बिचारा जीव।
की छूटै बल आपने, की छोडावे पीव ॥२११॥

टीका—बेचारा एक जीवात्मा बहुत से बन्धनों से बन्धा हुआ है अर्थात् अनेक प्रकार के संशय और भ्रम इसको लगे हुए हैं। ऐसी स्थिति में या तो यह अपने बुद्धिबल (विवेक-विचार) से छूट सकता है, या इसको इसके स्वामी सद्गुरु साहब छुड़ाते हैं। "आत्मबुद्धिः सुखायैव, गुरुबुद्धि-र्विशिष्यते। परबुद्धिर्विनाशाय स्त्रीबुद्धिः प्रलयावहा" ॥ [अपनी विवेकबुद्धि सुख देनेवाली होती है। और गुरु की बुद्धि (उपदेश) तो और भी सुख देने वाली होती है। किन्तु दूसरे (दुष्ट) की बुद्धि नाश कर देती है और स्त्री की बुद्धि में पड़नेवाले का तो प्रलय हो जाता है; अर्थात् सब चौपट हो जाता है।] ॥२११॥

जिव जनि मारहु बापुरा, सभ का एक प्रान।
हत्या कबहुं न छूटि हैं जो कोटिन सुनहु पुरान ॥२१२॥

टीका—बेचारे जीवों की हिंसा मत करो; क्यों कि, सबों के भीतर प्राण एक ही समान हैं। और वह सबों का प्यारा है। देखो, जीवों की हत्या (पाप) कभी नहीं छूटती है। उसको छुड़ाने के लिये चाहे कोटि-कोटि पुराण क्यों

1 पाठा०—प, फ, कहंहिं कबीर कस।

न सुन डालो । भावार्थ—"आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पश्यति" । (गीता) । जो अपनी आत्मा के समान ही सब प्राणियों को देखता है, वही ठीक देखता है ॥२१२॥

जीव घात ना कीजिये, बहुरि लेत वै कान ।
तीरथ गये न बांचि हौ, जो कोटि हिरा देहु दान ॥२१३॥

शब्दार्थ–कान = आत्म-गौरव (बदला) ।

टीका–हे भाइयो ! जीवों का घात मत करो; क्यों कि, वे मरे हुए जीव दूसरे जन्म में बदला लेते हैं । और जीव-हिंसा को छुड़ाने के लिये तीर्थयात्रा करने पर भी तुम नहीं बचोगे । चाहे वहां जाकर तुम करोड़ों हीरों का दान क्यों न दे डालो ! ॥२१३॥

तीरथ गये तीन जन, चित चंचल मन चोर ।
एकौ पाप न काटिया, लादिनि मन दस और ॥२१४॥

टीका–चंचल चित्तवाला, चंचल मनवाला और चोरी करनेवाला; ये तीन मनुष्य पाप छुड़ाने के लिये तीर्थों में गये; परंतु वहां तो इनका एक पाप भी नहीं कटा; बल्कि दस मन पाप वहां से और भी लाद कर ले आये । भावार्थ–मलिन चित्तवाले को तीर्थों में जाने से भी कोई लाभ नहीं होता है । इसलिये तीर्थों में जावे चाहे न जावे, परन्तु हृदय को शुद्ध बनावे । "मन चङ्गा तो कठौती में गंगा" यह कहावत प्रसिद्ध है ॥२१४॥

तीरथ गये ते बहि मुये, जूडे पानि नहाय ।
कहंहिं कबीर सुनो हे संतो, राच्छस होय पछिताय ॥ २१६॥

टीका–जो दुरात्मा लोग तीर्थों में गये, वे वहां केवल ठण्डे पानी में नहाये और वहां किये हुए अपने पापों की धारा में बह कर मर गये। कबीर साहेब कहते हैं कि, ऐसे पापी राक्षस होते हैं, और दुःखों को भोग-भोग कर पछताते हैं । भावार्थ–ऐसे दुरात्मा जो-जो मनुष्य तीर्थों में जाते हैं, वे वहां केवल अत्याचार करने के कारण मर कर या जीते जी राक्षस बन जाते हैं ।

"व्रत करी भूखा मरे, नहाया मरे सीयां, राघो चेतन यूं कहे, धर्म होसी दीयां" ॥२१५॥

तिरथ भई बिष बेलरी, रही जुगन जुग छाय।
कबिरन मूल निकंदिया, कोन हलाहल षाय ॥२१६॥

शब्दार्थ—निकंदिया = उखाड़ना।

टीका—ऐसे पापी लोगों के लिये तीर्थ भी जहर की बेल बन गई है; जो कि, कई युगों से फैली हुई है। इन अज्ञानी पापियों ने तो अपने हाथ से जहर-कन्द को खोदा है, तो भला, वे उस पाप के फलरूप जहर को क्यों नहीं खायेंगे ? भावार्थ—कुकर्मी लोग तीर्थों में भी जाकर या रह कर सदैव कुकर्म किया करते हैं। अतः उनके लिये तीर्थ-भूमि भी जहरीली बेल बनी हुई है। फलतः अपने खोदे हुये जहर-कंद को स्वयं खाते हैं। "यः कर्ता स एव भोक्ता"। [सूचना—मूर्खों का यह अंध विश्वास है कि, घोरातिघोर दुष्कर्म भी केवल तीर्थ-स्नान मात्र से मुक्त हो जाता है। इस अज्ञानता को दूर करते हुए पुण्यधामों के सदुपयोग के लिये तीर्थों के विषय में कबीर गुरु ने अपने शुभ विचार प्रगट किये हैं। "ताकर जो किछु होय अकाज, ताहि दोष नहिं साहब लाज"। खेद है कि, इस अभिप्राय को न जाननेवाले कबीर गुरु पर मिथ्या आक्षेप करते हैं] ॥२१६॥

ये गुनवंति बेलरी, तोर गुन बरनि न जाय।
जहं काटे तहं हरियरी, सींचे ते कुम्हिलाय ॥२१७॥

टीका—पहेली—हे गुणवन्ती बेल ! तेरे गुण (कथा) वर्णन करने में नहीं आ सकते हैं ? क्योंकि, जैसे ही तू काट दी जाती है वैसे ही तू हरी-भरी हो जाती है। और सींचने से तो तू कुम्हला जाती है ॥२१७॥

बेलि कुढंगी फल बुरो, फुलवा कुबुधि बसाय।
ओर बिनरटी तूमरी, सरो पात करुवाय ॥२१८॥

---

१ पाठा०—त, थ, पेड़। २—च, छ, ज, फलनी फरे।

टीका—पहेली—यह तितलौकी (कड़वी लम्बी तूम्बी) और माया का श्लिष्ट वर्णन है—मायारूपी बेल बड़ी अटपट है। और इसका फल (अज्ञान) भी बुरा है। और इसके कुबुद्धिरूप फूल भी दुर्गन्धि देते हैं अर्थात् संसार में अपयश फैलाते हैं। और यह बेल जड़ से कटी हुई है अर्थात् आत्मपद से हटी हुई है। और इसके सभी पत्ते कड़ुये हैं अर्थात् माया के भोग परिणाम में दुःखदायी हैं ॥२१८॥

पानी ते अति पातला, धूंवा ते अति झीन।
पवनहु ते ऊतावला, दोस्त कबीरन कीन ॥२१६॥

टीका—अज्ञानी लोगों ने ऐसे मन को मित्र बनाया है, जो कि पानी से भी पतला (तरल), धूंवा से बहुत बारीक और पवन से भी बहुत जल्दी चलनेवाला है। भावार्थ—ऐसे चञ्चल चित्त के संगी मिलने ही के कारण जीवात्मा की दुर्दशा है। अतएव अज्ञानी नर मन के विषम चक्र में पड़कर चूर-चूर हो रहे हैं। "चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्"। (गीता) ॥२१६॥

सतगुरु बचन सुनहु हो संतो, मति लीजै सिर भार।
हौं हजूर ठाढ कहतु हौं, अब तैं सँभार सँभार ॥२२०॥

टीका—हे सन्तो! सद् गुरू के उपदेश को सुनो। वह यह है कि, सकाम कर्मों का बोझ अपने सिर पर मत लादो। देखो, मैं तुम्हारे पास खड़ा होकर उपदेश कर रहा हूं कि, इस नरतन में तुम अपने जीवन को सम्भाल लो, सम्भाल लो; और इसमें मुक्तिरूप विजय को प्राप्त करो। भावार्थ—निरहंकार होकर निर्द्वन्द्व हो जाओ ॥२२०॥

ऐ करुआई बेलरी, औ करुवा फल तोर।
सिद्ध नाम जब पाइ हो, बेलि बिछोहा होय ॥२२१॥

[सूचना—इस साखी में कचरी बेल और माया तथा सींध (उसके पके हुए फल) और सिद्धों का श्लिष्ट (दो अर्थवाला) वर्णन है]।

टीका—अन्योक्ति—हे कड़ुयी बेल! तेरे फल भी कड़ुये हैं। और तेरी

इस बेल से (पक कर) जो अलग हो जाते हैं वे फल "सिद्ध" ऐसे नाम को प्राप्त करते हैं। भाव यह है कि, जिस प्रकार कच्ची कचरी कड़वी होती है और पकने पर बेल से अलग हो जाती है तथा सुगन्धित और मिठी हो जाती है। इसी प्रकार जहरीली स्थूल माया-वल्ली से छूटनेवाले 'सिद्ध' (सिद्धिवाले योगी) कहलाते हैं ॥२२१॥

सिद्ध भया तो का भया, चहुंदिसि फूटी बास।
अंतर वाके बीज है, फिर जामन की आस ॥२२२॥

[सूचना—यह भी साखी श्लिष्ट (दो अर्थ वाली) है]।

टीका—अन्योक्ति—ऊपर बताई हुई कचरी पक कर सींध बन गयी तो क्या हुआ ? जिससे कि, उसकी सुगन्धि चारों तरफ फैल गयी ?। लेकिन उसके भीतर तो बीज भरे पड़े हैं। इसलिये उसके फिर से जम जाने (पैदा होने) की आशा है। भाव यह है कि, जिस प्रकार उक्त सींध में बीज रहने के कारण वह फिर लतारूप में परिणत होकर कड़वी हो जाती है। इसी प्रकार सिद्धि प्राप्त हो जाने पर भी (बिना साक्षात् बोध के) वासनांकुर के कारण योग-भ्रष्ट होकर, "शुचिनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते" (गीता) के अनुसार सिद्ध हठयोगी फिर से जन्म लेते हैं। अतएव "तेन तरायाः" (योगदर्शन) अर्थात् ऋद्धि और सिद्धि मुक्ति के मार्ग में विघ्न रूप हैं। "ऋद्धि सिद्धि प्रेरै बहु भाई, बुद्धि हि लोभ देखावै जाई। होय बुद्धि जो परम सयानी, तेहि तन चितवै न अनहित जानी" ॥ (रामायण)। ज्ञात हो कि, सिद्धों की अपेक्षा संतों का पद बहुत ऊँचा है; क्यों कि, सिद्धि-बल से सिद्ध लोग संसार को हानि भी पहुँचा देते हैं। परंतु संत लोग ऐसा कदापि नहीं करते हैं।

"सिद्ध साधु बहु अन्तरा, जैसे आम बबूल।
वाकी डारी अमीफल, वाकी डारी सूल" (सद्गुरु कबीर) ॥२२२॥

परदे पानि ढारिया, संतो करहु बिचार।
सरमा-सरमी पचि मुवा, काल [1]घसीटनिहार ॥२२३॥

[1] पाठा०—च, छ, ज, घसीटहि कालह।

टीका—हे सन्तो ! इसका विचार करिये कि, वंचक गुरु परदे की आड़ में पानी गिराते हैं। अर्थात् परदे की आड़ में मन्त्रोपदेश करते हैं। इस प्रकार गुप्त मंत्र को लिये हुए वह शिष्य गुरुपरम्परा की लाज, शर्म से उस मंत्र को नहीं छोड़ता है। और पच कर मरता है। अतः अन्त में काल उसको घसीट कर ले जानेवाला है। भावार्थ—वंचकों के शिष्य गुरु-उपदेश को प्रकट नहीं करते हैं। और छोड़ते भी नहीं हैं; अतएव नष्ट हो जाते हैं ॥२२३॥

+आस्ति तो कोइ न पतीजे, बिना आस्तिका सिद्धा।
कहंहिं कबीर सुनहु हो संतो, हीरी हीरा बेधा ॥२२४॥

शब्दार्थ—आस्ति = सत्ता रखनेवाला आत्माराम। बिना आस्ति = सत्ता नहीं रखनेवाले मन और माया आदिक।

टीका—सिद्ध लोग मन और माया के अवलम्ब से सिद्ध बन गये हैं। इसलिये मैं उनको आत्मतत्व का उपदेश करता हूं तो कोई भी विश्वास नहीं करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि, हे सन्तो ! सुनो, ऐसा होने ही के कारण हीरी (हीरा की कणी) ने हीरा को बेध दिया। भावार्थ—उक्त सिद्ध योगी सिद्धि-प्राप्ति रूप अनात्मोपासना में लग गये। अतः वासना रूपी (सूक्ष्म माया रूपी) हीराकणी से हीरे की तरह वे बींध गये। अर्थात् सिद्धि रूप माया की वासना से चौरासी में चले गये ॥२२४॥

सोना सज्जन साधुजन, टूटि जुरैं सौ बार।
दुरजन कुंभ[1] कुम्हार के, एकै धका दरार ॥२२५॥

टीका—सोना, सज्जन और संत जन; ये सौ बार टूट कर भी जूट जाते हैं। परंतु दुर्जन मनुष्य कुम्हार के पके हुये घड़े के समान होता है, जो कि एक ही धक्के में दरार खा कर चूर चूर हो जाता है और फिर कभी जुटाने से भी नहीं जुटता है ॥२२५॥

काजर केरी कोठरी, बुडता है संसार।
बलिहारी तेहि पुरुषकी, जो पैठिके निकरनिहार ॥२२६॥

+ 'सार' छन्द।

१ पाठा०--ज, रू, सभा। न, ट, घर।

टीका—माया के व्यवहार रूप काजल की कोठरी में सारा संसार डूब जाता है। अर्थात् माया के व्यवहार में पड़कर संसारी लोग नष्ट हो जाते हैं। परन्तु उसी पुरुष की बलिहारी है कि, जो इसमें घुस कर बेदाग निकल जाता है। भावार्थ–जो माया के विकारों से रहित हैं वे ही महापुरुष हैं ॥२२६॥

काजर ही की कोठरी, काजर ही का कोट।
तोंदी कारी ना भई, रही जो आटहि ओट ॥२२७॥

शब्दार्थ–तोंदी=सं० स्त्री० अंगुलि का पोर (अंगुलि के आगे का हिस्सा)।

टीका–माया स्वयं काजल की कोठरी है। और उसके चारों तरफ काजल ही का कोट लगा हुआ है। परन्तु जो तोंदी (अंगुली के आगे का हिस्सा) आड ही आड में रहती है वह काली नहीं होती है। अर्थात् काले लगने के कलंक से बच जाती है। भावार्थ–आत्माकार वृत्ति माया-कलंक से बच जाती है। "काजर की कोठरी में कितनो ही सयाने जाय, काजर की एक रेख लागि है पै लागि है" ॥२२७॥

अरब षरब लों दरब है, उदय अस्त लों राज।
भक्ति महातम ना तुले, ई सभ कौने काज ॥२२८॥

टीका–जिनका द्रव्य अर्ब और खर्ब की संख्या तक पहुँच गया है। और जिनके राज्य की सीमा उदय से अस्ताचल तक पहुँच गयी है। यह सब ठाट-बाट, साज-समाज भक्ति की महिमा के साथ नहीं तुल सकते हैं। अर्थात् मुक्तिदाता नहीं हो सकते हैं, तो फिर ये सब किस काम में आनेवाले हैं ? । भावार्थ–भक्ति मुक्ति दायिनी है और भोग बन्धनकारक हैं ॥२२८॥

मच्छ बिकाने सब चले, धीमर के दरबार।
अंषियां तेरी रतनारी, तुम क्योंकरि पहिरा जाल ॥२२९॥

टीका–ये मत्स्यान्योक्तियाँ हैं–धीमर के दरबार में अर्थात् धीमरों के बाजार में सब मच्छ बिकने के लिये चले (गये)। उनको देख कर कोई मन-चला आदमी प्रश्न करता है कि, भाई मच्छ ! तेरी आँखे तो लाल लाल हैं

अर्थात् बहुत तेज हैं; फिर तुमने धीमर का जाल कैसे पहन लिया ? । भावार्थ—संसार-सागर में विहरनेवाले मूढ नर मत्स्य-यम के (कर्म या माया के) जाल में फंस जाते हैं । यह प्रश्न है ॥२२९॥

पानी भीतर घर किया, सेज्या किया पताल ।
पासा परा करीम का, ता मैं पहिरा जाल ॥२३०॥

शब्दार्थ—करीम = कर्म ।

टीका—इसका उत्तर वह मत्स्य इस प्रकार देता है कि, हे भाई ! मैंने पानी के भीतर अपना घर किया और सोने के लिये पाताल में पलंग बिछाया; परन्तु कर्मों का ऐसा पासा पड़ गया कि, जिससे मैंने यह जाल पहन लिया । सूचना—यहां पर 'करीम' से कर्म विवक्षित है, ईश्वर नहीं । 'करम का पासा डारा' (बीजक) । "कबीर कहा गरबिये, काल गहें कर केस । ना जानै कब मारि है, क्या घर क्या परदेस" ॥२३०॥

मच्छ होय नहिं बांचि हो, धीमर तेरो काल ।
जेहि जेहि डावर तुम फिरो, तहं तहं मेलै जाल ॥२३१॥

टीका—अन्योक्ति—हे अज्ञानी नर ! तू विषय-वारि का मच्छ होकर नहीं बचेगा; क्यों कि, धीमर तेरा काल है । देखो, जिन जिन डावरों में तुम फिरोगे वह वहीं जाकर अपना जाल डालेगा । भावार्थ—हे जीव ! तू नाना विषय रूपी अल्प सरोवरों (पोखरों) का मच्छ न बन । क्यों कि, काल रूपी धीमर सब जगह अपना जाल फेंकता है । दूसरा अर्थ—मीन-मार्ग को अवलम्बन करनेवाले योगियों के पक्ष में है ॥२३१॥

बिनु रसरी [1]गर सभ बंधे, तासों बंधा अलेष ।
दीन्हो दरपन हस्त में, चसम बिना का देष ॥२३२॥

टीका—सब अज्ञानी लोग बिना ही रस्सी के गले से बंधे हुए हैं । अर्थात् विषयों में मन के आसक्त होने से सब बंधन में पड़े हुए हैं । क्यों कि,

१ पाठा०—ट, ठ, ड, गृह खलक ।

उनका अलेख मन विषयों से बंधा हुआ है। सद्गुरु ने तो उनके हाथ में उपदेश ओर ज्ञानरूपी दर्पन दे दिया है। परन्तु विवेकरूप आंखों के बिना वे क्या देख सकते हैं और क्या लाभ उठा सकते हैं ? । भावार्थ—कबीर साहब कहते हैं कि, अज्ञानियों का मन बिना रस्सी के मिथ्या आशा से बंधा हुआ है। मैंने स्वरूप-परिचय के लिये ज्ञानरूपी दर्पण सबों को दिया है। परन्तु विवेक दृष्टि के बिना वे लोग अपनी आंखों से नहीं देख सकते हैं ॥२३२॥

समुझाये समुझे नहीं, पर [1]हाथ आपु बिकाय।
मैं षचत हौं आपको, चला सो जमपुर जाय ॥२३३॥

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, अज्ञानी नर समझाने से भी नहीं समझता है। क्यों कि, वह स्वयं दूसरे के हाथों में बिक रहा है। अर्थात् पर-बुद्धि में पड़ा हुआ है। मैं उसे अपनी तरफ खैंच रहा हूं। अर्थात् उपदेश देकर उसे निर्बन्ध बनाना चाहता हूं, परंतु वह तो यमपुर की तरफ चला जा रहा है। अर्थात् मेरे उपदेश का अनादर करके चौरासी का रास्ता पकड़ता है ॥२३३॥

नित षरसान लोहा घुन छूटै, नितकी गोस्टि माया मोह टूटै॥

टीका—जिस प्रकार नित्य के खरसान पर चढ़ाने से लोहे का (तलवार आकि का) जंग छूट जाता है। इसी प्रकार प्रतिदिन के सत्संग से माया और मोह के बन्धन भी टूट जाते हैं ॥२३४॥

लोहा केरी नावरी, पाहन गरुवा भार।
सिर पर बिषकी मोटरी, उतरन चाहै पार ॥२३५॥

टीका—पहेली—यह महा आश्चर्य है कि, अज्ञानी जन अज्ञानता रूपी लोहे की नौका पर एषणात्रय रूप पत्थरों का भारी बोझा लाद कर और अपने शिरों पर विषयों की भारी भारी मोटरियाँ लेकर संसार-समुद्र से पार उतरना चाहते हैं ! ॥२३५॥

---

१ पाठा०-त, थ, द, हाय हाथ बिकाय।

किसुन समीपी पंडवा, गले हिंवारे जाय।
लोहा को पारस मिले, तो काहे को काई षाय ॥२३६॥

टीका—श्रीकृष्ण के समीप रहनेवाले पांडव पापों की निवृत्ति के लिये हिमालय में जाकर गल गये। यहां पर यह बात सोचने की है कि, यदि लोहे कों पारस मिल जाय। अर्थात् लोहे से पारस छू जाय तो लोहै को जंग कैसे खा सकता है ? । भावार्थ-यदि पांडवों को परमात्म तत्त्व का यथार्थ बोध होता तो हिमालय में जाकर न गलते ॥ २३६ ॥

पूरब उगे पच्छिम अथै, भषै पवन का फूल।
ताहूको राहू ग्रासै, मानुष काहेको भूल ॥२३७॥

टीका—जो सूर्य पूर्व दिशा में उगता है और पश्चिम में अस्त हो जाता हैं। और पवन के फूलों को खाता रहता है, उसको भी राहू ग्रस लेता है; तो मनुष्य क्यों भूला हुआ है ? अर्थात् अपनी मृत्यु से क्यों निश्चिन्त रहता है ? भावार्थ सूर्य को केवल पवन का आधार है, तथापि राहू का आक्रमण उस पर सदैव हुआ करता है; तो भला, प्राणोपासक योगियों का अन्तक अन्त क्यों न करेगा ॥ २३७ ॥

नैनन आगे मन बसे, पलक पलक करे दौर।
तीनि लोक मन भूप है, मन पूजा सभ ठौर ॥२३८॥

टीका—नेत्रों के आगे मन बसता है, और प्रत्येक पल में वह दौड़ लगाता हैं। तीन लोगों का राजा मन है और सब जगह मन की पूजा होती है। अर्थात् मनःकल्पित पदार्थों की पूजा लोग करते हैं। भावार्थ-जागृत अवस्था मैं मन (निरंजन) का नेत्रों में निवास रहता है। और पल-पल में वह दौड़ता रहता है ॥ २३८ ॥

मन स्वारथी आपु रस, बिषय लहर फहराय।
मनके चलाये तन चले, ताते सरबस जाय ॥२३९॥

टीका—रसिकों का मन सारथी रूप है और वे स्वयं रथी (सवारी

करनेवाले) हैं। और उनका तन रथ है, जिसमें कि विषय की तरंग ध्वजा फहराती रहती है। मन सारथी कुमार्ग से उस रथ को ले जाता है। इस कारण जीवात्मा का ज्ञानरुपी धन छीन जाता हैं॥ २३९ ॥

कासी गति संसार की, ज्यों गाडर का ठाठ।
एक परा जेहि गाड में, सभै गाड में जात ॥२४०॥

शब्दार्थ—गाडर का ठाठ = भेंड़ों का झुंड। गाड = गढ्ढा।

[सूचना—काशी करवत प्रसिद्ध है। पहले समय में महापापों की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित के रूप में कोढी आदिक मनुष्य काशी में करवत लेकर मरते थे। और समझ लेते थे कि, इससे हमारे पापों की निवृत्ति होने से हमारी गति (मुक्ति) हो जायगी। लोगों को ऐसी भ्रान्त धारणा को निर्मूल करने के लिये कबीर साहेब ने यह साखी कही है]

टीका—संसार की काशी की गति अर्थात् "काश्यां मरणान्मुक्तिः" के अनुसार मिलनेवाली गति (मुक्ति) एक प्रकार का गड्डलिका-प्रवाह है। अर्थात् गतानुगतिक और देखा-देखी है (भेड़चाल है)। देखो, एक भेड़ किसी खड्ढे में गिर जाती है तो उसके पीछे चलनेवाली सभी भेड़ें उसी खड्ढे में जा गिरती हैं॥ २४० ॥

मारग तो अति कठिन है, तहां कोई मति जाय।
गये ते बहुरे नहीं, कुसल कहे को आय ॥२४१॥

टीका—उक्त प्रकार से काशी-करवत से मरने का रास्ता (चाल) बहुत ही दुःखदायी है। इसलिये मरने के लिये वहां कोई मत जाओ। क्यों कि, जो इस प्रकार मर कर चले गये वे वापस नहीं आये; अतः कौन वहां की कुशलता कहै कि, हमारा दुःख छूट गया है? भावार्थ-भेड़-चाल में न पड़ कर बुद्धि से काम लो॥ २४१ ॥

मारी मरे कुसंग की, केरा साथे बेर।
वे हाले वे चींषे, बिधिनै संग निबेर ॥२४२॥

---

१ पाठा०-प, फ, कैसे।

टीका—अन्योक्ति-बेर के पेड़ के साथ लगा हुआ केले का पेड़ कुसंग की मार से मर जाता है। क्यों कि, जब केले का पेड़ हिलता है, तो बेर के कांटों में लग कर केले के पत्ते चिर जाते हैं। इसलिये विघ्न के संग को हटा देना चाहिये। भावार्थ—बेर के पेड़ के पास लगे हुए केले की तरह कुसंग से मति नष्ट हो जाती है; अतः कल्याण चाहनेवालों को पहले ही सावधान रहना चाहिये ॥ २४२ ॥

केला तबहिं न चेतिया, जब ढिंग लागी बेर।
अबके चेते का भया, जब कांटन लीन्हा घेर ॥२४३॥

टीका—अन्योक्ति—केला उसी समय सावधान नहीं हो गया, जब कि उसके पास बेर का पेड़ पैदा हुआ। अब चेतने से क्या होता है? जब कि बेर के क़ांटों ने उसे चारों तरफ से घेर लिया।

भावार्थ—चिन्तनिया हि विपदामादावेव प्रतिक्रिया।
न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते वन्हिना गृहे ॥

अर्थात् विपत्ति के आने के पहले ही उसको दूर करने का उपाय सोच लेना चाहिये। क्यों कि, घर में आग लग जाने पर कुँआ खोदना ठीक नहीं होता है ॥ २४३ ॥

जीव[1] मरम जाने नहीं, अंध भया सभ जाय।
वादी द्वारे दाद न पावे, जनम जनम पछिताय ॥२४४॥

टीका—सब लोग अन्धे बनते जाते हैं अर्थात् विवेक से शून्य हो रहे हैं। क्यों कि, वे जीव के रहस्य (असलियत) को नही जानते हैं। इसलिये मतवादी प्रशंसा नहीं पाते हैं और चौरासी में पड़ कर जन्म-जन्म पछताते हैं। भावार्थ—दुराग्रही मतवादी जीव के स्वरूप को न समझ कर विवाद करते हैं; अतः वे प्रशंसा के योग्य नहीं हैं ॥ २४४ ॥

जाको सतगुरु ना मिला, व्याकुल दहुं दिसि धाय।
आंषि न सूझै बावरा, घर जरे घूर बुताय ॥२४५॥

[1] पाठा०—घ, ङ, जीवहि मरन न जाने।

शब्दार्थ—घूर = वह जगह जहां कि कचरा-कूड़ा आदि फेंके जाते हैं।

टीका—जिसको मार्ग-दर्शक सद्गुरु नहीं मिले वह व्याकुल होकर दशों दिशाओं में अर्थात् सब तरफ भटकता है। उस पागल को आंखों से नहीं सूझता है। अर्थात् वह पूरा अविवेकी है। क्यों कि, वह अपने जलते हुए घर की उपेक्षा करके रूडी (कुरड़ी) को बुझाता है। भावार्थ-हृदय त्रितापाग्नि से जलता रहता है; तथापि शारीरिक सुखों में भूले रहते हैं॥ २४५॥

वस्तु अंते षोजे अंते, क्यों कर आवे हाथ।
ग्यानी सोइ सराहिये, जो पारष राषे हाथ॥२४६॥

टीका—वस्तु कहीं और हो जगह रक्खी है और उसे प्राप्त करने के लिये कहीं दूसरी ही जगह खोज रहे हैं; तो भला, वह वस्तु कैसे हाथ आ सकती है? उसी ज्ञानी की प्रशंसा करनी चाहिये, जो कि अपने साथ विवेक (पारख) को रखता है भावार्थ-हृदय-निवासी राम बाहर ढूँढ़ने से नहीं मिल सकते हैं! ज्ञानी वही है जो विवेक से काम लेता है॥ २४६॥

*सुनिये सबकी, निबेरिये अपनी।
सेंदूरे का सिंधौरा, झपनी की झपनी॥२४७॥

शब्दार्थ—सिंधौरा=सिंदूर रखने का पात्र, सिंदूरदान। झपनी = ढक्कन।

टीका—सबके कथन को सुन लेना चाहिये। परन्तु उसका निर्णय अपनी बुद्धि से करना चाहिये। ऐसा करने से सब को सन्तोष हो जाता है। और अपना काम भी बन जाता है। इस एक ही बात से ये दोनों काम ऐसे बन जाते हैं, जैसे कि सिंदूरदान-नुमा बना हुआ दर्पण का ढक्कन। सिंदूर रखने का सिंधौरा भी है और ढक्कन का ढक्कन भी है। भावार्थ—जिस प्रकार दर्पण को ढकने के लिये विचित्र चाल का बना हुआ ढक्कन, सिंदूर-दान (सिंधौरा) और ढक्कन दो नामवाला होने पर भी वस्तुतः ढक्कन ही है। इसी प्रकार सबसे सहमत रहते हुए भी अपनी बुद्धि को स्वतन्त्र रखना चाहिये। "बुद्धौ शरणमन्विच्छ" (गीता)॥ २४७॥

* 'अवतार' छन्द सम में १० और विषम में १३ मात्रा।

बाजन दे बाजंतरी, कल कुकुही मति छेड़ ।
तुझे बिरानी का परी, तू[1] अपनी आप निबेर ॥२४८॥

शब्दार्थ—बाजंतरी = बाजा बजानेवाला । कुकुही = मुर्गा, कुक्कुट ।

टीका—बाजा बजानेवालों को बाजा बजाने दो । तुम इन कलियुग के मुर्गों को मत छेड़ो । अर्थात् निन्दकों को मत रोको । क्यों कि तुम्हें दूसरों की बातों से क्या मतलब है ? तुम तो अपने कामों को सुधारते चलो । भावार्थ—तुम्हारे अच्छे कामों की प्रशंसा के फैलने से निन्दकों के मुख आप ही बंद हो जायेंगे ॥२४८॥

❀गावै कथै बिचारै नाहीं, अन जाने का दोहा ।
कहंहिं कबीर पारस परसे बिनु, ज्यों पाहन भीतर लोहा ।

टीका—जो महात्माओं की वाणी को गाते हैं, और कथनी भी करते हैं; परंतु उसके अर्थ का विचार नहीं करते हैं । उनके आगे वह वाणी, उस दोहे के समान है, जिसका कि अर्थ न आता हो । और ऐसी अर्थहीन वाणी के कहने से ऐसे कोरे रह जाते हैं जैसे कि पत्थर के भीतर बन्द लोहा पारस के छुये बिना लोहे का लोहा ही रह जाता है । भावार्थ—जो सदैव वेदादिक वाणियों का गायन और कथा तो किया करते हैं; परन्तु उनको विचारने का कभी कष्ट नहीं करते हैं, उनके लिये वेदादिक अज्ञातार्थ दोहे की तरह (निष्फल) हैं । और उनका हृदय इस प्रकार विकृत रह जाता है, जैसे पत्थर के अन्दर रहा हुआ लोहा पारस के न छूने से लोहा ही रह जाता है ॥२४९॥

प्रथम एक जो हौं किया, भया सो बारह बान ।
कसत कसौटी ना टिका, पींतर भया निदान ॥२५०॥

शब्दार्थ—बारह बान = बर्बाद । निदान = अन्त में ।

टीका—प्रथमारम्भ में जीवात्मा ने "एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय" इस प्रकार का संकल्प किया । इसी संकल्प से यह बारह-बान (बर्बाद) हो गया ।

1 पाठा०—त, तू अपनी निबेर ।सार, छन्द

अर्थात् अनेक रूपवाला हो गया। फिर भी यह सद्गुरु के उपदेश रूपी कसौटी पर कसने से न टिका, अर्थात् आत्म-तत्त्व पर आरूढ न हुआ। इस लिये अन्त में यह पीतल हो गया। अर्थात् चौरासी का जीव बन गया। भावार्थ—जीवात्मारूपी नकली सोना निज कसौटी पर न टिक सका। इस कारण पीतल ठहराया गया। [सूचना—प्रथम संख्या की साखी में यह प्रसंग विस्तारपूर्वक लिख दिया गया है] ॥२५०॥

कबीरन भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय।
अंतर में विष राषि के, अम्रित डारिनि षोय ॥२५१॥

टीका—अज्ञानियों ने कङ्कर-पत्थर धोकर भक्ति के रूप को बिगाड़ दिया। और जहर को तो उनने पेट में डाल लिया और अमृत को गिरा दिया। भावार्थ—अज्ञानियों ने भक्ति के तत्त्व को नहीं समझा। इस कारण उनने चेतनात्मा की सेवारूपी अमृत को ठुकरा कर जड़ पूजारूपी हलाहल को पी लिया ॥२४१॥

रही एक की भई अनेक की, बेश्या बहुत भतारी।
कहंहिं कबीर काके संग जरि हैं, बहु पुरुषन की नारी।२५२।

टीका—एक पुरुष की बनी हुई स्त्री बहुत पुरुषों की प्रेमिका बन जाने से वह अनेकों की स्त्री वेश्या बन जाती है। कबीर साहेब कहते हैं कि, ऐसी स्थिति में वह किसके साथ जलेगी ? क्यों कि, वह तो बहुत से पुरुषों की स्त्री है। भावार्थ—नाना देव-उपासक वार-वनिताकी तरह हैं। "अनेकचित्त-विभ्रान्ता मोहजालसमावृताः। प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचि" ॥ (गीता १६। १६) ॥२५२॥

तन[1] बोहित मन काग है, लक्ष जोजन उडि जाय।
कबहिं के भरमे अगम दरिया, कबहुंक गगन रहाय॥

शब्दार्थ—बोहित = जहाज।

छन्द 'सार' 1 पाठा०— च, छ, ज, तन कागि मन बोहित।

अज्ञानियोंके मन की दशाका वर्णन—संसार-समुद्रमें चलते हुए तनरूपी जहाज पर मनरूपी कौवा बैठा रहता है। वह कभी उसे छोड़ कर लाखों योजन दूर उड़ जाता है। और कभी तो वह अपार संसार-समुद्र में भटकता है। अर्थात् प्रपञ्च-परायण होकर भौतिक समुन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है। और कभी वह सर्वोच्च गगन-मंडल में उड़ जाता है। अर्थात् कर्म और उपासना (योग) के अनन्त मार्ग में उड़ते-उड़ते थक जाता है। अनन्तर वासनारूपी क्षुधा से पीड़ित होकर उसी जहाज पर आ बैठता है। (अर्थात् अध्यासवश पुनः शरीराकारवृत्ति हो जाती है)। भाव यह है कि, आत्मज्ञान के बिना आत्माकारवृत्ति नहीं हो सकती ॥।२५३॥

***ग्यान रतन की कोठरी, चुंबक दीन्हो ताल।**
पारषि आगे षोलिये, कूंजी बचन रसाल ॥२५४॥

शब्दार्थ—रसाल = मीठा।

टीका—ज्ञानरूपी रत्न की कोठरी में चुम्बक का ताला लगा हुआ है। अर्थात् वह बहुत ही सुरक्षित रहता है। क्यों कि, चुम्बक का ताला बहुत मजबूत होता है। वह तो श्रद्धालु विवेकी के आगे आने पर खोला जाता है। क्यों कि, उसमें मीठे वचनों की कूंजी लगती है। भावार्थ—नम्रता और मधुर वचनों के द्वारा प्रेम-भाव के प्रकट होने पर सद्गुरु उसे मधुर वचनों से निगूढ ज्ञान तत्त्व का उपदेश देते हैं। "मधुर बचन कहि सबन को, देत सदा उपदेश"।

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः"। (गीता) ॥२५४॥

सुरग पताल के बीच में, दुई [1]तुमरिया बद्ध।
षट दरसन संसय परी, लष चौरासी सिद्ध ॥२५५

टीका—पहेली—स्वर्ग और पाताल के बीच में सबके सब अविवेकी माया और अविद्यारूप दो तुमरियों को बांधे हुए हैं। इतना ही नहीं,

* छन्द "हरिपद"। [1] पाठा०—ट, ठ, तुमरी अवद्ध।

षट्दर्शन भी इसी के संशय में हैं। तथा चौरासी लाख योनियों के जीव तथा सिद्ध भी इसी चक्र में पड़े हैं। अर्थात् मायारूप तुमरी के बंध जाने से जीवात्मा की गुरुता (भारीपन) नष्ट हो जाती है। और वह संसार की नदी में बह जाता है।

"हलुकी संगति ना करो, सब गरुवापन जाय।
पानी पाथर तुम्बरी संगहि चली बहाय"॥

भावार्थ—स्वर्ग से पाताल तक माया और अविद्या फैली हुई है, और इन्हीं के फेर में सब पड़े हैं। "भूमि परत भा डावर पानी, जिमि जीव हि माया लपटानी" ॥२५५॥

सकलो दुरमति दूरि करु, अच्छा जनम बनाव।
काग गवन मति[1] छाँडिके, हंस गौन चलि आव ॥२५६॥

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, हे मनुष्यो! सब दुर्बुद्धियों को दूर करो। और नरतन जन्म को अच्छा बनाओ, अर्थात् सुधारो। और कौए की चाल को (कुचाल को) छोड़ कर हंस की चाल से अर्थात् सुचाल से चल कर हमारे पास चले आओ। भावार्थ—कुचाल को छोड़ कर सुचाल से चलने वाले ही मुक्ति पद को प्राप्त करते हैं ॥२५६॥

जैसी कहैं करै पुनि तैसी, राग दोष निरुवारे।
तामें घटै बढै रतियो नहिं, यहि विधि आपु सँवारे ॥२५७॥

टीका—जो वक्ता जैसा उपदेश करै वैसाही वह आचरण भी करै। और अज्ञान-जन्य राग (प्रेम) और दोष (द्वेष, वैर) को दूर हटा दे। इस काम में रत्तीभर भी घटा-बढ़ी न हो। अर्थात् सन्मार्ग से वह जरा भी विचलित न हो। इस प्रकार अपने आपको बना ले। भावार्थ—कहने की अपेक्षा आचरण करनेका प्रभाव अधिक होता है ॥२५७॥

द्वारे तेरे रामजी, मिलहु कबीरा मोहि।
तैं तो सभ महँ मिलि रहा, मैं न मिलूंगा तोहि ॥२५८॥

---

[1] पाठा०—च, क, बुधि।

टीका—हे रामजी ! मैं आपके दर्शनों की इच्छा से हृदय-मंदिर के द्वार पर चिरकाल से खड़ा हुआ हूँ; अतः मुझको यहीं प्रगट होकर दर्शन दीजिये। वैसे तो आप व्यापक रूप से सबोंमें मिले हुए हैं। परन्तु इस प्रकार मैं आप से नहीं मिलूंगा। भावार्थ—"कहहिं कबीर सुनो भाई साधो, घट हि मिले अविनासी। संतो पानी में मीन पियासी"। इसके अनुसार साहब का साक्षात्कार हृदय में ही होता है, अन्यत्र नहीं ॥२५८॥

भरम [1]बढ़ा तिहुं लोक में, भरम मँडा सभ ठाँव।
कहंहिं कबीर पुकारिके, तुम बसेउ भरम के गाँव ॥२५९॥

टीका—तीनों लोकों में भ्रम बढ़ा हुआ है, और सब जगह भ्रम का ही मंडान है, अर्थात् पसारा है। कबीर साहेब पुकार कर कहते हैं कि, हे भाई अज्ञानी ! तुम तो स्वयं भ्रम के गांव में ही बसे हुए हो ॥ अर्थात् संसार-प्रपञ्च में पड़े हुए हो। भावार्थ—'यह भ्रम भूत सकल जग षाया, जिन जिन पूजा तिन जहँडाया' ॥२५८॥

रतन लड़ाइनि रेतमें, कंकर चुनि चुनि षाय।
कहंहिं कबीर अवसर बिते, बहुरि चले पछिताय ॥२६०॥

शब्दार्थ—लड़ाइनि = गिरा दिया।

टीका—अज्ञानी हंसों ने सद्गुण रूपी मोतियों को तो धूल में मिला दिया। और दुर्गुणरूपी कङ्करियों को चुन-चुन कर वे खाते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि, नरतन रूपी अवसर के बीत जाने पर फिर पछता कर वे चौरासी में चले जाते हैं। भावार्थ—सद्गुणों को ग्रहण करना चाहिये और दुर्गुणों का परित्याग करना चाहिये। इसी में नरतन की सफलता है ॥२६०॥

जेते पत्र बनसपति, औ गंगा की रेन।
पंडित बिचारा का कहै, कबीर कही मुष बैन ॥२६१॥

शब्दार्थ—बनसपति = वृक्ष। रेन = रेणु, बालूरेत।

१ पाठा०—ट, ठ, मंडो।

टीका–कबीर साहेब कहते हैं कि, अज्ञानी लोगों को समझाने के लिये मैंने इतनी वाणियों का मौखिक रूप से कथन किया है, जितने कि वृक्षों के पत्ते हैं, जितनी कि गंगा की बालू-रेत हैं, बिचारे पंडित लोग इतना क्या कहेंगे ! भावार्थ–जीवों को समझाने के लिये मैंने अपार वाणी का कथन किया है ॥२६१॥

हौं जाना कुल हंस हो, ताते कीन्हा संग ।
जो जानत बगु बावरा, तो छुवे न देतेउँ अंग ॥२६२॥

[सूचना–संत के धोखे से असन्त के फंदे में फंसे हुए अन्ध श्रद्धालु की उक्ति ।]

टीका–अन्योक्ति–मैंने तो जाना था कि, तुम हंस-कुलोत्पन्न हंस हो । इस लिये मैंने तुम्हारी संगति की अर्थात् साथ किया । यदि यह मैं जान लेता कि, तुम तो (मछली खानेवाले) पागल बगुले हो, तो मैं तुमको अपना शरीर कभी नहीं छुने देता । "आई थी मैं भगत जान जगत देखि रोई" । (मीराबाई) ॥२६२॥

गुनिया ते गुनहीं कहै, निरगुनिया गुनहि घिनाय ।
बैलहिं दीजे जायफर, का बूझै का षाय ॥२६३॥

टीका–गुणज्ञ गुणी दूसरों के गुणों की प्रशंसा करता है । और जो स्वयं निर्गुणी हैं वे दूसरों के गुणों से घृणा करते हैं । देखो, यदि बैल को जायफर दे दिया जाय तो वह उसे क्या समझेगा और क्या खायेगा ? ॥

भावार्थ–"विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।
नहि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्" ॥

अर्थात्–विद्वान् के परिश्रम को विद्वान् ही जानता है । प्रसूती की पीड़ा को वन्ध्या स्त्री क्या जाने ? तथा "नाऽगुणी गुणिनं वेत्ति गुणी गुणिषु मत्सरी । गुणी च गुणमानी च विरलः सज्जनो जनः" ॥ अर्थात् गुणहीन गुणी की योग्यता को नहीं जान सकता है, इत्यादि ॥२६३॥

अहिरहुँ तजि षसमहुँ तजी, बिना दांतकी ढोर।
मुक्ति परी बिललात है, वृंदावन की षोर ॥२६४॥

शब्दार्थ—अहिरहुँ = चरवाहा। षसम = स्वामी। षोर = गली।

टीका—ब्रजवासियों की धारणा का वर्णन—जिस प्रकार (निरुपयोगी होने के कारण) बिना दांत के बूढ़े—पशु को चरानेवाला भी छोड़ देता है, और उसका मालिक भी छोड़ देता है। अतः वह अनाथ बनकर चिल्लाया करता है। इसी प्रकार वृन्दावन की गलियों में अनाथ बन कर मुक्ति पड़ी-पड़ी विलाप करती है। वहां उसका कोई ग्राहक नहीं है। अर्थात् बूढ़े ढोर की तरह मुक्ति तो वृन्दावन की गलियों में अनाथ बनकर पड़ी रहती है। भाव यह है कि, ब्रजवासी मुक्ति नहीं चाहते हैं ॥२६४॥

मुष की मीठी जो कहै, हिदया है मति आन।
कहहिं कबीर तेहि लोगन से, तैसहि राम सयान ॥२६५॥

टीका—जो वञ्चक नर मुंह से तो मीठी-मीठी बातें करता है, किन्तु उसके हृदय में दूसरी ही बुद्धि रहती है। कबीर साहेब कहते हैं कि, ऐसे लोगों के सामने रामजी भी वैसे ही चतुर हैं। "ये यथा माम्प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (गीता)। भावार्थ—मनुष्य को कोई धोखा दे सकता है; परन्तु 'साहब' (परमात्मा) को नहीं ॥२६५॥

इतते सभ कोई गये, भार लदाय लदाय।
उतते कोइ न आइया, जासों पूछिये धाय ॥२६६॥

टीका—इधर से (संसार से) तो सब कोई कर्मों का बोझा लाद-लाद कर चले गये। परन्तु उधर से (स्वर्गादिकों से) कोई नहीं आया, जिसके पास दौड़ कर कुछ उधर की बात पूछ ली जाय। भावार्थ—"साधनधाम मोक्षकर द्वारा" तथा, "स्वर्ग नर्क अपवर्ग निसेनी" इत्यादि कथन के अनुसार नरतन कर्म-भूमि होने के कारण स्वर्गादि फलों को देनेवाला है। इस कारण यहीं से देवतादिक बनकर स्वर्गादिकों को जाते हैं। किन्तु स्वर्ग से देवतादिक

बन कर यहां पर कोई नहीं आता है। फलतः नरतन को सुधारना चाहिये ॥२६६॥

भक्ति पियारी रामकी, जैसी पियारी आग।
सारा पट्टन जरि [1]मुवा, [2]बहुरि ले आवे मांग[3] ॥२६७॥

शब्दार्थ—पट्टन = कसबा, नगर।

टीका—भक्तों को राम की भक्ति ऐसी प्यारी होती है, जैसे कि सबों को अग्नि प्यारी होती है। देखो, आग के लगने से सारा गाँव जल मरा; परन्तु भोजन बनाने आदि के लिये फिर से आग को मांग कर अपने घर में ले आते हैं। भावार्थ—भक्तों को भक्ति प्राणों से भी अधिक प्रिय होती है। इस लिये अत्यन्त कठिनाई में भी वे भक्ति को नहीं छोड़ते हैं ॥२६७॥

नारि कहावे पीव की, रहै अवर संग सोय।
जार मीत हिदया बसे, षसम षुसी क्यों होय ॥२६८॥

टीका—जो स्त्री अपने पति की तो स्त्री कहलाती है और दूसरे पुरुषों के साथ रमण करती है। इस प्रकार उसके हृदय में तो उपपति रूप मित्र बसा हुआ है तो भला, उसका पति उससे प्रसन्न कैसे हो सकता है? भावार्थ—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते"। (गीता के अनुसार अनन्य भाव से इष्ट की प्राप्ति और सिद्धि होती है ॥२६८॥

सज्जन से दुरजन भया, सुनि काहूके बोल।
कांसा तामा होय रहा, न[4] होत हीरों का मोल ॥२६९॥

टीका—कोई पुरुष किसी अज्ञानी के वचनों को सुनकर सज्जन से दुर्जन हो गया। इस प्रकार वह सोने से कांसा-तांमा हो गया। इसलिये अब उसकी सोने और हीरे की कीमत नहीं रही। भावार्थ—दुर्जनों के वचन मर्म-भेदी और मगज को बिगाड़नेवाले होते हैं। इसलिये उनकी उपेक्षा करना ही लाभदायक है ॥२६९॥

---

१ पाठा०—च, गया। २—ज, फिरि फिरि लावे। ३—झ, आग।
४ ठ, नहीं तोहोत हीरों का मोल। ढ—हता ठिकों।

बिरहिन साजी आरती, दरसन दीजै राम।
मूये दरसन देहुगे, आवे कवने काम ॥२७०॥

टीका—यह विरहिनी (वियोगिनी) स्त्री पूजा और दर्शनों के लिये आरती साज कर खड़ी हुई है। इसलिये हे रामजी! मुझे आप दर्शन दे दीजिये। यदि मेरे मरने पर आप दर्शन देंगे तो वह दर्शन किस काम आवेगा? अर्थात् मुझे जीवन्मुक्ति (जीते जी साक्षात्कार) प्रदान करिये। "जीते जी जीव कहां बसे, मरे मिले न ठौर। इतना भेद न जानई, सद्गुरु कर ले और" ।। इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन् महती विनिष्टिः"। (कठोपनिषद्)। इह = जीवित अवस्थायाम्। अर्थात् जीतेजी आत्मसाक्षात्कार होने से ज्ञानी सत्य स्वरूप हो जाता है ॥२७०॥

पल में परलै बीतिया, लोगन लागु तँवारि।
आगल सोचि निवारिके, पाछल करहु गोहारि ॥२७१॥

शब्दार्थ—तँवारि = चक्कर (मति-भ्रम)।

टीका—मति-भ्रम होने से अज्ञानियों ने महा कुकर्म कर डाला। इस-लिये उनका पल में प्रलयकाल बीत गया। अर्थात् प्रलयकाल ही हो गया। इसलिये भविष्यत् की कल्पनाओं को छोड़कर पहले किए हुये कामों पर पश्चात्ताप करो। और वर्तमान के कार्यों को सुधारो। क्यों कि, वर्तमान के सुधारने से भूत और भविष्यत् भी सुधर जाते हैं। "वर्तमान में बरतहु भाई! भूत भविष्यत् देहु बहाई"। "जाको मति-भ्रम भयऊ खगेसा, सो कह पश्चिम उगेऊ दिनेसा"। भावार्थ—मति-विभ्रम (बुद्धि की भ्रष्टता) के कारण मनुष्य अनर्थ कार्य करके नष्ट हो जाता है ॥२७१॥

एक समाना सकल में, सकल समाना ताहिं।
कबीर समाना बूझ में, जहां दूसरा[1] नाहिं ॥२७२॥

टीका—एक आत्मा सबमें समाया हुआ है, और सब उसके आश्रित हैं।

१ पाठा०--प, फ, दुतिया।

और कबीर (मुक्तात्मा) ज्ञान में समाये हुए हैं, जहाँ द्वैतभाव नहीं है। भावार्थ–सबोंके साथ आत्म-भाव से वर्तनेवालों के सामने दूसरा कौन है? ॥२७२॥

ऐक साधे सभ साधिया, सभ साधे एक जाय।
जैसे[1] सींचे मूलको, फूले फले अघाय ॥२७३॥

टीका—एक 'साहब' (आत्मदेव) की आराधना करने से सब की आराधना हो जाती है। और सब (नाना देवों) की आराधना करने से एक 'साहब' की आराधना छूट जाती है। जैसे जड़ को सींचने से वृक्ष पूरी तरह से फुलता है और फलता है।

भावार्थ–"पूजा गुरुकी कीजिये, सब पूजा जेहि मांहिं।
जैसे सींचे मूलको, साखा पत्र अघाहिं" ॥२७३॥

जेहि बन सिंघ न संचरे, [2]पंछी ना उड़ि जाय।
सो बन कबीरन हींडिया, सुन्न समाधि लगाय ॥२७४॥

टीका—हठयोगियों का वर्णन–जिस शून्य भावनारूपी वन में जीवात्मा-रूप सिंह का प्रवेश नहीं हो सकता है। क्यों कि, जीवात्मा सत् (भाव) रूप है। और शून्य असत् (अभाव) रूप है। इसलिए, "नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः" (गीता) के अनुसार सत् असत् में नहीं मिल सकता है। और मन रूप पक्षी भी वहां (शून्य में) उड़कर नहीं जा सकता है। क्यों कि, शून्य भावना करने से तो मन का लय ही हो जाता है। ऐसे विकट बन में अज्ञानी हठयोगी भटक मरे; क्यों कि वे शून्य (जड) समाधि लगाते हैं। भावार्थ—सुषुप्ति को तरह शून्य-समाधि में वासना बनी रहती है। अतः अपरोक्ष ज्ञान से उसकी निवृत्ति करना चाहिये ॥२७४॥

सांच कहौं तो [3]मारिया, झूठहि लागु[4] पियारि।
मो सिर ढ़ारे ढेंकुली, सींचै और् कियारि ॥२७५॥

---

१ पाठा०-घ, डलटि। २,-च, छ, पौनहु की गम नाहिं। ३-ज, झ, है नहीं। ४ ञ, ट, धरे।

शब्दार्थ–ढेंकुली = कूंए आदिक से पानी निकालने की लकड़ी की ढेंकुल।

टीका–यदि मैं सच्ची बात कहता हूं तो मारने दौड़ते हैं; क्योंकि लोगों को झूठी बात ही प्यारी लगती है। बात यह है कि, लोग मेरे शिर पर तो ढेंकुल डालते हैं (मेरे नाम की ढेंकुल चलाते हैं)। और अपनी क्यारी को सींचते हैं। अर्थात् धर्मध्वजी लोग धर्म की आड़ में अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। भावार्थ-कबीर साहेब कहते हैं कि, मेरे नाम का वेष बना कर लोग अपने-अपने स्वार्थों को सिद्ध करते हैं॥ २७५॥

बोल तो अनमोल है, जो कोइ बोलै जान।
हिये तराजू तौलिके, तब मुष बाहर आन॥२७६॥

टीका–यदि किसी को बोलना आता हो तो वचन की कीमत नहीं हो सकती है; परन्तु वह इस प्रकार बोले कि, हृदय की तराजू में पहले तोल ले, (कि, इसका क्या परिणाम होगा?) तब मुख से बाहर निकाले भावार्थ--परिणाम को हृदय में खूब समझ-बूझ कर कहनेवाला संसार के झंझटों से बचा रहता है॥ २७६॥

करु बहियाँ बल आपनो, छाडु बिरानी आस।
जेकरा अँगना नदिया बहे, सो कस मरे पियास॥२७७॥

टीका–अपने हाथों से पुरुषार्थ करो, और दूसरे की आशा को छोड़ दो। देखो, जिसके अंगना में नदी बहती है वह प्यासा क्यों मरता है? भावार्थ--"उद्योगे नास्ति दारिद्र्यम्"। उद्योग करनेवाला कभी दुःखी दरिद्री नहीं हो सकता है। [सूचना--"गंगायां घोषः" अर्थात् गंगा जी में अहिरों का गांव है। इसकी तरह लक्षणावृत्ति से 'अंगना' पद से आँगने के बहुत समीप, ऐसा अर्थ समझना चाहिये]॥ २७७॥

वो तो वैसे ही हुवा, तू मत होहु अयान।
वो निरगुनिया तू गुनवंत, मत एकहि में सान॥२७८॥

शब्दार्थ–अयान = अज्ञानी।

टीका—वह मनुष्य तो अज्ञानी बन गया; परन्तु तुम अज्ञानी के साथ अज्ञानी मत बनो। क्योंकि, वह तो गुणों से रहित है और तुम गुणवान हो। इसलिये बुराई और भलाई को एकही में मत मिलाओ। भावार्थ—दुष्टों के साथ दुष्ट न बनो ॥ २७८ ॥

जो मतवारे राम के, मगन होहिं मन मांहि।
ज्यौं दरपन की सुंदरी, गहे न आवे बांहिं ॥२७९॥

टीका—भावना और ध्यान के बल से रामजी के दर्शन होने से जो रामजी के मतवाले बन गये हैं वे आनन्द से मन में मग्न हो जाते हैं। परन्तु जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित स्त्री हाथ से पकड़ने में नहीं आ सकती है इसी प्रकार वे रामजी भी केवल भावनावश दिखते भर हैं; परन्तु पकड़ने में (प्रयोजनसिद्धि में) नहीं आ सकते हैं। भावार्थ--राम के काल्पनिक रूप का ध्यान करनेवाले केवल प्रेम में मग्न रहा करते हैं। परन्तु दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह उससे व्यवहार-सिद्धि (मुक्ति आदिक) नहीं हो सकती है ॥ २७९ ॥

साधू होना चाहिये, पक्का ह्वै के षेल।
कच्ची सरसों पेरिके, षरी भई नहिं तेल ॥२८०॥

टीका—यदि तन और इन्द्रिय आदिकों को साधनेवाले साधु होना चाहते हो तो पक्के के साथ पक्के होके खेलो। अर्थात् पूरे मनवाले का साथ करो। देखो, कच्ची सरसों को पेर देने से न उसमें से तेल निकलता है, और न उसकी खरी ही होती है। भावार्थ--पक्के मनवाले की संगति करनेवाला पक्का और कच्चे के साथ रहनेवाला कच्चा हो जाता है।

"तन मन ताको दीजिये, जाके विषया नाहिं।
आपा सबहीं डारि के, राखै साहब मांहिं" ॥ २८० ॥

सिंघों केरी षोलरी, मेंढा पैठा धाय।
बानी ते पहिचानिये, सब्दहि देत लषात ॥२८१॥

टीका—अन्योक्ति--सिंहों की खोखरी (चमड़े) में भेड़ दौड़कर

घुस गया; परंतु वह बोली से पहचान लिया जाता है। क्यों कि, उसकी बोली ही उसे बता देती है। भावार्थ–आचरणों से नकली और असली का पता लग जाता है। "जप माला छापा तिलक, सरै न एको काम। मन काचे नाचे वृथा, सांचे राचे राम" ॥ (तुलसी) ॥२८१॥

जेहि षोजत कल्पो गये, घटहि मांहिं सो मूर।
बाढ़ी गरब गुमान ते, ताते परि गइ दूर ॥२८२॥

शब्दार्थ—मूर = जड़ी। कलपौ–प्रलय काल।

टीका—जिसको ढूंढने में कई कल्प बीत गये, वह संजीवनी जड़ी हृदय के भीतर ही है। परन्तु यह जीवात्मा तो गर्व और गुमान में (अहंकार में) बहुत आगे बढ़ गया है। इसलिये वह जड़ी इससे दूर हो गई, दूर पड़ गई। भावार्थ—राम सजीवन मूरी हृदय में ही है ॥२८२॥

दस द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन।
रहिवे को अचरज है, जात अचंभौ कौन ॥२८३॥

शब्दार्थ—अचंभौ = अचरज, आश्चर्य।

टीका–यह शरीर ऐसा पिंजरा है कि, जिसकी दस खिड़कियाँ हैं, और इसमें पवन (प्राण) रूपी पक्षी बैठा हुआ है। ऐसी स्थिति में उसके रहनेका ही आश्चर्य है! और उसके चले जाने में क्या आश्चर्य है? भावार्थ-तन पिंजरे में प्राण पंछी बैठा हुआ है। और वह पिंजरा दश खिड़कियों-वाला है ॥२८३॥

रामहिं सुमिरे रन भिरे, फिरे और की गैल।
मानुष केरी षोलरी, ओढे फिरतु हैं बैल ॥२८४॥

शब्दार्थ–गैल = संग, साथ।

टीका–जो राम का स्मरण भी करते हैं और लड़ते-झगड़ते और मरते-मारते भी रहते हैं, वे लोग मन के रास्ते पर मन के साथ चलनेवाले हैं। और वे बैल हैं, जो कि मनुष्य के चमड़े को ओढ़कर फिरते रहते हैं। भावार्थ–

कितने ही भेषधारी रामभक्त कहलाते हैं, और लड़ते-मरते हैं। [सूचना--यह साखी कुम्भों के मेलाओं में होनेवाला अखाडमल्ल भेषधारियों की लड़ाई को लक्ष्य करके कही गयी है। जैसे कि, "ये अतीत की तरकस बंदा ॥२८४॥

षेत भला बीजै भला, बोय मुठीका फेर।
काहे बिरवा रूषया, ये गुन षेतहिं केर ॥२८५॥

टीका—अन्योक्ति--खेत के अच्छे होने पर और बीज के अच्छे होने पर भी खेत के बोते समय मुट्ठी का फेरफार हो जाता है। ये खेत के पौधे रूखे क्यों हैं? क्या यह गुण (असर) खेत ही का हैं? नहीं, ऐसा तो नहीं है; क्यों कि, खेत तो अच्छा है। भावार्थ--अन्तःकरण भी शुद्ध है और वासना भी शुभ है; परन्तु साधनों में त्रुटि रहने के कारण पूरी फलसिद्धि नहीं होती है। ॥२८५॥

गुरु [1]माथे से ऊतरे, सब्द विमूषा होय।
ताको काल घसीटि है, राषि सके नहिं कोय ॥२८६॥

टीका—जो शिष्य गुरु के शब्द से विमुख हो जाता है अर्थात् गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करता है। अर्थात् गुरु को शिर से उतार देता है। और गुरुपद से गिर जाता है; उसको यमराज, पूरी यातना देता है। उसे कोई नहीं बचा सकता है! भावार्थ--गुरुपद पर आरूढ होने की इच्छावाले को गुरु के उपदेश के अनुसार रहना चाहिये ॥२८६॥

भुभुरी घाम बसे घटमांहीं, सभ कोइ बसे सोगकी छांहीं॥

शब्दार्थ—भुभुरी घाम = ऐसी धूप जिसमें कि, बहुत हल्के बादल हों।

टीका—सबों के हृदयों में भुभुरी घाम (तीनों तापों की अग्नि) प्रज्व-लित रहती है। इसलिये सब कोई शोक की छाया में रहते हैं। अर्थात् शोक से ग्रस्त रहते हैं। भावार्थ--त्रितापों से संतप्त रहनेवाले सब कोई शोक और मोह में पड़े हुए हैं ॥२८७॥

---

1 पाठा०--ङ, सीढ़ी।

जो मिला सो गुरु मिला, सीष न मिला कोय ।
छ लष छयानबे सहस रमैनी, एक जीव पर होय ॥२८८॥

शब्दार्थ–रमैनी = वाणीवचन ।

टीका–कबीर साहेब कहते हैं कि, मुझको जो मिला सो अपना ही उपदेश सुनानेवाला गुरु मिला; किन्तु मेरे उपदेश सुननेवाला और मानने-वाला कोई शिष्य नहीं मिला । देखो, छः लाख और छियानवे हजार वचनों को मैंने एक जीवात्मा के बोध के लिये कहा है। भावार्थ--'सहस छानवे औ छ लाखा, युग परमान रमैनी भाखा" ॥ २८८ ॥

जहं गाहक तहं हौं नहीं, हौं तहां गाहक नाहिं ।
बिनु बिबेक फटकत फिरे, पकरि सब्द की छांहिं ॥२८९॥

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, जहां माया-प्रपञ्च के गाहक हैं, वहां 'हौं' अर्थात् आत्मपद और गुरुपद नहीं है । और जहां आत्मपद और गुरुपद है वहां माया-प्रपञ्च का गाहक नहीं है । अज्ञानी लोग रोचक वाणी के आश्रय को लेकर विना विवेक के भटकते फिरते हैं । भावार्थ--निजपद के प्रेमी माया-प्रपञ्च के पीछे नहीं पड़ते हैं ॥ २८९ ॥

नग पषान जग सकल है, परषे बिरला कोय ।
नगते उत्तम पारषी, जगमें बिरला होय ॥२९०॥

टीका—अन्योक्ति--सारे संसार में रत्न (ज्ञानी संत) और पत्थर (अज्ञानी असंत) विद्यमान हैं । परन्तु उसको कोई विरला ही परखता है। और रत्नों को परखनेवाला जौहरी रत्नों से भी श्रेष्ठ माना जाता है । परन्तु ऐसे परखनेवाले संसार में कोई विरले ही होते हैं ।

भावार्थ–"हीरा परखे जौहरि, शब्द को परखे साधु ।
जो कोइ परखे साधुको, ताका मता अगाधु ॥
ताहि न कहिये पारखी, पाहन लखै जो कोय।
नग नर या दिल में लखै, रतन पारखी सोय" ॥ २९० ॥

सपने सोया मानवा, [1]षोलि जो देषे नैन।
जीव परा बहु लूट में, ना किछु लेन न देन ॥२६१॥

टीका—मनुष्य अज्ञान-निद्रा में पड़ा हुआ अनेक प्रकार की कल्पना रूप स्वप्नों को देखता रहता है। यदि वह जग कर विवेक दृष्टि उघाड़े तो उसे मालूम हो जाय कि, मेरा जीवात्मा तो भारी लूट में पड़ा हुआ है। अर्थात् अज्ञानता से अपना विवेक-विचार खो रहा है। और असल में देखा जाय तो न कुछ लेना है, और न कुछ देना है। अर्थात् ज्ञानद्वारा यह सब प्रकार से पूर्ण ही मालूम देता है॥ २६१॥

नष्ट का यह राज है, नफर का बरते तेज।
सार-सब्द टकसार है, कोइ हिदया मांहि बिबेक ॥२६२॥

शब्दार्थ—नष्ट = नाशमान (माया)। नफर = गुलाम (मन)। उदा०--'दादू नफर कबीर का' दादू०। टकसार = असली चीज।

टीका—संसार में माया ही का राज-पाट है। और गुलाम रूप मन का ही प्रभाव (दब-दबा) वर्तमान है। और सार-शब्द ही टकसार है। अर्थात् मुक्तिदाता के रूप में असली तत्त्व है (सिद्धान्त है)। इसलिये उसका (सार शब्द का) हृदय में विचार करो। भावार्थ—कबीर साहेब का सिद्धान्त 'सार' शब्द है। और वही मुक्तिदाता है॥ २६२॥

जब लग ढोला तब लग बोला, तौंलौं धन ब्यवहार।
ढोला फूटा बोला[2] गया, कोइ न झांके द्वार ॥२६३॥

शब्दार्थ—ढोला = ढोल। बोला = वचन (कहना-सुनना)।

टीका—जब तक ढोल साबित रहता है तभी तक उसमें से बोल (आवाज) निकलती रहती है। अर्थात् जब तक शरीर है तभी तक कहना-सुनना चलता है। और तभी तक सभी धन-सम्पत्ति के व्यवहार भी चलते हैं। परन्तु ढोल के फूट जाने पर अर्थात् शरीर के छूट जाने पर कहना-सुनना भी बन्द हो जाता है

[1] पाठा०—च, छ, उखेलि देखु। [2] ज, रू, धन गया।

और फिर तो मर जाने पर उसके मुंह के तरफ कोई देखता भी नहीं है। क्यों कि, वह भयङ्कर हो जाता है ॥२६३॥

कर बंदगी बिवेक की, भेष धरे सभ कोय।
सो बंदगी बहि जानदे, जहां सब्द बिवेक न कोय ॥२६४॥

शब्दार्थ--बंदगी = सेवा।

टीका--देखो, साधु-भेष को तो सब कोई बना लेते हैं। इसलिये उनका विवेक (पहचान) कर के सेवा और व्यवहार करो। वह सेवा किसी काम की नहीं है, जिस में कि 'सार' शब्द का और उसके ज्ञाता का विवेक विचार न हो। भावार्थ--विवेक कर के सत्कार करो। केवल भेख देख कर न भूलो। 'भेख देख नहि भूलिये, पूछि लीजिये ज्ञान। मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान" ॥२६४॥

सुर नर मुनि औ देवता, सात दीप नौ षंड।
कहहिं कबीर सभ भोगिया, देह धरेका दण्ड ॥२६५।

टीका--कबीर साहेब कहते हैं कि, सुर, नर, मुनि और देवता तथा सात द्वीप और नौ खंड पृथ्वी के निवासी प्राणी सब के सब शरीर धरने के कष्ट रूप दण्डों को अवश्य ही भोगते हैं ॥२६५॥

जब लै दिल पर दिल नहीं, तब लग सभ सुष नाहिं।
चारिउ जुग पुकारिया, सो संसै दिल मांहिं ॥२६६॥

शब्दार्थ--दिल पर दिल = दृढ निश्चय।

टीका--कबीर साहेब कहते हैं कि, जब तक दृढ निश्चय नहीं होता है, तब तक अभ्युदय और निश्रेयस रूप सब सुखों की प्राप्ति नहीं हो सकती है। मैंने तो चारों युगों में सद् गुरु के रूप से ज्ञान की पुकार लगाई है। परन्तु लोगों के हृदयों में वह संशय अभी तक वर्तमान ही है ॥२६६॥

जंत्र बजावत हौं सुना, टूटि गये सब तार।
जंत्र बिचारा का करे, गया बजावनि हार ।।२६७॥

शब्दार्थ--जंत्र = बाजा (अनाहत शब्द आदिक)।

टीका--जीवात्मा अनाहत (अनहद) शब्द आदिक बाजा को बजाता है, जिसे मैंने भी सुना है। परन्तु जीतेजी ही यह बाजा बजता है। शरीर छूट जाने पर तो उसके ईंगला और पिंगला रूप सब तार टूट जाते हैं। इसलिये बाजा बंद हो जाता है। ऐसी स्थिति में बेचारा बाजा क्या करे ? क्यों कि, उसका बजानेवाला ही (जीवात्मा) चला गया। भावार्थ--शरीर के रहते हुए ही अनहद शब्द आदिक होते हैं। इसलिये इनको नाशमान ठहराया है ॥२६७॥

जो तू चाहै मुज्झ को, छांड़ सकल की आस।
मुझहि ऐसा होय रहो, सभ सुष तेरे पास ॥२६८॥

टीका--यदि तुम मुझको (मालिक को, आत्मदेव को) प्राप्त करना चाहते हो तो सब भोगों की इच्छा को त्याग दो। और मेरे समान ही इच्छारहित बन जाओ तो देखो, मुक्ति आदिक सब सुख तुम्हारे पास चले आवेंगे। भावार्थ--यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते, कामा येऽस्य हृदि स्थिताः"। 'अथ मर्त्योऽमृतो भवति' (कठोपनिषद्)। अर्थात् सब कामनाओं की निवृत्ति होने से मनुष्य जीतेजी मुक्त हो जाता है। "कहंहिं कबीर कामों नहीं, जीवहिं मरन न होय" ॥२६८॥

साधु भया तो का भया, बोले नाहिं बिचार।
हते पराई आतमा, जीभ बांधि तरवार ॥२६६॥

टीका—किसीने साधु का भेष बना लिया तो इससे क्या हुआ ? क्यों कि, वह विचार करके तो कोई शान्ति की बात बोलता ही नहीं है। वह तो अपनी जीभ पर कुवचनरूपी तलवार को बांध कर उससे दूसरे की आत्मा को घात करता है। भावार्थ—मर्मभेदी कटु वचन तलवार से भी अधिक घातक हैं ॥२६६॥

हंसा के घट भीतरे, बसे सरोवर षोट।
चले गांव जहवां नहीं, तहां उठावन कोट ॥३००॥

नोट--' चले गांव ' इत्यादि का अन्वय (सम्बन्ध) ' जहवां गाँव नहीं तहां कोट उठावन चले ' इस प्रकार है।

टीका-जीवात्मा के हृदय में गन्दा तालाब भरा पड़ा हुआ है, अर्थात् वह कुविचारी है। इसलिये जहां गांव नहीं है वहां वह कोट (परकोटा) बनाने के लिये चला जाता है। भावार्थ--जीवात्मा का हृदय-सरोवर अज्ञानता के कारण मलिन हो रहा है। इस कारण मिथ्या कल्पित मनोरथों की रक्षा में वह सदैव लगा रहता है ॥ ३०० ॥

मधुर बचन है औषधी, कटुक बचन है तीर।
स्रवन द्वार ह्वै संचरे, सालैं सकल सरीर ॥३०१॥

टीका-मीठे वचन औषधी हैं अर्थात् लाभदायक हैं। और मर्मभेदी कड़वे वचन तीर हैं अर्थात् दुःखदायक हैं। क्योंकि, कड़वे वचन कानों के रास्ते से हृदय में चले जाते हैं। और वहां जाकर सारे शरीर में खटकते हैं।

भावार्थ-"मीठा सब से बोलिये, सुख उपजे चहुं ओर।
वशीकरण यह मन्त्र है, तजिये वचन कठोर ॥
"प्रियवाक्यप्रदानेन, सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता" ॥

अर्थात् मीठी वाणी से सब प्रसन्न होते है। इसलिये मीठा ही बोलना चाहिये। मीठा बोलने में क्या दाम लगते हैं ? ॥ ३०१ ॥

ढाढस देषहु मरजीवा, धाय जूरि पैठि पताल।
जीव अटक माने नहीं, ले गहि निकरा लाल ॥३०२॥

शब्दार्थ-ढाढस = हिम्मत। मरजीवा = पनडुब्बा, गोता-खोर। जूरि = ठंडा।

टीका-मरजीवा की भारी हिम्मत को देखो, कि वह दौड़कर ठंडे पानी में बहुत नीचे चला जाता है। और वहां रहनेवाले मगर आदिक जीवों का भय नहीं मानता है, तब वह मोतीरूप रत्न को लेकर निकलता है।

भावार्थ--जिस प्रकार गोताखोर (पनडुब्बे) निर्भय होकर समुद्र के तल में घुस जाते हैं और वहां से मोतियों को ले आते हैं। इसी प्रकार निरहंकारी (जीवन्मृतक) भी निर्द्वन्द्व होकर आत्मसागर में निमग्न होते हुए परमानन्द-रूपी रत्नों को लेते रहते हैं ॥ ३०२ ॥

ई जग तो जहंडे गया, भया जोग ना भोग ।
तिल झारि कबीर ले गया, तिलठी झारैं लोग ॥३०३॥

शब्दार्थ—तिलठी = तिल झार लेने के बाद बचे हुए तिलों के डंठल।

टीका—संसारी लोग पूरे ठगा गये; क्यों कि, न इनसे योग ही सिद्ध हुआ, न भोग ही पूरा हुआ। अर्थात् इनकी दशा इस कहावत के अनुसार हो गयी कि, "दोउ दीन से गया पांडे, हलुआ मिला न मांड़े"। उपासक रूप कबिराओं ने तो तिलों को झाड़ लिया; परन्तु अज्ञानी पामर तो कोरी तिल-ठियों के झाड़ने में ही लगे रहते हैं। भावार्थ—पूरे अज्ञानियों का जन्म निरर्थक चला जाता है। कर्मी और उपासकों का कार्य प्रशंसनीय है, जो कि स्नेहोत्पादक कर्म और उपासनारूपी तिलों का संचय करते रहते हैं। और विषयी तथा पामर लोग तो निःसार विषयरूपी तिलठियों के झाडने में ही सदा व्यस्त रहते हैं ॥ ३०३ ॥

***ऐ मरजीवा अम्रित पावा, का धसि मरसि पतार ।**
गुरु की दया साधुकी संगति, निकरि आव यहि द्वार ॥ ३०४॥

टीका—हे मरजीवा ! तू निजानन्द अमृत को पी। और पाताल में घुस कर क्या मरता है ? अर्थात् हठ-योग के अङ्ग-प्रत्यंग रूप मूलचक्र और कुण्डलिनी आदि के फेर में क्या पड़ा है ? जैसा कि यह कथन है कि, "प्रथमे मूल सुधार काज हो सारा है। कर नैनों दीदार महल में प्यारा है"। देखो, साधुओं की संगति करके तुम गुरु की दया को प्राप्त करो। जिससे कि, ज्ञान की प्राप्ति हो। यही मुक्ति का द्वार है। इससे तुम संसार की जेल से वाहर निकल जाओ। यह हठ-योगियों का उपदेश है ॥ ३०४ ॥

---

* छन्द 'हारपद'।

केतेहिं बुंद हलफों गये, केते गये बिगोय।
एक बुंद के कारने, मानुष काहे को रोय ॥३०५॥

शब्दार्थ—हलफों = सच्चा। (सूचना—मृतक परिवार को समाश्वासन।)

टीका—देखो, कितने ही वीर्य के बिन्दु तो तुम्हारे हलफ हो गये। अर्थात् गर्भाधान के करनेवाले होकर शरीर रूप में बदल गये (सच्चे हो गये); और कितने ही वीर्य-बिन्दु गर्भाधान न करके नष्ट हो गये। अर्थात् व्यर्थ चले गये। फिर एक पुत्रादिरूप बिन्दु (शरीर) के कारण मनुष्य काहे को रोता है ? । भावार्थ—पुत्रादिक का शरीर तो वस्तुतः वीर्य-बिन्दु ही है। इसलिये बुद्धिमानों को पुत्रादिक के मर जाने पर शोक नहीं करना चाहिये ॥३०५॥

आगि जो लागि समुद्र में, टुटि टुटि षसै षोल।
रोवै कबीरा डंफिया, हीरा जरै अमोल ॥३०६॥

शब्दार्थ—डंफिया = फूट-फूट कर रोना।

टीका—संसार-समुद्र में मृत्युरूपी वडवाग्नि जल रही है, जिससे नाना शरीररूपी जल की तरंगें स्वाहा होती चली जा रही हैं। अर्थात् शरीररूपी पानी की मोट की मोट टूट-टूट कर उस में गिर रही है। इस बात को न जाननेवाले अज्ञानी लोग फूट-फूट कर जोरों से चिल्लाते हैं कि, हाय ! मेरा अनमोल हीरा (पुत्ररूप लाल) जल गया (मर गया) ! भावार्थ—मृत्यु की अग्नि से सब जल जाते हैं। कोई बचने नहीं पाता है। इसलिये रोना-पीटना व्यर्थ है ॥३०६॥

छौ दरसन में जो परवाना, तासु नाम बनवारी।
कहंहिं कबीर सभ षलक सयाना, इनमें हमहिं अनारी॥

टीका—षड्दर्शन भेषधारियों में जो प्रामाणिक माना गया है, उसीका नाम तो बनवारी है। अर्थात् चेतन-देव और आत्मदेव है। कबीर साहेब कहते हैं कि, सब संसारी सयाने हैं; इनमें तो हम ही अज्ञानी हैं, जो कि सबों को उसी परम तत्त्व की प्राप्ति का उपदेश दे रहे हैं। भावार्थ—सबों का आश्रय

परम तत्त्व एक ही है ॥ उसे चाहे किसी भी नाम से जप लो ॥३०७॥

सांचे साप न लागई, सांचे काल न षाय ।
सांचे सांचे जो चले, ताको काह नसाय ॥३०८॥

टीका—सच्चा रहने से किसी का श्राप नहीं लग सकता है। और सच्चे को काल भी नहीं खा सकता है। अर्थात् यम-यातना नहीं उठानी पड़ती हैं। और जो सच्ची ही चाल से चलता है उसका क्या बिगड़ सकता है ? भावार्थ—"सत्ये नास्ति भयं क्वचित्" इसके अनुसार 'साँच को आँच नहीं लग सकती है ॥३०८॥

पूरा साहब सेइये, सब बिधि पूरा होय ।
ओछे से नेह लगाय के, मूलहुं आवै षोय ॥३०९॥

टीका—'पूरे 'साहब' (प्रभु) की प्राप्ति रूप सेवा करनी चाहिये; जिससे कि, प्राप्त करनेवाला सब प्रकार से पूर्ण हो जाय। और मन रूप ओछे से और उससे न्युन पदवाले अनेक देवों के स्नेहरूप आराधना करने से तो नर-तनरूपी मूल पूंजी को भी वह खो देता है।

भावार्थ—'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' ॥३०९॥

जाहु बेद घर आपने, यहां बात न पूछे कोय ।
जिन यह भार लदाइया, निरबाहेगा सोय ॥३१०॥

टीका—प्रारब्ध कर्मों के विश्वासी का कथन—हे वैद्यजी (ओझाजी) ! आप अपने घर चले जाइये। यहां आपसे बात पूछनेवाला अर्थात् आपके मत का अनुयायी कोई नहीं है। यह तो जिन प्रारब्ध कर्मादिकों ने इन घटना तथा शरीरादिकों का भार लादा है, वही उनका निर्वाह करेंगे। भावार्थ—"कोउ न काहु सुख दुख कर दाता, निजकृत कर्म-भोग सब भ्राता" ॥३१०॥

औरन के सिषलावते, मोंहड़े परिगौ रेत ।
रास बिरानी राषते, षाइनि घर का षेत । ३११॥

शब्दार्थ—रास = अन्न की ढेरी।

टीका—जो उपदेशक दूसरों को तो उपदेश देता है; परन्तु स्वयं आचरण नहीं करता है, उसके मुंह में धूल पड़ती है। अर्थात् उसकी कुगति हो जाती है। देखो, जो किसान अपने तैयार खेत को छोड़ कर दूसरे की अन्न की ढेरी की रक्षा में लग जाता है। और उसके खेत को पशु आदिक खा जाते हैं। उस उपदेशक की भी दशा ठीक ऐसी हो जाती है। भावार्थ—जो औरों को तो उपदेश देते हैं; परन्तु स्वयं आचरण नहीं करते हैं, वे संसार में निन्दित हो जाते हैं ॥३११॥

मैं चितवत हौं तोहिको, तू चितवत है वोहि ।
कहहिं कबीर कैसे बने, मोहि तोहि औ वोहि ॥३१२॥

टीका—कबीर साहेब कहते है कि, हे जिज्ञासु ! मेरा लक्ष्य तो तेरी तरफ है कि, तेरा कल्याण हो जाय; परन्तु तेरा चित्त तो प्रपंच की तरफ लगा हुआ है। इसलिये तू बराबर उसी को देखता है। ऐसी दशा में मेरे में, तेरे में और प्रपंच में; तीनों में रहनेवाला चित्त कैसे एकाग्र बनेगा ? अर्थात् मेरी, तेरी और प्रपंच की एकता नहीं बन सकती है। हाँ, तेरी और मेरी एकता हो सकती है। भजन--"तेरा मेरा जियरा। कैसे एक होय रे। मैं कहता निर्मोही होना, तू जाता हैं मोह रे। तेरा मेरा"। भावार्थ--चित्त की एकाग्रता के बिना उपदेश व्यर्थ चला जाता है ॥३१२॥

तकत तकावत तकि रहा, सका न बेझा मार ।
सबै तीर षाली परा, चला कमानहिं डार ॥३१३॥

शब्दार्थ—बेझा = (सं० वेध्य) निशाना, लक्ष्य ।

टीका--अन्योक्ति--दूसरों को उपदेश देनेवाले लक्ष्य को देखते तो हैं और दूसरों को दिखाते भी हैं। इस प्रकार वे ताकते ही रह जाते हैं। परन्तु उस निशाना को तीर से उड़ा नहीं सकते हैं। अर्थात् लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं। इसलिये उन के सभी तीर खाली चले जाते हैं। अर्थात् उनका सारा ही कहना और सुनना व्यर्थ चला जाता है। और अन्त में वे शरीर रूप कमान (धनुष) को गिरा कर सदा के लिये चल बसते हैं। भावार्थ—कहते सुनते दिन बीत गये; परन्तु लक्ष्य की प्राप्ति न हो सकी ॥३१३॥

जस कथनी तस करनी, जस चुंबक तस ग्यान।
कहहिं कबीर चुंबक बिना, क्यों जीतै संग्राम ॥३१४॥

टीका—जिस उपदेश का जैसा कहना हो; यदि उसका आचरण भी वैसा ही हो तो उसका ज्ञान चुम्बक के समान हो जाता है। अर्थात् आकर्षक बन जाता है। कबीर साहेब कहते हैं कि, चुम्बक के शस्त्रास्त्रों के बिना युद्ध में कोई विजय कैसे प्राप्त कर सकता है? भावार्थ—जिस प्रकार चुम्बक के शस्त्रों और अस्त्रों को धारण करनेवाले वीर युद्ध में विजयी होते हैं। इसी प्रकार कर्मयोगी (सच्चा ज्ञानी) ही संसार को सत्य-मार्ग पर ले जा सकता है। नोट—चुम्बक की ढाल में लगी हुई तलवार फिर उससे अलग नहीं हो सकती है ॥३१४॥

अपनी कहै मेरी सुनै, सुनि मिलि एकै होय।
हमरे देषत जग जात है, ऐसा मिला न कोय ॥३१५॥

टीका=कबीर साहेब कहते हैं कि, जो जिज्ञासु अपनी बात कहै और मेरी बात को सुनै और सुनकर तथा दोनों बातों का मिलान करके मेरे निश्चय में मिल जाये और एक ही निश्चय का हो जाये। मेरे देखते हुए संसार 'उठता चला जा रहा है; परन्तु ऐसा विवेकी मुझे कोई नहीं मिला। भावार्थ—'बुद्धेः फलमनाग्रहः'' आग्रह छोड़ कर सत्य को ग्रहण करना बुद्धिमानों का लक्षण है ॥३१५॥

देस बिदेसे हौं फिरा, गाँव गाँव की षोरि।
ऐसा जियरा ना मिला, लेवै फटकि पिछोरि ॥३१६॥

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, मैंने देश में और विदेश में भी भ्रमण किया है। तथा गाँव-गाँव और गली-गली में भी मैं घूमा हूं; परन्तु ऐसा व्यक्ति नहीं मिला, जो कि सूप से अन्न की तरह फटक-पिछोर कर लेवै। अर्थात् खूब समझ-बूझ कर सत्य को ग्रहण कर ले। भावार्थ—सत्य को ग्रहण करनेवाले बहुत कम हैं ॥३१६॥

मैं चितवत हौं तोहिको, तू चितवत किछु और।
लानत ऐसे चित्त पर, एक चित्त दुइ ठौर ॥३१७॥

शब्दार्थ—लानत = धिक्कार ।

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, हे जिज्ञासु ! मैं तो तुझे देख रहा हूँ कि, तेरा कल्याण हो जाये; परन्तु तू तो कुछ विशेष रूप से प्रपञ्च की तरफ देख रहा है । ऐसे चित्त को धिक्कार है कि, एक चित्त दो जगह बना हुआ है । भावार्थ--एक नाव पर चढ़नेवाला ही पार जा सकता है, दो पर चढ़नेवाला नहीं ॥ ३१७ ॥

चुंबक लोहै प्रीति है, लोहै लेत उठाय ।
ऐसा सब्द कबीर का, काल से लेत छुड़ाय ॥३१८॥

टीका—चुम्बक की प्रीति लोहे से है, इसलिये वह लोहे को उठा लेता है (और हृदय से लगा लेता है) । कबीर साहेब कहते हैं कि, मेरा 'सार' शब्द इसी प्रकार का है । इसलिये वह यम के बन्धनों से जीवात्मा को छुड़ा लेता है । भावार्थ--सत्य की नौका पर चढ़नेवाला संसार-सागर से पार हो जाता है ॥ ३१८ ॥

***भूला तो भूला बहुरि के चेतना ।सब्दकी छुरी से,संसय को रेतना॥**

शब्दार्थ—रेतना = काटना ।

टीका—अनेक जन्मों में तुम भूले तो भूले; परन्तु इस नर जन्म में फिर से चेतो । और सार शब्द की छूरी से इस संशय को काट दो कि, हमारी मुक्ति होगी या नहीं । भावार्थ–'सार' शब्द से निश्चित मुक्ति है । भजन-'सब्द जहाज चढ़ो मेरे भाई ॥ ३१९ ॥

दोहरा कथि कहैं कबीर, प्रतिदिन समय जो देषि ।
मुये गये नहि बाहुरे, बहुरि न आये फेरि ॥३२०॥

टीका—प्रतिदिन समयानुसार कबीर साहेब दोहराओं (दोहों) को कथ-कर (रच कर) कहते हैं । देखो, जो मर कर चले गये वे फिर नहीं आये । और बहुत कुछ बुलाने से भी फिर वापिस नहीं आये । भावार्थ-कबीर साहेब कहते

---

* १० मात्रा के 'दैशिक' जात्यन्तर्गत छन्दोविशेष (प्रिय) ।

हैं कि, मैं जिन-जिन त्रुटियों को देखता हूं उनकी निवृत्ति के लिये उपदेश देता हूँ, अतः केवल पूर्वजों के गौरव पर गर्व करते रहना व्यर्थ है। उचित तो यह है कि, उनके सद्गुणों का अनुसरण किया जाय, जिससे कि फिर वैसे पुरुष-रत्न पैदा होने लगे ॥ ३२० ॥

गुरू बिचारा का करे, सीषहि मांहे चूक।
भावे त्यौं परबोधिये, बांस बजाये फूक।३२१॥

टीका—यदि शिष्य में ही भारी दोष है तो निरुपाय गुरु क्या करे ?। उसको चाहे जैसे समझाया जाय; परन्तु उसका समझाना एक प्रकार से बांस को फूंक कर बजाना है। भावार्थ--बाँस की फोंफी (नली) की तरह शून्य हृदयवाले शिष्य के हृदय में तत्त्वोपदेश नहीं ठहर सकता है ॥ ३२१ ॥

+दादा भाई बाप के लेषौं, चरनन होइ हौं बंदा।
अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनंदा ॥३२२॥

शब्दार्थ—पुरिया = सूत का ताना।

टीका--कबीर साहेब कहते हैं कि, जो अपने नरतन को सुधारेगा उसको मैं दादा, भाई या पिता के समान समझूँगा। और उसके चरणों का दास बनूंगा। अर्थात् उसको पिता आदिक के समान सम्मानित करूँगा। देखो इस नरतन में जो कर्मों के ताना को सुरझा लेता है अर्थात् निष्काम बन कर ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वह जन आत्यन्तिक मुक्ति (नित्य मुक्ति) को पाकर सदा आनन्द में रहता है। भावार्थ--कामना रहित होनेवाले ही मुक्ति-पद के भागी बनते हैं ॥ ३२२ ॥

सभते लघुता भली, लघुता से सभ होय।
जस दुतिया का चंद्रमा, सीस नांय सभ कोय ॥३२३॥

टीका—सबों से नम्रता रखना बहुत अच्छी बात है। क्यों कि, नम्रता से सब कार्यों की सिद्धि होती है। और जैसे द्वितीया के चन्द्रमा को सब

+ 'सार' छन्द।

प्रणाम करते हैं। ऐसे ही नम्रता रखनेवाले का आदर करते हैं। भावार्थ- "लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर। तारागन न्यारा रहे, पकड़े चन्दा सूर" ॥ ३२३ ॥

मरते मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय।
ऐसा होय के ना मुवा, बहुरि न मरना होय ॥३२४॥

टीका—वैसे तो सारा संसार मरता चला जा रहा है; परन्तु मरना किसी ने सीखा नहीं। क्यों कि, ऐसे होके नहीं मरते हैं कि, जिससे फिर मरना न हो। भावार्थ—"को वा मृतो यस्य पुनर्न मृत्युः" तथा, वीतराग जन्मादर्शनात्" (योगदर्शन) के अनुसार वीतराग ज्ञानी महात्माओं का जन्म नहीं होता है। इसलिये वे फिर नहीं मरते हैं। क्योंकि, जन्म के अभाव से मरण का भी अभाव हो जाता है। अतः ज्ञानियों ने मरना सीखा है ॥३२४॥

मरते मरते जग मुवा, बहुरि न किया बिचार।
एक सयानी आपनी, परबस मुवा संसार ॥३२५॥

टीका—देखो, सारा संसार मर रहा है; परन्तु नरतन पाकर फिर से विचार नहीं कर रहा है। कोई ज्ञानी पुरुष तो अपनी ज्ञान-दशा में समझ-बूझ कर शरीर छोड़ते हैं। और संसारी लोग तो मन के वश में होकर अज्ञान की दशा में ही चल बसते हैं (मर जाते हैं)। भावार्थ-भजन- "समझ गवन करू भाई हो हंसा ! " ॥ ३२५ ॥

सब्द है गाहक नहीं, वस्तु हैं महंगे मोल।
बिना दाम काम नहिं आवै, फिरै सो डामाडोल ॥३२६॥

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, "सार" शब्द (सत्य शब्द) सद्गुरु के पास विद्यमान है; परन्तु उसके ग्राहक बहुत नहीं हैं। क्यों कि वस्तु महँगे मोल की है। प्रपञ्च का त्यागरूप उसका मूल्य है और प्रपञ्च का त्यागना कठिन है। और संसारी लोग तो ऐसे हैं कि, जिनके पास उसको लेने का मूल्य नहीं है। इसलिये वे डामाडोल होकर भटकते फिरते हैं। भावार्थ- "त्यागे

नैकेऽमृतत्वमानशुः" (उपनिषद्) अर्थात् त्यागियों ने त्याग के द्वारा मुक्तिपद को पाया। इसके अनुसार प्रपंच-त्याग से मुक्तिपद मिलता है ॥ ३२६ ॥

ग्रिह तजिके जोगी भये, जोगी के ग्रिह नाहिं।
बिनु बिवेक भटकत सिरे, पकरि सब्द की छांहिं॥३२७॥

टीका—अविवेकी लोग घर छोड़ कर भेषधारी साधु हो जाते हैं और मन के नहीं रुकने से फिर घर में आकर फँस जाते हैं। क्यों कि, योगियों के तो घर होता ही नहीं है। इस प्रकार रोचक और भयानक रूप शब्द के सहारे को पकड़ कर बिना विवेक के वे संसार में भटकते फिरते हैं। भावार्थ-प्रपंच छोड़ कर फिर प्रपंच में पड़ना प्रपंचियों का ही काम है। " मन के मारे बन गये, बन तजि बस्ति मांहिं। कहंहिं कबीर क्या कीजिये, यह मन ठहरे नांहिं ॥ ३२७ ॥

सिंघ अकेला बन रमे, पलक पलक करै दौर।
जैसा बन है आपना वैसा वन है और ॥३२८॥

टीका—अज्ञानियों के शरीररूपी बन में उनका मन सर्व भक्षी हिंसक सिंह बना हुआ है। और वह स्वतन्त्र रूप से अकेला ही शरीर में रमण करता है। तथा विषयों की शिकार के लिये क्षण-क्षण में दौड़ लगाता रहता है। जैसा बन (शरीर) अपना है वैसा ही वह दूसरों का है। अर्थात् सब अज्ञानियों के शरीरों की एक दशा है। भावार्थ-अज्ञानियों के व्यवहार अज्ञानमूलक ही हुआ करते हैं। [सूचना- ' एकल निरंजन सकल सरीरा, तामें भ्रमि भ्रमि रहल कबीरा'। तथा, नैनन आगे मन बसै, पलक पलक करे दौड़'। तथा, 'तन के भीतर मन उनहुं न पेखा' इत्यादि वचनों के अनुसार यहां सिंह पद से मन का ग्रहण किया गया है] ॥ २३८ ॥

पैठा है घट भीतरे, बैठा है साचेत।
जब जैसी गति चाहे, तब तैसी मति देत ॥३२९॥

टीका—सबों के हृदय-रूप मंदिरों के भीतर निज-देव (साहब)

विद्यमान है। और वह सचेत होकर बैठा हुआ है। अर्थात् सदैव प्रबुद्ध रहता है। जिस समय जिसकी जैसी गति चाहता है उसको उस समय वह वैसे ही बुद्धि दे देता है। भावार्थ—"तदेव साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषति"। अर्थात् जिसको उन्नति कराने की इच्छा होती है उससे अच्छे कर्म कराये जाते हैं ॥३२९॥

बोलतही पहिचानिये, साहु चोर का घाट।
अंतर घट की करनी, निकरे मुष की बाट ॥३३०॥

टीका—कौन साहूकार का घाट है, और कौन चोर का घाट है? इस बात की पहिचान घाटवाले की बोली से हो जाती है। क्यों कि, उसके हृदय के भाव उसके मुख के रास्ते से प्रगट हो जाते हैं। भावार्थ—सच्चे गुरु और झूठे गुरुओं की पहिचान उनकी वाणी और आचरणों से कर लेना चाहिये ॥३३०॥

*दिलका महरमि कोइ न मिलिया, जो मिलिया सो गरजी॥
कहँहिं कबीर असमानहि फाटा, क्यों कर सीवे दरजी॥

शब्दार्थ—महरमि = हार्दिक भाव का जाननेवाला।

टीका—मेरे हृदय के आशंका को जाननेवाला कोई नहीं मिला। जो मिला वह स्वार्थी ही मिला। कबीर साहेब कहते हैं कि, आसमान ही फट गया तो इसे बिचारा कोई दरजी कैसे सीये? अर्थात् सारे संसार की यही दशा है। ऐसी दशा में बिचारा उपदेशक क्या करे? भावार्थ—'न वारे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति; आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (बृहदारण्यक उपनिषद्) अर्थात् सब के लाभ के लिये सब प्रिय नहीं होते हैं; किन्तु अपने स्वार्थ के लिये सब प्रिय होते हैं। अतः संसार में स्वार्थ का ही साम्राज्य है ॥३३१॥

ई [2]जग जरते देषिया, अपनी अपनी आगि।
ऐसा कोई ना मिला, जासो रहिये लागि ॥३३२॥

---

१ पाठा०—ज, झ, ञ, बानी से। * छन्द 'सार'। २—ट, ठ, जरत सभनि को।

टीका—अपनी-अपनी कामाग्नि से जलता हुआ यह संसार देखा गया है। ऐसा कोई (निःस्वार्थी) नहीं मिला कि, जिसकी संगति की जाय।

भावार्थ—"स्वारथ के सब ही सगा, सारो ही जग जान।
बिनु स्वारथ आदर करै, सोई संत सुजान" ॥३३२॥

बना बनाया मानवा, बिना बुद्धि बेतूल।
कहा लाल ले कीजिये, बिना बास का फूल ॥३३३॥

शब्दार्थ—बेतूल = हलका, ओछा।

टीका—श्रेष्ट जाति और कुल आदि की प्राप्ति से सब प्रकार से बना-बनाया मनुष्य बुद्धि (ज्ञान) के बिना हलका है, तुच्छ है। देखो, उस सुहावने लाल फूल से क्या लाभ है, जिसमें सुगन्ध न हो? भावार्थ—ज्ञान ही मनुष्य को श्रेष्ठता दिलाता है, जाति आदिक नहीं ॥३३३॥

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिदया सांच है, ताके हिदया आप ॥३३४॥

टीका—सत्य के समान कोई तप नहीं है, और झूठ के बराबर कोई पाप नहीं है। अतः जिसके हृदय में सत्य का निवास है, उसके हृदय में स्वयं साहब (परमात्मा) विराजमान हैं। भावार्थ—सत्यरूप ही 'साहब' (परमात्मा) हैं ॥३३४॥

का रे बड़े कुल ऊपजे, जो रे बड़ी बुधि नाहिं।
जैसा फूल उजारि का, मिथ्या लगि झरि जाहिं ॥३३५॥

टीका—यदि बुद्धि विशाल (बड़ी) नहीं है तो बड़े कुल में उत्पन्न होने ही से क्या लाभ हुआ? उसका जन्म तो ऐसा ही व्यर्थ है, जैसे जंगल के फूल पेड़ों में लगकर व्यर्थ ही झड़ जाते हैं। भावार्थ—जैसे जंगल में लगे हुए फूल किसी उपयोग में नहीं आते हैं; इसी प्रकार बुद्धि-हीन मनुष्य ऊँचे कुल में जन्म लेने पर भी किसी सत्कार्य को नहीं कर सकता है ॥३३५॥

करते किया न विधि किया, रवि ससि परी न दोस्टि।
तीन लोक में है नहीं, जानै सकलो सीस्टि ॥३३६॥

टीका–पहेली–(यह मिथ्या कल्पना और कल्पित वस्तु की पहेली है)– कल्पित वस्तु को न कर्ता ने बनाया, और न विधाता ने ही बनाया। और सूर्य तथा चन्द्रमा को भी दृष्टि में वह वस्तु नहीं आई। और तीनों लोकों में भी वह नहीं है। और सारा संसार उसे जानता है। अर्थात् मिथ्या कल्पना में ही सब के सब पड़े हैं। भावार्थ–मिथ्या कल्पना की निवृत्ति से ही मुक्ति होती है ॥३३६॥

सुरहुर पेढ़ अगाध फल, पंछी मरिया झूर।
बहुत जतन कै षोजिया, फल मीठा पै दूर ॥३३७॥

शब्दार्थ–सुरहुर = लम्बा और सीधा।

टीका–पहेली–लम्बे और सीधे पेड़ पर अगम्य फल लगा हुआ है। और उसके प्रेमी पक्षी सूख-सूख कर मर जाते हैं। वह फल बहुत प्रयत्न से खोजा जाता है। वह मीठा (सुखदायी) तो है; परन्तु बहुत दूर है। भावार्थ–जैसे दूर लगे हुए नारियर के कच्चे फलों को खाने के लिये तोता उसमें चोंच मारता है और उसमें चोंच के फंस जाने से छटपटा कर और सूख–सूख कर मर जाता है। इसी प्रकार स्वर्ग और विहिस्त के सुदूरवर्ती मीठे फलों को मिलने की इच्छा से अज्ञानी लोग व्यर्थ ही प्राण देते रहते है, और दूसरों के प्राण लेते रहते हैं ॥३३७॥

बैठा रहै सो बानिया, ठाढ़ रहे सो ग्वाल।
जागत रहै सो पहरुवा, तेहि धरि षायो काल ॥३३८॥

टीका–पहेली–किसी फल की इच्छा से जो जप करने के लिये बैठा रहता है, वह बनियां है (व्यापारी है) और मान-प्रतिष्ठा के लिये जो ठाढ़ेसरी बन कर सदैव खड़ा रहता है, वह ग्वाला है। अर्थात् अपने भक्तों को समेटे रहता है। और भजन तथा ध्यान की युक्ति को प्राप्त किये बिना ही

जो रात को जागता रहता है, वह पहरेदार है। अन्त में इन तीनों को काल धरकर खा जाता है। अर्थात् ये चौरासी में चले जाते हैं। "जुगुति विहूना जागन बैठ्या, आसन मांड्यो खाली। कूवा है पै नेज नहीं है, क्यों करि सींचै माली" ॥ भावार्थ–बिना ज्ञान के धूनी लगा कर सदा बैठे रहना और खड़े रहना केवल कष्टकारक कर्म ही है। मन का विरोध करना आवश्यक है। तन को कष्ट देना तो व्यर्थ है। "बाम्बी कूटे बावरे, साँप न मारा जाय। मूरख बांबी ना डसे, साँप सभनि को खाय" ॥३३८॥

आगे आगे दौं जरे, पाछे हरियर होय।
बलिहारी तेहि ब्रिच्छ की, जर काटे फल होय ॥३३९॥

टीका–पहेली–(संसारवृक्ष की विचित्रता)--यह वृक्ष तो आगे-आगे से दावाग्नि से जलता जाता है। और पीछे-पीछे से हरा-भरा होता जाता है। उस वृक्ष को धन्यवाद है कि, जिसकी जड़ के काट देने से फल लगता है। भाव यह है कि, संसार में पुराने-पुराने मनुष्य प्रस्थान करते रहते हैं, और नये-नये उत्पन्न होते रहते हैं। यह वृक्ष ऐसा विलक्षण है कि, इसको जड़ (अज्ञानता) के काटने से ही फल (मोक्ष) मिलता है ॥३३९॥

जनम मरन बालापना, चौथे विरध अवस्था आय।
जस मुसवा को तके बिलाई, अस जम घात लगाय ॥३४०॥

टीका–बार-बार जन्म, मरण, बालकपन और वृद्धावस्था आती रहती है। और जिस प्रकार चूहे को झपटने के लिये बिल्ली उसकी ताक में बैठी रहती है। इसी प्रकार मृत्यु भी जीवों की घात में लगी रहती है ॥३४०॥

है +बिगरायल ओरका, बिगरो नाहिं बिगारो।
¹घाव काहि पर घालौं, जित देखौं तित प्रान हमारो ॥३४१॥

टीका–हे भाइयो ! यह जीवात्मा अनेक जन्मों का बिगड़ा हुआ है। ऐसी स्थिति में अज्ञानता में डालकर इस बिगड़े हुए को और भी न बिगाड़ो।

+ विषम मात्रिक छन्द। 1 पा०–च, छ, चोट काके करौं।

देखो, इसे अज्ञानता में डाल देना बहुत बुरा है। परन्तु इस विषय में बुरा-भला कह कर मैं किसके चित्तको दुखाऊँ ? क्यों कि, मैं तो सबों को अपने ही प्राण समझता हूँ। भाव यह है कि, वंचक गुरु अनादि काल के बिगड़े हुए जीवात्मा को अनेक कल्पनाओं में डालकर और भी बिगाड़ देते हैं।३४१।

पारख परसे कंचन भौ, पारस कधी न होय।
पारसके अरसपरस ते, सुबरन कहावै सोय ॥३४२।

शब्दार्थ—कधी = कभी ।

टीका—"पारस रूपी जीव है, लोह रूप संसार" इसके अनुसार जीवात्मारूप पारस के स्पर्श से शरीर और मनरूपी लोहा चेतन के समान बन कर पारस सा बन जाता है, अर्थात् चेतन सा बन जाता है। परन्तु वह कभी पारस (चेतन) नहीं हो सकता है। हाँ, चेतनरूप पारस के स्पर्श से "काया कंचन जतन कराया" के अनुसार काया कंचन कहलाती है। अर्थात् कनक के समान चमक-दमकवाली बनी रहती है। भावार्थ-जड़ शरीरादिक कभी चेतन नहीं हो सकते हैं; किन्तु चेतन के सम्बन्ध से चेतन के समान दीखने लगते हैं ॥ ३४२ ॥

ढूंढत ढूंढत ढूंढिया, भया सो गूना-गून।
ढूंढत ढूंढत ना मिला, तब हारि कहा बेचून ॥३४३॥

शब्दार्थ—गूना गून = गुम। बेचून = निराकार।

टीका—मुसलमानों का निश्चय-मुसलमान लोगों ने खुदा को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते बहुत कुछ ढूंढ़ा; परन्तु वह फिर भी गुम ही रह गया। ढूंढ़ते-ढूंढ़ते जब उनको वह नहीं मिला तब हार कर खुदा को निराकार कह दिया। भावार्थ-मुसलमान लोग खुदा को निराकार (बेचून) और सातवें आसमान पर रहनेवाला मानते हैं ॥ ३४३ ॥

बेचूने जग चूनिया, सांई नूर निनार।
आषिरता के बष्त में, किसका करो दिदार ॥३४४॥

शब्दार्थ—नूर = प्रकाश।

टीका—यदि सांई का नूर सातवें आसमान पर है तो उस निराकार ने दुनिया को (बिना साधन के) कैसे बनाया ? और तुम लोग अन्त समय इसका दीदार (दर्शन) करना चाहते हो ! भाव यह है कि, मुसलमानों का ऐसा मत है कि, निराकार खुदा के 'कुन्न' कहने से सारी दुनियाँ बन गई ! भावार्थ--मुसलमान खुदा की मनोमयी मूर्ति का दर्शन करते हैं, ऐसा जान पड़ता है ॥ ३४४ ॥

सोई नूर दिल पाक, सोई नूर पहिचान।
जाके कीये जग हुवा, सो बेचुन क्यों जान ॥३४५॥

टीका—अब कबीर साहेब अपने मत को बतलाते हैं कि, वस्तुतः वह पवित्र स्वयंज्योति हृदय-कमल में विराजमान है। उसी आत्म-प्रकाश को पहिचानों, (और मिथ्या कल्पनाओं को छोड़ो)। सोचो, जिस खुदा से यह जगत उत्पन्न हुआ उसको तुमने निराकार कैसे जाना ? भावार्थ-"निरगुन सरगुन मन की बाजी, खरे सयाने भटके" इसके अनुसार निर्गुण और सगुण; ये दोनों रूप निरंजन निराकार के हैं। जिसका कि शरीर में 'मन' स्वरूप है। और परम तत्त्व तो निर्गुण और सगुण दोनों से परे है ॥ ३४५ ॥

सूचना—नीचे लिखी हुयी इन तीनों साखियों का अर्थ दूसरी रमैनी की टीका में विस्तारपूर्वक कर दिया गया है

ब्रह्मा पूछे जननि से, कर जोरि सीस नँवाय।
कवन बरन वह पुरुष है, माता कहु समुझाय ॥३४६॥

नोट—इस साखी के पहिले 'ङ' पु. में 'ब्रह्मा बचन' ऐसा लिखा है।

टीका—ब्रह्माजी अपनी माता आद्या (अष्टांगी) से हाथ जोड़ कर और शीश नँवाकर पूछते हैं कि, हे माताजी ! हमारे पिता वह पुरुष (निरंजन निराकार ज्योति स्वरूप) किस रूप के हैं ? यह मुझको समझाकर कहिये ॥३४६॥

रेष रूप वै है नहीं, अधर धरी नहिं देह।
गगन मंडल के मध्य, में निरषो पुरुष बिदेह ॥३४७॥

(नोट—इस साखी के पहिले 'ज' पु० में 'जननी वचन' ऐसा लिखा है।)

टीका—माता का उत्तर—'उस पुरुष ने देह को धारण नहीं किया है। अतः उसका कोई रूप और रेखा (आकार) नहीं है। और वह अधर (गगन) में रहता है। अतः गगन-मण्डल (सहस्रदल कमल) के मध्य में उस विदेही पुरुष को तुम ध्यान के द्वारा देखो' ॥३४७॥

सूचना—अति प्राचीन 'सुख निधान' ग्रन्थ में ये साखियाँ कुछ पाठभेद से उपलब्ध होती हैं। यथा -

समै—"ब्रह्मा पूछै दीन होय, कर जोरि सीस नवाय।
कवन बरन वह पुरुष है, कहो मात समुझाय" ॥
मायावचन—"रूप रेष उनके नहीं, अधर धरी नहिं देह।
तीन लोक के बाहरे, निरषो पुरुष विदेह" ॥ इत्यादि

धरे ध्यान गगन के मांहीं, लाये बज्र किंवार।
देषि प्रतीमा आपनी, तीनहु भये निहाल ॥३४८॥

टीका—इस प्रकार माता के वचन को सुनकर ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी; इन तीनों ने अपने पिता के दर्शनों के लिये संमुखी मुद्रा से प्राणों का निरोध करके बज्र-कपाट लगा लिया। और गगन-मंडल में ध्यान धरने लगे इसके पश्चात् उनने गगन-मंडल में अपनी प्रतिमा (परछांहीं, रूप) को देखा, और उसे देखकर तीनों के तीनों कृतकृत्य हो गये) अर्थात् अपने को निहाल मान लिया ॥ ३४८ ॥

यह मन तो सीतल भया, जब उपजा ब्रह्म ज्ञान।
जेहि बसंदर जग जरे, सो पुनि उदक समान ॥३४९॥

टीका—त्रितापाग्नि से सन्तप्त मन "अहं ब्रह्मास्मि" इस प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति से कुछ शीतल सा हो जाता है, सर्वथा नहीं; क्यों कि यह भी तो एक वृत्ति ही है। अतः वृत्ति मात्र का लय करनी परम कर्त्तव्य है। क्योंकि, तरंगों के प्रशान्त हुए बिना प्रतिबिम्ब प्रतिफल नहीं होता है। यह इस साखी का निगूढ आशय है। इसका उत्तरार्ध काकू (व्यंग) वचन है। वह

इस प्रकार है कि, जिस वृत्ति रूप अग्नि से संसार जल जाता है; क्या वह फिर जल के समान हो सकती है ? कदापि नहीं ॥ ३४९ ॥

जासों नाता आदिका, बिसरि गया सो ठौर ।
चौरासी कों बसि परे, कहै और की और ॥३५०॥

टीका–इस जीवात्मा का जिस चेतनात्मा से अनादि काल का सम्बन्ध था, यह उस अपने पद को भूल गया । और नाना कल्पनाओं का कथन करता हुआ चौरासी के फन्दे में जा फंसा ॥ ३५० ॥

अलष लषौं अलषे लषौं, लषौं निरंजन तोहिं ।
हौं कबीर सभको लषौं, मोके लषै न कोइ ॥३५१॥

टीका–'अलख–अलख' की टेर लगानेवाले अलखिया (योगी) को उपदेश-कबीर साहेब कहते हैं कि, मैं अलख को लखता हूं और अलखिया को भी लखता हूं और हे निरञ्जन ! तुझको भी लखता हूं (जानता हूं) । मैं आत्मरूप कबीर (सबों का द्रष्टा) हूं । इसलिये सबों को लखता हूं । परंतु मुझको कोई नहीं लखते हैं। भावार्थ--आत्मा सबों का साखी (साक्षी)होने के कारण अलख निरंजन आदि नामों से कहे जानेवाले मन आदिकों का भी द्रष्टा है । और द्रष्टा का द्रष्टा नहीं होता है । इसके अनुसार उसका द्रष्टा कोई नहीं है ॥ ३५१ ॥

हम तो लषा तिहुं लोक में, तु क्यों कहे अलेष ॥
सार–सब्द जाना नहीं, धोषे पहिरा भेष ॥३५२॥

टीका–हमने तो निरंजन (मन) को तीनों लोकों में देखा है । क्योंकि, "तीन लोक मन भूप है, मन पूजा सब ठौर" । इसके अनुसार वह सर्वत्र विद्यमान है । फिर तुम उसको अलेख क्यों कहते हो ? तुमने तो सद्गुरु के 'सार' शब्द (परम तत्त्व) को नहीं जाना है । अतः तुम्हारा यह भेष बनाना संसार को धोखा देना है । भाव यह है कि, जिसको आप लोग अलख निरं-जन और ज्योतिस्वरूप कहते हैं, वह मन ही है । क्योंकि, "दूरं गमं ज्योतिषां

ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु"। यजुर्वेद की इस श्रुति के अनुसार उक्त मन ज्योति-स्वरूप है। अतः अलख के चक्र से छूट कर सबों के हृदय-मंदिरों में साक्षात् विराजमान अविनाशी राम के दर्शन करने का प्रयत्न कीजिये। श्री गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी किसी अलखिये से यही वार्ता कही थी। यथा—"हम लख हमहि हमार लख, हम हमार के बीच। तुलसी अलख हिं का लखे, राम नाम भजु नीच" ॥३५२॥

साषी आंषी ज्ञानकी, समुझि देषु मन मांहिं।
बिनु साषी संसार का, झगरा छूटत नाहिं ॥३५३॥

शब्दार्थ—साषी = साक्षी, गवाह, वह कविता जिसका विषय ज्ञान हो।

उदा०—'सूरदास स्वामी के आगे निगम पुकारत साखि'

टीका—कबीर साहेब कहते हैं कि, ये साखियाँ ज्ञान की आँखें हैं। अर्थात् मुक्ति-मंदिर को दिखलानेवाली और वहां पहुँचानेवाली हैं। अतः इनको खूब समझो, बूझो और मन में विचारो, देखो। और साक्षिपद को प्राप्त करो। क्यों कि, साखी-पद (साक्षिपद) की प्राप्ति के बिना संसार का झगडा (जन्म और मरणरूप) नहीं छूटता है।

भावार्थ—ये साखियाँ (यथार्थ बचन होने के कारण) तत्त्वनिर्णायक अर्थात् तत्त्व का निर्णय करानेवाला (साक्षि-पुरुष) है। अतः साक्षि-स्वरूप बन कर परमानन्द को प्राप्त करो और संसार के झगड़े में न पड़ो।

विशेष वक्तव्य—श्लेष (दो अर्थ) होने के कारण साखी का अर्थ साक्षी चेतन और गवाह दोनों होते हैं। क्यों कि, साखी यह शब्द साक्षी का अपभ्रंश है; जिसका अर्थ यह है कि, 'ज्ञातृत्वे सति तटस्थत्वं साक्षित्वम्'। अर्थात् झगडे के मूल को जानते हुए भी वादी और प्रतिवादी के पक्षपात से जो रहित हो उसे 'साक्षी' कहते हैं। इसी प्रकार संसार के झगड़े के छूटने का अर्थ भी मुक्ति और कलह-शान्ति दोनों हैं। संसार के बाहरी झगड़ों की तरह आध्यात्मिक (हृदय के भीतरी झगड़ों की शान्ति भी साक्षि-स्वरूप की प्राप्ति के बिना नहीं हो सकती है। "सब का साखी मेरा सांई" इसके अनु-

सार 'साहब' सबोंके साक्षी हैं। अर्थात् सब झगड़ों से अलग हैं। और सद्गुरु कबीर साहेब भी "कबीरा खड़ा बाजार में, सबकी चाहै खैर। ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर"॥ इस वचन के अनुसार सबोंके साक्षी थे और साक्षी बनकर ही सबों को भलाई के लिये ये साखियाँ कही गई हैं, अतएव ये ज्ञान की आँखें हैं। इनको हृदय में धारण करनेवाले भी साक्षी-स्वरूप बन जायेंगे। और संसार के झगड़े से छूट कर परमानन्द को प्राप्त करेंगे ॥३५३॥

॥ इति साखी प्रकरण सम्पूर्ण ॥

टीका की समाप्ति का मंगलाचरण।

यत्कृपालेशतस्तीर्णो बीजकाब्धिर्मयाऽञ्जसा।
सोऽयं वो मुक्तिदो भूयाज्जगन्नाथो गुरुर्मम ॥ १ ॥

अर्थ—जिनकी कृपा के लेश मात्र से मैं बीजक ग्रन्थ के अर्थरूपी समुद्र से जल्दी ही पार हो गया हूं, वे मेरे गुरु जगन्नाथ साहब आप लोगों के भी मुक्ति के देनेवाले हों ॥ १ ॥

बीजक ग्रन्थ की टीका की पुष्पिका (उपसंहार)।

सद्विचारेण प्रारब्धां काश्यां काबीरचत्वरे।
प्रकाशमणिनामासौ टीकामेतामपूपुरत् ॥ १ ॥
खरसिया–मध्य प्रान्तीय–कबीर-धर्म-स्थानके।
कबीरपथिकाचार्यः सर्वशास्त्रकृतश्रमः ॥ २ ॥
आश्विन-कृष्णद्वितीयायां गुरुवारे शुभे दिने।
वैक्रमे वत्सरे पूर्णाम्बृषिशून्यद्वयाक्षिके ॥ ३ ॥
अकरोद्विमलां टीकां बीजकार्थप्रबोधनीम्।
वंशप्रतापको वर्यः कबीर-पथ-वर्तकः ॥ ४ ॥
मोदन्तां पाठकास्तेन बीजकार्थप्रबोधतः।
लभन्तां मोक्षसंदातृ ह्यात्मतत्त्वं परं धनम् ॥ ५ ॥

लेखः सांकेतिको लोके शिलोत्कीर्णो हि बीजकः ।
यथा स सूचयत्येव धरित्र्यां निहितं धनम् ॥६॥
"गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराण' मिति व्यञ्जनात् ।
उपनिषत्सु निर्दिष्ट–मात्मतत्त्वं परं धनम् ॥७॥
बीजकं ज्ञायते येन तेन संप्राप्यते धनम् ।
बीजकार्थस्य ज्ञानाय यतध्वं तेन कोविदाः ॥८॥
ज्ञानस्य बीजमेतद्धि ततो वै ज्ञान-बीजकम् ।
ज्ञान-प्रधानबीजत्वाज् ज्ञान-बीजकमुच्यते ॥९॥
स्वार्थे कः प्रत्ययो ह्यस्मिन् ज्ञान-बीजकशब्दके ।
ज्ञानांकुर-प्ररोहित्वाज्-ज्ञान-बीजकमुच्यते ॥१०॥
सद्विचारस्य सर्वस्वं ज्ञान-बीजकमुत्तमम् ।
गृह्यतां गृह्यतां लोका मोक्षेच्छा यदि वर्तते ॥११॥

अर्थ—काशी के कबीर चौरे में श्रेष्ठ विचार के द्वारा तथा इस विचार-दास के द्वारा बीजक ग्रंथ की जो टीका और टिप्पणी संक्षेप रूप से लिखी गई थी, उसको आश्विन कृष्ण द्वितीया गुरुवार विक्रम सम्वत् २००७ को मध्य प्रान्त के खरसिया कबीर धर्म स्थान में सब शास्त्रों के अध्ययन में पूरा परिश्रम करनेवाले कबीरपथिकाचार्य पं. श्री हजूर प्रकाशमणि नाम साहब ने पूरी तरह बना कर पूर्ण किया । और कबीरपंथ में वर्तमान (कबीरपंथी) वंश-प्रतापी श्रेष्ठ उक्त महोदय ने इस टीका का "बीकार्थ-प्रबोधनी" यह निर्मल नाम रक्खा । अतः बीजक ग्रन्थ के अर्थ के ज्ञान से इसके पाठकजन आनन्द को प्राप्त होवें और इससे मोक्ष के देनेवाले आत्मतत्त्व रूपी परम धन को प्राप्त करें ॥ १–५ ॥

गड़े हुए धन का पता बतानेवाले शिला में खोदे हुए सांकेतिक लेख को 'बीजक' कहते हैं । वह जिस प्रकार जमीन में गड़े हुए धन को सूचित करता है । इसी प्रकार यह बीजक ग्रन्थ आत्म-तत्त्व-रूपी परम धन को बताता है । जिसका कि, उपनिषदों में "गुहाहितम्" इत्यादि रूप से वर्णन किया है । वह शिलालेख रूपी 'बीजक' जिसकी समझ में आ जाता है, वह धन

को पा लेता है। इसलिये हे विद्वानो! आप लोग भी आत्मधन की प्राप्ति के लिये इस 'बीजक' ग्रन्थ को अर्थ के जानने के लिये पूरा प्रयत्न करिये। यह ग्रन्थ तत्त्वज्ञान का बीज है, इसलिये इस ग्रन्थ का नाम "ज्ञान-बीजक" है। और ज्ञान-प्रधान बीज होने के कारण भी इस ग्रन्थ का नाम "ज्ञान-बीजक" है॥ ६–६॥

इस ज्ञान-बीजक शब्द में संस्कृत व्याकरण शास्त्र में बताया हुआ स्वार्थ में 'क' प्रत्यय है। और जिससे कि, यह ज्ञानांकुर को पैदा करनेवाला है; इसलिये भी इस ग्रन्थ का नाम "ज्ञान-बीजक" है। यह उत्तम ज्ञान-बीजक श्रेष्ठ विचार का और इस "विचारदास" का सर्वस्व रूप है। इसलिये हे भाइयो! आप लोगों को यदि मोक्ष की इच्छा है तो इस ग्रन्थरूपी रत्न को जल्दी से जल्दी ले लीजिये॥ १०–११॥

दोहा—सद्विचार–सर्वस्व यह, बीजक उत्तम ज्ञान।
जल्दी ले हिय में धरो, पाओ मुक्ति महान॥ १–११॥

इति सटीक बीजक ग्रन्थ समाप्त

श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी में मुद्रित।

ग्रन्थ प्राप्ति स्थान :—

(१) बाबू बैजनाथ प्रसाद बुक्सेलर
राजादरवाजा, वाराणसी।

(२) सद्गुरु कबीर प्राकट्य धाम,
कबीरबाग, लहरतारा
वाराणसी।

(३) महन्त श्री उत्तमदास जी
सद्गुरु कबीर ज्ञानाश्रम
राजगीर, बिहार।

मूल्य ३६)